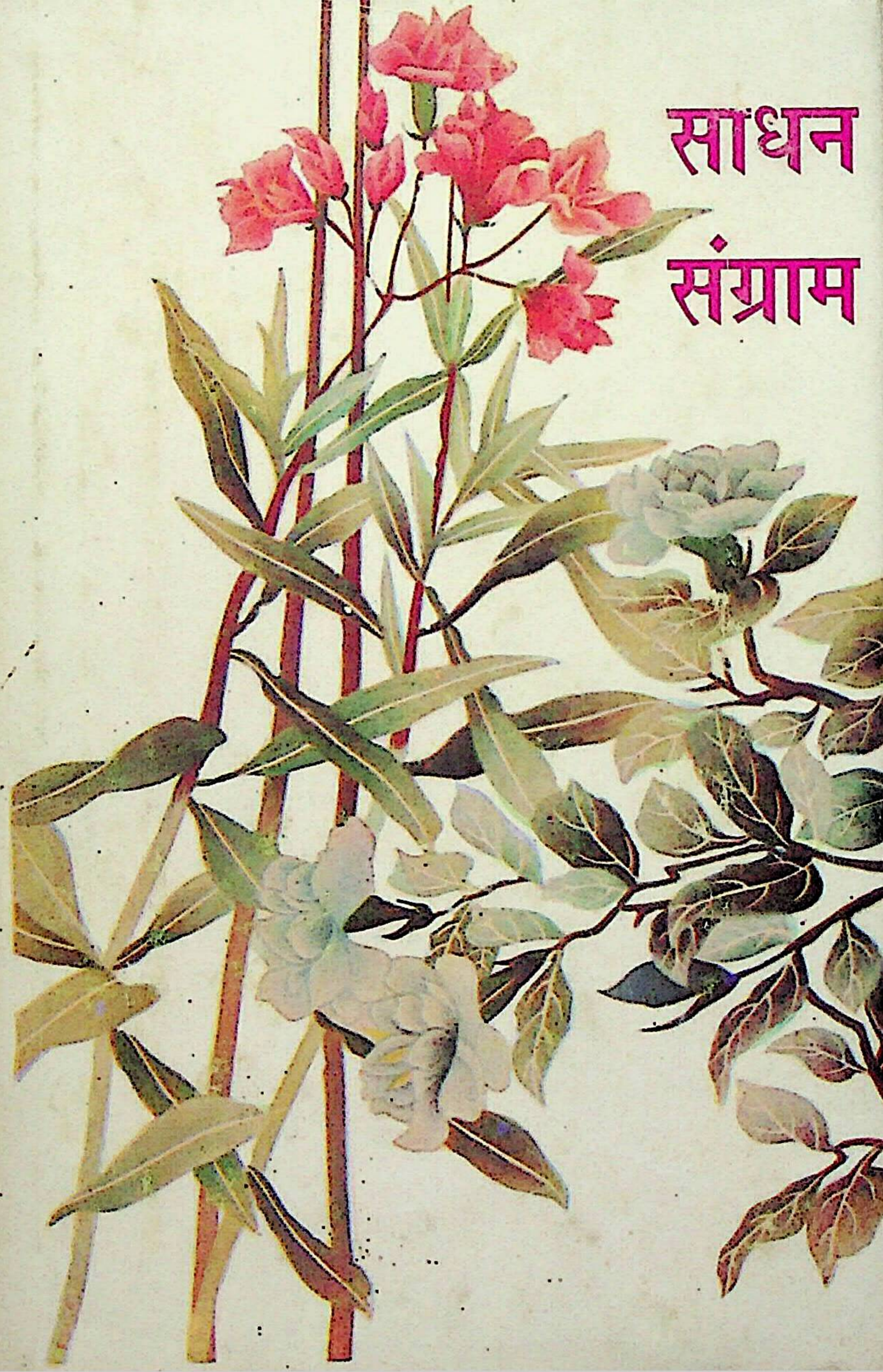
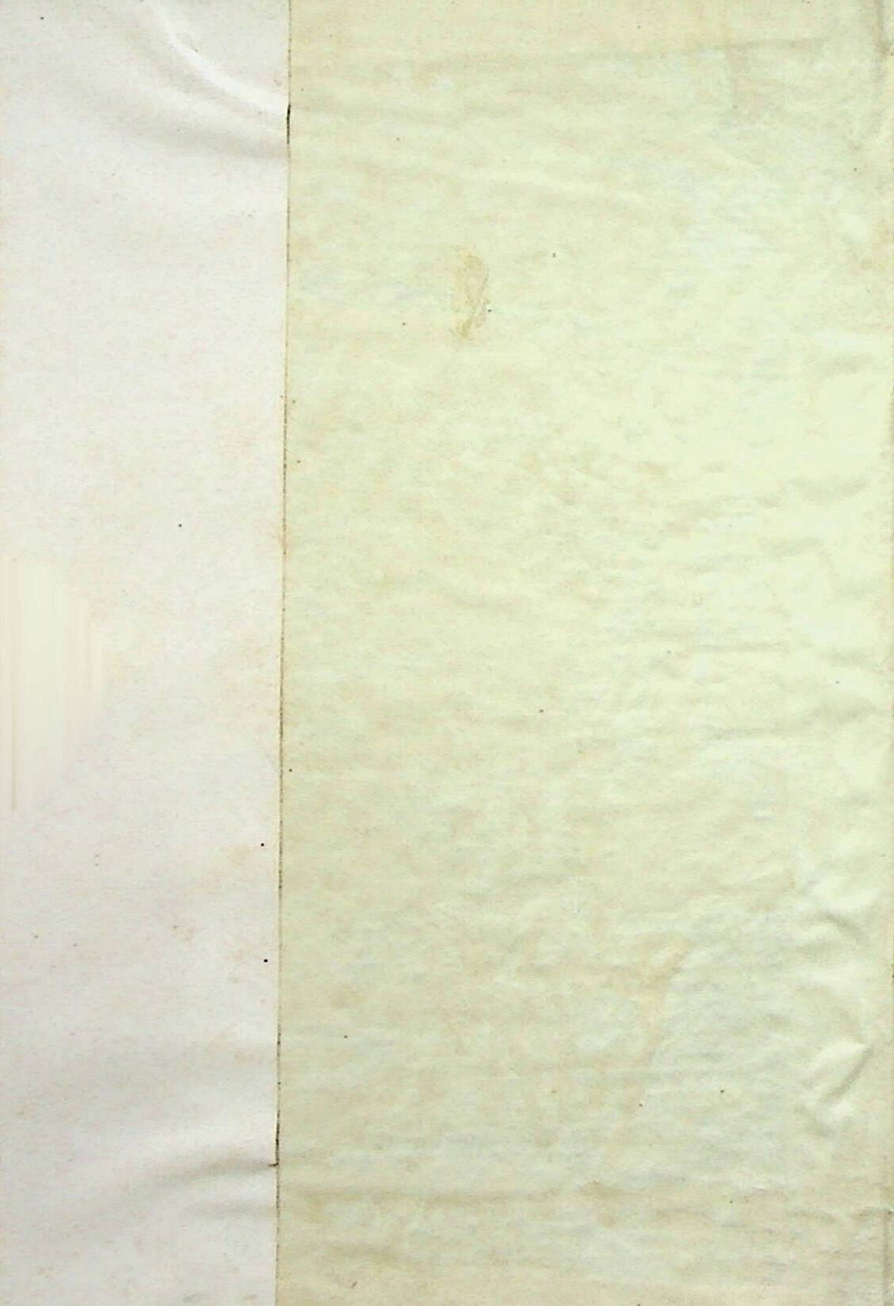
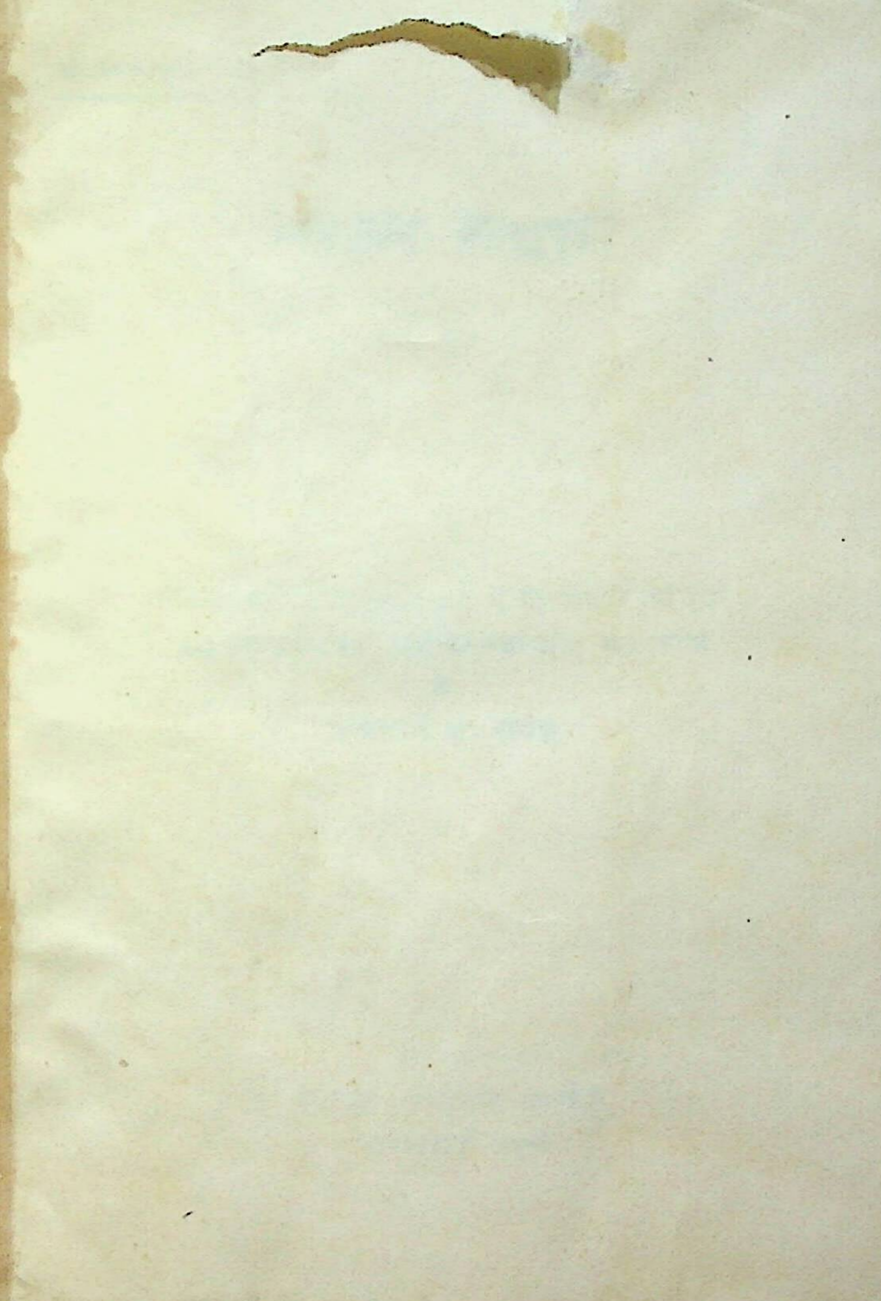

साधन
संग्राम







श्रीदक्षिणामूर्ति ग्रन्थमाला—६

साधन संग्राम

(१)

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीनिरंजनपीठाधीश्वर

महामण्डलेश्वर महेशानन्दगिरि महाराज

के

प्रवचनों का संग्रह

सम्पादक—

पण्डित भगीरथ पाण्डेय

'आकाशवाणी' देहली

प्रकाशक
मधुकर कपूर
६४, सूर्यनगर
आगरा

मूल्य : 82.00
उत्तरायण १६६५

मुद्रक
आगरा यूनीवर्सिटी प्रेस
आगरा

वक्तव्य

सन् १९५८-६३ तक कई बार देहली के श्री विश्वनाथ संन्यास आश्रम में प्रवचन माला चली। ५८, ६० व ६२ में चातुर्मास्य व्रत का अनुष्ठान भी वहीं किया। ये प्रवचन माण्डूक्य उपनिषद्, एवं उनकी कारिका, भाष्य तथा आनन्दगिरि टीका के आधार पर व्यास शैली से स्वतंत्र चिन्तन हैं। अतः अनेक स्थलों पर पुनरुक्ति स्वभावतः है। पर विषय की गहनता को सरल बनाने में उपयोगी होंगे। इन्हें मुद्रित कराने का प्रारंभ में कोई भी विचार नहीं था। हमारे प्रिय स्वामी ईश्वरानन्द जी ने कुछ संकेत लिख लिये थे। कई बार उनकी अनुपस्थिति में भी प्रवचन हुए जिन का कोई भी संकेत उपलब्ध नहीं। अन्तिम वर्षत्रय में प्रिय पण्डित श्री भगीरथ पाण्डेय ने प्रायः दैनन्दिन प्रवचनों का संग्रह किया। उन्हीं के विशेष परिश्रम से पुस्तक का मुद्रणरूप भी उपस्थित हुआ। आगरा यूनीवर्सिटी प्रेस के श्री हरकृष्ण जी कपूर ने इसके मुद्रण का सारा भार अपने ऊपर उठाया। अतः ये सभी इस पुस्तक के वास्तविक उत्पादक हैं।

भारतीय संस्कृति का मूल आधार वेद हैं। आज वैदिक संस्कृति के स्वरूप को आत्मसात् न कर सकने के कारण ही हमारा सर्वतोमुखी पतन हो रहा है। वेदान्त वेद के दर्शन भाग का ही नाम है। माण्डूक्य उपनिषद् अत्यल्प पर गूढार्थ प्रतिपादक वेदान्त है। इसमें अनेक रहस्यों को बीज रूप से बताया गया है। इनमें से कुछ बीजों का उद्धार करना ही प्रवचनों का उद्देश्य था। आशा है अग्रिम खण्ड में अवशिष्ट भागों का भी विचार किया जा सकेगा। वेदान्त को वेद से अलग मान कर समझने का आधुनिक प्रयास हमें अनुचित व निराधार प्रतीत होता है। वेदान्त को केवल स्मृति और पुराणों के आधार पर समझना भी संभव हम नहीं मानते। वेदान्त की वेद से ही संगति

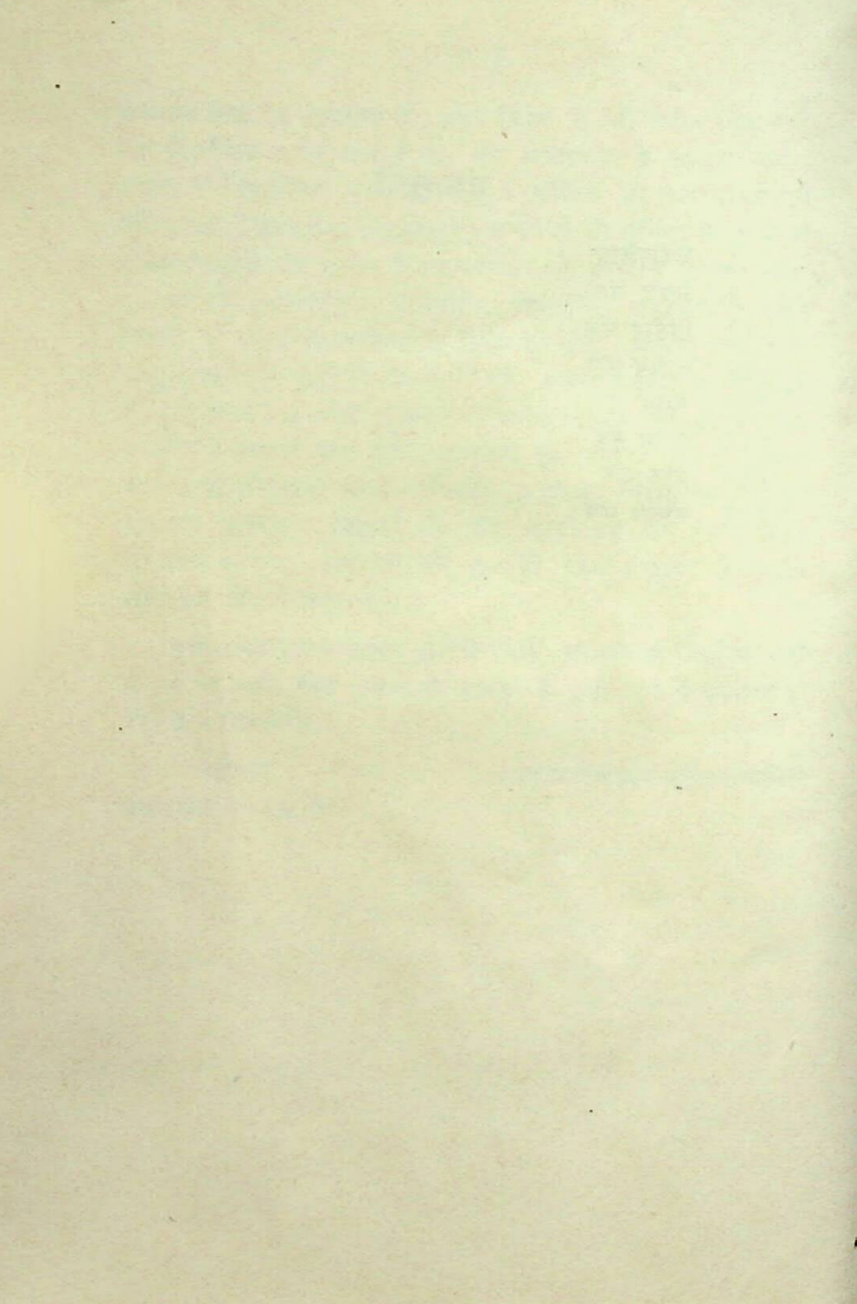
सम्प्रदाय सिद्ध एवं आदर्तव्य है। आज विश्व में जो नवीन विज्ञान ने एक सैद्धान्तिक क्रान्ति लाई है उस को आत्मवाद से सम्बद्ध करना वेदान्त के विद्वानों का मुख्य कर्तव्य है। भौतिक ही नहीं मानस एवं अतिमानस (Para psychology) अन्वेषणों की भूमिका का समन्वय वैदिक सिद्धान्त कर सकता है इस मान्यता को नारों से हटाकर व्यवहार क्षेत्र में लाना पड़ेगा। राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदि विषयों पर वैदिक विचारधारा से निर्णय देने होंगे। अन्यथा तथाकथित हिन्दू संस्कृति के नारों के पेट में भी हमें पाश्चात्यवादों का उच्छिष्ट ही दृष्ट होता है। इन्हीं दृष्टियों से अनेक विषयों पर विचार इन पृष्ठों में मिलेगा। धर्म एवं आत्मवाद ही हमारा क्षेत्र है। अतः अन्य क्षेत्रों में हमारा प्रवेश साधिकार न हो यह स्वाभाविक है। पर जब तक साधिकार विद्वानों की रुचि न हो तब तक इधर ध्यान आकर्षित करने का कार्य तो हमें इष्ट ही रहेगा। आशा है विद्वान लोग इस क्षेत्र में प्रवृत्त होंगे।

पुस्तक का प्रारूप भाषण होने से उनमें संश्लिष्टता नैसर्गिक नहीं है। परन्तु अपने प्रिय मित्रों के आग्रह से इसी रूप में प्रकाशन हो रहा है। शिवमिति

आगरा महामण्डलेश्वर महेशानन्दगिरि
उत्तरायण २०२२ वि०

मंत्र सूची

१ उपोद्घात
६ प्रथम मंत्र
३६ द्वितीय मंत्र
७३ तृतीय मंत्र
१०० चतुर्थ मंत्र
१३१ पंचम मंत्र
१४६ षष्ठ मंत्र
१६५ सप्तम मंत्र



साधन-सार

अभ्यासेन लयं नीते दृश्ये शून्यत्वमागते ।
साक्षिरूपं शिष्यते तच्छान्ते शून्येप्यनामयम् ।।१।।
वाङ्मानसं च तन्मुद्रे शिवशक्ती कुलाकुले ।
यत्र सर्वमिदं लीनं उपदेशं परं तु तत् ।।२।।
लल्लाहं निर्गता दूरं अन्वेष्टुं शंकरं विभुम् ।
भ्रान्त्वा लब्धो मया स्वस्मिन् देहे देवो गृहे स्थितः ।।३।।
ततः प्राणादिरोधेन प्रज्वाल्य ज्ञानदीपिकाम् ।
स्फुटं दृष्टो मया तत्र चित्स्वरूपो निरामयः ।।४।।
आत्मा परो दिनं रात्रिः यस्य सर्वम् इदं समम् ।
भातं अद्वैतमनसः तेन दृष्टोमरेश्वरः ।।५।।
चिदानन्दो ज्ञानरूपः प्रकाशाख्यो निरामयः ।
यैर्लब्धो देहवन्तोपि मुक्तास्तेन्येन्यथा स्थिताः ।।६।।
तंत्रं सर्वं लीयते मंत्र एव मंत्रश्चित्ते लीयते नादमूलः ।
चित्ते लीने लीयते सर्वमेव दृश्यं द्रष्टा शिष्यते चित्स्वरूपः ।।७।।
मायाजाड्यं तज्जडं बोधनीरं संसृत्याख्यं तद्घनत्वं हिमं च ।
चित्सूर्येस्मिन् प्रोदिते त्रीणि सद्यो जाड्यान्मुक्तं नीरमाद्यं शिवाख्यम् ।।८।।
ज्ञात्वा सर्वं मूढवत्तिष्ठ स्वस्थः श्रुत्वा सर्वं श्रोत्रहीनेन भाव्यम् ।
दृष्ट्वा सर्वं तूर्णमन्धत्वमेहि तत्त्वाभ्यासः कीर्तितोयं बुधेन्द्रैः ।।९।।
निन्दन्तु मामथ वा स्तुवन्तु कुर्वन्तु वार्चां विविधैः सुपुष्पैः ।
न हर्षमायाम्यथ वा विषादं विशुद्धबोधामृतपानस्वस्था ।।१०।।

नाशं गतेर्के खलु मानसंज्ञे मेयक्षयाख्या रजनी विभाति ।
जीवाख्यचन्द्रः शिवधाम्नि लीनः स्वाहन्त्वराहुं ग्रसते च
सद्यः ।।११।।

कामादिकं काननषट्कमेतच्छित्त्वामृतं बोधमयं मयाप्तम् ।
प्राणादिरोधात्प्रकृतिं च भक्त्या मनश्च दग्ध्वा शिवधाम
लब्धम् ।।१२।।

शीतार्थं वसनं ग्राह्यं क्षुधार्थं भोजनं तथा ।
मनो विवेकितां नेयमलं भोगानुचिन्तनैः ।।१३।।
लोभं त्यक्त्वा वैमनस्यं च तद्वत् कार्यो नित्यं स्वस्वभावावमर्शः ।
शून्याच्छून्यं नैव भिन्नं यथैवं तस्मात्त्वं तद्भेदबुद्धिर्वृथैव ।।१४।।
कश्चित्प्रसुप्तोपि विबुद्ध एव कश्चित्प्रबुद्धोपि च सुप्ततुल्यः ।
स्नातोपि कश्चिदशुचिर्मतो मे भुक्त्वा स्त्रियं चाप्यपरं
सुपूतः ।।१५।।

आकाशो भूर्वायुरापोनिलश्च रात्रिश्चाहश्चेति सर्वं त्वमेव ।
तत्कार्यत्वात्पुष्यमर्घादि च त्वं त्वत्पूजार्थन्नैव
किंचिल्लभेहम् ।।१६।।
देहादिषट्कोशपिधानतस्त्वामप्राप्य खिन्नास्मि चिरं महेश ।
उपाधिनिर्मुक्तविबोधरूपं ज्ञात्वाद्य विश्रान्तिमुपागता
त्वाम् ।।१७।।
मातृस्वरूपेण पयःप्रदा नु भार्यास्वरूपेण विलासकारिणी ।
यच्छक्तिरन्ते मृतिरूपमेति च कष्टेन लभ्यं शृणु तं गुरोः
शिवम् ।।१८।।
करोमि यत्कर्म तदेव पूजा वदामि यच्चापि तदेव मंत्रः ।
यदेव चायाति तथैव योगाद्द्रव्यं तदेवास्तिममात्र तन्त्रम् ।।१९।।



कर्तव्य और अकर्तव्य की मीमांसा का प्रश्न मानव मात्र के लिये समान रूप में सर्वदा उपस्थित होता है। जीवन के प्रत्येक क्षण में क्रिया अनिवार्य है। क्रिया को निरुद्ध करना भी एक क्रिया ही है। चलती हुई गाड़ी को रोकने के लिये रोधक का प्रयोग क्रिया से ही सम्पन्न होता है। तथापि आश्चर्य है कि क्या करें और क्या न करें इस का ज्ञान हमें प्रायः नहीं होता। इस प्रकार के कार्य अवश्य हैं जो अकार्य ही माने जा सकते हैं।

जिस प्रकार कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार ज्ञातव्य एवं अज्ञातव्य भी एक सार्वभौम जिज्ञासितव्य है। ज्ञान की भूख (ज्ञानाभिलाषा) सार्वजनीन है, यह प्रत्येक प्राणी का स्वानुभव है। एक संन्यासी अपने शिष्य को जब इस बात का दृढ़ निश्चय न करा सके तो उन्होंने एक बार उसे एक लकड़ी की पेटी देकर तीन मील दूर अपने गुरुभाई को दे आने के लिये कहा। साथ ही उन्होंने चेतावनी दी कि किसी भी हालत में पेटी मत खोलना। शिष्य लेकर चला। पेटी के अन्दर खड़क खड़क आवाज आती रही, यद्यपि शिष्य ने मन को बहुत रोका तथापि अन्ततोगत्वा एक स्थान पर उसकी जिज्ञासा जीत गई, पेटी खुलते ही उसमें से एक चुहिया निकल कर भाग गई। शिष्य को लौटा देख कर गुरु ने जल्दी लौटने का कारण पूछा। शिष्य अपना अपराध स्वीकारते हुए क्षमा प्रार्थना करने लगा। हँस कर संन्यासी बोले यह तो मैंने जिज्ञासा की सार्वभौमता का प्रत्यक्ष तुम्हें कराया है।

कर्तव्य एवं ज्ञातव्य प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय नहीं। एक शराबी को शराब पिलाने से सद्यः सुखानुभव एवं बाद में दुःखानुभव

प्रत्यक्ष ग्रौर ग्रनुमान से सिद्ध है। परन्तु उसे पिलाना कर्तव्य है या नहीं, यह उन प्रमाणों से सिद्ध नहीं। इसी प्रकार ज्ञातव्य पदार्थों की कोई सीमा नहीं एवं सारे ज्ञानों का ग्रन्त कहां होता है यह भी उन प्रमाणों से सिद्ध नहीं। इनके जवाब को पाने का एक मात्र उपाय वेद है। कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय धर्म, ग्रौर ज्ञातव्य की सीमा ब्रह्म है। धर्म-ब्रह्म ही वेद-प्रतिपाद्य है। जिस प्रकार विधिज्ञ (Lawyer) ही लौकिक व्यवहार के विषय में उपादेय राय दे सकता है—उसी प्रकार सर्व नियमों का निर्माता होने के कारण सर्वज्ञ परमेश्वर ही सार्वभौम चीजों में हमारा उचित सलाहकार हो सकता है। 'वेदस्य पुरुषः कर्ता न हि यादृशतादृशः। किन्तु त्रैलोक्य-रचना-निपुणः परमेश्वरः।' ग्रर्थात् वेद का प्रकाशक कोई ग्रल्पज्ञ पुरुष नहीं वरन् सृष्टि करने वाला परमेश्वर है। वेद इसीलिये धर्म ग्रौर ब्रह्म के विषय में एक मात्र प्रमाण है।

ग्राज के युग में धर्म ग्रौर ब्रह्म का निर्णय भी हम स्वबुद्धि-प्रत्यूहमात्र से करना चाहते हैं। ग्रपने संस्कार एवं वासनाग्रों से भरे हुए मन को निर्देशक स्वीकारना नाशकारी है। प्राचीन काल में भी हमें वेन, हिरण्यकशिपु इत्यादि का दृष्टान्त मिलता है। धर्म से चरमोन्नति के उत्तुंग शृङ्ग पर ग्रारूढ़ होकर भी किस प्रकार विनाश-गर्त में लीन हुग्रा जा सकता है यह नहुष के जीवन से पता लगता है। इन्द्र के ब्रह्म-हत्याग्रस्त होकर ग्रज्ञातवास करने के समय भारत सम्राट धर्म निष्ठ नहुष को देवराज इन्द्र का पद दिया गया। पद प्राप्ति से गर्व स्वाभाविक है। नहुष के मन में इन्द्र-पत्नी शची को स्वाङ्कशायिनी बनाने का संकल्प हुग्रा। विनाश-काले विपरीत-बुद्धिः। इन्द्र-पत्नी ने मासिक धर्म का बहाना किया फिर देवगुरु बृहस्पति से सलाह ली। उन्होंने सप्तर्षियों की पालकी पर ग्राने का निमन्त्रण भिजवाया। ग्रातुर नहुष ऋषियों की गति को तीव्र करने की ग्रभिलाषा से 'सर्प' (जल्दी चलो) कहते कहते ग्रगस्त्य को पाद प्रहार भी कर गया। ऋषियों का क्रोध भाजन बन सद्यः सर्पयोनि में पतित हुग्रा। मानव

से देवराज बन कर भी तिर्यक्-गति की प्राप्ति से धर्म का उच्च फल एवं अधर्म का निम्न फल इस कथा में कलात्मक रूप से अभिव्यक्त हुआ है। अतः हमें धर्म-ब्रह्म के निर्णयार्थ सदा ही वेद का आश्रय लेना चाहिये।

किसी भी रचना के पूर्व ज्ञान और इच्छा आवश्यक है, सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा में इच्छा होने पर भी सृष्टि उत्पन्न करने की प्रक्रिया का ज्ञान नहीं था। तपस्या द्वारा सदाशिव को प्रसन्न करके वेद प्राप्त किया। यही कालान्तर में ऋग् यजु साम और अथर्व में विभक्त होकर ११६० शाखाओं में प्रविभक्त हो गया। वेद में मन्त्र और ब्राह्मण दो भाग हैं। ब्राह्मण पुनः आरण्यक और उपनिषद् में बटता है। माण्डूक्य अथर्व वेद की उपनिषद है। इसका महत्व श्रीराम के हनुमान को 'माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये' मोक्ष की इच्छा वाले के लिये केवल माण्डूक्य ही पर्याप्त है (मुक्ति. १/२६) कहे हुए वचन से सिद्ध हो रहा है। यह यद्यपि श्रौत उपनिषदों में सबसे छोटी है तथापि इतनी महत्वपूर्ण है कि परम गुरु भगवान् गौडपादाचार्यों ने स्वयं इस पर कारिका लिखकर वेदान्त का प्रथम यौक्तिक उपन्यास उपस्थित किया है। इसका विषय ओंकार है एवं कर्म और ज्ञान दोनों का दार्शनिक आधार बीज रूप में प्रतिपादित है।

ओंकार को सामवेद ने सबका रस बताया है। "एषां भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपो रसः, अपां ओषधयो रसः, ओषधीनां पुरुषो रसः, पुरुषस्य वाक् रसः, वाचः ऋक् रसः, ऋचः साम रसः, साम्न उद्गीथो रसः। स एष रसाना ँ रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो य उद्गीथः" (छा० १/१/२-३) पृथ्वी भूतों का अर्थात् सारी सृष्टि का रस है। क्योंकि उसी के आधार पर समग्र सृष्टि रहती है। पृथ्वी का अधिष्ठान जल अर्थात् कर्म है। कर्म से ही सारा ब्रह्माण्ड नियंत्रित है। वस्तुतः व्यष्टि जगत् में शरीर ही पृथ्वी (पार्थिव) है। शरीर जलांश से ही जीवित है यह वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। कर्म से ही शरीर की प्राप्ति एवं संरक्षण होता है। अतः जल और कर्म अभिन्न है। सारी सृष्टि शरीर पर ही आधारित है। समष्टि जीवन

में भी पृथ्वी का जल के आश्रित होना स्वीकृत है। कर्म रूपी जल वासना रूपी ओषधि को सम्पन्न करता है। ओषं धीयत इति ओषधि:। तापत्रय का मूल वासनाएँ ही हैं। ओषधियों (Vegetable) का सार पुरुष है। वासना का सार ही तो पुरुष है। पुरुष का सार वाणी है। वाणी से ही पुरुष की श्रेष्ठता का निर्णय होता है। वस्तुत: यहां वेद ही वाणी है। काम मूलक इच्छाओं के लिये किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं परन्तु सदिच्छा वेदों के द्वारा ही उत्पन्न हो सकती है। वेदों का सार नियत पाद रचना वाला ऋग्वेद हैं क्योंकि उसमें परमेश्वर के गुणों का स्तुति रूप में वर्णन है। परमेश्वर की स्तुति ही सदिच्छाओं का सार है। सामवेद ऋग्वेद का संगीतीकरण है। संगीत में अपने आप को बहाकर एक महान् सत्ता में लीन करना सरल है। परमेश्वर की स्तुति के द्वारा जीव-भाव को विलीन करना ही सारी स्तुतियों का अर्थात् साधनाओं का सार है। सामवेद का सार ओंकार है। संगीत की समाप्ति नाद में होती है यह सभी उस्तादों का अनुभव है। इसका आगे और कोई सार नहीं क्यों कि इसके आगे का विषय वर्णनातीत है। इसी लिये श्रुति "ओं इति एतद् अक्षरं इद ँ सर्वम्" कह करके ओंकार को ही सर्व रूप बताती है।

किसी भी साधन को करने में असमर्थ केवल ओंकार के जप से सब कुछ प्राप्त कर सकता है। वेद के प्रत्येक मन्त्र के आदि और अन्त में ओंकार के उच्चारण का विधान उसकी वैदिक बीज रूपता का प्रतिपादन करता है। तैत्तिरीय आरण्यक में 'यो वेदादौ स्वर: प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठित:' (१२/३) के द्वारा इसका विधान किया गया है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद स्पष्टत: 'ओं इति परमात्मनोभिधानं नेदिष्ठं तस्मिन् प्रयुज्यमाने स प्रसीदति।' (छा० भा०) के द्वारा ओंकार को ही ब्रह्म का निकटतम एवं प्रियतम नाम स्वीकार करते हैं। चूंकि माण्डूक्योपनिषद् इसी ओंकार की व्याख्या है अत: इस उपनिषद् की श्रेष्ठता स्फुट है।

एक अनपढ़ व्यक्ति ने संन्यास लेना चाहा तो गुरु जी ने कहा तुम्हें एक शर्त पर मैं दीक्षा दूंगा कि तुम किसी व्यक्ति से बोलो नहीं । उसने मान लिया तो गुरु जी ने उसे संन्यास की दीक्षा देकर निरन्तर ओंकार का जप करने को कहा । उसे बोलना चालना तो किसी से था नहीं अतः ओंकार का ही जप निरन्तर करने लगा । कुछ ही वर्षों में केवल ओंकार का सतत जप करने से ही उसको ज्ञान हो गया ।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव ।१।

जो कुछ भी नाम रूपात्मक है जिस किसी चीज की भी सत्ता है वह सारा इदं रूप से अनुभूयमान ॐ यह अक्षर है। शंका हो सकती है कि पहले कुछ रहा होगा या आगे कुछ रहेगा जो ॐ नहीं है। इस शंका की निवृत्ति के लिये कहा गया। "जो कुछ है, था और होगा वह केवल ॐ ही है"। तब तीनों कालों से परे निर्गुण ब्रह्म ॐकार से अवश्य भिन्न होगा। इस शंका की निवृत्ति के लिये उसे भी ॐकार रूप ही श्रुति ने प्रतिपादित किया।

इस प्रकार परम महेश्वर के तीन रूपों का यहाँ उपन्यास है। (१) कार्य ब्रह्म (२) कारण ब्रह्म, (३) उभयातीत परमार्थ शुद्ध ब्रह्म। इन्हीं को सगुण साकार, सगुण निराकार एवं निर्गुण निराकार भी कहा जाता है। निर्गुण (Unmoved unmover) न किसी का कारण है और न किसी का कार्य है। यही अज साम्य और अचिन्त्य है। सगुण निराकार (Unmoved-Moyer) किसी का कार्य नहीं परन्तु सर्व कारण है। सगुण साकार (Moved-Mover) स्वयं भी कार्य है एवं दूसरे कार्यों को उत्पन्न भी करता है। कपड़े का कारण तांत स्वयं रुई का कार्य है अतः सगुण साकार है। रुई का कारण कपास का पौधा है जो स्वयं पृथ्वी का कार्य है। पृथ्वी भी क्रमशः जल, अग्नि, वायु और आकाश से उत्पन्न है। आकाश का विवर्त कारण आत्मा स्वयं किसी का कार्य नहीं। अतः जागतिक समग्र पदार्थ अन्तिम प्रकार के तत्त्व ही हैं। पञ्चमुखी, चतुर्मुखी, अष्टभुजी, चतुर्भुजी आदि मूर्तियाँ निराकार मायाविशिष्ट परमेश्वर से उत्पन्न होने के कारण एवं स्वयं भी सृष्टि, स्थिति, संहार वगैरह करने के कारण सगुण साकार ही सिद्ध होती है।

कारण रहित पदार्थ को निराकार कहना यद्यपि अटपटा लग सकता है परन्तु विचार करने पर पता लगता है कि कारणत्व की सीमा आकारत्व की सीमा से अभिन्न है। आकार अवयव वाला होता है, अवयवों का संश्लेषण ही कारणता है। अतः जहाँ अवयवों का संश्लेषण रूपी आकार नहीं होगा वहां कारणता भी नहीं होगी। इस विषय में Hegel के विचार वेदान्त से मिलते हैं। पृथ्वी का आकार अति स्थूल है। ठोस है अतः सर्वथा स्थिर है। तदपेक्षया जल द्रव है अतः पात्र परिवर्तन से आकार परिवर्तित हो जाता है। अवयवों के संश्लेषण की न्यूनता स्फुट है। अग्नि प्रतिक्षण में बदलती है। यहाँ पात्र परिवर्तन की भी आवश्यकता नहीं। वायु तदपेक्षया भी अदृष्ट होने के कारण आकार से रहित ही सूक्ष्म तत्त्व है। आकाश तो एक होने के कारण नैय्यायिकों के द्वारा स्वगत भेद रहित स्वीकार किया गया है। इसे वायु की तरह रुद्ध नहीं किया जा सकता। यह सर्वथा निराकार है।[1] आत्मा को परम सूक्ष्म होने के कारण निराकार स्वीकार करना ही पड़ता है। परम सूक्ष्मता ही कारण रहितता में हेतु है। क्योंकि सूक्ष्मता में कारणता मानी जाती है।

ब्रह्म की त्रिविध रूपता को हम खाँड के द्वारा भी समझ सकते हैं। खाँड की मधुरता निर्गुण निराकार, घुली हुई चासनी सगुण निराकार, एवं मिश्री सगुण साकार के रूप में कही जा सकती है। मधुरता सभी अवस्थाओं में रहती है यद्यपि गुण और आकार में परिवर्तन है। समानान्तरतः सच्चिदानन्द रूपता नित्य है एवं ब्रह्म के तीनों रूपों में एक जैसी है परन्तु गुण और आकारों में भेद है। निराकार निर्गुण और साकार सगुण दोनों को ब्रह्म का रूप मानना क्या वदतो व्याघात दोष ग्रस्त नहीं है? जिस प्रकार व्यक्ति निराकार

---

१. यद्यपि Boyle एवं अन्य आधुनिक निरन्तर दिक् सृष्टिवाद के सिद्धान्त लेखक को रुचिकर ही प्रतीत नहीं हुए हैं वरन् उनकी युक्ति युक्तता उसे मान्य है तथापि सामान्य जन की दृष्टि से ही यह बात कही गई है।

होने पर भी देह दृष्ट्या साकार माना जाता है एवं खून करने वाले व्यक्ति को देह की फाँसी से सजा दी हुई मान ली जाती है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये ।

एक संन्यासी के मन में कालहस्तीश्वर का दर्शन करते हुए सन्देह हुआ कि परमेश्वर निराकार हैं या साकार। उन्होंने अपनी छड़ी लिङ्ग के पास लगाई तो किसी प्रकार की रुकावट नहीं मालूम पड़ी। इससे निराकारता का निश्चय करके जैसे ही छड़ी को वापस खींच रहे थे कि छड़ी ने अटक कर साकारता का ज्ञान कराया। तब संन्यासी को निश्चय हुआ कि परमेश्वर निराकार व साकार दोनों है।

* * * *

ईश्वर की जगत् कारणता विवाद ग्रस्त है। 'न अस्ति क:' (परमेश्वर नहीं है) कह कर नास्तिक अपने को परमेश्वर की जगत् कारणता के विरुद्ध घोषित करता है। इन्हें सुन्दर वक्तृता वाला होने के कारण चारु वाक या चार्वाक भी कहा जाता है। यह कर्जा लेकर के भी घी खाने को पुरुषार्थ मानते हैं क्योंकि देह का जल जाना ही मोक्ष है। इनके मत में चार तत्वों के निश्चित परिणामों के मिश्रण के द्वारा पान में कत्थे चूने की लालिमा की तरह चेतनता उत्पन्न होती है। आधुनिक चार्वाक इस सिद्धान्त का सूक्ष्म परिष्कार करने पर भी चेतनता को भूत-गुण स्वीकार करने के कारण भिन्न मत वाले नहीं बन जाते। तत्त्वों के सम्मिश्रण से नीहारिकायें, उनके विस्फोट से नक्षत्र, नक्षत्रों के गुरुत्व संघर्ष से ग्रह, ग्रहों के ठंडे होने से उत्तुंग पर्वत एवं नीची खाड़ियाँ जो वृष्टि के जल से भर कर समुद्र बन गये। जल में बुदबुदे बने जिनका एक प्रकार एक कोषाजन्तु (जीवाणु) बना, जो विकासवाद के द्वारा आज के मानव में परिणत हुआ है, यही है संक्षिप्त अर्वाचीन नास्तिकवाद की तत्त्व मीमांसा।

प्राचीन चार्वाकों की तरह ये भी एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। यद्यपि व्यावहारिक विज्ञान अनुमान को भी प्रमाण

स्वीकारता है तथापि जब तक प्रत्यक्ष से सिद्ध न हो जाय तब तक आनुमानिक ज्ञान को ही प्रमा नहीं मानने के कारण अनुमान चार्वाक मत में प्रमाणाभास ही है ।

वस्तुतः प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण स्वीकार करना ज्ञान का वृथा संकोच है। दूसरे के सुखदुःख का ज्ञान कभी भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः शब्द-प्रामाण्य स्वीकारना ही पड़ता है। ईश्वर की नियामकता अस्वीकृत करने पर जगत् वैचित्र्य का यौक्तिक हल नहीं मिलता। अनेक मुनियों का साक्षात् अनुभव भी अपलाप का विषय दुःसाहसमात्र से ही बनाया जा सकता है । ईश्वर की दयालुता और कर्म-फल-दातृता परस्पर विरोधी नहीं अपितु परिपूरक है । गौतम बुद्ध की इस उक्ति को कि ईश्वर दयालु और न्याय-प्रिय दोनों नहीं हो सकता, अनेक महापुरुषों ने बिना विचारे ही दुहराया है। वस्तुतः सदाचार जबतक जीवन का अभिन्न अंग नहीं बन जाता तभी तक दोनों का विरोध लगता है । Kant काण्ट जिसे Categorical Imperative कहता है और प्रभाकर जिसे नियोग कहते हैं वही न्याय और दया का एकत्वानुभव है । बुद्ध के मत में सदाचार का फल, ईश्वर के अभाव में, दुःख निवृत्ति मात्र है । संसार एक बोझा है जिससे छूटना ही कर्तव्य है। परन्तु वैदिक सिद्धान्त में सदाचार या धर्म ईश्वर का स्वाभाविक आचार है । अतः सदाचार बलपूर्वक किसी दुःख से छूटने के लिये नहीं वरन् स्वाभाविक आनन्द का उल्लास है । यहाँ दया ही न्याय है और न्याय ही दया है । इस वैदिक सिद्धान्त की अनवगति ही नास्तिक मत की प्रसारता का कारण है ।

आस्तिक युक्ति नास्तिक मत की धज्जियाँ उड़ा देती है । यदि तत्त्वों का मिश्रण काल विशेष में हुआ तो उस क्षण से पूर्व या पश्चात् क्यों नहीं हुआ ? वे किसी एक निश्चित् आकार में ही क्यों मिले ? उनमें विकास का क्रम ही क्यों है ? यदि इनका कारण कोई कानून है तो कानून स्वयं प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं । अनेक प्रत्यक्ष घटनाओं को जिस सूत्र के द्वारा संग्रन्थन किया जाता है वह सूत्र स्वतः Concept (मति)

होता है percept (दृष्टि) नहीं । यदि कानून को स्वीकार भी कर लिया जाय तो कानून बनाने वाले को मानना पड़ेगा । बगैर बनाये कानून की स्थिति सर्व प्रमाण विरुद्ध है । एवं कानून बनाने वाला चेतन ही हो सकता है । अतः चेतन-कारणवाद या ईश्वर-कारणवाद ही सिद्ध होता है, जड़ कारणवाद नहीं ।

* * * *

जिस प्रकार मिट्टी के कार्य घट में सर्वत्र मिट्टी पाई जाती है उसी प्रकार ईश्वर की जगत कारणता स्वीकारने पर ईश्वर की जगत में सर्वत्र उपलब्धि भी होनी चाहिये । कार्य की कारण से अभिन्नता प्रत्यक्ष सिद्ध है । परन्तु जगत् में ईश्वर अनुपलब्ध है । इस शंका को दूर करना केवल वैदिकों के द्वारा ही संभव है । जिस प्रकार काल और दिशा पदार्थ मात्र से सम्बद्ध एवं सर्वव्यापी होने पर भी घड़ी, सूर्योदय, चन्द्रोदय, कुतुबनुमा आदि के द्वारा ही अनुभव में आते हैं उसी प्रकार सर्व व्यापक सदाशिव भी विशेष साधनाओं द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है ।

इसकी अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम केन्द्र हृदय है जहाँ पर 'मैं' रूप से प्राणिमात्र को चेतनता का प्रत्यक्ष अनुभव होता है । "यदिदं अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म" (छा० ८।१।१) के द्वारा श्रुति भगवती हृदय को ही ब्रह्म का पुर बता रही है । जैसे हमारे देश में नागपुर, कानपुर, जबलपुर आदि हैं उसी प्रकार वेद में ब्रह्मपुर बताया । यह सर्वदा हमारे अन्दर है और यहां राजाधिराज राज्य करता है । यद्यपि मन्दिर, ठाकुरवाड़ी, यज्ञशाला में भी लोग जाते हैं पर वेद उन्हें ब्रह्मपुर नहीं कहता । वहाँ पुजारी देवता से अधिक बलशाली सिद्ध होते हैं । ब्रह्मपुर में जाने के लिये न किसी पुजारी की आवश्यकता है और न किसी अर्जी की । जिस प्रकार राजा के मंत्री होते हैं उसी प्रकार यहां इन्द्रियां हैं । फौज की जगह पर वासनायें हैं । इसमें जाने पर निर्भय हो जाते हैं, इसी लिये सुषुप्ति अभय रूप होती है । हृदय

के पञ्च सुशिर (छेद) ही दरवाजे हैं। इस प्रकार श्रुति ने विस्तार से ब्रह्मपुर का वर्णन किया है।

ब्रह्म हृदय में है अर्थात् अन्दर है ऐसा सर्वव्यापक परमेश्वर का निर्देश क्यों किया जा रहा है यह समझने का विषय है। पूर्व कहाँ है? जिधर सूर्य का उदय है! सूर्य का उदय कहाँ होता है? दो तीन मील आगे। वहाँ जाने पर फिर वैसा ही तो तीन मील आगे लगता है। सूर्योदय का स्थान निश्चित नहीं किया जा सकता क्योंकि पृथ्वी का प्रत्येक बिन्दु ही किसी अन्य बिन्दु के लिये क्षितिज होने के कारण सूर्योदय का केन्द्र है। अतः सर्वत्र ही पूर्व दिशा है। लेकिन सूर्योदय के द्वारा निरीक्षक को पूर्व का ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार परमेश्वर अन्दर हैं इसका तात्पर्य उसकी सर्वत्रता में है। चूंकि प्रत्येक पदार्थ किसी की अपेक्षा अन्दर है अतः आन्तरत्व सर्वत्र है। हृदय में ही ब्रह्मानुभव उदय होता है। अतः हृदय का निर्देश साधक को अन्तर्मुखी दिशा बताने मात्र के लिये है। किसी मांस खण्ड में परमेश्वर को परिच्छिन्न करने के लिये नहीं। अतः उपासना के लिये हृदय के अन्दर सूक्ष्म छेद और उसके अन्दर भी शून्याकाश ही उपास्य बताया गया है। उधर मन ले जाने से अन्तर्मुखता आती है और अन्तर्मुखता ही शिवानुभव का एक मात्र साधन है। मन्दिर, प्रतिमा आदि में की हुई साधना हमें वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक आदि में भले ही पहुँचा दें, ब्रह्म प्राप्ति नहीं करा सकती। इसी लिये दहर विद्या को सर्वत्र व्यापक परमेश्वर की अभिव्यक्ति का उपाय बताया गया।

जिस प्रकार सर्व-देश में व्यापक सरकार की विशेषाभिव्यक्ति लोक सभा में होती है उसी प्रकार ब्रह्म की अभिव्यक्ति हृदय में होने के कारण ही प्रत्येक प्राणी अपने आपको निर्देश करते समय हृदय पर ही हाथ रखता है। भय, सुख इत्यादि का भी भान हृदय में ही होता है।

हृदय में परमेश्वर के साथ किस प्रकार सम्बन्ध किया जाय यह अनेक उपनिषदों में प्रतिपादित है एवं भागवत में शुकदेव ने परीक्षित

के प्रति भी इसका विस्तृत वर्णन किया है। सूत संहिता में तो इसका अत्यन्त अधिक विवरण दिया गया है। मोटे तौर पर स्थिर आसन में बैठकर मन का निरोध कर जब तक पूर्ण शान्ति का अनुभव न हो दीर्घ प्रणव का उच्चारण करे। शान्त होने के बाद ही ओंकार के अर्थ का अनुसंधान करे। दिन भर के अत्यन्त थके हुए व्यक्ति के सामने भोजन रखने पर भी जिस प्रकार उसे भोजन करना रुचिकर नहीं होता उसी प्रकार विक्षिप्त चित्त को आनन्द रूप ब्रह्म के सामने ले जाने पर भी वह उसे भोगने में असमर्थ रहता है। कुछ देर तक लेटकर थकावट दूर होने से उष्ण जल, तैलाभ्यंग के द्वारा शुचि होकर कोमल वस्त्र एवं चन्दनादि के लेप के अनन्तर जिस प्रकार नवाङ्गना के द्वारा भाव पूर्ण परोसने से पूर्ण तृप्ति के द्वारा भोजन किया जा सकता है उसी प्रकार विक्षिप्त चित्त के विक्षेप को दूर करके तप की उष्णता एवं भक्ति तेल के प्रयोग के बाद शुद्ध भाव से एवं शिव के गुणों से प्रफुल्लित अन्तःकरण ही प्रेम पूर्ण वृत्ति के द्वारा जीव को परमेश्वर के रसास्वाद के पूर्ण तर्पण का अनुभव कराता है। यही संक्षेप में दहरोपासना है। यहां कोई आकार मन को ध्येय रूप से नहीं बताया जाता। 'स शिवः सच्चिदानन्दः सोन्वेष्टव्यो मुमुक्षुभिः। (सू० सं०) अन्वेषण ही इस उपासना में मन का प्रधान कार्य है। बार बार परमेश्वर की व्यापक-आनन्दता का विचार करके उसी चेतना में मन को विचार द्वारा दृढ़ रूप से स्थिर कर दे, फिर भी यदि कोई वृत्ति बने तो वहाँ भी द्रष्टा और दृश्य दोनों को शिव रूप ही समझना पड़ता है। 'येन केनापि रूपेण यद् यद् भाति न भाति वा तेन तेनैव रूपेण शिव एवावभासते' (सू० सं) यदि इस स्थिति में रहना कठिन मालूम पड़े तो तैत्तिरीय आरण्यक (१३) ने 'पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखं-ज्वालमालाकुलं भाति विश्वस्यायतनं महत्। तस्य मध्ये महान् अग्निः विश्वार्चिः विश्वतोमुखः' के द्वारा प्रकाश स्वरूप का ध्यान बताया है। प्रत्येक वृत्ति एक ज्वाला है एवं अन्तःकरण ज्वालाओं की माला है। चैतन्य के प्रकाश से ही वे प्रकाशित हैं। इन के बीच में ही अति सूक्ष्म शिखा में अर्थात् अहंकार की वृत्ति

में स्वयं परमात्मा स्थित हैं 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः तस्यान्ते सुषिर ं सूक्ष्मं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं ।' (तै० आ० १३) अपने आपको उस परमात्मा से एकाकार करके सर्व ज्ञान के आश्रय रूप से 'सच्चिदानन्द रूपोऽहं' इस प्रकार का चिन्तन भी दहरोपासना है। यद्यपि यह उपासना कठिन व खतरनाक है तथापि सर्वश्रेष्ठ है । काम क्रोध को जिसने नहीं जीता है, ब्रह्मचर्यादि में जो प्रतिष्ठित नहीं है वह यदि इसे करता है तो पिप्पलाद की तरह उसकी गति होती है ।

महर्षि दधीचि ने देवताओं के लिये जब अपनी हड्डियों का दान दिया तब पिप्पलाद अपने दादा के घर था । जब पुत्र बड़ा हुआ और देवताओं की इस क्रूरता का पता चला तो उसने प्रलयकालीन रुद्र शक्ति को प्राप्त करने के लिये दहरोपासना की । जब मैं ही प्रलयंकारी रुद्र का तीसरा नेत्र हूं यह भावना दृढ़ हो गई तब भगवान् ने प्रकट होकर उससे वर मांगने को कहा । उसने प्रलयंकरी शक्ति मांगी । शिव ने उससे कुछ और मांगने को कहा पर वह न माना । तब भगवान ने उसे अपने हृदय में प्रलय रूप दर्शन करके फिर निर्णय करने को कहा । जैसे ही वह रूप हृदय में व्यक्त होने लगा सहन न कर सकने के कारण पिप्पलाद चिल्ला उठा 'अब बस करें, अब बस करें' । शंकर हंस कर बोले "यदि तुम शक्ति को सहन नहीं कर सकोगे तो देवताओं के विरुद्ध उसका प्रयोग कैसे कर सकोगे । सूर्य को जलाने पर तुम्हारी आंख का जलना निश्चित है, विष्णु को नष्ट करने पर अवश्य लंगड़े हो जाओगे । व्यष्टि और समष्टि एक हैं । अपने को सुरक्षित रखते हुए देवताओं का नाश करना असम्भव है ।" हाथ जोड़ कर पिप्पलाद ने पूछा "भगवन्, प्रलय काल में आप सर्वनाश कैसे कर पाते हैं" । हंसकर शिव बोले 'मैं रुद्र रूप से स्वयं भी तो प्रलय का विषय हूं ।' तब पिप्पलाद ने समझा कि शिव ही शुद्ध चैतन्य रूप में स्थित होकर सभी रूपों को नष्ट कर सकते हैं और कोई नहीं ।

अतः दहरोपासना में काम क्रोधादि विकारों से रहित होकर ही प्रवृत्त होना चाहिये ।

* * * *

उपासना में दहरोपासना श्रेष्ठ है, एवं दहरोपासना की योग्यता के लिये ब्रह्मचर्य परमावश्यक है। इसी लिये छान्दोग्य में 'एतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति' (छा० ८/४/३) कहकर पञ्चम खंड में ब्रह्मचर्य की ही प्रशंसा की है ।

ब्रह्मचर्य क्या है ? 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म' (अम० २५६३) के द्वारा वेदाध्ययन, तत्त्वभावना एवं तप ही ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है । अन्यत्र भी 'किं पुण्यमिति ब्रह्मचर्यमिति' (पुण्य क्या है ? ब्रह्मचर्य ही पुण्य है।) एवं ब्रह्मचर्ये स्थितो धर्मो ब्रह्मचर्ये स्थितस्तपः, ब्रह्मचर्यात्परं नास्ति धर्मसाधनमुत्तमम् । (सारे धर्म एवं तप ब्रह्मचर्य में ही स्थित हैं और उससे श्रेष्ठ और कोई धर्म का साधन नहीं) इत्यादि के द्वारा ब्रह्मचर्य की प्रशंसा की गई है। आश्चर्य है कि आज ऐसे अनन्त गुण वाले धर्म का परित्याग ही नहीं कर दिया गया है, वरन् कला के नाम से प्रचारित और प्रसारित सभी उपायों के द्वारा ब्रह्मचर्य को नष्ट करने का बीड़ा उठा लिया गया है। लेकिन स्मरण रखना चाहिये कि भारत की आधार शिला तभी दृढ़ हो पायेगी जब हम अपने बच्चों में ब्रह्मचर्य को दृढ़ रूप से स्थित कर पायेंगे ।

ब्रह्मचर्य का प्रथम व प्रधान अंग तप है यह काम को नष्ट कर देता है। कृष्ण काम को ज्ञान का नित्य वैरी बतलाते हैं। हमारे बड़े से बड़े दुश्मन किसी समय विशेष में ही दुश्मनी करते हैं परन्तु यह नित्य वैरी है । संसार में सबसे मरने के बाद वैर मिट जाता है परन्तु यह तो हमें दूसरे शरीर में भी नहीं छोड़ता । न इसको पूर्ण करके शान्त ही किया जा सकता है। वैवाहिक जीवन में भी हमारा आदर्श 'विवाहो न विलासार्थं प्रजाया एव केवलम्' (रघु०) काम का प्रयोग भोग के लिये नहीं बल्कि सन्तति मात्र के लिये है । आज तो

विपरीत गति है । विलास ही प्रधान है, सन्तति गौण । विलास के लिये भोग महाभारत में 'तेजोबुद्धिबलध्वंस:' कहा गया है । जिस प्रकार घृत निकला हुआ दूध शक्ति हीन होता है उसी प्रकार शुक्र रहित पुरुष । मिश्र देश वासी अमरता प्राप्ति के लिये जिस अमृत (elexir of life) को ढूंड रहे थे वह वस्तुत: शुक्र ही है । दक्ष स्पष्ट ही प्रतिप्रादित करते हैं कि शुक्र धारक जरा व्याधि और मृत्यु से रहित हो जाता है । हनुमान और भीष्म ने केवल अखण्ड ब्रह्मचर्य के द्वारा ही मृत्यु को जीत लिया था । एकसौ अस्सी वर्ष की उम्र में भीष्म दस दिन तक युद्ध करते रहे । हमारे वर्तमान युग में स्वयं महात्मा गांधी भी कहा करते थे कि यदि मैंने ब्रह्मचर्य की महत्ता को शुरू में समझ लिया होता तो मैं १२० वर्ष तक जीवित रह सकता ।

बारह साल के अखण्ड ब्रह्मचर्य से वीर्य ओज: बन जाता है और बारह वर्ष तक ओज: की रक्षा करने से वह मेधा रूप में परिणत हो जाता है । अत: २४ वर्ष के ब्रह्मचर्य के बाद ही आध्यात्मिक साधक मेधावी शिष्य बन सकेगा । जिस प्रकार दूध गरम करने के लिये मिट्टी का वर्तन सबसे अच्छा होता है परन्तु यदि एक बार उसमें दही जमा दिया जाय तो फिर दूध गरम नहीं किया जा सकता; इसी प्रकार देवादि देहों की अपेक्षा मानव देह योगादि के लिये श्रेष्ठ है परन्तु यदि भोग वासना का प्रवेश हो गया तो फिर साधना के लिये यह व्यर्थ हो जाता है । इसीलिये भगवान् गोरखनाथ 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुरक्षणं' वीर्य पात को मृत्यु और वीर्य स्थैर्य को जीवन बतलातें हैं । गृहस्थ यद्यपि इसका सर्वथा पालन नहीं कर सकता तथापि परदार-विमुख होकर भगवान ने जैसी भी पत्नी दी हो उसमें सन्तोष पूर्वक ऋतुकाल मात्र में, पर्व दिनों को छोड़कर रमण करने से ब्रह्मचारी जैसा ही फल पालेता है । पचीस वर्ष की उमर के पहले विवाह तो सर्वथा विनाशकारी है ।

रमण केवल शुक्र क्षरणात्मक क्रिया विशेष ही नहीं है। 'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणं संकल्पोध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिण:(मनु०   ) रमण सम्बन्धी पूर्वकृत क्रियाओं का स्मृति पथ में आना, रमण विषयक कथन, रमणियों से खेलना, काम दृष्टि पूर्वक अवलोकन करना, अश्लील वार्तालाप करना, मन में रमण विषयक संकल्प करना, एवं निश्चय करना और अन्तिम क्रिया यह आठों रमण के ही प्रकार हैं। इन सब से दूर रहने पर ही ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है।

Socretese कहा करता था कि जीवन में एक बार स्त्री संग काफी होना चाहिये। यदि यह सम्भव न हो सके तो वर्ष में एक बार करे परन्तु बुढ़ापे के लिये तय्यार रहे। इसमें भी असमर्थ मास में एक बार कर सकता है परन्तु बीमारी का घर बना रहने को तय्यार रहे। यदि इतने से सन्तोष नहीं तो कब्र खुदवाकर सिर में कफन बांध कर जितना मन में आवे करे।

ब्रह्मचर्य पालन के नियमों का शास्त्रों में विस्तृत वर्णन है।

(१) सरल जीवन। वस्त्र इस प्रकार के पहनने चाहिये जिसमें दूसरा मुझे काम दृष्टि से देखे यह भावना न हो। आजकल तो वस्त्रों का एकमात्र उपयोग कामोद्दीपन ही रह गया है।

(२) कामोत्पादक संगत्याग। सिनेमा, चलचित्र, उपन्यास इत्यादि का त्याग।

(३) शुद्ध भोजन। मांस, सुरा, अत्यधिक गरम, मादक, प्याज आदि का त्याग।

(४) नियमित व्यायाम। प्रमाद एवं स्थूलता काम वर्धक होती है।

(५) निद्रा न्यूनता। ब्राह्म मुहूर्त में अवश्य उठ जाना, दिन में न सोना, रात्रि को परमेश्वर का ध्यान करके सोना। आंख खुलते ही बिछौने से उठ जाना।

(६) स्नान। रगड़ रगड़ कर शरीर के मल को साफ करना एवं सभी जोड़ों को और अंग प्रत्यंग को अच्छी तरह से धोना।

(७) दम्पतियों का एक ही शय्या में न सोना।

(८) जब कभी काम अभिव्यक्त होवे तब ठंडे जल से इन्द्रिय प्रक्षालन अथवा स्नान।

(९) नियमित जप और ध्यान।

(१०) सर्वोत्तम और सब समय करने का नियम। पुरुषत्व और स्त्रीत्व की भावना छोड़कर अपने में और दूसरों में केवल ब्रह्म भावना करना, जो अपने को पुरुष समझता है वही दूसरे को स्त्री समझकर उसमें आसक्त होता है। अतः ब्रह्म भावना करने वाला सर्वथा ब्रह्मचारी बन जाता है।

एक बार किसी महात्मा ने दूसरे महात्मा से पूछा आपने अभी यहाँ से जिस सुन्दरी स्त्री को जाते देखा उसी स्त्री के पीछे राजकुमार ने राज्य छोड़ दिया है। दूसरे महात्मा बोले मैंने स्त्री तो नहीं लेकिन चलता हुआ हड्डियों का पींजरा अवश्य देखा है। इस स्थिति में ब्रह्मचर्य स्वाभाविक हो जाता है।

वेदो ब्रह्म। ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ वेद का अध्ययन एवं वेद प्रतिपादित धर्म का आचरण है। वैदिक धर्म का सार है विवेक पूर्ण व्यवहार। भक्ष्याभक्ष्य का विवेक, कर्तव्याकर्तव्य का विवेक, संग्रह-असंग्रह का विवेक इत्यादि सभी इसी के अन्तर्गत हैं। मनुष्य सदा चौराहे पर खड़ा रहता है। वेद कहता है 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्तिधीरः' (कठ० २.२) मनुष्य के पास कल्याण और मौज दोनों उपस्थित होकर अपनी-अपनी तरफ खींचते हैं, बुद्धिमान पुरुष परीक्षा करके चुनाव करता है। जिस प्रकार घर से निकलने पर एक रास्ता होटल और सिनेमा की तरफ जाता है और दूसरा मन्दिर और सत्संग भवन को। बुद्धिमान पुरुष ही विचार पूर्वक देखता है कि प्रथम वर्ग मौज का स्थान होने पर भी अन्त में उदर-

शूल और अन्धा बना देगा । द्वितीय वर्ग मन को शान्त और जीवन को सुखी बनायेगा । अतः वही उपादेय है।

वस्तुतः अविवेक अज्ञान से उत्पन्न होता है। पदार्थ के प्रकृति एवं मूल्य की अनभिज्ञता हमें विवेक नहीं करने देती। अतः विवेक के प्रति ज्ञान की कारणता स्वतः सिद्ध है । ज्ञान प्राप्ति के प्रति सबसे बड़ा प्रतिबन्धक अभिमान है। यह समझना कि मैं सब कुछ जानता हूं मानसिक वातायन को निरुद्ध कर देता है। फिर नवीन ज्ञान की संभावना कहां, जब तक हमें कर्म और उसके फल के सम्बन्ध का दृढ़ निश्चय नहीं हो जाता तब तक प्रमाद स्वाभाविक है एवं धर्म की ओर प्रवृत्ति असम्भव है । स्कन्द पुराण में इसीलिये कहा गया है 'महापापवतां राजन् ज्ञानयज्ञो न रोचते' (सू० सं०) महान् पाप से युक्त व्यक्तियों को तत्त्व ज्ञान के प्रति प्रवृत्ति रुचती नहीं है । अज्ञान को भगवान् कृष्ण ने भी 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' कह कर ज्ञान का अवरोधक माना है। अतः अज्ञान एवं पाप स्वरूपतः एक हैं। महाभारतकार तो स्पष्ट ही 'किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा' कह कर अज्ञानी को ही सबसे बड़ा पापी बतला रहे हैं।

आधुनिक लोगों में एक धारणा बन गई है कि हम संसारी लोग पापी हैं और हमारे उद्धार का कोई उपाय नहीं। लोगों को मन्दिर में आने के लिये कहने पर 'जब आप बुलायेंगे तब आयेंगे' कहने की आदत पड़ गई है। तकदीरवाद का वैदिक सम्प्रदाय से कोई भी समझौता नहीं हो सकता। वैदिक कर्म सिद्धान्त मानव को स्वतंत्र स्वीकार करता है। यदि कोई कील दीवाल में गड़ी हुई है तो अवश्य गाड़ी गई है। चूंकि वह गाड़ी गई है इसीलिये वह अवश्य उखाड़ी जा सकती है। यह बात अवश्य है कि निकालने में ठोकने के अनुरूप ही प्रयत्न अपेक्षित है। अतः धर्म का ज्ञान प्रथम सोपान है। यह ज्ञान केवल वेद से ही सम्भव है। अतः वेदाध्ययन रूपी ब्रह्मचर्य ही प्रथम सोपान है। वेदज्ञ पाप रहित होकर सुखेन स्वपिति। उसे कोई

चिन्ता नहीं हो सकती। क्यों कि चिन्ता अज्ञान के कारण ही होती है।

वेदाध्ययन गुरुमुख से श्रवण करने पर ही सफल होता है। यद्यपि आजकल के लोग गुरु शुश्रूषा से घबराकर केवल अपनी बुद्धि के बल से मुद्रित पुस्तक एवं कोष की सहायता से वेदज्ञ बनने का दुःस्साहस करते हैं। परन्तु यही कारण है कि वह वेदार्थ नहीं वेद का अनर्थ किया करते हैं। गुरु कृपा पर ही वेदज्ञान निर्भर है। इस विषय में भारद्वाज की कथा प्रसिद्ध है। बचपन में वेदों का अध्ययन न करके जब बड़े होकर भाइयों के अपमान को न सह सका तो तप के बल से वेद ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया। प्रथम भगवान् विष्णु को प्रसन्न किया और फिर भगवान् ब्रह्मा को। उन्होंने भी अपने आपको बिना पढ़े, ज्ञान कराने में असमर्थ बताया। अश्रान्त भरद्वाज का पुत्र भगवान् शंकर की तपस्या में प्रवृत्त हुआ। एक दिन वृद्ध मनुष्य का रूप लेकर भगवान् शंकर वहीं आये एवं मुट्ठी भरके बालू नदी में डालने लगे। जब भारद्वाज ने प्रश्न किया क्या कर रहे हैं तो वृद्ध ने उत्तर दिया मैं बुड्ढा हो गया हूं और तैरना नहीं जानता। मुझे नदी के पार जाना है अतः पुल बना रहा हूं। भारद्वाज ने कहा कैसी बात करते हैं क्या यह कभी सम्भव है। नाव में बैठ कर मल्लाह की सहायता से पार जावें वृद्ध ने कहा यदि बिना गुरु की सहायता से वेदाध्ययन किये हुए तुम विद्यासमुद्र को चन्द मुट्ठीभर तपस्या से पार कर सकते हो तो मेरी आशा भी सफल हो सकती है। भारद्वाज समझ गये और वृद्ध के चरणों पर गिर पड़े। भगवान् शंकर ने अपने स्वरूप से प्रकट होकर ओंकार का उपदेश दिया जिसके द्वारा भारद्वाज वेदज्ञ बन गये। इस कथा से निश्चय होता है कि ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरु शुश्रूषा के द्वारा ही वेदाध्ययन सम्भव है। वेदों में काम्य कर्म एवं ज्ञान और उपासना सभी का वर्णन है। यद्यपि काम्य पदार्थों की बहुलता की वजह से अधिकतम भागों में कर्म का वर्णन है तथापि उनका भी अन्तिम समन्वय ज्ञान में ही होता

है। शनैः शनैः काम्य कर्मों के द्वारा जो अन्तःकरण में शुद्धि आती है उससे मनुष्य की परमेश्वरोन्मुखी प्रवृत्ति बढ़ती है। साङ्ग कर्म सम्पादन की सफलता के द्वारा नास्तिक में भी श्रद्धा का संचार हो जाता है। अतः काम्य-कर्म ही प्रथम सोपान है।

*   *   *   *

ब्रह्मचर्य का तीसरा तात्पर्य तत्त्वचर्या है। तत्त्व अर्थात् परमेश्वर का पूजन ही इसका प्रधान अंग है। मानव की ज्ञान, भावना और क्रिया, तीनों शक्तियों का उपयोग इसमें अत्यन्त सरलता से हो जाता है। मनुष्य इन तीनों शक्तियों का प्रयोग संसार की बातें जानने में, सांसारिक लोगों के साथ सम्बन्ध कायम करने में, सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने में, उनके रक्षण में और अनिष्ट पदार्थों को दूर करने में या नष्ट करने में लगाता है। तथापि प्रायशः क्रिया शक्ति की ही प्रधानता मनुष्य में पायी जाती है। समाज का अत्यल्प भाग कवियों का या लेखकों का होता है जिनमें भावना की प्रधानता होती है। कुछ नगण्य व्यक्ति ज्ञान शक्ति की प्रधानता के कारण दार्शनिक या शुद्ध वैज्ञानिक क्षेत्र में रुचि लेते हैं, फिर भी दैनन्दिन जीवन में प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनाधिक परिमाण में तीनों ही शक्तियों का प्रयोग करना पड़ता है। छोटे से छोटा कार्य भी बिना ज्ञान के नहीं हो सकता। न भावना के बिना तदर्थ प्रवृत्ति ही सम्भव है। ज्ञान के बिना कार्य करने वाला उस नवोढ़ा पत्नी की तरह है जिसने पाक विज्ञान की किताब का पन्ना उलट जाने के कारण हलुवे में चीनी की जगह नमक डाल दिया था।

मानव समझता है यदि यथेष्ट विषय उपलब्ध हो जायेंगे तो सुख और शान्ति हो जायेगी। इसी अन्धविश्वास के कारण अपनी सारी क्रिया शक्ति को इसी तरफ लगा देता है। इसका परिणाम क्या है? अनादिकाल से इतना प्रयत्न करने पर भी हम दुःख ही पाते रहे हैं। ज्ञान शक्ति के द्वारा सुख के लक्षण साधन आदि का विचार न करके

प्रवृत्ति करना ही इसका कारण है। शास्त्र कहता है 'विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म' (श० ब्रा० १४·६) आनन्द स्वरूप केवल परमेश्वर ही हैं, उसमें मन लगाने से ही आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। चूंकि हम सर्व व्यापक सदाशिव तत्व को एक ब एक मनोवृत्ति का विषय नहीं बना सकते अतः किसी बाह्य मूर्ति पर महेश्वर भावना के द्वारा अभ्यास आवश्यक हो जाता है। पूजा के द्वारा क्रिया शक्ति भी सफल हो जाती है।

आधुनिक लोग ही नहीं अति प्राचीन काल से कुछ लोगों का प्रश्न रहा है कि निराकार परमेश्वर की कल्पित मूर्ति स्वरूप से मिथ्या होने के कारण उसका फल सत्य नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि सारा संसार ही उसका रूप होने के कारण किसी भी एक स्थल में उसकी पूजा दार्शनिक दृष्ट्या विहित मानी जा सकती है तो अपनी पत्नी, पुत्र या धन भी तो ब्रह्म रूप होने के कारण हमारी उपासना का विषय हो जाना चाहिये। फिर तो मोहासक्ति और शिवासक्ति अभिन्न हो जायेगी। जो किसी भी धर्म को इष्ट नहीं है।

वस्तुतस्तु उपासना का जितना सुन्दर समन्वय वैदिक सिद्धान्त में मिलता है उतना किसी भी भक्ति शास्त्र की पोथियों में नहीं। यहां उपासना दृढ़ दार्शनिक आधार पर व्यवस्थित है केवल कल्पनाओं की उड़ानों पर नहीं। भ्रम के दो प्रकारों का निरूपण भगवान सुरेश्वराचार्यों ने वार्तिक में प्रतिपादित किया है।

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः
मिथ्याज्ञानाविशेषोऽपि विशेषोर्थः क्रियाप्रति (ब्रा० ब०)

इसका ही विस्तार आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने ध्यान दीप प्रकरण में एवं आचार्य अप्पयदीक्षितेन्द्र ने शिवार्कमणिदीपिका में करके वैदिक भक्ति का निरूपण किया है।

यद्यपि दूर से दो व्यक्ति कुछ जगमगाती चीज़ को देखते हैं। दोनों ही उस जगमगाहट को हीरा समझ कर दौड़ते हैं। प्रथम व्यक्ति वहां पर एक दीपक को देखता है; द्वितीय वहां हीरे को पाता

है । विचार करने पर जगमगाहट प्रकाश रूप है न कि दीपक रूप या हीरा रूप । परन्तु दीपक की जगमगाहट में हीरे की भ्रान्ति और हीरे की जगमगाहट में हीरे की भ्रान्ति फलतः भिन्न होने के कारण भिन्न माननी पड़ती है। दीपक की जगमगाहट में हीरे की भ्रान्ति से हीरा नहीं मिलता, परन्तु हीरे की जगमगाहट में हीरे की भ्रान्ति से हीरा उपलब्ध हो जाता है । प्रथम विसंवादी भ्रम है एवं दूसरा संवादी भ्रम है । वाष्प को धुआं समझकर वहां अग्नि का अनुमान करके जाने वाला अग्नि पा लेता है। यहां भी वाष्प को धूम समझना संवादी भ्रम है क्यों कि अग्नि मिल जाती है । परन्तु धूलि पटल को धूआं समझने पर अग्नि की अप्राप्ति के कारण उसे विसंवादी भ्रम माना जायगा । यहां अनुमान में भ्रान्ति है । इसी प्रकार गोदावरी के जल को गंगा जल समझकर पवित्र होने के लिये स्नान करना संवादी भ्रम है । क्योंकि गोदावरी का जल भी पवित्र करने वाला है अतः पवित्रता रूपी फल मिल जाता है । यह शास्त्रीय संवादी भ्रम है । सामान्य कूप जल में पवित्रता करने की अक्षमता के कारण गंगाजल की भ्रान्ति शास्त्रीय विसंवादी भ्रम है । इसी प्रकार परमेश्वर के प्रतीक की बाह्य पूजा में संवादी भ्रम रूपता होने के कारण सफलता है परन्तु पति, पत्नी, धन जायदाद, पुत्र इत्यादि की पूजा विसंवादी होने के कारण निष्फल है ।

* * * *

मकान के अन्तिम तल्ले पर चढ़ने के लिए लिफ्ट, सीढ़ी, drainage pipe (मोटा नल) या रस्सी की सहायता ली जा सकती है। सफेदी करने वाला scaffolding (सीढ़ी) ही बना डालता है । किसी भी उपाय के द्वारा वहां पहुंचने पर शीतवात, खुला दृश्य, आह्लादकारी चन्द्रमा इत्यादि तो सभी समान रूप से भोगेंगे । यह दूसरी बात है कि लिफ्ट वाला रास्ते में आराम पायेगा, सीढ़ी वाला थक जायेगा, drainage pipe वाला पकड़ा जायेगा, रस्सीवाला सम्भवतः गिर जायेगा । परन्तु व्यक्तिगत रुचि और शक्ति

से वैचित्र्य स्वाभाविक है । साहसी व्यक्ति सामान्य मार्ग से चलने में गौरव का अनुभव नहीं करता । इसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म, कारण ब्रह्म, कार्य ब्रह्म, कार्यैक देश ब्रह्म आदि कल्पनायें शास्त्रों ने भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की रुचि और शक्ति के अनुसार की हैं । सिन्धु मार्ग से चलकर कराची और गंग मार्ग से चलकर डायमन्ड हार्बर पहुंचने वाले दोनों ही व्यक्ति सर्वथा विपरीत दिशाओं में चलने पर भी समुद्र को पाते हैं । इसी प्रकार भेदों के होने पर भी ब्रह्मोपासना अन्ततः ब्रह्म की ही प्राप्ति कराती है ।

उपासनाओं में दहरोपासना की श्रेष्ठता पूर्व में बता आये हैं । इसके अंग स्वरूप ब्रह्मचर्य का भी निरूपण किया था । भगवत्पूजन भी इसका अभिन्न अंग है । इसमें भावना, ज्ञान और क्रिया तीनों का पूर्ण प्रयोग हो जाता है । शास्त्रीय पद्धति है कि पूजा के लिये पुष्प, जल, चन्दन आदि स्वयं लाना चाहिये । शारीरिक श्रम को नौकरों पर छोड़ना पूजा को पूर्ण नहीं होने देता । शिव के लिये शारीरिक श्रम से घबराना स्पष्ट ही प्रेम की कमी को बतलाता है । आदर्श रूप से तो शिव पूजा के लिये पुष्प के पौधे भी स्वयं लगाने चाहिये । चाहे घर में तुम्हारा सारा कार्य ही नौकर क्यों न करते हों भगवत्सेवा के लिये उनकी सहायता अनुपादेय है । हिमाचल प्रदेश के एक महाराजा पूजा के कमरे में सफेदी तक स्वयं करते हैं । एक बार कुछ हिस्सा टूट जाने पर मिस्त्री को बाहर बिठाकर उसके निर्देशानुसार स्वयं ही सीमेन्ट इत्यादि के द्वारा मरम्मत भी की । वास्तविक प्रेम होने पर यद्यपि यह स्वाभाविक है तथापि साधक को प्रयत्न पूर्वक ऐसी दृष्टि अपनानी चाहिये तभी क्रिया शक्ति का पूर्ण उपयोग माना जायेगा । लिङ्ग अथवा मूर्ति में महेश्वर की भावना करने में भावना शक्ति का उपयोग तो पूजा में स्पष्ट ही है । पूजा पद्धति के ज्ञान में ज्ञान-शक्ति का उपयोग होता है । इदानीं काल में इस शक्ति का अनुपयोग अविचारशीलों के द्वारा प्रेम कहकर

वर्णित किया जाता है। पूजा के विस्तृत विचार से यह बात और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा सकता है।

पूजा का प्रथम अंग साष्टाङ्ग प्रणाम है। साष्टाङ्ग प्रणाम हमारे अहंकार को दूर करता है। विशेष करके आज का युग वस्त्राभिमान का युग है। कपड़े गन्दे होने के भय से अनेक लोग साष्टाङ्ग प्रणाम से घबराते हैं। परन्तु यदि यह अभिमान ही नहीं छोड़ पाये तो आगे की पूजा क्या करेंगे? एक सेठ जी काशी विश्वनाथ का दर्शन करने आये। परन्तु विश्वनाथ तो ठहरे विश्व के नाथ। अतः कीचड़ सने पैरों वालों का आधिक्य मन्दिर में कीचड़ की प्रधानता करदे यह स्वाभाविक है। कपड़ों के विगड़ने के डर से सेठ जी साष्टाङ्ग प्रणाम में संकोच कर रहे थे। परन्तु थे भक्त। अतः तुरन्त मन में आया जो कपड़े मेरे और शिव के बीच में व्यवधान डालते हैं वे किस काम के? तुरन्त उन्होंने अपने कपड़े फाड़ डाले। यदि हम बाहरी कपड़ों को ही नहीं दूर कर सकेंगे तो आभ्यन्तर पञ्च कोषों को दूर करना तो सर्वथा असंभव होगा। वस्तुतः अष्ट अंग अष्ट पुरी के ही प्रतीक हैं। पुर्यष्टक को शिवार्पण करना ही साष्टांग प्रणाम है। यह इसका क्रिया अंश है। वे पिता हैं और मैं पुत्र हूँ इस प्रकार की भावना भी साथ ही होनी चाहिये। इस प्रणाम के अर्थ को जानना यह ज्ञान शक्ति का उपयोग है। मूर्ति का ज्ञान भी आवश्यक है। कश्मीर में हमने एक बार एक यवन को नर्मदेश्वर के द्वारा करम हांग तोलते देखा। वह म्लेच्छ नर्मदेश्वर की कीमत को क्या समझे। वही किसी वैदिक के हाथ पड़ता तो न जाने कितने प्रेम से उसकी पूजा होती और सम्भवतः पूजक परमेश्वर साक्षात्कार का आनन्द भी ले लेता।

प्रणाम के बाद आचमन का विधान है। आचमन अर्थात् मंत्र पूर्वक जल बिन्दुओं का मुद्रा विशेष से पान करना। यह क्रिया रूप है। वरुण पाप नाशक है। अतः उनका भौतिक स्वरूप जल भी पाप नाशक है। ऐसी भावना करना और इस बात को जानना अन्य दो

शक्तियों के प्रयोग हैं। देह त्रय की पवित्रता के लिये तीन आचमन किये जाते हैं।

पूजा का तृतीय अंग है प्राणायाम। प्राण मन और इन्द्रिय का प्रतीक है। प्राण का नियन्त्रण वस्तुत: इन्द्रिय और क्रिया शक्ति के शोधनार्थ है। यहां भी प्राणायाम करते हुए समग्र इन्द्रिय और मन के निरोध की भावना करनी ही पड़ती है।

प्राणायाम के बाद ध्यान का विधान है। वस्तुत: उपासना का अर्थ समीप बैठना ही है। परन्तु अशरीरी सदाशिव के पास शरीर तो बैठ नहीं सकता। अत: मन को ही सदाशिव की तरफ ले जाना पड़ता है। इसी का नाम ध्यान है। चूंकि मन केवल पांच इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात पदार्थों का चिन्तन अथवा त्रिगुणात्मक चिन्तन ही कर सकता है अत: निर्गुण की उपासना संभव नहीं। निर्गुण तो केवल ज्ञेय है। जिस प्रकार रेल को चलने के लिये पटरी चाहिये। मोटर को चलने के लिये सड़क चाहिये परन्तु बुलडोजर बिना किसी मार्ग के स्वयं ही चल जाता है उसी प्रकार उपासना के लिये गुणों की पटरी अथवा भौतिक सड़क की आवश्यकता है परन्तु ज्ञान निर्गुण मार्ग पर भी चल सकता है। लेकिन यह ज्ञान शनै: शनै: प्राप्त होता है एवं पूजा में सगुण ध्यान इसकी प्राप्ति का एक अंग है। ध्यान के समय 'तद् विष्णो: परमं पदम्' कह कर उस व्यापक परमेश्वर के परमाधिष्ठान सदाशिव तत्त्व का स्मरण किया जाता है। वही सारी उपासनाओं का गन्तव्य है। वस्तुत: सदाशिव एक विन्दु है और हमारी वर्तमान स्थिति दूसरा बिन्दु। यह दो बिन्दु ही रेखा रूपी साधन मार्ग के नियामक हैं। सदाशिव बिन्दु स्थिर नियत एवं एक ही है। दूसरा बिन्दु प्रत्येक जीव का भिन्न है। अत: उसके ध्यान के बाद स्व बिन्दु का चिन्तन किया जाता है।

पूजा का चतुर्थ अंग संकल्प है। संकल्प में जीव देश, काल, कुल आदि सभी के द्वारा स्व बिन्दु का चिन्तन करता है।

पूजा का पञ्चम अंग भस्म धारण है। भस्म ही अन्तिम परिणाम है। यजुर्वेद स्पष्ट बतलाता है भस्मान्त ँ शरीरम्। जो कुछ भी जीर्ण होता है उसका अन्त भस्म ही है। इस परिणाम के बाद कोयला, हीरा, नाइलौन, रेशम, खद्दर सभी एक रूप हो जाते हैं। इसी प्रकार ज्ञानाग्नि के द्वारा जली हुई अनादि सिद्ध माया भस्म रूप रह जाती है। सब कुछ एक रूप ही हो जाता है। मोह और शोक की निवृत्ति हो जाती है। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः (यजु०) जिस प्रकार पर्वत के समान भी भस्मी का ढेर वायु के द्वारा उड़ा दिया जाता है जिसके पश्चात् वहां कुछ था भी या नहीं यह नहीं पता चलता उसी प्रकार समाधि के दीर्घाभ्यास के फल स्वरूप विश्व का लव लेश भी नहीं बचता। स्वप्नस्थ पचास हजार वर्ष का पुराना हिमालय पर्वत जागने पर कंकड़ मात्र भी अवशिष्ट नहीं रहता। इसी प्रकार ज्ञानोत्तर काल में जागृत, स्वप्न और सौषुप्त जगत् निरवशेष हो जाते हैं। क्व गतं, केनवानीतं कुत्रलीनमिदं जगत् (वि० चू०) इस भावना के साथ ही भस्म धारण किया जाता है। भस्म धारण के बिना पूजा निष्फल है। स्त्री पुरुष आदि सभी का कर्तव्य भस्म धारण है।

रुद्राक्ष धारण पूजा का षष्ठाङ्ग है, रुद्र नन्दने धातु से सम्पन्न हुआ रुद्राक्ष शब्द प्रत्यक्ष आनन्ददाता अर्थ वाला है। अतः रुद्राक्ष धारण अपरोक्षानुभव के द्वारा ब्रह्मानन्द के अनुभव का वाचक है। संसार में कभी भी आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। यहां तो सुखाभास ही आनन्द नाम से कहा जाता है। दुःख से जिसका वेधन न हो सके ऐसे आद्यन्त रहित सुख को ही आनन्द कहा जा सकता है। हम ऐसे आनन्द रूप पर ब्रह्म को हृदय में सदा धारण करें यही रुद्राक्ष धारण का तात्पर्य है।

इसके बाद पूजक आसन शुद्धि करता है। आसन वह है जो हमारा अधिष्ठान है, जिस पर हम बैठते हैं। शुद्ध चैतन्य ही जगत् का

अधिष्ठान है, सारा संसार उस सदाशिव में ही अध्यस्त है, यह चिन्तन ही आसन शुद्धि है ।

पृथ्वित्वया धृतालोका: देवित्वं विष्णुनाधृता
त्वं च धारयमां देवि पवित्रं कुरु चासनम् ।

माया ही अति पृथु (विस्तीर्ण) होने के कारण यहां पृथ्वी कही गई है। सारा जगत् माया के द्वारा ही स्थित है। और वह माया देवी सर्वव्यापक परमेश्वर के द्वारा धारण की जाती है। जब हम अपना आधार अपने ऊपर न रख कर भगवती के सुपुर्द कर देते हैं तभी माया आवरण से रहित होकर (पवित्र) आसन अर्थात् अधिष्ठान वाले हो जाते हैं ।

वरुण पूजा अर्थात् घटस्थापन सभी पूजाओं का विशेष अंग है। परमेश्वर की पूजा पारमेश्वर पदार्थों से ही की जा सकती है। चेतन शिव का पूजन अचेतन जड़ से करना नासमझी का परिचायक है। अत: पूजन के पूर्व सारी पूजन सामग्री को दैवी बनाना आवश्यक है। जल हमारी वैदिक दृष्टि में केवल बाह्य मल का शोधक ही नहीं वरन् अन्त:करण के पापों का भी शोधक है। घट में वरुण का आवाहन कर के हम उसका पूजन करते हैं तत्पश्चात् वरुणाधिष्ठित जल समग्र पूजा सामग्री के ऊपर छिड़ककर उन्हें पवित्र किया जाता है। पूजा की सामग्री में उन इन्द्रियों एवं तदधिष्ठाता देवताओं की दृष्टि की जाती है। वस्तुत: उपचारों का प्रदान अपने ही अंग प्रत्यंगों के प्रदान का प्रतीक होने के कारण उनकी शुद्धि अपनी ही शुद्धि का अभिन्न अंग है ।

पूजा के समय भूतों का विघ्न स्वाभाविक है। यद्यपि बड़े-बड़े दांत वाले भूतों का दर्शन हमें नहीं होता परन्तु जो बीत गये हैं उन पदार्थों के संस्कार रूपी भूत हम में काम क्रोध राग द्वेषादि रूप से विघ्न करने को सदा तैयार खड़े रहते हैं। जिस प्रकार एक कैदी को भी भोजन के समय पीड़ा नहीं दी जाती उसी प्रकार निरन्तर

कष्ट देने वाले कामादियों से प्रार्थना की जाती है कि कमसे कम पूजा के समय विघ्न न करें।

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिता:
ये भूता विघ्नकर्त्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया

जो साधक के सहायक संस्कार हैं वे विघ्न नहीं करने के कारण निवृत्ति के योग्य नहीं। कामादि दोषों से रहित हो कर ही पूजा सफल होती है। इसीलिये विजय के लिये सन्नद्ध मेघनाद ने वानरों के द्वारा उसके ऊपर मल मूत्र त्यागने पर भी क्रोध नहीं किया था। अन्त में जब क्रोध उत्पन्न हुआ तो उसकी पूजा खंडित हो गई एवं वह मारा गया।

संस्कार ही नहीं बाह्य विघ्न भी पूजा में स्वभावत: आते हैं जिन्हें केवल दृढ़ भक्ति और ईश्वरानुग्रह ही दूर कर सकता है 'तन्न प्रियं यन्मनुष्याविद्यु:' (बृ० १४) के द्वारा केवल इन्द्रियां ही नहीं वरन बाह्य देवताओं को भी आत्मज्ञान की अप्रियता बताई गई है! साक्षात् भगवान् विष्णु की पूजा से भी एक फूल उठ गया था। देवताओं का आधिपत्य प्रत्येक जीव पर है। अत: भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद ने भी यही बताया है कि साधक देवताओं को प्रसन्न करके ही आत्म ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार कोई भी मालिक अपने दास को स्वतंत्र होने देना नहीं चाहता परन्तु अत्यधिक सेवा के द्वारा उसके हृदय के पिघल जाने पर स्वभावत: स्वतंत्रता दे देता है उसी प्रकार हमें भी परमेश्वर के अंग भूत देवताओं की प्रसन्नता के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त करनी पड़ती है। अत: प्रार्थना आवश्यक है।

विक्रमादित्य का एक मातृगुप्त नाम का दरबारी था। वह अच्छी से अच्छी कविता बनाने की चेष्टा करता था परन्तु विक्रमादित्य की आंखों में नहीं चढ़ पाता था। अन्तत: उसने विक्रमादित्य से प्रार्थना की कि मैं आपका कवि बनने लायक नहीं

परन्तु आपकी सेवा बिना तनखा और भोजन के करूंगा। लम्बे समय तक विक्रमादित्य की उपेक्षा धैर्य पूर्वक सहता रहा। एक बार अति-शीत रात्रि में विक्रमादित्य ने आवाज लगाई 'कोई है'। मातृगुप्त की आवाज आई 'हां मैं हूं'। विक्रमादित्य ने उसे अन्दर बुलाया और देखा चिथड़े पहने हुए, ठंड से कांपते हुए मातृगुप्त को। अपने आराम प्रद गर्म कमरे से विक्रमादित्य को स्वयं ही शर्म सी लगी। उसकी कठोरता पिघल गई। प्यासे विक्रमादित्य को मातृगुप्त ने पानी पिलाया। प्रातःकाल ही मातृगुप्त पाञ्चाल देश का राजा बना दिया गया। इसी प्रकार की निष्काम सेवा देवताओं को प्रसन्न करके अन्त में मोक्ष साम्राज्य को दे देती है।

पूजा के उपचार पांच, सोलह, अठारह, बत्तीस, चौंसठ, एक सौ आठ आदि होते हैं। समय, योग्यता, निमित्त आदि के अनुसार इनका भेद होता है। पञ्चोपचार पञ्चज्ञानेन्द्रियों के प्रतीक हैं, षोड़शोपचार लिङ्ग शरीर को बतलाता है, इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सारी ही पूजा हमारी ज्ञान भावना एवं क्रिया शक्ति के पूर्ण उद्बोधन का अवसर प्रदान करती है।

* * * *

सृष्टि प्रतिपादन का तात्पर्य-उपनिषदों में लय प्रक्रिया आदि साधनों का दिग्दर्शन ही है। वेद कोई विज्ञान (Astro-Physics) की पुस्तक नहीं है जो सृष्टि प्रक्रिया को प्रतिपादित करे। आध्यात्मिक मार्ग दर्शन करना ही वेद का एक मात्र तात्पर्य है। अतः साधना के लिये ही सृष्टि, जीव-प्रवेश इत्यादि का काल्पनिक वर्णन श्रुति करती है। अत्यन्त स्थूल बुद्धि वाला ही भिन्न-भिन्न उपनिषदों में क्रम भेदों के स्फुट होने पर भी इनमें वेदों का तात्पय बताने का साहस करेगा। मृल्लोहविस्फुलिंगाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा। उपायः सोवताराय नास्ति भेदः कथंचन (मा० का० ३-१५) कल्प भेदों की पौराणिक कल्पनायें तो विपश्चितों के लिये सर्वथा उपहासास्पद हैं। वैदिक

सिद्धान्त पौराणिकों की कल्पनाओं की तरह देश काल परिच्छिन्न नहीं वरन् देशकालातीत हैं। वेद उस सार्व भौम सिद्धान्त का एकमात्र आश्रय है जिसका प्रतिपादन कहीं भी कभी भी नहीं हुआ है।

ब्रह्म ही सृष्टि का एक मात्र कारण है। यह उसकी सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद-रहितता प्रतिपादन का प्रकार है। सृष्टि के पहिले ब्रह्म ही था और बाद में भी वही रहेगा। अतः मध्य की द्वैतावस्था उसकी ही प्रतीतिमात्र है। आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेपि तत्तथा। वितथैः सदृशाः सन्तोऽ वितथा इव लक्षिताः (मा० का० २/६) समुद्र में शान्तावस्था में न बुलबुला होता है न लहर। अकस्मात् बड़ी बड़ी लहरें उठती हैं जिनके शान्त होने पर पुनः समुद्र का वक्षस्थल निष्क्रिय प्रतीत होता है। विचारशील जानता है कि विक्षेप काल में भी समुद्र में कोई वास्तविक अन्यथाभाव नहीं आया था। इसी प्रकार सृष्टि काल में भी परम शान्त शिव स्वरूप में कोई अन्यथा भाव नहीं आता है। वही था, है और रहेगा। लहर बुद्बुदों का दीखना सरल है। उसी प्रकार कार्य ब्रह्म का दर्शन सरल है। कारण ब्रह्म की प्राप्ति के लिये विशेष साधनों की आवश्यकता पड़ती है। इन साधनों में वेद ने सत्य को प्रधान स्थान दिया है। अथर्ववेद कहता है सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा (मु० ३/१/५)। सामवेद का भी उद्घोष है सत्यं आयतनम् (केन० ४/८)। यजुर्वेद तो 'सत्यं ब्रह्म' के द्वारा सत्य को ब्रह्म का प्रथम लक्षण ही स्वीकार करता है। ऋग्वेद 'सत्यं वदिष्यामि' (ऐ० ७) के द्वारा साधक से प्रतिदिन सत्य की प्रतिज्ञा करवाता है। अतः सत्य की प्रधान साधनता में समग्र वेदों का तात्पर्य है। सत्य जीतता है यह तो आज हमारे राष्ट्र का Moto बन चुका है। परन्तु यह जीत भौतिक नहीं आध्यात्मिक है। सत्यमेव जयते। जगत् तो आचार्य शंकर 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य अयं लोकव्यवहारः' (सू० भा०) कह कर सत्य और झूठ के मिश्रण से ही चलने वाला बताते हैं। अतः सर्वथा सत्य के

आश्रयण से जगत् में चाहे अभ्युन्नति प्रत्यक्ष से न दिखाई दे परन्तु आध्यात्मिक उन्नति निस्सन्दिग्ध है। इसीलिये असत्य के द्वारा ही सत्य का उपदेश भी शास्त्रों ने एवं आचार्यों ने किया है। वस्तुतः सर्वथा अपरिवर्तनीय तो परमार्थिक सत्य ब्रह्म ही है। उसके अतिरिक्त सब कुछ असत्य है। इसीलिये द्वैत दुःख का कारण बनता है। छान्दोग्योपनिषद् में बतलाया है कि झूठ बोलने वाले को गरम फरसा पकड़ाने से वह जल जाता है। सत्य बोलने वाला सत्य के प्रभाव से बच जाता है। अनृताभिसन्धः दह्यते अथ हन्यते। सत्याभिसन्धः न दह्यते अथ मुच्यते (छा० ६/२) वस्तुतः सत्य ब्रह्म के साथ अभिसन्धि अर्थात् योग करने वाला जलते फरसे रूप संसार को पकड़ने पर भी शोकाग्नि से नहीं जलता। एवं मुक्त हो जाता है। मिथ्या जगत् में फंसा हुआ तो शोकाग्नि से जलते हुए मारा जाता है। परन्तु व्यवहार में असत्य का सहारा लेने वाला कभी भी पारमार्थिक सत्य का अनुसंधान नहीं कर सकता।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियं
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः (मनु०)।

सत्य का अर्थ सत् के लिये होता है। अतः सत्य भाषण यथा दृष्ट यथा श्रुत न होकर दूसरे को लाभदायक भी होना चाहिये। कटु भाषण सत्य के नाम से आजकल चल पड़ा है। दूसरे को केवल खुशामद के लिये झूठी बातों से प्रसन्न करना सत्य भाषण नहीं है। अतः दूसरे के हित के लिये प्रिय लगने वाला यथार्थ भाषण ही सत्य भाषण कहा जा सकता है। अत्यधिक बोलने वाला अवश्य ही झूठ के पंजे में पड़ जाता है। अतः विचार पूर्वक न्यूनतम बोलने का अभ्यास करना चाहिये। झूठ भी एक प्रकार का नशा है। पहले मनुष्य अतिशयोक्ति करता है और उसके प्रभाव से स्वयं आश्चर्य चकित हो जाता है। दूसरी बार अतिशयोक्ति की मात्रा बढ़ती जाती है और वह कब झूठ में परिणत होकर सर्वथा निराधार बातों तक पहुंच जाती है यह वक्ता स्वयं भी नहीं समझ पाता। परन्तु अब उस

झूठ के बिना जीवन इतना नीरस लगता है कि उसे छोड़ने में वह असमर्थ हो जाता है। अतः पहले से ही सावधानी बरतनी चाहिये। भोगलिप्सा की अधिकता हमें झूठ के द्वारा सफलता प्राप्त करने को प्रेरित करती है। अतः असन्तोषी व्यक्ति शीघ्र ही झूठ का शिकार बन जाता है। इन दुर्गुणों से बचने पर हम कारण ब्रह्म का दर्शन करके उसमें प्रतिष्ठित हो सकेंगे।

पदार्थों की सृष्टि और निर्माण उनके परिवर्तन द्वारा ही सम्भव है। परिणाम और विवर्त ही बदलाव है। तत्वतोन्यथा भावः अर्थात् वास्तविक रूप से बदलना परिणाम कहा जाता है। जैसे दूध दही में बदल जाता है। दूध परिणामी कारण है। एवं दही परिणामी कार्य है। जहां बदलाव वास्तविक नहीं होता वहां विवर्त सृष्टि कही जाती है। अतत्वतोन्यथा भावः। रस्सी वस्तुतः बिना बदले ही सर्प बन जाती है। यहां रस्सी विवर्त कारण है और सांप विवर्त कार्य। इसी प्रकार सोना बिना बदले हुए ही हार बन जाता है। ब्रह्म से जगत् की सृष्टि भी विवर्त ही है। ब्रह्म को परिणामी कारण मानने पर जगत् काल में उसका नाश स्वीकार करना पड़ेगा। जगत् में अत्यन्त आसक्त पुरुष ही जगत् सत्यत्व का रक्षण करके ब्रह्म नाश को स्वीकार करेगा। श्रुति तो 'अविनाशी वा अरेऽयं आत्मा' (बृ० ४·५) कहकर विवर्तवाद का प्रतिपादन करती है।

संसार के सभी पदार्थों को काल स्पर्श करता है। धनिक और निर्धन, बली और निर्बल, घमंडी और नम्र सभी उसके भयानक स्पर्श से बच नहीं पाते। लखपति खपति होते देखे गये हैं। पहलवान कमजोर, राजा रंक बनते देखे गये हैं। यह प्रतिदिन का अनुभव है। और इन सभी परिवर्तनों में काल द्वारा नष्ट भस्म की ढेरी में शिव सदा ही अस्पृष्ट बना रहता है। उसमें परिवर्तन लाने का साहस और सामर्थ्य काल में यदि होता तो उसे कभी भी काल का काल महाकाल न कहा जाता। जब तक जीव अपने आपको उस महाकाल से एकीभूत नहीं कर देता तभी तक वह काल का भक्ष्य बना रहता है।

इसीलिये 'यच्चा न्यत्रिकालातीतम्' कह कर वेद उसे प्राप्त करने योग्य बता रहा है।

सत् चित् और अनन्त रूप से परमेश्वर के तीन लक्षण प्रसिद्ध हैं। सत् अर्थात् 'है'–पना। एक भी क्षण ऐसा नहीं जो है–पने से रहित है। किसी काल में घड़ा 'है' किसी काल में घड़ा नहीं 'है'। अतः 'है' रूप से (सद् रूप से) शिव सार्वकालिक सिद्ध हो रहे हैं।

चित् अर्थात् ज्ञान। कोई भी चीज ज्ञान के बिना अपनी सत्ता को सिद्ध नहीं कर सकती। मुझे ज्ञात हो या न हो किसी न किसी को ज्ञात अवश्य होना चाहिये। जिस पदार्थ का ज्ञान कभी भी किसी को भी नहीं होता उस पदार्थ की सत्ता अति स्थूल जड़मति पुरुष भी स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। इसी प्रकार जब किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता तब भी सुषुप्ति अथवा प्रलय में सारे पदार्थों के अभाव का ज्ञान तो रहता ही है। उठने पर इसी लिये मैंने कुछ नहीं जाना था की स्मृति होती है। जागृत के पदार्थ स्वप्नावस्था के काम के नहीं। बालूशाही खाकर सोने वाला जब अपने को स्वप्न में भूखा देखता है तो पेट के अन्दरवाली बालूशाही उस भूख को मिटाने में असमर्थ होती है। स्वप्न के रुपये जागृत की गरीबी को मिटाते नहीं देखे जाते। अतः जागृत और स्वप्न काल के बाध्य हैं। परन्तु ज्ञान इन सभी अवस्थाओं में अपरिवर्तित ही रहता है। वस्तुतः आत्मा यदि कालातीत न होता तो उसके आदि और अन्त का ज्ञान भी सम्भव होता। आदि का अर्थ होता है जो पहले न हो और फिर हो। ज्ञान न हो तो उस अवस्था का प्रमाणाभाव हो जायेगा। अतः ज्ञान की आदिता सर्वथा सिद्ध नहीं की जा सकती। इसी प्रकार अन्त का अर्थ होता है जो पहले हो और फिर न हो। ज्ञान न हो तो प्रमाणाभाव स्वतः सिद्ध है। अतः ज्ञान की अनादिता और अनन्तता युक्ति, तर्क और अनुभव सभी से सिद्ध होती है।

परमेश्वर की अनन्त शक्ति का अनुमान तो इस विचित्र जगत्

को देखने से स्वत: होता है। एक अखण्ड अद्वैत तत्व होते हुए भी प्रति परमाणु में ही नहीं उसके प्रत्येक संघात में नवीनता का आधान करना और वह भी केवल खेल-खेल में सिवाय सदाशिव के किस में सम्भव है ? दुष्टों के लिये उग्र रूप एवं सज्जनों के लिये सौम्य रूप धारण करने वाले शंकर की महाकालता अति स्फुट है। एवं जो उस महाकाल से एक रूप हो जाता है वह भी काल के स्पर्श से बच जाता है।

कैलास के मार्ग में महर्षि मुद्गल का आश्रम था। एक राजा ने गलती से मृगचर्म पहने ब्रह्मचारी को हरिण समझ कर बाण मार दिया। राजा ने मुद्गल ऋषि के पास जाकर जब पाप स्वीकारा तो हंस कर ऋषि बोले यहां कोई मर नहीं सकता। राजा ने कहा कि मेरे अमोघ बाण से बचने की शक्ति किसी में नहीं। ऋषि ने कहा 'तू तो सूर्यवंशी है, यदि सूर्य भी इस आश्रम में आकर के किसी को मारना चाहें तो नहीं मार सकते'। उसे निश्चय कराने के लिये ऋषि ने नागफणि बजाई तो ऋषि के सभी शिष्य एकत्रित हो गये। राजा ने उनमें अपने शिकार को पहचान लिया। उसकी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये ऋषि ने बताया कि मृत्यु उन्हीं को आती है जो देहाभिमानी होते हैं।

वस्तुत: देह का आत्मा से अलग होना ही मृत्यु कहा जाता है। जिसने पहले ही आत्मा को देह से अलग कर लिया उसकी मृत्यु होना असम्भव है।

* * * *

सृष्टि शबल ब्रह्म का कार्य है। शुद्ध स्वर्ण की तरह निर्गुण अव्यवहार्य है। परन्तु जिस प्रकार मूल्य स्वर्ण का ही लगाया जाता है उसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। वह मुक्ति देता नहीं वरन् अपनी निरावरणता से मुक्ति को संभव बनाता है। यदि ब्रह्म का ज्ञान करना है तो उसका पता जानना चाहिये। 'दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च' कह कर वेद उसको अत्यन्त समीप और अत्यन्त दूर एक साथ ही बता रहा है। बहुत से साधक इस

प्रकार की विरुद्ध उक्तियों के द्वारा वेद प्रामाण्य में सन्देह करने लगते हैं। परन्तु हमें नम्रता पूर्वक वेद तत्व के निर्णय में प्रवृत्त होना चाहिये। ज्ञात पदार्थ जो नहीं जानता उसके लिये समीपस्थ भी अति दूर हो जाता है। रुचिरा के पिता जी बैंक में रुपया रखा करते हैं। परन्तु उसमें से किस प्रकार से निकाला जाता है यह न जानने के कारण उसके लिये वह रुपया अति दूर हो जाता है। इसी प्रकार गुहास्थ शिव का दर्शन अज्ञानी के लिये अति दूर हो जाता है। संसार के पदार्थों में रुचि पूर्वक रमण करने वाली बुद्धि ही रुचिरा है जो ब्रह्म रूपी पिता के आनन्द रूपी धन को गुहा रूपी बैंक से निकालना नहीं जानती।

अज्ञान तो स्वतः सिद्ध होता है। उसके लिये प्रयत्न आवश्यक नहीं ज्ञान के लिये ही प्रयत्न देखा जाता है। पढ़ाने के लिये विद्यालय खोले जाते हैं। लेकिन भूलने के लिये कोई संस्था न खुली रहने पर भी हम स्वतः ही भूलते रहते हैं। ब्रह्म का ज्ञान कराने के लिये वेदादि सच्छास्त्र हैं। परन्तु हम उसको कब से और कैसे भूले यह प्रश्न निरर्थक है। हमारी कारण परम्परा अज्ञान में ही समाप्त करती है। दही दूध से, दूध गाय से, गाय सांड़ से, सांड़ गाय से और हमारी कारण परम्परा के अन्वेषण का दरवाजा धड़ाम से बन्द हो जाता है। अज्ञान से भय और दुःख स्वाभाविक है। अंधेरे में भय सभी को प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसी प्रकार समग्र कार्य-कारण भाव की समाप्ति में ही त्रिकालातीत ब्रह्म की दृष्टि है।

सभी विद्यमान एवं ज्ञात पदार्थों के नाम और रूप अवश्य होते हैं। नाम और रूप ही क्यों होते हैं यह जगत् के प्रारम्भ या सृष्टि के विचार से स्फुट हो सकता है। किसी जगाने वाले आदमी या घड़ी के अभाव में भी हम क्यों उठ जाते हैं। संस्कार और प्रारब्धों का फलोन्मुखी होना ही इसका कारण सिद्ध होता है। यद्यपि कुछ मनोवैज्ञानिक (auto-suggestion) आत्म-विज्ञप्ति के द्वारा ठीक चार बजे उठने का नुसखा बताते हैं लेकिन वहां भी प्रश्न है कि वह विज्ञप्ति

रही कहां पर यदि कहा जाय मन में तो सुषुप्ति काल में मन स्वयं ही नहीं रहता । अतः वहां संस्कार को ही कारण स्वीकार करना पड़ता है । इसी प्रकार प्रलय के पूर्व अग्रिम सृष्टि का संकल्प ही उसका कारण मानना पड़ता है । परम महेश्वर में जिस प्रकार स्पन्द शक्ति है उसी प्रकार अस्पन्द शक्ति भी है। सृष्टि काल में शिव स्पन्द युक्त हैं एवं प्रलय में निस्पन्द । मुख के सामने दर्पण आने पर विना परिवर्तित हुए ही जिस प्रकार मुख दर्पणस्थ मुख का जनक बन जाता है उसी प्रकार इच्छा शक्ति के द्वारा अकारण ब्रह्म कारण बन जाता है। इच्छा शक्ति स्फुट होने पर नाम रूपात्मक ही होती है । नाम और रूप व्यापक व्याप्य होने के कारण प्रथम स्पन्दन नाम का ही स्वीकार करना पड़ता है । इसी लिये लय प्रक्रिया में रूप को नाम में लीन करना आवश्यक है । रूप के अभाव में भी नाम की सिद्धि तो ऐतिहासिक महापुरुषों की प्रसिद्धि से स्वतः स्फुट है । गांधी जी के मर जाने पर भी गांधी जी के नाम से वोट मिलना सुकर है । इसी प्रकार रूप के लय कर देने पर भी नाम का कार्य चलता रहता है । नाम के लय होने पर ही शुद्ध स्वरूप में स्थिति संभव है ।

धर्मशाला में केवल पांच दिन ठहरा जा सकता है । किराये के मकान से किसी भी समय मालिक आपको हटा सकता है। लेकिन निज का छोटा सा खंडहर भी सर्वदा अपना ही रहता है । इसी प्रकार औपाधिक स्वरूप चाहे सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता का हो छोड़ना ही पड़ता है लेकिन अपना कालातीत शुद्ध स्वरूप सदा एक सा ही रहता है। यह शरीर औपाधिक है । इसीलिये १०० वर्ष या इससे कम में ही इसे छोड़कर जाना पड़ता है। इस बीच में भी मकान मालिक कभी विशेष अवसरों पर इसी मकान में रोग को भी रहने का आदेश दे देता है । शरीरं व्याधिमन्दिरम् । इसी प्रकार इन्द्रियां, मन, बुद्धि सभी हमारी उपाधि हैं क्योंकि सर्वदा हमारे साथ नहीं रहतीं । इन सबके चले जाने पर ही हमारा वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है ।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमांगतिम् ।। (कठ० २।६।१०)

वस्तुतः अन्तःकरण व्यष्टि की स्पन्दन शक्ति माना जा सकता है । इसके द्वारा ही जीव संकल्प विकल्प करके अपने स्पन्दन में स्वयं ही फंस कर 'बचाओ बचाओ' पुकारता है । लेकिन जिस प्रकार नशा उतारने के लिये दही नींबू को पास रख कर भांग घोटता है उसी प्रकार वेद को पास में रखकर ही ईश्वर स्पन्द में प्रवृत्ति करता है । नशा चढ़ने पर जब घबराहट बढ़ती है तो वैदिक महावाक्यों के प्रयोग से पुनः स्वस्थ हो जाता है ।

जब तक चित्त वृत्ति को एकाग्र नहीं कर लिया जाता तब तक महावाक्य का उपदेश भी सफल नहीं होता । चित्त वृत्ति की एकाग्रता के लिये नाद योग एक श्रेष्ठ साधन माना गया है । यद्यपि भगवान् सदाशिव ने वृत्यैकाग्रता के लिये सवा लाख साधन बताये हैं परन्तु उनमें नाद योग को अति श्रेष्ठ साधनों की संख्या में रखा है । चूंकि परमेश्वर का स्वरूप अग्राह्य है वह ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं बन सकता । रूप प्रतीकता (form-symbol) में स्थपति की कल्पना का प्राधान्य रहता है । परन्तु शब्द-प्रतीकता (sound-symbol) में किसी अन्तरिम (interim) की आवश्यकता नहीं है । नाम भी नामी का एक स्वरूप ही है । नाम में साधक साक्षात् परमेश्वर से सम्बन्ध कायम करता है । परमेश्वर के ॐ, शिव, मा, ह्रीं, क्लीं, हरि आदि किसी भी नाम को साढ़े तीन करोड़ संख्या में जपने पर शरीर शुद्ध होकर नादानुसन्धान के योग्य बन जाता है । तब शब्द का आधार भी छोड़ देना पड़ता है । शिव संहिता में बतलाया है 'निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् । वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णं रूपं स्वयं भवेत् ।' जिस प्रकार तैरना सीखते समय ढोल की सहायता आवश्यक है, परन्तु जब तक ढोल छोड़ कर तैरने का अभ्यास नहीं करता, तैराक नहीं बनता । उसी प्रकार शब्द के सहारे से चित्त वृत्ति को एकाग्र करना सीखना पड़ता है परन्तु शब्द

के सहारे को छोड़े विना वास्तविक नाद योग शुरू नहीं होता। बहुत से लोग कान वन्द करके दाहिने कान में शरीर की आवाज को सुनना ही नाद योग मान लेते हैं। यद्यपि 'सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम् शृणुयात् दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा' (नाद विन्दु० ३१) में इन लोगों को शास्त्रीय आधार भी प्राप्त होता है। परन्तु पूर्वापर सम्वन्ध देखने से पता लगता है कि यह शुद्ध शब्द श्रवण विपयक है। अशुद्ध देह में तो अशुद्ध शब्द ही उत्पन्न होता है। जपके द्वारा शुद्ध होने के पश्चात् इस शब्द को सुनने से क्रमशः मेघ गर्जन, भेरी, झांझ, जल प्रपात, घंटा, काहल, किंकिणी, वंशी, वीणा और भौंरे का स्वर सुनने को मिलता है। अन्त में मेघ प्रणव सुनने को मिलता है। इसको पकड़ने से अन्ततः परागति की प्राप्ति हो जाती है।

यदि एक क्षण भी चित्त इस परमानन्द का अनुभव कर लेता है तो फिर उस अभ्यास का आनन्द सदा बना रहता है। जिस प्रकार लकड़ी से उत्पन्न अग्नि लकड़ी को जला कर स्वयं शान्त हो जाती है उसी प्रकार नाम भी एकाग्र चित्त के साथ स्वयं लीन हो जाता है और जीव स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है।

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यते।
नादे प्रवर्तिते चित्तं नादेन सह लीयंते ॥

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोयमात्मा चतुष्पात् ।।२।।

यह सब कुछ ब्रह्म रूप ही है। यह आत्मा ब्रह्म है। आत्मा ¼ के चार टुकड़ों वाली है।

सृष्टि में एतत् और अयं भेद से दो जातियां (categories) हैं। इन्हीं को सूत्र भाष्य में युष्मत् और अस्मत् कहा गया है। प्रत्यक्ष सिद्ध एतत् है और स्वयं सिद्ध अयं है। इस मंत्र में इन दोनों को ही ब्रह्म से अभिन्न बताया गया है। मोटी दृष्टि वाले को एतत् में ही इतने भेद प्रतीत होते हैं कि उनके एक स्वरूप होने से व्यवहार ही लुप्त होता प्रतीत होता है। वस्तुतः वेद कोई समाचार पत्र नहीं है जिनका अर्थ पान बेचने वाला भी लगाले। वह तो ध्यान पूर्वक मनन के द्वारा ही समझा जा सकता है। यहां उनकी प्रतीत्यैक्य-प्रतिपादन-तात्पर्यता नहीं है वरन् पारमार्थिकाद्वैतत्व-प्रतिपादन तात्पर्यता है। पदार्थों की प्रतीति में सोने के गहनों की तरह फरक तो स्वीकार किया ही जाता है। परन्तु जिस प्रकार उन सब की सोने के साथ एक रूपता है उसी प्रकार एतत् और अयं की ब्रह्म से एक रूपता है। किसी भी पदार्थ से प्रत्यक्ष होने पर प्रथम उस पदार्थ पर फैले हुए प्रकाश के साथ ही आंख का सम्बन्ध मानना पड़ता है। अतः प्रकाश के द्वारा ही सबका प्रकाश होता है। आत्मा के सम्बन्ध के विना प्रकाश भी ज्ञात नहीं हो सकता। यह सर्व सिद्धान्त सम्मत नियम है कि कारण ज्ञान के बिना कार्य ज्ञान असम्भव है। मट्टी को देखे बिना घड़ा या सोने को देखे विना गहना दीखना असम्भव है। इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप आत्मा के बिना जगत् की प्रतीति की असम्भवता ही ब्रह्म को जगत् का कारण सिद्ध कर रही है। 'सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि यद्यपि ब्रह्म के प्रतीत हुए विना जगत् प्रतीति असम्भव है फिर भी लोग कहते हैं कि हमें जगत् तो दीखता है ब्रह्म ज्ञान नहीं है। वस्तुतः जगत् अप्रकाश रूप होने से जड़ है। अतः

न वह किसी अन्य को जान सकता है और न अपने आपको। अतः उसकी सिद्धि के लिये चैतन्य आवश्यक होता है। यह चैतन्य ही मूल कारण है। क्यों कि अपनी सिद्धि के लिये और किसी कारण की आवश्यकता नहीं रखता। तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। चूंकि प्रत्येक जीव अपने अन्दर इस चैतन्य प्रकाश के स्पर्श से परिचित है अतः प्रत्यगात्मा की चैतन्य रूपता सर्ववादिसिद्ध है। इस प्रकार एतत् और अयं दोनों की ब्रह्म रूपता सिद्ध होती है।

कारण से कार्य की अभिन्नता की दृष्टि से ही 'सर्वं ब्रह्म' कहा गया। उपादान कारण ही कार्य से अभिन्न होता है। निमित्त कारण कार्य के पहले या पीछे नष्ट होता है। दोनों की स्थिति काल में भी कार्य के ज्ञान में निमित्त कारण के ज्ञान की नियम से अपेक्षा नहीं होती। परमेश्वर जगत् के उपादान कारण हैं।

उपादान कारण भिन्न-भिन्न वादियों की दृष्टि से आरंभी या परिणामी होते हैं। धागा कपड़े का आरंभी उपादान है। अर्थात् नये पदार्थ कपड़े का आरंभ करता है। इसकी विशेषता है कि कपड़े में से धागा पुनः निकाला जा सकता है। अतः कारण स्वरूप से विद्यमान रहते हुए ही कार्य रूप में परिणत हो जाता है। दूध दही का परिणामी उपादान है। यहां दूध पुनः दही से निकाला नहीं जा सकता। अतः कारण रूप का नाश होकर ही कार्योत्पत्ति होती है।

ब्रह्म जगत् का आरम्भी उपादान तो हो नहीं सकता। क्योंकि न वह अवयवी है, न अनेक है। अनेक तन्तुओं के बिना पट का बनना असम्भव है। ब्रह्म को अनेक मानने पर तो उसकी व्यापकता ही खण्डित हो जायेगी। जो लोग ब्रह्म को व्यापक मानते हुए जीव और जगत् को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं वे अर्थतः उसकी व्यापकता का खण्डन ही करते हैं। 'जीव ब्रह्म से भिन्न है' का तात्पर्य होता है जहां जीव है उस देश काल में ब्रह्म नहीं है। इस प्रकार अनन्त जीवों के होने से ब्रह्म की व्यापकता तो क्या एक-देशता भी सिद्ध करना कठिन

हो जायेगा। अतः व्यापक तत्त्व की अद्वैतता स्वीकार करनी ही पड़ती है।

ब्रह्म परिणामी कारण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि परिणामी कारण ब्रह्म के नाश से जगत् की उत्पत्ति किसी भी ब्रह्म-वादी को इष्ट नहीं। यदि जगत् काल में ब्रह्म नहीं तो उपासना, कर्म, ब्रह्म, ज्ञान, मोक्ष सभी निरर्थक हो जायेंगे। एक सेठ ने राजा को नमूने के हीरे दिये जिनसे वैद्य को हीरक भस्म के लिये सर्वोत्तम हीरा चुनना था। वैद्य ने प्रत्येक का भस्म बनाकर देखा। एवं सर्वश्रेष्ठ भस्म राजा को देदी। राजा ने दूसरे हीरे लौटाने को कहे तो वैद्य ने सभी भस्म की पुड़ियां उसको देदीं। राजा ने सेठ को सब पुड़ियां दीं तो उसने कहा मुझे तो अपना हीरा दो। वैद्य ने कहा पुड़िया में से मेरी औषधि निकाल कर देदो और अपना हीरा लेजाओ। झगड़े को भीषण रूप धारण करते देखकर पुरोहित ने समझाया कि हीरा जल कर ही भस्म बनता है अतः राजा भस्म रखकर हीरे के दाम देदे। अब हीरे की सत्ता वापस आना असम्भव है। यदि ब्रह्ममणि जगत् भस्म बन जायेगी तो हीरे के अभाव में प्रकाश और आनन्द जगत् को कौन दे सकेगा ?

जगत् (सर्व) परिच्छिन्न है, ब्रह्म अपरिच्छिन्न। एक जड़ है दूसरा चेतन। एक मर्त्य है दूसरा अमर। इन दोनों की एकता युक्ति से ही समझ में आ सकती है। आरम्भी और परिणामी उपादानता के दोष तो हम देख चुके हैं। अतः वैदिकों ने विवर्त उपादान के पक्ष का प्रतिपादन किया है। सींप चांदी का विवर्त उपादान है। शुक्ति रजत् न तो छोटे-छोटे टुकड़ों से ही बनाया गया है न सींप नष्ट होकर ही चांदी बनी है। बिना सींप के चांदी की उत्पत्ति असम्भव होने से उपादान कारणता तो स्वीकार करनी ही पड़ती है। वैष्णवाचार्यों का यह कहना कि सींप में थोड़ी चांदी स्वीकार कर लेनी चाहिये तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। करोड़ों मन सींप से तोलाभर चांदी भी निकाली नहीं जा सकती। अतः बिना हुए ही सींप में

चांदी का व्यवहार चलता है । वह चांदी आदमी को आकृष्ट कर लेती है । यद्यपि दूरी, रजत संस्कार आदि निमित्त कारण भी स्वीकृत किये जाते हैं परन्तु उपादान कारण तो सीप ही है । विवर्त कारण की विशेषता है कि कार्य काल में भी कारण सर्वथा अपरिवर्तित ही रहता है । इसीलिये ब्रह्म को जगत् का विवर्त कारण मान लेने से ब्रह्म भी पूर्व की तरह अद्वैत और पूर्ण रहता है, जगत् की उत्पत्ति भी बन जाती है ।

कई लोग शंका करते हैं कि सींप में चांदी तो भ्रम से दीखती है । इतना बड़ा जगत् भ्रम कैसे हो सकता है । लेकिन जहां एक बूंद जल भी नहीं वहां नावों एवं जहाजों सहित महान् समुद्र की प्रतीति मृग मरीचिका में स्पष्ट है ।

यद्यपि वेदों में कहीं-कहीं परिणामवाद का भी संकेत है, एवं ब्रह्मसूत्र में तो प्रायः परिणामवाद का आश्रयण किया गया है तथापि अकस्मात् विवर्त दृष्टि बनाना सम्भव नहीं होता अतः वह पूर्व भूमिका रूप से ही मन्तव्य है । भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद ने ब्रह्मज्ञान से निवर्त्य जगत् बन्धन को अध्यास के बिना अनुपपन्न बताते हुए अध्यास भाष्य में जो शैली अपनायी है वह सर्वदा स्मर्तव्य है । वस्तुतः आरम्भवाद भी बौद्ध जैसे घोर नास्तिकों को ईश्वर में प्रवृत्त कराने के लिये होने से वैदिकों को उपादेय ही है ।

ईश्वर सिद्धि के बाद ही ईश्वर स्वरूप पर विचार संभव होता है । देश में प्रत्येक भूखंड का कोई मालिक अवश्य होता है । जिस खंड का मालिक कोई व्यक्ति नहीं उसका मालिक राज्य तो होता ही है । इसी प्रकार अखिल ब्रह्माण्ड का मालिक भी कोई अवश्य है । चूंकि यह ब्रह्माण्ड कभी भी बिका नहीं अतः इसका निर्माता ही इसका मालिक है । संसार का निर्माता और अधिपति ही परमेश्वर के नाम से कहा जाता है । इसी प्रकार की युक्तियों से आरम्भवादी ईश्वर की सत्ता सिद्ध करता है ।

तब प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर ने जगत् का निर्माण किया तो किस उपादान कारण एवं साधनों से बनाया। इसका जवाब परिणाम वाद देता है। 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यां ओषधयः सम्भवन्ति यथा सतः पुरुषात् केश लोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्' (मु० १/१/७) जिस प्रकार पृथ्वी से पौधे, मकड़ी से जाला एवं शरीर से बाल निकलते हैं उसी प्रकार परमेश्वर से जगत् की उत्पत्ति होती है।

आगे शंका होती है कि जिस प्रकार बाल जड़ हैं मनुष्य चेतन अथवा जिस प्रकार पौधे जमीन से या मकड़ी जाले से भिन्न है क्या उसी प्रकार परमेश्वर के जगत् निर्माण करने से परमेश्वर का कोई अंग कम या विकृत हो गया है? यदि परमेश्वर अवयवी और विकारी होगा तो मरणधर्मा भी होगा। इस शंका की निवृत्ति के लिये ही वेद का चरम सिद्धान्त विवर्तवाद है। विवर्तोपादान होने से परमेश्वर में जगत् कारणता होने पर भी कोई परिवर्तन नहीं होता।

'अयमात्मा ब्रह्म' साम्प्रदायिक परम्परा में अथर्ववेदियों का महावाक्य माना गया है। ब्रह्मज्ञान से ही, ब्रह्म के आत्मा के साथ अभेद ज्ञान से ही, मोक्ष सम्भव है। यह मुक्ति मानव देह में ही सम्भव है। परन्तु जिसने वेद का अध्ययन नहीं किया है वह मुक्ति के इस राजपथ को छोड़कर दुर्मतों के चक्कर में पड़कर भवाटवी में फंस जाता है। अतः वेदज्ञान आवश्यक है। मोक्ष निरन्तर के परिश्रम से ही प्राप्त हो सकता है। वह फीस अथवा घूस से प्राप्त नहीं हो सकता। जिस प्रकार ३० वर्ष के दीर्घकाल तक अन्य सारे कार्यों से मुक्त करके जब आप अपने लड़के को पढ़ाते हैं और वह अपना सारा श्रम उसमें लगाता है तभी विद्वान् बन के निकलता है, इसी प्रकार बार-बार श्रवण करने से ही वेद ज्ञान के द्वारा आत्मा व अनात्मा का विवेक उत्पन्न होता हैं। जहां विवेक उत्पन्न हो चुका वहां कालान्तर में ज्ञान अवश्य उत्पन्न होता है। इस मनुष्य शरीर में

आकर यदि शिव ज्ञान को प्राप्त नहीं किया तो जीवन व्यर्थ जाता है। 'इह चेत् अशकत् बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विसृसः' के द्वारा श्रुति बतलाती है कि इस शरीर में आकर यदि शिव ज्ञान को प्राप्त कर लिया तब तो जीवन सफल है अन्यथा पुनः पुनः जन्म मरण के चक्कर में पड़ना पड़ता है। विषय भोग तो प्रत्येक योनि में सुलभ है। परन्तु आत्म ज्ञान रूपी चिन्तामणि केवल मानवदेह में ही सुलभ है। जो व्यक्ति इस अति दुर्लभ जीवन को व्यर्थ खो देता है वह पुनः पुनः जन्म मरण के चक्कर में पड़ता रहता है। लोग कहते हैं अभी तो भोग करलें बाद में जब समय मिलेगा तब साधना कर ली जायेगी। यह दृष्टिकोण मनुष्य को गिरा देता है। इसकी अपेक्षा जो थोड़ा-थोड़ा प्रयत्न भी प्रतिदिन करता रहता है वह अन्त में खाली हाथ नहीं जाता। मनुष्य अपनी बुद्धि को पशु एवं भूमि का मालिक बनने में लगा देता है। परन्तु स्वयं अपना मालिक बनने के लिये बुद्धि का प्रयोग नहीं करता। तीव्र गति से बहने वाली नदी के बालू पर खड़े वृक्ष की तरह जीवन की क्षणिकता, विचार शीलों को स्पष्ट है। विचार करें हमारे माता पिता कहां हैं, दादा दादी कहां हैं, और उनके पहले के पूर्वज कहां हैं। खोखली जड़ों पर खड़ा यह शरीर वृक्ष कब गिर जायेगा इसका कोई ठिकाना नहीं। और जब वह क्षण आयेगा तत्व का स्मरण भी असम्भव होगा। आश्चर्य है कि साधना के विषय में जो लोग कह देते हैं अभी हमारी उमर ही क्या है वही जीवन का बीमा कराने में संकोच नहीं करते। रोग में आतुरता जीवन की अनिश्चितता को ही बताती है। कर्ण जैसे अमोघ कवच कुण्डलों में उत्पन्न एवं भीष्म जैसे इच्छा मृत्यु सम्पन्न को भी एक दिन मरना पड़ा। अतः साधक को सावधानता पूर्वक शिव ज्ञान के मार्ग में लग जाना चाहिये।

चारों तरफ ब्रह्म और उनके बीच में रहने वाला जीव भी ब्रह्म है। फिर भी जल बिच मीन पियासा। आनन्द की प्यास बुझती ही नहीं। आत्मा और हमारे बीच में मानो एक मोमजामे का पर्दा लगा

हुआ है जो हमें ब्रह्म समुद्र के स्पर्श को नहीं करने देता। वस्तुतः पर्दा चाहे पतला हो या मोटा पदार्थ की असलियत को ढकता ही है। परन्तु सौभाग्य से जीव और ईश्वर के बीच का पर्दा बड़ा ही पतला है। झीनी-झीनी बीनी चदरिया। नाम ही इसका ताना है और रूप इसका बाना है। यह ब्रह्म को ढांकती है परन्तु पतली होने के कारण उसके सत् और चित् रूप का उद्घाटन भी करती है। इसीलिये प्राणिमात्र शिव के सत् चिद् अंश को स्वभाव से जानता है। यह उत्साहवर्धक है। परन्तु दुर्भाग्य से यह उद्घाटन ही अधिक बन्धन का कारण बन गया है। अत्यंन्त मोटी चद्दर से जी घुटने के कारण अवगुण्ठन को शीघ्र दूर करने के लिये प्रयत्न किया जाता है। परन्तु बारीक नाइलौन का अवगुण्ठन शोभा वर्धक होने के कारण फाड़ने से जी सकुचाता है। यदि नाम रूप का पर्दा फाड़ दिया जाय तो जीव सोचता है मुझे क्या सुख मिलेगा ? न जाने शिव स्वयं अपने में इतने सुन्दर हों या न हों। नग्न सत्य से भय नैसर्गिक है।

परन्तु वस्तुतः इस भय का कारण शिव के सौन्दर्य का अज्ञान ही है। नाम रूप में सुख का नाम नहीं, सुखाभास मात्र है। एवं सदाशिव में आनन्द ही आनन्द है। इसी लिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शकर भगवत्पाद कहते हैं कि 'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसः प्रवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत् न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयंतदन्तः-करणेन गृह्यते' (उ० सा०) समाधि के द्वारा जिस चित्त के सारे मल धुल गये हैं उसको आत्मा में प्रवेश कराने से जो सुख होता है वह केवल उस अन्तःकरण का विषय होने के कारण वाणी के द्वारा वर्णित नहीं किया जा सकता। यह केवल अनुभव का विषय है। और जब तक इसका अनुभव न हो भय शोक की निवृत्ति सम्भव नहीं। तथापि विचार से इतना निश्चय तो हो ही जाता है कि संसार के पदार्थों में सुख की सम्भावना नहीं। जितने भी पदार्थ इन्द्रिय भोग्य होते हैं वे प्राप्ति क्षण में सुख, गर्व, विश्वास (Confidence) उत्पन्न करके उड़ जाते हैं। आकस्मिक घटना कब पदार्थ को और

हमको वियुक्त कर देगी कोई नहीं कह सकता । इस बात को जानने वाले विचारशील लोग विषय मृगतृष्णा से अपने करणों को निवृत्त करके सदाशिव में प्रवृत्त हो जाते हैं । बड़ा आश्चर्य है कि कोई भी स्वयं सुखी न होते हुए भी अपने पड़ोसी को सुखी समझता है । शान्ति सेन ने भगवान् शंकर से संसार में सबसे अधिक सुखी बनने का वरदान मांगा । भगवान् ने कहा पांच वर्ष में सबसे सुखी व्यक्ति को ढूंढ़लो और तुम्हें भी उसी जैसा बना दिया जायेगा क्यों कि मुझे तो संसार में कोई सुखी नहीं लगता । शान्ति सेन पांच वर्ष तक राजा, किसान, नर, नारी, ब्राह्मण, संन्यासी, श्रेष्ठी, शूद्र आदि सबके पास घूमा लेकिन किसी को सुखी न पाया । लेकिन इस खोज ने उसकी संसार में सुख की भ्रान्ति को हटा दिया और पांच वर्ष बाद उसने शिवाशीर्वाद से शिवज्ञान प्राप्त करके परमानन्द को पाया ।-शान्ति सेन की तरह ही हम सब पड़ौसियों को सुखी समझकर उनके जैसे बनना चाहते हैं और बन जाने पर उन दुःखों का अनुभव कर पुनः दूसरे पड़ौसी जैसे बनने का प्रयत्न करते हैं । इस खोज की समाप्ति में सब को दुःख रूप समझ कर परम शिव के चरण कमलों में लग जाते हैं ।

ब्रह्म को आवरण करने वाले पदार्थों में धन ही सबसे बड़ा आवरक है । हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । आजकल यद्यपि हिरण्य का प्रयोग नहीं होता तथापि सुरक्षित कोषा के सञ्चालक (Reserve Bank Governor) के दस्तखतों से कौड़ी के कागज में भी ब्रह्म को ढांकनें की उतनी ही बड़ी शक्ति आ जाती है । इसके त्याग के बिना ब्रह्मज्ञान दुर्लभ है ।

यद्यपि स्वरूपतः त्याग न सरल है न सबके लिये सम्भव । परन्तु आसक्ति का त्याग आवश्यक है । बहुत से लोग धन का दान भी वाहवाही लूटने के लिये करते हैं । यहां धन का स्वरूप से त्याग होने पर भी आसक्ति का त्याग नहीं है । कुछ वर्ष पूर्व तक लोक-निन्दा के भय से अभक्ष्य-भक्षण, अपेय-पानादि नहीं किया जाता था । यह स्वरूपतः त्याग था । आज निन्दा का, प्रतिष्ठा हानि का, अथवा

सामाजिक वहिष्कार ,का भय न रह जाने से वे ही लोग इनमें प्रवृत्ति करने लगे हैं। आसक्ति के कारण रुकावट के हटते ही प्रवृत्ति स्वाभाविक है। आरक्षि, राज्य आदि के हट जाने पर पापिष्ठ स्थूलतम कार्यों को करने में भी साधारणतः लोगों को हिचकिचाहट नहीं होती। यदि आसक्ति का त्याग हो जाय तो स्वरूपतः त्याग शनैः शनैः आ जाता है। आसक्ति का त्याग केवल विचार से सम्भव है।

साधारण मैल केवल स्वफेन से धुल जाता है परन्तु तेल इत्यादि के द्वारा लगा हुआ दाग गरम पानी और क्षार के बिना नहीं हटता। इसी प्रकार आसक्ति का तेल जहां लगा हो वहां विचार रूपी क्षार (सोडा) एवं वैराग्य रूपी गरम जल आवश्यक होता है। आसक्ति रहित विषय का दाग केवल विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध को निवृत्त करने से निवृत्त हो जाता है।

आसक्तियों में अन्य आसक्तियों की अपेक्षा देहासक्ति सबसे अधिक है। अन्य आसक्तियों के छोड़ देने पर भी यह बनी रहती है। विशेषतः साधकों में देहासक्ति प्रबल होती है। थोड़े से सिर दर्द को भी उसके लिये सहना कठिन हो जाता है जब कि गृहस्थ नौकरी छूटने के डर से बुखार में औफिस चला जाता है। देह की अपेक्षा मन की आसक्ति और भी अधिक होती है। जिसने बाह्य सारे क्रियाओं एवं बन्धनों को छोड़ दिया है ऐसे व्यक्ति को और कुछ कार्य न होने के कारण थोड़ीसी उत्तेजना या मतभेद भी महीनों तक बैठकर चिन्ता कराती रहती है कि ऐसा क्यों हुआ या ऐसा उसने क्यों कहा। परन्तु जो बाह्य त्यागी नहीं है क्रोध और चिन्ता एवं उनके कारणों को कार्याधिक्य के कारण स्वभावतः भूल जाता है। इसीलिये वेदों में अन्तस्त्याग के बिना बहिस्त्याग की निन्दा की है। भगवान् कृष्ण भी उसको 'मिथ्याचारः स उच्यते' ऐसा कहते हैं। यदि आसक्ति न हो तभी विषयों के बाह्य त्याग में कोई हानि नहीं हो सकती है।

जिस प्रकार एक मैल को हटाने के लियें राख रूपी दूसरी मैल

वर्तन पर लगाई जाती है जिससे जल के द्वारा दोनों ही मैल दूर हो जावें उसी प्रकार सर्वथा आसक्ति छोड़ने के लिये पाप एवं पापासक्ति छोड़कर पुण्य एवं पुण्यासक्ति करनी पड़ती है । शास्त्र विरुद्ध कर्मों की वासना छोड़ने के लिये शास्त्रीय कर्मों में आसक्ति करना आवश्यक है । विषयासक्ति छोड़ने के लिये शिवासक्ति करनी पड़ती है । शिव के निरन्तर स्नेह के बल से संसार के सारे स्नेह हट जाते हैं । स्नेह या आसक्ति का स्वरूप है निरन्तर बढ़ते जाना । एक पाप कर्म के करने से अनेक पाप कर्मों में प्रवृत्ति होती है । एक झूठ बोलने वाले को उसकी रक्षा के लिये हजार झूठ बोलनी पड़ती हैं । इसी प्रकार पुण्य कर्मों में प्रवृत्ति करने पर वे भी बढ़ते चले जाते हैं । शिव में स्नेह पहले अत्यन्त थोड़ा होने पर भी धीरे-धीरे बढ़ता चला जाता है । फिर कुछ समय तक पुण्य और पाप शिव-प्रेम और जगत्-प्रेम साथ-साथ रहते हैं । परन्तु अन्त में केवल पुण्य कर्म और ईश भावना बच जाती है । सत्संग से ही पुण्य कर्म में प्रथम प्रवृत्ति होती है । यदि निरन्तर सत्संग मिलता रहे तो अन्तरात्मा द्विराज्य से घबरा जाती है एवं शीघ्र ही अपने आप को शिव के समर्पित कर देती है । अन्यथा साधक को युद्ध जीतने में दीर्घ काल लग जाता है । परन्तु जिस साधक पर शिव और गुरु की कृपा है वह एक दिन अवश्य ही सफलता प्राप्त कर लेता है ।

कागज पर स्याही ने ही अक्षर संख्या आदि रूपों को धारण किया है । फिर भी पढ़ते समय पदार्थों एवं घटनाओं का भान रहता है स्याही का भान नहीं । बच्चे बादलों में हाथी, गाय, आदमी आदि देखते हैं और उसमें इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उन्हें बादल का भान नहीं रहता लेकिन वस्तुतः वहां सिवाय बादल के कुछ नहीं है । इसी प्रकार ब्रह्म ही जगत् के सारे आकारों में बना हुआ प्रतीत होता है, फिर भी उन आकारों में चित्त इतना आकृष्ट हो आता है कि ब्रह्म की प्रतीति नहीं होती । इस स्थिति को ही दार्शनिकों ने अज्ञान या

माया कहा है । अज्ञान और माया हम से कोई भिन्न चीज नहीं है जो हमारे और परमेश्वर के बीच में खड़ी है । परन्तु यह स्वरूप को ढांक देती है इसीलिये पर्दा-रूप कही जाती है । जिस प्रकार शिव हमारे हृदय में चेतन रूप से हैं उसी प्रकार माया भी मन अथवा उसके विचार, काम-क्रोधादि रूप से है । वस्तुतः जीव को ब्रह्म और माया उभयरूप माना गया है । माया-रूपता की निवृत्ति ही ब्रह्म-प्राप्ति रूप से कही जाती है । जिस प्रकार स्वाप्न पदार्थों के साथ जागृत् पदार्थों का सच्चे सम्वन्ध के न होने पर भी संस्कार के माध्यम से सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार ब्रह्म का जगत् से कोई सम्बन्ध न होने पर भी अध्यास के द्वारा सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। दोनों ही जगह भिन्न सत्ता होने के कारण सत्य सम्बन्ध असम्भव है । स्वाप्न पदार्थों की प्रातिभासिक सत्ता, जागृत् पदार्थों की व्यावहारिक सत्ता, एवं ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता मानी गई है। अतः अध्यास निवृत्ति ही शुद्ध ब्रह्म का माया से सम्बन्ध हीन हो जाना है ।

ब्रह्म की जगत् और जीव से अभिन्नता प्रतिपादन करने के अनन्तर श्रुति उसको चार अवस्थाओं वाला प्रतिपादित करती है । सोऽयमात्मा चतुष्पात् । वद्ध जीव की तीन अवस्थाएँ एवं जीवन्मुक्त की चौथी । वस्तुतः इन तीन अवस्थाओं में भी यह चौथी ओतप्रोत है । जिस प्रकार नाविक नदी के दोनों किनारों पर आता जाता रहता है, यद्यपि भाड़ा देने वाला यात्री एक बार ही जाता है और पुनः नहीं लौटता, उसी प्रकार सदाशिव ही एक मात्र दोनों किनारों पर निरन्तर निवास करने वाला नाविक है । चारों अवस्थाओं में वही चारों अभिनय कर रहा है । जिस प्रकार मंत्री के सामने भीगी बिल्ली बना हुआ अफसर वहां सब प्रकार की झाड़ खाता रहता है परन्तु बीबी के सामने वही मालिक बनके फटकारता रहता है, क्लब में अपने समान मित्रों को कभी डांटता है कभी उनसे डांट खाता है, वही अपने बच्चों के प्रति गम्भीर बन जाता है । लेकिन यह सभी उसकी उपाधियां हैं । आराम से अपने बिस्तर में लेटा हुआ इन सभी उपाधियों से रहित होकर

सुख पाता है। इसी प्रकार सर्वावस्था रहित सदाशिव ही सब उपाधियों से रहित हुआ परमानन्दानुभव करता है। सदाशिव ही मञ्च है, वही अभिनेता है वही निर्देशक है और पुनः वही स्वयं ही द्रष्टा है। भेद दृष्टि ही माया है जिसके निवृत्त हो जाने पर शिव-ज्ञान सुलभ है। इसकी निवृत्ति ही चित्त का शोधन है। वस्तुतः चित्त की अशुद्धता ही हमें अतिस्फुट स्व-स्वरूप को देखने में बाधक है। अर्बुदाचल की चढ़ाई में गर्मी से लथपथ हो रहे थे। प्यास से तीव्र व्याकुलता थी। अकस्मात् एक साथी रो पड़ा। उधर से एक ग्रामीण जा रहा था। घटना को समझ कर उसने एक फल का सिर काट दिया जिसमें ठंडा पानी भरा हुआ था। सभी साथी प्रसन्नता से कूद कर वहाँ लगे हुए फलों के सिर काट-काट कर पानी पीने लग गये। यद्यपि सारे मार्ग में उन फलों को देखते आये थे परन्तु उनके अन्दर भरे हुए जल का पता न होने के कारण कष्ट पा रहे थे। इसी प्रकार हम को सर्वत्र व्यापक परम शिव का ज्ञान अशुद्ध चित्त के द्वारा आवरण होने के कारण नहीं हो पाता और हम कष्ट पाते रहते हैं।

चित्त शुद्धि के उपायों में वैदिक सिद्धान्त में यज्ञ का प्रमुख स्थान है। यज्ञ का स्वरूप मत्स्य पुराण में 'देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां लथा ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते' देवता, आहुति के पदार्थ, वैदिक मंत्र, पुरोहित और दक्षिणाओं के एकत्रीकरण को ही कहा गया है। पाणिनि तो यज् धातु का अर्थ ही देव-पूजा, संगतिकरण और दान वतलाते हैं। देव-पूजा अर्थात् परमेश्वर के किसी भी रूप की पूजा; संगतिकरण अर्थात् मंत्रों का संयुक्त होकर उच्चारण अथवा वेद के अर्थों की संगति लगाना; दान अर्थात् स्वद्रव्य का परद्रव्य रूप में परिणत करना; इनमें से प्रत्येक यज्ञ शब्द का वाच्य है।

स्मृतिकारों ने यज्ञ और महायज्ञ में भेद किया है। 'व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात् यज्ञमहायज्ञौ (अंगिरा सूत्र) व्यष्टि के द्वारा किया जाने वाला यज्ञ और समष्टि के द्वारा किया जाने वाला महायज्ञ कहा

जाता है। भगवान् सुरेश्वराचार्य (वृ० वा०), 'महा यज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' कहकर दोनों की आवश्यकता पर जोर देते हैं। वस्तुतः वैदिक दृष्टि में तो यज्ञों को न करना भी पाप ही माना गया है। मोघमन्नंविन्दते सत्यं ब्रवीमि वध इत्सतस्य। (ऋ० १०।११७।६) एवं 'भुञ्जते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् (गी० ३/१३) इत्यादि श्रुतिस्मृतियाँ यज्ञ के बिना किसी भी प्रकार के भोग की सर्वथा पाप जनकता दिखलाती हैं। जिस प्रकार मुनीम मालिक के लिये पांच हजार रु० का धनादेश (चेक) भुना के लाता है, मार्ग में बड़ी सावधानी वर्तता है कि जेव न कट जाये। मालिक को दे देने पर जब मालिक उसको २०००) रु० तनखा के रूप में दे देता है तो उसी में उसको प्रसन्नता है। इसी प्रकार हमें जो कुछ परमेश्वर ने दिया है उसमें से देवताओं, पितरों, मानवों, ऋषियों, प्राणियों आदि को हिस्सा वितरित करने के बाद जो हमें मिलता है वही हमारा वास्तविक धन है और सुख का कारण बनता है। अतः ब्रह्म-स्थिति के लिये चित्त-शुद्धयार्थ नियमतः यज्ञ कर्तव्य है।

* * * *

मनुष्य लोक में कर्म के द्वारा ही अति शीघ्र चित्त शुद्ध हो जाता है। 'क्षिप्रंहि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा। (गी० ४·१२) यहां सिद्धि से तात्पर्य चित्त-शुद्धि से ही है क्योंकि यह हमें परमेश्वर की तरफ ले जाती है। बाकी सिद्धियां तो यातुधानों की सिद्धियां हैं। लेकिन कर्म का अर्थ चांदनी चौक का कपड़ा बेचना नहीं है। वैदिक कर्म ही चित्त-शुद्धि का कारण है। वैदिक कर्म काम्य होने पर भी चित्त को शुद्ध कर देते हैं। नित्य नैमित्तिक कर्म तो सर्वथा चित्त-शुद्धि में ही उपयुक्त हैं। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य 'काम्येपि शुद्धिरस्त्येव' कह कर 'नित्यनैमित्तिके कुर्यात्' के द्वारा उनका विशेष विधान करते हैं। जिस प्रकार मछुई पुष्प-गन्ध ग्रहण करने की योग्यता नहीं रखती उसी प्रकार अशुद्धान्तःकरण वाला देवताओं के भोगों को भोगने में असमर्थ है। इसलिये सकाम कर्म का प्रधान फल स्वर्ग होने पर भी अवान्तर फल चित्त में शुद्धि लाना

है जिससे स्वर्ग सुख भोगा जा सके । नित्यनैमित्तिक कर्मों का तो प्रधान फल ही चित्त-शुद्धि है । वहां भोग उद्देश्य ही नहीं है जो शुद्धि में प्रतिबन्धक या उसे कम करने वाला बने । वस्तुतः काम्य कर्म वेदों की महान् देन है । यह हमें टुटपुंजिये राजा और सेठों के भिखारीपने से छुड़ा देता है । यहां तो केवल देवाधिदेव महादेव से ही मांगा जाता है और वह भी पुत्र के नाते । हम अशास्त्रीय नास्तिक जनों से दबने से बच जाते हैं । एवं गैरपने की हीनभावना भी हमारे मन में नहीं आती । श्रीमद्भागवत भी 'सर्वकाम उदार धीः' कहकर काम्य कर्मों की प्रशंसा ही करता है ।

यज्ञ प्रक्रिया से महान् बनता है धन से नहीं । इसीलिये महाभारत में युधिष्ठिर के महान् राजसूययज्ञ की अपेक्षा नेवले ने प्रत्यक्ष ही ब्राह्मण के सत्तू दान को बड़ा यज्ञ सिद्ध किया था ।

मानव जब तक अपने समग्र रूप से किसी भी क्रिया में तत्पर नहीं होता उसे पूर्णता का अनुभव नहीं हो सकता । जब तक हमारे विचार क्रिया रूप में परिणत नहीं होते उनके संस्कार दृढ़ नहीं बन पाते । इसीलिये आज की विज्ञान-शालाओं में सिद्धान्त की अपेक्षा प्रयोगशालाओं में क्रियात्मक ढंग को अधिक प्रश्रय दिया जाता है । वेद के सिद्धान्त का क्रियात्मक ढंग ही यज्ञ होने के कारण करोड़ों पुस्तकों की अपेक्षा यज्ञ करने से संस्कार अधिक गहरे बनते हैं । इस बात को न समझने के कारण ही आज के साधक क्रियात्मक यज्ञों से घबराते हैं, और इसीलिये उनका चित्त शीघ्र शुद्ध नहीं हो पाता ।

* * * *

सब यज्ञों में जो स्वयं अपने जीवन को ही यज्ञ बना देता है उस यज्ञ की श्रेष्ठता बताई गई है । जिस प्रकार यज्ञ का संकल्प करके मध्य में अपूर्ण छोड़ देने वाला पाप का भागी होता है उसी प्रकार जीवन-यज्ञ का संकल्प लेकर बीच में छोड़ देना अत्यन्त दोष पूर्ण है । मैं किसी भी परिस्थिति में अशास्त्रीय कर्म नहीं करूंगा एवं प्रत्येक कर्म का फल शिव के अर्पण करूंगा ऐसा दृढ़ निश्चय ही

यहां संकल्प है। ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां पुरोहित हैं और मन आचार्य। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य वगैरह ही आहुति के द्रव्य हैं। अज्ञान की आहुति ही पूर्णाहुति है। ब्रह्मानन्द के जल से स्नान ही अवभृथ स्नान है। यदि ज्ञान-प्राप्ति न होने से इस जीवन में पूर्णाहुति न हो पाई तो भी चिन्ता की बात नहीं, क्यों कि पुरोहित वगैरह सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित होने के कारण साथ ही जाते हैं। अतः इस यज्ञ में मृत्यु पुरोहितों के सोने की तरह ही समझनी चाहिये। आगे भी जब तक ज्ञान की प्राप्ति न हो जाय यज्ञ चलता ही रहेगा। इस यज्ञ को प्रतिक्षण, प्रतिदिन, प्रतिमास, प्रतिवर्ष एवं प्रतिजीवन तब तक करते रहना होगा जब तक पूर्णाहुति देकर सर्वं ह्येतद् ब्रह्म का अनुभव नहीं कर लिया जाता। यद्यपि यह यज्ञ आपको स्तम्भित कर देगा तथापि इसके बिना काम चलने वाला नहीं है। इसमें कन्नी काटने से मनुष्य ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग से स्खलित हो जाता है। बलात् कुण्डलिनी को सहस्त्रार में ले जाने से चाहे प्रकृतिलीनावस्था आजाय, परमशिव की प्राप्ति सम्भव नहीं।

जीवन यज्ञ के अंगों का वर्णन अघोर आङ्गिरस ने छान्दोग्य उपनिषद् में कृष्ण को उपदेश करते हुए किया है। इन उपदेशों का विस्तार ही श्रीकृष्ण ने भगवत् गीता में अपने अनुभवों के आधार पर किया है। जीवन में जो मिले या न मिले उसमें सुख मानना ही जीवन यज्ञ की दीक्षा है। शरीर निर्वाहार्थ भोग ही उपसदा हैं। तप, दान, अहिंसा, सरलता, सत्य आदि ही दक्षिणा है। छान्दोग्य उपनिषद् में इसके तुरन्त बाद आत्मज्ञान का उपदेश देकर बताया गया है कि कम से कम परोक्ष ज्ञान के बिना जीवन यज्ञ प्रारम्भ नहीं किया जा सकता। अतः परोक्ष ज्ञानी ही इसका अधिकारी है।

जीवन-यज्ञ ही वह साधना है जो एक दृष्टि से सनातन धर्म की संसार को महान् देन है। इसमें धर्म और व्यवहार का भेद

नोटः पूर्ण विवरण के लिये देखिये 'Jiwan Yajna'
Published by Agra University Press.

मिट जाता है । अतः मानवों के लिये आज के व्यस्त जीवन में इसकी उपादेयता स्वयं सिद्ध है । सामान्य धर्म होने के कारण मनुष्य मात्र का जीवन-यज्ञ में अधिकार है ।

* * * *

शुद्धान्तःकरण में ही आत्मा की ब्रह्मरूपता का ज्ञान "अयं" प्रत्यक्ष रूप में होता है । यदि ब्रह्म और आत्मा का वास्तविक भेद होता तो परमेश्वर सबसे बड़ा भय देने वाला बन जाता । दूसरे से भय स्वाभाविक है । मानव वर्षा से डरता है कि कहीं भीग न जाय । परन्तु क्या यमुना या कोई और नदी पानी से भीगने से डरती है ? पानी पानी को नहीं भिगा सकता, अग्नि अग्नि को नहीं जला सकती । अतः पानी पानी के लिये या आग आग के लिये भय का कारण नहीं हो सकती । इसी प्रकार जब तक जीव और जगत् शिव से भिन्न जाति के होंगे भयाक्रान्त बने रहेंगे । पर जब वे शिव से अभिन्न हो जाते हैं तो भय की सम्भावना नहीं रहती । जिस प्रकार किसी के कहने पर कि यह जंगल है उस पर यह आक्षेप करना कि वहां पेड़, पत्ते, लतायें भी हैं व्यर्थ है क्योंकि जंगल के अन्तर्गत यह सब आ जाता है—यद्यपि वे परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं परन्तु जंगल से अभिन्न ही रहते हैं—इसी प्रकार चेतनरूप से जीव और सत्तारूप से जगत् भिन्न प्रतीत होने पर भी परम शिव से सर्वथा अभिन्न ही हैं । इस प्रकार परम शिव से अतिरिक्त द्वितीय वस्तु के अभाव से भयाभाव सिद्ध होता है । इस ज्ञान को प्राप्त करना ही जीवन का उद्देश्य है ।

जिस प्रकार अनेक भांति के छिद्रों वाले घड़े में से आती हुई रोशनी भिन्न भिन्न प्रकार की दीखने पर भी एक ही है उसी प्रकार भिन्न भिन्न अन्तःकरण एवं पदार्थों में सत्ता और चैतन्यरूप से एकमात्र परम शिव ही प्रकाशित हो रहा है । यह प्रकाश ही वह बीज है जिसमें प्रलयकाल में सारी सृष्टि रहती है और सृष्टिकाल में व्यक्त होती है । अभिव्यक्ति का कारण एकमात्र ईश्वर संकल्प है । यह व्यक्तीभवन ही सृष्टि है और इसके किसी अंश से तादात्म्य भाव प्राप्त कर लेना ही बन्धन है । इन्द्रियों के द्वारा मन में विषय जल भरता चला

जाता है जब तक यह प्रवेश मार्ग रोका न जाय तब तक अनर्थ से बचना असम्भव है ।

प्रश्न उठता है कि सम्पूर्ण भाव से इन्द्रिय-निग्रह व्यवहार-रोधक होता है । जिस प्रकार खिड़की खोलने से धूल और पानी भीतर आते हैं साथ ही वायु और सूर्य रश्मियां भी मिलती हैं; परन्तु बन्द कर देने पर जी घुटता है; इसी प्रकार इन्द्रियों के साथ है । वैज्ञानिकों ने ऐसी खिड़कियां बनाई हैं जिनमें इच्छानुसार वायु और प्रकाश का संचार होने पर भी धूल और पानी को रोका जा सकता है । इसी प्रकार शास्त्रों ने इंद्रियों के सदुपयोग के द्वारा विषय-जल एवं आसक्ति-रज को रोककर व्यवहार करने का तरीका बतलाया है ।

*　　*　　*　　*

हमारे जितने भी अनुभव हैं उनमें दृश्य और दृष्टा दोनों का होना आवश्यक है । इसी प्रकार हमारी सारी क्रियाओं में कर्म और कर्ता की आवश्यकता होती है । क्रिया का अर्थ होता है अवस्था से अवस्थान्तर में जाना । "घर में" स्थिति से "बस में" स्थिति को प्राप्त करना गमन क्रिया है । 'थाली में' स्थिति से 'पेट में' स्थिति को प्राप्त करना खाना क्रिया है । खट्टी स्थिति से मीठी स्थिति में जाना पकना क्रिया है । इसी प्रकार घट विषयक अज्ञान से घट विषयक ज्ञान में जाना ज्ञान क्रिया है । बिना कर्ता और कर्म के क्रिया असम्भव है । प्रत्येक क्रिया कर्म में परिवर्तन करती है । परन्तु कर्ता अपरिवर्तित बना रहता है, इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञान ज्ञेय में परिवर्तन करता है परन्तु ज्ञाता वैसा ही बना रहता है । यह नित्य अपरिवर्तित चैतन्य तत्त्व ही ब्रह्म नाम से कहा गया है ।

प्रत्येक क्रिया के लिये किसी न किसी करण की अपेक्षा होती ही है । ज्ञान के लिये बहिःकरण एवं अन्तःकरण क्रमशः अपेक्षित हैं । प्रायः इन करणों के परिवर्तन को साक्षी में परिवर्तन मान लिया जाता है । परन्तु यदि ज्ञाता में परिवर्तन मान लिया जाय तो स्मरण असम्भव हो जायेगा ।

यदि करण ठीक होवें तो क्रिया स्वभावतः ठीक होगी। यदि निब खराब होगा अथवा मसि-प्रवाह अवरुद्ध होगा तो लेखन में दोष स्वाभाविक है। इसी प्रकार इन्द्रिय या मन के दोषयुक्त होने पर ज्ञान धुंधला होगा। अज्ञान-रूपी दोष के कारण ही ब्रह्म संसार रूप से प्रतीत होता है। अतः करणों की शुद्धि के द्वारा ही उनमें ठीक ठीक तेजी लाकर स्निग्ध करने पर ही ज्ञान-रूपी क्रिया ठीक ठीक उत्पन्न हो सकती है। मन आत्म-विषयक गहन चिन्तनों के लिये बनाया गया है। परन्तु जिस प्रकार गाल के बाल काटने वाली छुरी से आलू छील देने पर वह सूक्ष्म काम के अयोग्य हो जाती है उसी प्रकार विषय-चिन्तन करने से मन स्थूल हो जाता है और स्थूल मन कभी भी आत्मा को नहीं समझ सकता। आत्म-ज्ञान की प्रार्थना करने पर नचिकेता के छुरी की परीक्षा करके ही जब यम ने उसे तेज पाया तब आत्म-ज्ञान का उपदेश दिया।

बहुत से लोग कहते हैं कि यद्यपि यह सत्य है कि भोग अनित्य हैं परन्तु जब तक हैं तब तक उनको क्यों न भोगा जाय? वे भूल जाते हैं कि इस भोग के द्वारा कुन्द (blunt) शक्तिहीन (powerless) और संवेदनहीन (non-sensitive) इन्द्रिय और मन बाद में प्रयत्न करने पर भी आत्म-ज्ञान में असमर्थ ही रहेंगे। तीन मास तक नमक खाना छोड़ देने पर एक चुटकी नमक भी पांच सेर दाल में डालने पर जान लिया जाता है। परन्तु रोज नमक खाने वाले को चार चुटकी अधिक डालने पर भी पता नहीं चलता।

इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रिय-निग्रह में भोग-संकोच अवश्य कर्तव्य है। संकुचित भोग भी शास्त्रानुसार ही होना चाहिये शास्त्र विरुद्ध नहीं।

* * * *

जिस प्रकार लट्टू में, डंडे में, पंखे में, मोटर में, चूल्हे में, ठंडी अल्मारी में, सर्वत्र विद्युत् एक रूप होते हुए भी उन सबसे भिन्न भिन्न क्रिया उसी विद्युत् शक्ति से होती है। इसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म

उनको सत्ता देते हुए उनसे भिन्न भिन्न और विपरीत क्रियायें भी करवाता है। उसके बिना यह सारा जड़-चेतन जगत् उन यन्त्रों की तरह व्यर्थ है जिनका बिजलीघर से सम्बन्ध नहीं। संसार का महत्तम व्यक्ति ब्रह्म के बिना हड्डी के ढांचे के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह हम सबका प्रवर्तन बाहर रह कर नहीं वरन् हमारा स्वरूप बन कर करता है। इसी बात को श्रुति ने अयमात्मा ब्रह्म कहकर बतलाया। जिस प्रकार दीपक के ठीक नीचे अंधेरा रहता है उसी प्रकार जहां हृदय में सर्वाधिक रूप से ब्रह्म प्रकाश करता है वहीं अज्ञान भी रहता है। सूर्य महल और चाण्डाल की कुटी को स्पर्श एवं प्रकाशित करते हुए भी न किसी प्रकार का भेद करता है न पाप और पुण्य का भागी होता है। इसी प्रकार ब्रह्म सबके अन्दर रहकर चोर और राजा दोनों को सत्ता और ज्ञान देते हुए भी पाप-पुण्य का भागी नहीं बनता। उसके साथ एकता प्राप्त कर लेने पर जीव भी पाप-शोकादि से रहित हो जाता है।

चूंकि मन पांच भौतिक है इस लिये जड़ है। फिर भी वह देखता सुनता हुआ सा प्रतीत होता है। अतः मानना पड़ेगा कि उसमें कहीं से यह शक्ति आई है। पानी की गर्मी को देखकर उसके अग्नि-सम्बन्ध का अनुमान हो जाता है। चैतन्य आत्मा ही मन में संक्रान्त होकर उसे चेतन जैसा बना देती है। इसी लिये आत्मान्वेषण मन में ही सुकर है, सूर्य और तारों के उस पार नहीं। लोग समझते हैं कि चन्द्रमा में पहुंचने के बाद सम्भवतः किसी दिन वैज्ञानिक भगवद्धाम में भी पहुंच जायेंगे परन्तु परमेश्वर न पृथिवी के तल में मिलेगा और न किसी तारे में, वह तो स्वयं अपने अन्दर ही मिलेगा। यदि पास पड़ा हुआ पानदान हमें नहीं दिखाई देता तो हम आंख का इलाज करते हैं, सड़कों में ढूंढ़ते नहीं फिरते। उसी प्रकार हमें ब्रह्मज्ञान के करण को ठीक करना होगा। उन्नतोदर और नतोदर भेद से शीशा दूर की अथवा नजदीक की चीज को स्फुट कर देता है। इसी प्रकार मन ही बहिर्मुखी होकर संसार को दिखाता है और अन्तर्मुखी होकर आत्मा को दिखाता है। जब भगवती दुर्गा की तरह यह

मन अपनी सारी शक्तियों को अपने में लीन कर लेता है और उन्हें अपने से अभिन्न समझने लगता है तभी आत्म-दर्शन की क्षमता आती है। ज्ञानी को इसी लिये समग्र नाम-रूप अपने से अभिन्न प्रतीत होता है। दूसरों की प्रवृत्ति बहिर्मुखी होने से उन्हें स्वयं अपना आत्मा भी दूर दिखाई देता है। ब्रह्म पूततम ही नहीं स्वयं पूतता है अतः पूतान्तःकरण ही उसको ग्रहण कर सकता है। अन्तर्मुखता ही इसको पूत करने का प्रधान साधन है।

* * * *

मन की पवित्रता का अर्थ होता है आसक्ति-रहितता। जिस प्रकार गीली लकड़ी आग नहीं पकड़ती और प्रयत्न करने पर केवल धूम्रपान का कष्ट ही करना पड़ता है उसी प्रकार आसक्त अन्तःकरण में ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करने का प्रयत्न व्यर्थ जाता है। ज्ञान प्रत्यक्ष फल वाला होने के कारण धर्म की तरह भविष्य के संतोष का सहारा भी नहीं दे सकता। ज्ञान का प्रत्यक्ष फल संसार दुःख की निवृत्ति है। इसी लिये 'कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रजायते' (म० भा०) के द्वारा कर्मों से मन रूपी इंधन के जल को सुखाने पर ही ज्ञानाग्नि की सम्भावना बनती है। दृष्टा, दृश्य एवं दर्शन की एकता ही ज्ञान पद का वाच्य है। यद्यपि इस प्रकार की एकता की सम्भावना कठिन प्रतीत होती है तथापि स्वप्न में इनकी एकता जगने पर सभी जानते हैं। स्वप्न में होने वाले पर्वत और समुद्र एवं जिन आँखों और मन से उनको देखा जाता है सभी समान रूप से कल्पित हैं। यद्यपि जागृत् में इनका भेद प्रतीत होता है तथापि एक ही आत्मा की अवस्था विशेषों में समानता स्वीकर्तव्य है। जागृत् में नवीन वासनाओं की उत्पत्ति एवं पुरानी वासनाओं की दृढ़ता बाह्य पदार्थाधीन है। स्वप्न में यह वासनायें ही सृष्टि-निर्मात्री एवं नियोजिका हैं। जागृत् में जो असम्भव प्रतीत हों उन्हें भी स्वप्न में देखा जा सकता है। इस प्रकार स्वप्न के दृष्टान्त से जागृत् की त्रिपुटी की एकता सिद्ध हो जाती है। सुषुप्ति में मन और पदार्थ दोनों के लीन होने पर भी आत्म-सत्ता

रह जाती है। अतः उसकी स्वयं प्रकाशता किसी अन्य साधन पर अवलम्बित नहीं, वस्तुतः तुरीयावस्था पूर्ण होने के कारण जागृत्, स्वप्न, सुषुप्ति भी उसी के अंग हैं। इनसे अतिरिक्त ही कोई चौथी अवस्था हो ऐसा नहीं। जिस प्रकार तीन चवन्नियों से रुपया भिन्न नहीं, वरन् सभी चवन्नियों वाला रुपया ही तुरीयावस्था है। रुपये में चवन्नियां स्वरूपतः नहीं होतीं परन्तु कल्पित की जाती हैं। उसी प्रकार तुरीय में जागृत् स्वप्न और सुषुप्ति स्वरूप से नहीं हैं परन्तु कल्पित की जाती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जागृत् में पदार्थजन्य विक्षेप एवं स्वप्न में वासनाजन्य विक्षेप हैं जो सुख दुःख के कारण हैं। सुषुप्ति में विक्षेपाभाव से दुःखाभाव है अतएव बन्धनानुभूति का भी अभाव है।

जागृत् ही नवीन ज्ञान की प्राप्ति का साधन होने के कारण तुरीय प्राप्ति की अवस्था है। इसी लिये श्रुति अत्यन्त सन्निहित जागृत् अवस्था वाली आत्मा को ही अयमात्मा ब्रह्म द्वारा निर्देश करती है। इस प्रकार पवित्र मन के द्वारा जब वैदिक महावाक्यों का विचार करने पर त्रिपुटी लय हो जाती है तभी आत्म-स्थिति होती है।

* * * *

श्रुति अयं के द्वारा आत्मा की सन्निहितता बतलाती है। वस्तुतः निकट या दूर अपने को लेकर ही कहा जाता है। जो मेरे नजदीक है वह नजदीक और जो मुझ से दूर है वह दूर। यद्यपि हमारा शरीर हमसे अत्यन्त नजदीक है तथापि यहां भी दूरी माननी ही पड़ती है। पैर में कांटा गड़ने पर दर्द नजदीक होने के कारण तुरन्त जाना जाता है। परन्तु कांटा लोहे का है या बबूल का और ठीक किस जगह गड़ा है इसको जानने के लिये बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। कभी कभी तो पेट के दर्द का स्वानुभव होने पर भी वह अपेन्डिक्स है या अल्सर इसका केवल पता लगाने के लिये डाक्टरों को हजारों रुपये देने पड़ते हैं। अतः अनुभूति हमारे सबसे अधिक नजदीक है। कुछ विचारक तो अनुभूति को इसी लिये आत्मा से सर्वथा अभिन्न स्वीकार कर लेते

हैं। इतना तो निश्चित है कि अनुभूति ही वह केन्द्रीय विन्दु है जहां से सारी दूरियां नापी जाती हैं। जिस प्रकार सामान्य प्रेष्यालय (G. P. O.) से ही देहली कें सभी स्थानों की दूरी नापी जाती है। जब कहा जाता है कि चांदनी चौक नजदीक है और तिलक नगर दूर तो केन्द्रीय विन्दु से ही दूरी अभिप्रेत होती है। परन्तु प्रेष्यालय को भी शून्य दूरी वाला नहीं माना जा सकता क्योंकि एक वातायन से दूसरे वातायन की दूरी भी उसके भीतर ही रहती है। इसी प्रकार अनुभूतियों के आश्रय अन्तःकरण में भी दूरियों का समावेश स्वीकार करना पड़ता है। जिस बिन्दु पर शून्य का स्तम्भ लगा हुआ है वह बिन्दु ही वस्तुतः केन्द्रीय बिन्दु है। यद्यपि उसकी स्वयं कोई लम्बाई चौड़ाई नहीं परन्तु सारी लम्बाइयां उसकी अपेक्षा से हैं। यह बिन्दु ही आत्मा है। उसके भीतर और कुछ नहीं। 'अयं' पद के प्रयोग से इसकी ही ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन श्रुति को इष्ट है।

उस आत्मा की ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन करके श्रुति एक असम्भव स्थिति पैदा कर देती है। जो सबसे अन्दर और सबसे नजदीक होगा वह सब से सूक्ष्म परम अणुंरूप होगा। वह सबसे बड़ा सर्वव्यापक ब्रह्म कैसे हो सकता है? अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड से भी बड़ा और परम अणु स्वरूप परस्पर विरोधी भाव हैं। इस विरोध को दूर करना ही श्रवण-मनन का फल है। स्वयं श्रुति भी 'एषो अणुरात्मा' कहकर जहां अणुता का प्रतिपादन करती है वहीं 'आत्मैवेदं सर्वं' कह कर व्यापकता का प्रतिपादन करती है।

इस विरोध का परिहार अयं के स्वरूप का विचार करने से होता है। अयं अर्थात् अपरोक्ष, जो सन्मुख हो, जिसमें किसी प्रकार का व्यवधान न हो। यद्यपि यह विचित्र संसार एवं इसके पदार्थ अपरोक्ष रूप से प्रतीत होते हैं—तथापि उनकी अपरोक्षता केवल क्षणिक एवं प्रातीतिक है। सर्वदा एवं सर्वावस्थाओं में उनकी अपरोक्षता नहीं रहती। अंधेरी रात्रि में प्रकाश के बिना पदार्थ अपरोक्ष नहीं रहते। इस प्रकार के व्यभिचार से ही ज्ञेय पदार्थों में स्वरूपतः अप-

रोक्षता नहीं मानी जा सकती। सूक्ष्मदृष्टि से तो जिस काल में पदार्थ अपरोक्ष प्रतीत हो रहे हैं उस काल में भी उन पर प्रकाश की खोली चढ़ी हुई है और उस खोली का ही अनुभव हो रहा है। अतः पदार्थ नित्य परोक्ष ही होते हैं। प्रकाश की खोली उतारकर पदार्थों का प्रत्यक्ष असम्भव है। प्रश्न हो सकता है प्रकाश तो स्वयं अपरोक्ष है, परन्तु प्रकाश स्वयं नेत्र-ज्योति के द्वारा आवृत है। इसी लिये आंख को बन्द करके हम प्रकाश को नहीं देख सकते। जिस आधुनिक पक्ष में प्रकाश का अक्षियवनिका (Retina) पर प्रतिबिम्ब ही रूप-ज्ञान के प्रति कारण है वहां भी चक्षु-स्नायु (Optic Nerve) के द्वारा विद्युत् प्रवाह ही रूप-ज्ञान के प्रति कारण पड़ेगा। एवं उस स्नायु के बन्द हो जाने पर प्रकाश का अपरोक्ष असम्भव होगा। विद्युत् प्रवाह द्वारा आवृत प्रकाश ही गृहीत होता है। यह उसकी अपरोक्षता का बाधक हो जायेगा। पीलिया में (Jaundice) नेत्र-ज्योति के पीले हो जाने पर सारे पदार्थ पीले दीखते हैं। स्वयं नेत्र-ज्योति मन के द्वारा ग्रहीत होती है। इसीलिये मन के रंग में रंगे हुए ही पदार्थों का ज्ञान होता है। रागयुक्त मन पदार्थ को प्रियरूप से देखता है। कामयुक्त मन पदार्थ को काम्यरूप से एवं द्वेषयुक्त मन पदार्थ को द्वेष्यरूप से देखता है। एक ही पदार्थ एक ही काल में चक्षु आदियों की समानता होने पर भी मित्र, शत्रु, उपेक्ष्य, भक्ष्य आदि भावों से देखा जाता है। अतः मन ही अपरोक्ष मालूम पड़ता है।

वस्तुतस्तु समग्र वासनाओं का केन्द्र होने के कारण सुषुप्ति काल में मन में समग्र वासनाओं की स्थिति अव्यक्त रूप से स्वीकार करनी पड़ती है। लेकिन सुषुप्ति में मन एवं तद्गत वासनाओं का अपरोक्ष अनुभव नहीं है। अतः सुषुप्ति-प्रमाण से उसे भी नित्य अपरोक्ष नहीं कह सकते। आत्मा सुषुप्ति में भी वैसा ही बना रहता है जैसा जागृत्-स्वप्न में। इसी लिये 'मैं हूं' यह ज्ञान साधन निरपेक्ष होने के कारण साक्षात् अपरोक्ष कहा जाता है। आत्म-तत्व कभी भी परोक्ष नहीं हो सकता और न इसे नष्ट ही किया जा सकता है। क्यों कि इसको

नष्ट करने वाला अनात्मा तो हो नहीं सकता और आत्मा वह स्वयं है। स्वसमान जाति में ही प्रतियोग सम्भव है। आत्मा तथा अनात्मा को किसी भी समान जातीयता में लाना असम्भव है।

अतः सिद्ध हुआ कि सदाशिव की प्राप्ति के लिये हमें कहीं भी जाने की आवश्यकता नहीं। परन्तु अहं अनुभूति में ही वह अन्वेष्टव्य है क्योंकि यह अनुभूति अपरोक्ष है जिसका निर्देश अयं के द्वारा श्रुति ने किया।

*   *   *   *

जीव, ईश, जगत् अथवा पशु, पशुपति और पाश तीन ही तत्व हमें मिलते हैं। श्रुति ने इन तीनों के अभेद का प्रतिपादन किया। अतः यह तीनों ही तत्व वस्तुतः एक ही परम शिव तत्व के अन्तर्गत हो जाते हैं। यद्यपि किसी भी विन्दु में परम शिव तत्व को पाया जा सकता है परन्तु 'अर्क्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' यदि घर में ही शहद मिल जाय तो पहाड़ चढ़ने का कष्ट कौन करे। इसी प्रकार जब जीव में ही शिव उपलब्ध है तो उसे दूसरी जगह ढूंढ़ना व्यर्थ है। प्रश्न हो सकता है कि यदि वह नित्य अपरोक्ष एवं सन्निहित है तो हमें उसका अनुभव क्यों नहीं होता, उसे पाने के लिये इतना परिश्रम क्यों करना पड़ता है? वस्तुतः आत्म-ज्ञान का साधन जो अन्तःकरण, उसमें होने वाले दोष के कारण ही अत्यन्त सन्निहित शिव भी दूर की तरह प्रतीत होता है। एक दृष्टि से तो इसकी सन्निहितता ही अन्तःकरण को इसे देखने से रोक लेती है। आंख का काजल आंख नहीं देख सकती। अतः शुद्ध दर्पण में प्रतिबिम्बित नेत्र को जिस प्रकार बिम्ब रूपी नेत्र देखता है उसी प्रकार शुद्धान्तःकरण में प्रतिबिम्बित आत्मा का ही साक्षात्कार संभव है।

अन्तःकरण में शुद्धि लाने का साधन वेद बतलाता है। संसार में प्रत्येक पदार्थ के शोधन का प्रकार विशेषज्ञ से जानना पड़ता है। पित्तल शोधक ब्रासो (Brasso) कपड़े को साफ करने में असमर्थ

है। एवं साबुन कटहल (पनसं) दुग्ध को नहीं धो सकता इसी प्रकार मन की शुद्धि का साधन शिव भक्ति ही है।

कुछ तथाकथित वेदान्ती मानते हैं कि आत्मा ज्ञानरूप है अतः उसे स्वयं अपने आप को जानने की कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु वे भूल जाते हैं कि आत्मा स्वरूप से अविद्या का आश्रय ही नहीं प्रकाशक भी है। अतः अविद्या से आत्मा का कोई विरोध नहीं। अविद्या का विरोध तो अखण्डाकार-वृत्ति-प्रतिफलितं आत्मा से है। सुषुप्ति काल में केवल आत्मा और अविद्या दो ही रह जाते हैं फिर भी आत्मा अविद्या का नाश नहीं कर पाती। सूर्यकान्तमुपारूढं न्यायं सर्वत्र योजयेत्। जिस प्रकार उन्नतोदर शीशे में चढ़ा हुआ सूर्य कागज को जलाता है, तद् रहित शुद्ध सूर्य तो कागज का प्रकाशक होता है नाशक नहीं, इसी प्रकार वृत्ति में चढ़ा हुआ ब्रह्म ही अविद्या को नष्ट करता है। तद्रहित शुद्ध तो उसका प्रकाशक है। उन्नतोदर शीशा भी जब तक केन्द्रित (focussed) न कर दिया जाय कागज को नहीं जला सकता। इसी प्रकार शुद्धान्तःकरण को भी एकाग्र करना आवश्यक होता है। एक अर्थात् सदाशिव। सदाशिव में केन्द्रित शुद्धान्तःकरण ही अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति नाम से कहा जाता है। खण्ड वृत्ति से खण्ड अविद्याओं का नाश और अखण्डवृत्ति से अखण्ड अविद्या का नाश तो स्पष्ट ही है। जागृत् अवस्था खण्डवृत्तियों की अवस्था है, तुरीय ही अखण्ड-वृत्ति की अवस्था है। इसी लिये ज्ञानस्वरूप होने पर भी अविद्या नाश के लिये आत्मज्ञान आवश्यक हो जाता है।

* * * *

जिस प्रकार साग को नमक ही नमकीन बनाता है और गुलाब-जामुन को शक्कर ही मीठा बनाती है उसी प्रकार सदाशिव ही सब को सत्ता देता है। जगत् को सत्ता, जीव को सत्ता और चैतन्य एवं ईश्वर को सत्ता, चैतन्य और आनन्द तीनों पदार्थ सदाशिव से ही मिलते हैं। इसी लिये जगत् जीव के द्वारा ही प्रकाश्य है। एवं जीव का आनन्द ईश्वर पर निर्भर करता है। सांख्य की भाषा में

कह सकते हैं कि घोर तमोगुणावस्था जगत् की है, रजोगुणावस्था जीव की है एवं शुद्ध सत्त्वगुणावस्था ईश्वर की है ।

मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्वयम् ।
सत्ता चिति द्वयं व्यक्तं धीवृत्यो र्घोर मूढयोः ।।
शान्त वृत्तौ त्रयं व्यक्तं । (पंच दशी १५/२०, २१)

यद्यपि दैनन्दिन अनुभव में हमें इनमें भेद प्रतीति होती है और श्रुति इन्हें अभिन्न बताती हैं तथापि दोनों का यहां विरोध नहीं । जिस प्रकार सूर्य उल्लू की दृष्टि में अन्धकार है परन्तु शुक-दृष्टि में प्रकाश स्वरूप है, उसी प्रकार जीव-दृष्टि से तीनों का भेद है शिव-दृष्टि से अभेद । अशुद्धान्तःकरण ही जीव-दृष्टि है । अन्तःकरण की पूर्ण शुद्धावस्था ही शिव-दृष्टि है । जब कि सांसारिक जीवन में भी सफलता अन्तःकरण की शुद्धि एवं एकाग्रता से ही सम्भव है तो अतिसूक्ष्म आत्मतत्त्व में इसकी आवश्यकता का प्रतिपादन स्वयं सिद्ध है ।

इस ऐक्य-ज्ञान का लाभ क्या ? वस्तुतः इस ज्ञान से ही हमें स्वतंत्रता की प्राप्ति होती है । आज स्वतंत्रता के विषय में बड़े विज़ार किये जाते हैं परन्तु इसके स्वरूप पर विचार करने की आवश्यकता कोई नहीं समझता । स्व अर्थात् खुद का तंत्र अर्थात् शासन । वस्तुतस्तु तनु विस्तारे धातु से अथवा तत्रि धारणे धातु से निष्पन्न होने के कारण तंत्र का अर्थ विस्तार या धारण करना माने नियम हैं । स्वतंत्र का अर्थ इसी लिये अपना विस्तार अथवा अपना नियम है । आज तो स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छन्दता कर लिया गया है । एवं जो अपने मर्जी में आवे वह करना ही इसका रूप माना गया है । किसी आंग्ल विद्वान् का यह प्रसिद्ध कथन है कि मेरी नासिका की मर्यादा के बाहर ही तुम्हारी स्वतंत्रता रह सकती है (Your freedom ends where my nose begins) यह असम्भव है कि सब अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करें क्योंकि इच्छाओं की भिन्नता के कारण प्रत्येक की स्वतंत्रता दूसरे की स्वतंत्रता का अव-

रोधक बन जाती है। लोकमान्य तिलक ने 'स्वतंत्रता आमाचा जन्म-सिद्ध अधिकार आहे' कह कर जो जन्म-सिद्ध अधिकार हो वह स्वतंत्रता है इस प्रकार लक्षण किया था। जो जन्म-सिद्ध होता है उसकी प्राप्ति नहीं प्रत्यभिज्ञा मात्र होती है। वेदान्त की दृष्टि से सामाजिक एवं राजनीतिक स्तर पर यह लक्षण सटीक बैठता है। शान्ति एवं सुख की पुनः उपलब्धि ही राजनैतिक स्वतंत्रता है। श्वेत रंग वालों की गुलामी से काले रंग वालों की गुलामी में जाना नहीं। स्वेच्छाचार तो सबसे बड़ी परतंत्रता है।

हमारा स्व न देश है, न कुटुम्ब। यह शरीर भी वास्तविक स्व नहीं है। जिस शरीर को हम स्व कहते हैं उसी में कुछ वर्षों के बाद मछली और चींटियों का स्वत्व कायम हो जायेगा। यह शरीर जीवित अवस्था में भी लकवा मार जाने पर हमारी इच्छा के नियन्त्रण में नहीं रहता है। जिस प्रकार राजनैतिक स्वतंत्रता के नाम से विदेशी दर्शन, आदतें एवं विचारधारायें हम पर शासन करती रहतीं हैं उसी प्रकार हमारे अपने मन पर काम-क्रोधादि शासन करते रहते हैं।

हम स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये ही सदाशिव में चित्त एकाग्र करके शिवतंत्रता को प्राप्त करते हैं क्यों कि वही वास्तविक स्वतंत्रता है।

* * * *

जीव-रूप से आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए बताया गया है :—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावः तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥

जो सुषुप्ति समय में सुख पाता है, स्वप्नकाल में संस्कार एवं वासनाओं का ग्रहण करता है, एवं जागृत्काल में विषयों का भोग करता है वह ही नित्य, अपरिच्छिन्न, अपरिणामी होने के कारण आत्मा कहा जाता है। प्रथम तीन व्यावहारिक आत्मा का लक्षण हैं एवं चतुर्थ शुद्ध आत्मा का लक्षण है। सुषुप्ति में सुखरूपता तो सर्वजन-

सिद्ध है। स्वप्न में वासना के सिवाय और कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार चलचित्र में केवल भापटल (Film) और प्रकाश है, परन्तु जब तक कहीं सच्चे अभिनेता एवं दृश्य न हों भाचित्र किस का लिया जा सकता है। इसी प्रकार जागृत् अनुभव के बिना संस्कार अनुपपन्न है; और संस्कार के बिना स्वप्न नहीं हो सकता।

शुद्धात्मा को कुछ लोग अव्यावहारिक मानते हैं, जो आजकल आक्षेपात्मक शब्द माना जाता है। व्यवहार शब्द का अर्थ ही मेरे व्यवहार में आने वाला किया जाता है। यह अभिमान की पराकाष्ठा का रूप है। यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड यदि केवल तेरे लिये बनाया गया होता तो अव्यावहारिकता का दोष संभव था। समुद्र के अन्तस्तल में सुन्दर सीपियां तुम्हारे लिये नहीं वरन् वहां के प्राणियों के आनन्द के लिये हैं। मानव को देखकर सिंह को बड़ा आश्चर्य होता है कि इतने स्वादिष्ट मांसल प्राणी को भागने की शक्ति क्यों नहीं दी गई। अतः हमें पदार्थों की वास्तविकता का विचार करना चाहिये, व्यावहारिकता का नहीं। वास्तव में तो बन्धन काल में व्यवहार अयोग्य होने पर भी मोक्ष-प्राप्ति का व्यवहार तो शुद्ध आत्मा के बिना असम्भव है। श्रुति ने 'अयमात्मा ब्रह्म' कह कर आत्मा के इस शुद्ध रूप का ही निर्देश किया है। जब कोई आप्त पुरुष स्फुट विरोधी-वाक्य का प्रयोग करता है तो उसका विशेष तात्पर्य मानना पड़ता है। चन्द्रमुखी कहते ही असम्भवता के कारण मुख में आह्लादजन्यता प्रतीत हो जाती है। इसी प्रकार 'अयमात्मा ब्रह्म' कहते ही आत्मा में ब्रह्म होने की योग्यता प्रतीत होती है। अन्यथा वाक्य झूठा हो जायेगा। आत्मा की वास्तविकता का विस्तार से ज्ञान होने पर ही इसके विस्तार एवं शक्ति का ज्ञान संभव है। तभी पता लगेगा कि यह ब्रह्म बनने के योग्य है अथवा नहीं। जिस प्रकार जल की पेय-योग्यता जानने के लिये शुद्ध जल का विश्लेषण आवश्यक है, घर के सामने बहने वाले नाले के जंल का नहीं, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा का विश्लेषण ही उसकी ब्रह्म होने की योग्यता का

ज्ञान करा सकेगा । अतः आत्म-तत्व का शोधन प्रथम आवश्यक है ।

आत्मा के विषय में अनेक भ्रान्तियां प्रचलित हैं । धन-पुत्रादि को आत्मा मानना स्थूलतम व्यवहार है । आज तो देश-विशेष को अथवा दल-विशेष को या वाद-विशेष को आत्मा मानने का उपदेश दिया जाता है । इनकी अपेक्षा सूक्ष्म विचारक देह को ही आत्मा स्वीकार करते हैं । ये सभी आसुर धर्मानुयायी हैं । ये अपने विचारों का प्रचार दण्ड के बल पर करते हैं । असुरों ने ही सुकरात को जहर, ईसा को फांसी, एकहार्ट को चिता, गैलीलियो को जेल के द्वारा अपने सम्प्रदाय में लाने का प्रयत्न किया था । आज भी साम्यवादी दल इसी नीति के द्वारा लोगों को असुर-धर्म में दीक्षित करना चाहता है । इनके यहां विचार को स्थान नहीं दिया जाता । लेकिन सत्य को शक्ति के द्वारा न माना जा सकता है, न पाया जा सकता है । अन्यथा साधना व्यर्थ हो जायेगी । शास्त्र निरर्थक सिद्ध होंगे । सबसे बड़ा पहलवान या गोलन्दाज मोक्ष का अधिकारी बनेगा ।

इन्द्र और विरोचन प्रजापति के चेले थे । इन्द्र विचारक था । उसने सोचा मेरा स्वरूप मुझसे कभी अलग नहीं हो सकता जिस प्रकार पानी से ठंडक दूर नहीं हो सकती । परन्तु सुषुप्ति में देह मुझ से अलग हो जाता है । अतः देह आत्मा हो यह असम्भव है । हजारों वर्षों तक मम्मी को सुरक्षित रखने पर भी उसमें चेतनता आती नहीं दिखलाई देती । देह परिणामी है और आत्मा अपरिणामी है । यदि आत्मा अपरिणामी नहीं होता तो बाल्य, कौमार्य, यौवन, वार्धक्य की स्मृति असम्भव होती । हमें अपने प्रेम, घृणा इत्यादि की स्मृतियां आज भी आती हैं अतः इन सारे देह और मन के परिवर्तनों में अपनी अपरिवर्तनीयता स्फुट है । स्मृति की अन्यथा अनुपपत्ति आत्मा की अपरिणामता में प्रधान हेतु है । इस प्रकार इन्द्र के चिन्तन के फल-स्वरूप स्थूलदेहात्मवाद निवृत्त हो जाने पर प्रजापति ने सूक्ष्मदेह-उपाधिविशिष्ट का उपदेश दिया । इन्द्रियात्मवाद भी वस्तुतः प्रमाण

से सिद्ध नहीं है। यदि किसी एक इन्द्रिय को ही आत्मा मान लें तो उस इन्द्रिय के नष्ट होने पर प्राणी मर जायेगा लेकिन अन्धा, गूंगा, लूला, लंगड़ा आदि सभी जीवित देखे जाते हैं। यदि इन्द्रिय-संघात को आत्मा माना जाय तो भी यही दोष आयेगा। यदि इन्द्रिय-संघात द्वारा आत्मा का आरम्भ स्वीकार किया जाय तो जिस प्रकार पट के एक दो तन्तु निकलने से वह कमजोर होता चलता है उसी प्रकार एक एक इन्द्रिय की कमी से आत्मा भी कमजोर होता चला जायेगा। तीन चार इन्द्रियों के नष्ट होने पर तो आत्मा आधा ही रह जायेगा। परन्तु यह अनुभव विरुद्ध है, इन्द्रियहीन पुरुष भी अपने आपको उतना ही पूर्ण अनुभव करता है जितना कि दूसरा। एवं इन्द्रियों के कम होने पर मैं कम हो रहा हूं ऐसा भी अनुभव नहीं होता। कान से मैं सुनता हूं, आंख से मैं देखता हूं, यह अनुभव भी कान आंख आदि को साधन बता रहा है जिनसे 'मैं' भिन्न है। अन्यथा 'मैं कान सुन रहा हूं' 'मैं आँख देख रहा हूं' इस प्रकार का अनुभव होता।

छान्दोग्य उपनिषद में प्राण संवाद आता है। इन्द्रिय, मन आदि के जाने पर भी नहीं मरने वाला देह प्राण के जाने पर मर जाता है। प्राणात्मवादी हैरण्यगर्भ इसीलिये प्राण को ही आत्मा स्वीकार करते हैं। प्राण वस्तुतः क्या है? वायु का आवागमन। यदि यही आत्मा होता तो लोहार की धोंकनी भी आत्मवती माननी पड़ती। सोने पर भी प्राण जागते रहते हैं। यदि प्राण आत्मा होते तो तकिये के नीचे के नोटों के बण्डलों को जब चोर उठाते तो उसको रोक लेता। अतः केवल इतना कहा जा सकता है कि देह की रक्षा के लिये प्राण आवश्यक हैं और प्राण सर्वदा आत्मा के साथ रहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि प्राण तो आत्मा ही हैं परन्तु इन्द्रिय रूपी साधनों के द्वारा ही उसको ज्ञान होता है। निद्राकाल में इन्द्रियों की अक्रिय अवस्था हो जाती है अतः ज्ञान नहीं होता, परन्तु प्राण यदि आत्मा होता तो प्राणरूपी राजा के जागते रहने पर इन्द्रिय रूपी सैनिक का सो जाना प्रमाण

विरुद्ध हो जायेगा । इसी प्रकार मन की अनात्मता भी सुषुप्ति में अन्तः-करणाभाव से स्फुट है । इन सभी के संघात को आत्मा मानना इन्द्रियात्म-संघातवाद की तरह ही निराकर्तव्य है । इस प्रकार व्यावहारिक आत्मा का उपाधि के द्वारा निराकरण करके शुद्ध आत्मा का ब्रह्म के साथ एकता प्रतिपादन श्रौत तात्पर्य है ।

*   *   *   *

जीव स्वरूप की ब्रह्म बनने की योग्यता का विचार करते हुए जीव का विश्लेषण किया गया । ब्रह्म का स्वरूप भी विचारणीय है । सूत्रकार ब्रह्मज्ञान की प्रतिज्ञा करके उस ब्रह्म का लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः' से करते हैं । जीवस्वरूप की तरह ब्रह्मस्वरूप भी अनेक प्रकार से वादियों द्वारा कल्पित है । सांख्य लोग प्रकृति को ही जगत् का कारण स्वीकार करते हैं । परन्तु श्रुति ने उसके ईक्षण का प्रतिपादन किया है । अतः जगत् का कारण प्रकृति, जो जड़ है, नहीं हो सकती । इतना ही नहीं श्रुतियों में उसे सबका शासक भी बतलाया है । ईशानो भूत भव्यस्य (कठ० २/४/१२) य ईशे अस्यजगतः (श्वे० ६/१७) । भीषास्माद् उसके भय से अग्नि, सूर्य, यहां तक कि मृत्यु भी चलते हैं (कठ० २/६/३) अतः सांख्य प्रतिपादित जड़ प्रकृति जगत् का कारण नहीं हो सकती । प्रकृति यदि जगत् का कारण होगी तो सारी ही प्रकृति जगत् में समाप्त हो जायेगी । परन्तु ऋग्वेद (ऋ० १०/९०/३) 'पादोस्य विश्वा भूतानि' कह कर ब्रह्म के एक हिस्से में ही जगत् की उत्पत्ति बतला रहा है । इतना ही नहीं ब्रह्म व्यापक है और सृष्टि व्याप्य । यहां वेद को सम-व्याप्ति इष्ट नहीं । संसार के सब पदार्थ व्याप्य हैं और उनकी व्यापकता किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा ही सम्भव है स्वरूप से नहीं । परम शिव तो सदा ही व्यापक है और कभी भी व्याप्य नहीं । इसी लिये श्रुति ने उसको 'सभूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्' (ऋ०१०/९०/१) कहा । उसकी इन्द्रियातीतता का प्रतिपादन करके श्रुति ने उसकी व्यापकता का ही निर्देश किया है । जिस प्रकार कोई बालक

उन्नतोदर, नतोदर आदि शीशों में अपनी मोटी, पतली आदि छवियों को देखकर आश्चर्य-चकित और प्रसन्न होता है परन्तु वह उन सबसे व्यापक है, उन सबसे परे है, यद्यपि उन छवियों में भी वही है। इसी प्रकार समग्र ब्रह्माण्ड में प्रतिबिम्बित होते हुए, प्रतीत होते हुए, भी परम शिव उन सबसे परे है, यद्यपि सभी प्रतिबिम्ब रूपों में भी वही है। इस प्रकार स्वरूपतः वह कभी भी व्याप्य नहीं होता यद्यपि व्यक्तरूप से वह माया के द्वारा व्याप्य प्रतीत होता है।

यह उसकी ईश्वर-रूपता हुई। लेकिन वह अन्तर्यामी भी है। इस दृष्टि से उसकी व्यापकता 'तिलेषु तैलं दध्नीव सर्पिः' (श्वे १/१५) तिल में तेल की तरह अथवा दही में घी की तरह है। वह जगत् के पदार्थों में सार रूप से विद्यमान है, (Nothing that exists can exist without Him existing) जो कुछ भी है वह उसके बगैर हो ही नहीं सकता। प्रश्न हो सकता है कि जिस प्रकार गहनों के द्वारा सोना नाम-रूप को धारण करके व्यवहाररूप में आने के लिये विकृत होता है क्या ब्रह्म भी उसी प्रकार विकारी है ? वस्तुतः अधिष्ठान मात्र होने के कारण वह नाम-रूप विकारों को विकृत करते हुए भी स्वयं अविकृत ही रहता है। चुम्बक लौह चूर्ण में नाम-रूपों को उत्पन्न करते हुए स्वयं अविकृत बना रहता है। इसी प्रकार परमाणु भी जगत् के कारण नहीं हो सकते। क्योंकि उनमें भी जड़ रूपता आदि दोष प्रकृति की भांति ही हैं। ब्रह्मसूत्रों में द्वितीय अध्याय द्वितीय पाद के तीसरे अधिकरण में ऊहापोह के साथ इसका खण्डन किया गया है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद तो 'असारतरतर्कसंदृब्धत्वात् श्रुतिविरुद्धत्वात् अत्यन्तमेव अनपेक्षा अस्मिन् परमाणुकारणवादे कार्या श्रेयोर्थिभिः।' (ब्र० सू० भा० २/२/१७) कहकर परमाणुवाद को मुमुक्षुओं के लिये तर्क और श्रुति विरुद्ध होने के कारण अत्यन्त हेय बतलाते हैं। अतः जगत् के अभिन्न निमित्तो-पादान कारण रूप से ही ब्रह्म का प्रतिपादन वेदान्तों को इष्ट है।

यतोवा (तै० ३/१) का पञ्चमी श्रवण भी तभी उपपन्न हो सकता है। 'बहुस्यां' भी अत्यन्त स्पष्ट है।

इसीलिये अन्तर्यामी रूप से वह परमशिव

कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारं।
सदा वसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानी सहितं नमामि ।।

संसार का सार रूप होने पर भी अपने हृदय-कमल में उपलब्ध हो जाता है।

* * * *

आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप का विचार हुआ। यद्यपि ब्रह्म अपरिच्छिन्न और परोक्ष प्रतीत होता है एवं आत्मा परिच्छिन्न और अपरोक्ष तथापि श्रुति उनकी एकता का प्रतिपादन करती है, इसीलिये उसके लक्षणों का विचार कर्तव्य है। आत्मा का विचार करते हुए 'यच्चाप्नोति' वाला लक्षण बताया गया था। वस्तुतः यह ब्रह्म का लक्षण भी बन जाता है। यद् आप्नोति व्याप्नोति, अर्थात जो सारे जगत् को व्याप्त करके रहता है, एवं सृष्टिकाल में 'आदत्ते' जागृत् सृष्टि का निर्माण करता है, एवं प्रलयकाल में सब कुछ को 'अत्ति' अपने में लीन कर लेता है; इस प्रकार यह ब्रह्म का लक्षण बन जाता है। ब्रह्म का यह व्यावहारिक रूप ही ईश्वर कहा जाता है। यद्यपि इस लक्षण से ईश्वर और जीव का भेद प्रतीत होता है तथापि सन्ततभाव वाला लक्षण जिस प्रकार शुद्ध आत्मा का है उसी प्रकार व्यवहाररहित शिव का भी है। पारमार्थिक रूप ईश्वर और जीव दोनों का चैतन्यमात्र है। उसके बिना न व्यावहारिक जीव की सिद्धि है न व्यावहारिक ब्रह्म की सिद्धि है। जिस प्रकार शुद्ध बड़े शीशे में एवं मटमैले पानी में सूर्य के प्रतिबिम्बों में भेद है तथापि दोनों प्रतिबिम्बों का बिम्ब तो सूर्य ही है और उस दृष्टि से दोनों की एकता स्वीकर्तव्य है। माया एवं अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य भिन्न प्रतीत होने पर भी अपने कारण और सत्ता रूप से एक ही हैं। जब तक इस ऐक्य को नहीं

समझ लिया जाता तब तक महावाक्य अनर्थोत्पादक बन जाते हैं। जब तक कामक्रोधादि सारा संसार हमारे अन्दर हिलोरें मार रहा है तब तक 'शिवोऽहं' कहना या मानना भ्रान्ति ही है।

इस प्रकार द्वितीय मंत्र में जीव, जगत् और ईश के भेद की निवृत्ति करके अखण्डार्थता का प्रतिपादन किया गया।

जागरितस्थानो, बहिः प्रज्ञः, सप्ताङ्गः, एकोनविंशति-मुखः, स्थूलभुग्, वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥

एकता की प्राप्ति के लिये साधन रूप से श्रुति चार अवस्थाओं का निरूपण करती है। यद्यपि जागृत अवस्था विश्व की मानी गई है एवं समष्टि दृष्टि से विराट् को वैश्वानर कहा गया है तथापि यहां पर विश्व न कह करके वैश्वानर शब्द का प्रयोग जीव-ईश्वर की एकता के साधन रूपता का निर्देश करने के लिये है। प्रथम अवस्था जागृत् अवस्था है जो आत्मा का प्रथमपाद है। अपने से भिन्न पदार्थों का ज्ञान इस अवस्था में होता है इस लिये इसे बहिः प्रज्ञ कहा गया। अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यो दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्चवेदाः। वायुः प्राणे हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वं भूतान्तरात्मा। (मु० २/१/४) व्यष्टि शरीर में मूर्धा, आंखें, कान, वाणी, प्राण, हृदय और पैर सात अंग ही आत्मा के प्रथम पाद के अंग हैं। समष्टि दृष्टि से अग्नि, सूर्य-चन्द्र, दिशा, वेद, वायु, विश्व एवं पृथिवी सात अंग बन जाते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण और चार अन्तःकरण यह उन्नीस आत्मा के प्रथम पाद के भोग साधन होने के कारण मुख कहे जाते हैं।

प्रलय काल में आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं था। काल भी नहीं था। इसीलिये श्रुति कहती है तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रे। (ऋ० १०/१२९/३)। प्रश्न होता है यदि वहां कुछ नहीं था तो ढांकने का प्रश्न कैसे उठता है। वस्तुतः शिव से अभिन्न उसकी स्वातंत्र्य शक्ति में सब कुछ निहित था। इस स्वातंत्र्य का उल्लास ही जगत् है। अत्यन्त असत् से सत् की उत्पत्ति सब प्रमाणों से विरुद्ध है। सृष्टि के पूर्व महाकाल प्रथम काल को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि काल में ही सब कुछ हो सकता है। प्रसिद्ध दार्शनिक कॉन्ट ने यद्यपि काल, देश

एवं हेतुहेतुमद्भाव (Causation) को समान रूप से कारण स्वीकार किया है, तथापि विचार करने से प्रतीत होता है कि अन्तिम दो भी काल के पश्चात् ही सम्भव हैं। किसी भी सृजन का अर्थ होता है पूर्व क्षण में होने वाले सृज्यमानपदार्थाभाव की निवृत्ति। चूंकि यह निवृत्ति काल सापेक्ष है अतः काल के बिना सृष्टि असम्भव है। यह काल ही परमेश्वर का तमोविशिष्ट रूप है। प्रलय में तम मात्र की अवशिष्टता तो उपर्युक्त श्रुति से स्पष्ट है। कालोत्पत्ति होने से जो क्षोभ हुआ उससे सत्त्वोत्पत्ति हुई। सत्त्व का परिणाम ज्ञान है। अतः ज्ञान को ज्ञेय की आवश्यकता हुई। परन्तु ज्ञेयाभाव के कारण उसमें जो विक्षेप उत्पन्न हुआ उससे रज हुआ। रज का परिणाम क्रिया है। अब क्रिया से सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। इसी लिये श्रुतियों में 'स तपस्तेपे' 'स तपस्तप्त्वा इदं सर्वं असृजत्' (तै० २/६) ज्ञान मय तप के बाद सृष्टि को बताया है। यह सृष्टिकाल ही समष्टि दृष्टि से आत्मा का प्रथम पाद है।

* * * *

द्वितीय मन्त्र में आत्मा के चतुष्पादता की प्रतिज्ञा की गई थी। निरवयव आत्मा में एक पाद भी असम्भव है, अतः श्रुति पाद को अवस्था विशेष रूप से प्रतिपादन करने में स्वयं प्रवृत्त हुई। अवस्था भेद से आत्मा में स्वगत भेदता नहीं आती। इनमें प्रथम जागृत् अवस्था का निरूपण किया जा रहा है। उन्नीस मुखों में केवल मुख ही नहीं वरन् तत् तत् देवताओं की सृष्टि भी इष्ट है। जिस प्रकार पिता केवल अपने पुत्र को उत्पन्न कर सन्तुष्ट नहीं होता वरन् उसके भोजन की भी व्यवस्था करने का प्रयत्न करता है, एवं उसका प्रयत्न करने में रात दिन चिन्तित रहता है, उसी प्रकार परमेश्वर ने भी १९ मुख ही नहीं भोग्य पदार्थों के निर्माण का भी कार्य किया। इस कार्य के लिये स्पर्श, गन्ध, रस, रूप एवं शब्द को बनाया। चूंकि गुण इन्द्रियों के द्वारा बिना गुणाश्रय के गृहीत नहीं होते अतः पञ्चीकरण के द्वारा पञ्च महाभूतों की सृष्टि की। जिस प्रकार पिता केवल धन नहीं कमाता वरन् बच्चों के लिये बाजार से खाना और कपड़ा खरीदकर लाता है उसी

प्रकार चूंकि हम पञ्च महाभूतों को साक्षात् अपने पोषण का कारण नहीं बना सकते अतः पेड़ पौधे बनाये। परन्तु फिर भी इन्द्रियों के द्वारा देवताओं ने खाने की प्रवृत्ति नहीं की। परमेश्वर ने देवताओं को समझाया आप लोग अपने लिये बनी चीज को भोगते क्यों नहीं हैं? डरें नहीं। परन्तु देवताओं ने कहा कि जब तक हम सब का एक नियामक न हो एवं एक आश्रय न हो हम किस प्रकार संगठित प्रवृत्ति कर सकते हैं। तब परमेश्वर ने भोगायतन स्थूल देह की सृष्टि करके उसमें देवताओं का संग्रह कर दिया।

पुराणों के अनुसार सृष्टि काल में अनेक देहों की सृष्टि करने पर भी देवताओं ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। तब सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने शंकर से प्रार्थना की। उन्होंने एकादश रूपों का निर्माण किया। ब्रह्मा ने कहा यह तो आपने पूर्ण सृष्टि कर दी, हमें तो जन्म-मृत्यु से डरने वाले, हमारी आज्ञा मानने वाले लोग चाहिये। शंकर ने कहा मैं ऐसी अशोभन सृष्टि नहीं करता। मैं तो दुःख और पाप को नष्ट कर मोक्ष और आनन्द ही देता हूं। ब्रह्मा की अत्यधिक प्रार्थना से द्रवित होकर अन्त में उन्होंने कहा कि मैं अपनी ज्ञान-शक्ति तुम्हारे मार्ग से खींच लेता हूं। इन्हीं रुद्रों जैसे ज्ञान-शक्ति-हीन मानवों को तुम उत्पन्न करो। जब तक वे मेरी ओर नहीं आयेंगे भोगायतन बने रहेंगे। लेकिन जो मेरी ओर आयेगा उसको मैं मुक्त कर दूंगा।

इस प्रकार मानव की सृष्टि तक पहुंचा गया। इसके आगे की सृष्टि स्वयं मानव की है। 'ईक्षणादि प्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता जागृदादि विमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः' (पञ्चदशी ७/४)

*　　*　　*　　*

इस सब सृष्टि का प्रयोजन क्या? भगवान् गौड़पादाचार्य कई पक्षों का विचार करते हुए अन्त में कहते हैं "देवस्यैष स्वभावोयं" (मा० का० १/९)। यद्यपि आजकल लोग सृष्टि को भोग के लिये ही मानते हैं तथापि सृष्टि को भोगार्थ स्वीकार करने से अनेक दोष आते हैं। प्रथम तो भोग की अपेक्षा भोक्ताओं की संख्या अधिक है और इसलिये

प्रत्येक को सीमित भोग की ही प्राप्ति होती है। आधुनिक काल की तरह भोग मात्रा में संकोच की अधिकता से झूठ, चोरी, पाप आदि बढ़ जाते हैं। इनसे अधिकतर भोग-संकोच होता है। इस प्रकार यह दुश्चक्र बढ़ता ही जाता है। इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि सृष्टि का उद्देश्य भोग नहीं। वैदिक दृष्टि तो धर्म और मोक्ष के तटों के बीच में ही काम और अर्थ के प्रवाह को इष्ट मानती है। आज इन कूलों के गिर जाने से काम और अर्थ ने धर्म और मोक्ष को बहा डाला है, इसीलिये दुःख परम्परा बढ़ती जा रही है। वस्तुतः आनन्दोल्लास के अनुभवार्थ ही यह सृष्टि है। जीवन्मुक्तिसुखप्राप्तिहेतवे जन्मधारितम्। यही सृष्टि का उद्देश्य है। चूंकि मानवेतर देहों में यह सुलभ नहीं इसी लिये देवताओं ने अन्य देहों में जाना पसन्द नहीं किया। और जब तक शिव-दृष्टि की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक यह संसार का दुःख पीछे पड़ा रहेगा। यह दुःख का चाबुक स्थपति के छेनी की तरह है जो अनघड़ पत्थर को सुन्दर मूर्ति बनाये बिना नहीं रुक सकता। यह उस परम शिव का ही निर्णय है कि जीव को शिव बना दिया जाय। वह क्रिया-तत्पर है। इस बात को जब हम समझ लेते हैं तो उसके काम में रुकावट नहीं डालते एवं शिव की इच्छा को अपने जीवन में प्रवाहित करने लगते हैं, क्योंकि हमारी अपनी इच्छायें ही हमको शिव-भाव-प्राप्ति में प्रतिबन्धक बन रही हैं। जब मूर्ति पूर्ण हो जायेगी तब सभी के लिये नमस्कार्य होकर किसी के द्वारा भी असावधानी से स्पर्श करने योग्य नहीं रह जायेगी। इस बात को मद्देनजर रखना ही चाहिये। आप इसको टाल भी नहीं सकते। और न स्थिति विशेष में रह सकते हैं। यह खड़ी और खतरनाक चढ़ाई है जिसमें आराम नहीं लिया जा सकता। हिमपात हो चुका है। या तो आपको आगे बढ़ना पड़ेगा या स्वतः ही पीछे फिसलते चले जायेंगे। फिसलना आपके परिश्रम पर निर्भर नहीं। अतः शास्त्रानुसार संयमन के द्वारा निरन्तर चढ़ने के प्रयत्न में लगे रहना चाहिये।

जब श्रुति हमें स्थूलभुक् बतलाती है तो श्रुति का तात्पर्य शास्त्रीय भोग से ही है। 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मिभरतर्षभ' के द्वारा श्रीकृष्ण हमें सावधान कर रहे हैं कि ब्रह्मा ने स्थूल जगत् बनाया है अतः सारा का सारा हमारे ही भोग के लिये है। इस विश्व में शूकर, कूकर, कीट, पतंग का भी भोग है। हमें उनके भोजनों पर आक्रमण नहीं करना चाहिये। परमेश्वर ने भोगों का वितरण प्राणिमात्र के लिये कर दिया है। अतः विचार पूर्वक नियन्त्रित भोग ही कर्तव्य है। 'भोग-के-लिये-भोग'-दृष्टि परित्यक्तव्य है। तभी व्यष्टि विश्व समष्टि वैश्वानर बन सकेगा जिसके लिये श्रुति निर्देश कर रही है।

* * * *

संसार मृग तृष्णा के जल की तरह है। इसे पार करने के लिये न नाव की जरूरत है न तैरने की। इसके स्वरूप को जान लेना ही इसे पार कर जाना है। संसार के मिथ्या स्वरूप के ज्ञान का बार-बार चिन्तन करके उस परम शिव का आत्म स्वरूप से अनुसंधान ही इसका साधन है। इसी लिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं 'अहर्निशं किं परिचिन्तनीयम्? संसारमिथ्यात्व-शिवात्मतत्त्वम्'।

सत्य पदार्थ वह होता है जो कभी उत्पन्न न हुआ हो। जो उत्पन्न होता है उसका नष्ट होना ध्रुव सत्य है। जब कोई पदार्थ हमारे पास आ करके जाता है तो कुछ न कुछ लेकर के जाता है। कोई हमारा समय ले जाते हैं, कोई शक्ति ले जाते हैं कोई हमारी शान्ति ले जाते हैं। आई हुई चीज बिना कुछ लिये जाती नहीं। इसी लिये बुद्धिमान पुरुष किसी भी ज्ञात पदार्थ को प्राप्त करने के लिये आयास नहीं करता। जो स्थिर पदार्थ हो, हमेशा हमारा बनकर रह सके उसी के लिये प्रयत्न करना सफल प्रयत्न है। धन कमाते जाना और भोग के द्वारा खतम करते जाना उस मूर्ख के प्रयत्न की तरह है जो दिन भर सीढ़ी पर चढ़ता-उतरता रहता है। किसी से पूछने पर

कि वह कमाता क्यों है कहता है बिना कमाये खायेंगे क्या ? एवं खाते क्यों हो ? यह पूछने पर कहता है कि बिना खाये कमायेंगे कैसे ? इस प्रकार चक्र में पड़ा हुआ अपना समय व्यर्थ गंवाता है। कहा जा सकता है कि इस चक्र के द्वारा भी बहुत से सुख-क्षण भोग-काल में तो प्राप्त हो ही जाते हैं। परन्तु विचार करके देखो तो पता लगेगा कि उन क्षणिक सुखों के लिये दिन भर जितना परिश्रम किया गया क्या वह उपादेय है ? भोगों से यदि देह मोटा हो भी गया तो भी मूल प्रश्न तो वैसा ही बना रहता है। पूरा प्रयत्न कर लेने पर भी दुःख प्रवाह को रोकने की सामर्थ्य कहां आ पाती है ? मोतीझरे के रोगी को एस्पिरीन के द्वारा बुखार उतारने का प्रयत्न क्या कोई वैद्य करेगा ?

वस्तुतः इस जीवन में देह प्राप्ति ही दुःख का मूल कारण है। भोगों के द्वारा इस मूल कारण को पुष्ट करते हुए सुख की आशा करना पागल का काम ही हो सकता है। शरीर एक साधन है। अतः औजार की तरह इसको तेज और कार्यरत रखना चाहिये। सान पर चढ़ी लपलपाती तलवार ही शोभा देती है। हीरों से जड़ी मूठ वाली भुथरी तलवार दुर्बलों को ही प्रिय लग सकती है। इसी प्रकार दुःख निवृत्ति पूर्वक परमानन्द की प्राप्ति का साधन यह शरीर ही है। एवं इस उद्देश्य के लिये जितना यह तेज और कार्यकारी होगा उतना ही इसको स्वस्थ माना जायेगा। जो इन्द्रियां सब समय नियन्त्रण में रहें और आवश्यकता पड़ने पर पूर्ण तत्परता से प्रवृत्ति करें, जो मन प्रति-क्षण विवेकयुक्त हो वही स्वस्थ माना जा सकता है। अन्यथा मृगतृष्णा के जल के लिये बालू में दौड़ने की तरह व्यर्थ है।

नियमित व्यवहार परम आवश्यक होता है। राज्य ने भी आजकल काम करने के घंटे निश्चित कर दिये हैं। आठ घंटे से अधिक काम लेना गैर कानूनी माना जाता है। इसी प्रकार यदि राज्य आठ घंटे के भजन का भी कानून बनादे तो लोगों का समय व्यर्थ बरबाद होना बन्द हो जाय। अन्यथा यह कानून केवल शराब के अड्डे अथवा चल-

चित्र के गन्दे वायु मण्डल को ही लोगों को बचे हुए समय में नसीब करायेगा। आज के जन जीवन में जो अव्यवस्था है इसका बहुत बड़ा कारण व्यवहार की अनियमितता ही है। काम-क्रोधादि शत्रु आस्तीन के सांप की तरह हमें नष्ट करते रहते हैं। इनसे सावधान रहने वाला ही इनके द्वारा दिखाये जाने वाली संसार की सत्यता को काट कर शिव को प्राप्त कर सकता है। काम-क्रोधादि से रहित होकर स्थूल पदार्थों को भोगना ही वस्तुतः स्थूलभुक् कहा गया है।

*　　　*　　　*　　　*

जागृत अवस्था में कामादि षटक का नाश करके इन्द्रियों को परमात्माभिमुखी करना ही वस्तुतः स्थूलभुक् बनना है। अतः इनके नियन्त्रण का स्वरूप समझना आवश्यक है।

सृष्टि प्रक्रिया में शब्द तन्मात्रा ही सर्व प्रथम बनती है। और इसी लिये श्रोत्रेन्द्रिय की प्रधानता मानी जाती है। अविचारशील ही आंख को कान से ज्यादा महत्व देता है। आंख फूटने से केवल मिथ्या संसार का दीखना बन्द होता है, परन्तु कान फूटने से तो परमेश्वर विषयक श्रवण बन्द होकर वह जीव के स्वरूपोपलब्धि को ही प्रतिबद्ध कर देता है। अदृश्य दैवी पदार्थ केवल कान के विषय हैं। श्रोत्रेन्द्रिय की तरह ही कर्मेन्द्रियों में वाग् इन्द्रिय है। एवं दोनों का नियन्त्रण समान ही है। जो अश्रोतव्य है वही अवक्तव्य भी होता है। साधनों में इसी लिये प्रथम साधन श्रवण ही माना गया है।

'अन्यां वाचां विमुञ्चथ' के द्वारा श्रुति अनात्म पदार्थों की अवक्तव्यता स्पष्ट ही बताते हुए केवल आत्मा को ही वाणी का विषय बनाने का निर्देश कर रही है। वैदिक मार्ग किसी भी इन्द्रिय को नष्ट करने के विरुद्ध है। परमेश्वर की दी हुई चीज सदा उपादेय ही होती है अतः कान के द्वारा शिव-श्रवण एवं वाक् के द्वारा शिव-कथन शब्द-तन्मात्रा के संयमन का उत्तम उपाय है।

जिस प्रकार वांसुरी के द्वारा हरिण बहेलिया के पञ्जे में फंस जाता है एवं विषधर सर्प भी संपेरे के पास गाय बन जाता है उसी

प्रकार मानव पर-निन्दा श्रवण से माया के हाथ में फंस जाता है। आजकल तो संगीत जैसा दिव्य पदार्थ भी लोगों ने ऐन्द्रिय उत्तेजना का साधन बना डाला है। छोटे-छोटे बच्चों के मुख से अश्लील एवं वीभत्स गानों को सुनकर लगता है कि राष्ट्र के कर्णधार राष्ट्र को नष्ट करने पर कमर कस चुके हैं। परनिन्दा की तरह स्वप्रशंसा भी अपने नाश का दरवाजा है। सुनने में यद्यपि स्वप्रशंसा बड़ी मीठी लगती है परन्तु अन्त में 'ईश्वरोऽहं अहं भोगी' की निषिद्ध भावना को पुष्ट करके विष का काम करती है। सदाशिव के सिवाय और कोई भी प्रशंसा के योग्य नहीं अतः केवल उसी की प्रशंसा श्रोतव्य और कर्तव्य है। महान् से महान् व्यक्ति बड़ी से बड़ी गलती करते देखे जाते हैं। नेहरू जी जैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ अपनी ही सीमा पर चीन के आक्रमण को न समझ पाये। यदि अपने विषय में कुछ सुनना ही हो तो अपनी निन्दा सुननी चाहिये क्योंकि उससे विवेक जागृत् होता है। प्रायः मनुष्य अपने निन्दक को दुश्मन समझता है। परन्तु निन्दा सुनते ही विचार करना चाहिये क्या यह निन्दा सच्ची है या झूठी। यदि सत्य है तो अपने को बदलना चाहिये पर यदि झूठी है तो भूल जाना चाहिये। स्वनिन्दा के विरुद्ध रोष की भावना का मूल अपने में श्रेष्ठता की कल्पना ही है। इसीलिये बुद्धिमानों को अपने अहंकार नाश के लिये स्वयं ही अपनी निन्दा करते हुए देखा गया है। रामकृष्ण परमहंस से किसी पंडित ने पूछा कि आप परमहंस हैं? तब उन्होंने कहा मुझे अभी परमहंस शब्द का अर्थ ही पता नहीं है? पण्डित ने पुनः पूछा 'लोग कहते हैं आप बड़े वैराग्यवान् हैं फिर यह पलंग तकिया वगैरह आप कैसे उपयोग में लाते हैं?' परमहंस देव बोले 'अरे! इतना ही नहीं तकिये के नीचे मच्छरदानी भी है, और मेरे नये जूते भी देख लो! पलंग के नीचे का सुन्दर बक्स मेरा ही है और उसके अन्दर मैं पैसा भी रखता हूं!' दुःखी होकर पण्डित बोले 'व्यर्थ ही इतनी दूर आकर के परिश्रम हुआ।' गंगा किनारे सायंकाल जब पंडित सन्ध्या करने बैठे तो उनको अनुभव

हुआ कि देवी कह रही है कि 'अरे ! मेरे स्वरूपभूत भक्त का इतना अपमान।' घबराकर पण्डित आकर रामकृष्ण के पैरों गिर कर जब उनकी स्तुति करने लगे तो बाल सुलभ भाव से परमहंस देव ने कहा 'बाबा मैं कुछ नहीं हूं । स्तुति तो मेरे माँ की करो।'

कुछ विचारक तो दूसरों को अपनी निन्दा करते देखकर सुख अनुभव करते हैं । जिस सुख को लोग लाखों रुपयों की धर्मशाला या अन्न-क्षेत्र बनाकर दूसरों को पहुंचा पाते हैं वह हम बिना कुछ खर्च किये ही निन्दक को पहुंचा देते हैं । क्योंकि हम उसके सुख के कारण हैं हमें पुण्य अवश्यम्भावी है ! यही उत्तम पुरुषों की दृष्टि होती है । मध्यम पुरुष सोचता है कि यदि निन्दक आत्मा की निन्दा करता है तो खुद अपनी ही निन्दा करता है । एवं अनात्मा की निन्दा करता है तो वह मुझे भी इष्ट है । सामान्य पुरुष 'निन्दक पाप कमाता है, मैं क्यों चिन्ता करूं'? के द्वारा सन्तोष कर लेता है । निन्दा का बदला लेने की सोचना तो राक्षसी भावना है । जिस प्रकार किसी व्यक्ति के गाली देने पर संन्यासी ने कहा था जो जिसके पास होता है वही तो देगा । आप गालियों के व्यापारी हैं तो अपनी गालियां अपने पास रहने दें मैं तो केवल भोजन ही लिया करता हूं ।

यद्यपि परनिन्दा काकवत् कण्ठ से भी श्रुति सुख का कारण बनती है तथापि घृणा, द्वेष और बैर को उत्पन्न कर अन्त में नरक दुःख को देती है । लंगोटिया यारों में दुश्मनी कराने वाला यही है। प्रेम जब एक बार टूट जाता है तो प्रयत्न करके भी मिलाने से गांठ रह ही जाती है । एक चुटीली स्मृति पुरातन शुद्ध प्रेम में कसक मारती ही रहती है । बहुत से लोग सोचते हैं कि दूसरे की गलती निकालना उसकी भलाई करना है । जिसके कमरे में छः सैन्टीमीटर धूल जमी हो उसे दूसरे की एक मिलीमीटर धूल देखने से क्या लाभ हो सकता है ? वस्तुतः दूसरों के बारे में बात करना अनावश्यक है । गप्प एक ऐसा रोग है जिससे निन्दा और प्रशंसा अवश्य

उत्पन्न होते हैं और कभी-कभी तो झूठ बोलना भी प्रारम्भ कर दिया जाता है।

शिव, ब्राह्मण, संन्यासी आदि की निन्दा तो साधक में अश्रद्धा उत्पन्न करके उसका सर्वनाश कर देती है। यह निन्दा इतनी पाप वाली है कि आचार्य कुमारिल ने भी—जो स्वयं ब्रह्मविद्वरिष्ठ थे—केवल बौद्ध-खण्डन के लिये वैदिक धर्म-रक्षणार्थ उसको करने पर स्वयं को प्रायश्चित्त के योग्य माना था। आजकल अनेक मासिक पत्र एवं साहित्यकार ईश्वर-खण्डनात्मक अश्लील साहित्य का उत्पादन साहित्यकार का कर्तव्य मानते हैं। वस्तुतः साहित्य का अर्थ होता है सत्यं शिवं सुन्दरम् परमेश्वर से सम्बन्ध का भाव। यदि यह नहीं है तो इसे साहित्य ही नहीं कहा जा सकता।

दूसरे के ऐश्वर्य और भोगों की कथा का श्रवण भी अहितकर है। इससे ईर्ष्या और लोभ बढ़कर मनुष्य का सत्यानाश हो जाता है। कुछ लोग कहते हैं यदि यह न सुना और बोला जाय तो फिर हम क्या सुनेंगे और बोलेंगे? उन्हें पता नहीं कि हमारा वेद एवं वेदानुकूल शास्त्र इतना बड़ा है कि अनेक जन्मों तक कहने सुनने पर भी समाप्त नहीं होता। उसको छोड़कर जो सांसारिक वार्तायें करता है उसके लिये भगवान् सायणाचार्य कहते हैं 'सकल देवतानां धर्मस्य परब्रह्मतत्त्वस्य च प्रतिपादकं वेदमनुच्चार्य परनिन्दाकलह अन्नृतादिहेतुं लौकिकीं वार्तां सर्वत्रोच्चारयतः स्पष्ट एव वाचि भाग्याभावः········। यद्यपि असौ काव्यनाटकं शृणोति तथापि निरर्थकं एव तच्छ्रवणं तेन सुकृतमार्गज्ञानाभावात्।' (ऋ० सा० भा० १) सारे देवताओं, धर्म एवं परमेश्वर के प्रतिपादक वेदों को छोड़कर जो परनिन्दा, झगड़ा, झूठ आदि का कारण लौकिक वार्ता करता है उसकी वाणी भी भाग्यहीन है। यद्यपि वह अनेक शास्त्रों का पण्डित हो सकता है परन्तु उन शास्त्रों में पुण्य-मार्ग के ज्ञान का प्रतिपादन नहीं होने के कारण उसका पाण्डित्य निरर्थक है। मित्र को फोड़कर शत्रु के पास जाना मूर्खता का प्रतीक है। ऋग्वेद भी यही

कहता है 'यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागोस्ति। यदीं शृणोत्यलीकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्।' (ऋ० १०।७१।६) वस्तुतः ऐन्द्रिय पदार्थों के विषय का श्रवण सुख खुजली के फोड़े को खुजलाने की तरह क्षणिक सुख देकर बाद में भयंकर वेदना देने वाला होता है। एवं वेद श्रवण उसको दवाई से रगड़ने की तरह है जो फोड़े को ठीक करके हित करती है।

इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय एवं वाग् इन्द्रिय के नियन्त्रण का संक्षेप से स्वरूप होता है अत्यंत आवश्यकता को छोड़ कर न सांसारिक वार्ता सुनना न बोलना। अधिकतम काल वेद श्रवण एवं वेदानुवचन में बिताना।

* * * *

आकाश के बाद स्पर्श तन्मात्रा की सृष्टि होती है। त्वगिन्द्रिय ही स्पर्श का ग्रहण करती है। कर्मेन्द्रियों में उपस्थ का सम्बन्ध त्वग्इन्द्रिय से घनिष्ट माना गया है। स्पर्श सुख का नियन्त्रण हाथी के नियन्त्रण की तरह दुष्कर है। सर्व शरीर व्याप्त होने के कारण इसको नष्ट करना भी असम्भव है। यदि असंवेदक (Anasthesia) औषधियों द्वारा कर भी दिया जाय तो कण्टक भेद, कटना, जलना आदि का भी पता नहीं लग सकेगा अतः यहां भी विचारयुक्त भोग ही कर्तव्य है। अनावश्यक दूसरों के स्पर्श से बचना चाहिये। हाथों के बिगड़ जाने या कड़े होजाने के भय से अकर्मण्यता, प्रमाद और आलस्य से दूर रहना चाहिये। माता, पिता, गुरु एवं परमेश्वर के विग्रहों का स्पर्श करना चाहिये। शुद्ध जल में गोते लगाने का स्पर्श-सुख भोगना चाहिये। रोगी आदियों की सेवा का सुख भी इसके अन्तःपाती आ जाता है।

वायु के बाद रूप तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। जिसका ग्रहण चक्षु के द्वारा किया जाता है। मानव में तो सम्भवतः यही इन्द्रिय सबसे प्रबल है। परन्तु जिस प्रकार अविचार के कारण पतंग लौ में जल मरती है उसी प्रकार रूप-शिखा में नष्ट होने वाले मानवों की

अपेक्षा सौन्दर्य के द्वारा व्यष्टि समष्टि जीवन का पुर्ननिर्माण करने वाले बहुत कम देखे जाते हैं। चाक्षुप प्रत्यक्ष से विषयानुभव में जो तृप्ति आती है वह दूसरे प्रकार से नहीं। सूरदास की तरह आंख फोड़ना वैदिक दृष्टि में बेवकूफी व अधर्म ही होगा। जो संसार से बांधे उस दर्शन का त्याग करके परमेश्वर से संबन्ध कायम करना ही विवेक-युक्त प्रयोग आंखों का माना जायेगा। आज तो सिनेमा देखने में आंखों का प्रयोग किया जाता है। विवाह के पूर्व ही वर वधू एक दूसरे को देखने की बात कहकर अपनी रूपासक्ति को प्रकट करते हैं। रूप ऐसा क्षणिक पदार्थ है जिसे चेचक एक दिन में समाप्त कर देती है। जीवन-साथी को रूप के लोभ से चुनना मूर्खता की पराकाष्ठा है। बालू के मकान की तरह रूप पर सुख की आशा का महल खड़ा करना है। चरित्र एवं शील पर जोर देकर आंखों का नियन्त्रण करो। दूसरे के कपड़े इत्यादि के चिन्तन के द्वारा आंखें हमसे केवल धन का ही अपव्यय नहीं करवातीं देहासक्ति बढ़ा कर स्वरूप से गिरा देती हैं। जब किसी से मिलो तो उसके रूप को नहीं वरन् उसमें रहने वाले आत्म तत्त्व को देखने का प्रयास करो। यदि इसमें असमर्थ हो तो कम से कम परमेश्वर की सन्तति के नाते उसको अपना भाई समझो। प्राकृतिक सौन्दर्यों का आनन्द लो जो अनन्त सौन्दर्य का द्वार है। ऊषा, मेघ, मयूर-नृत्य, चन्द्रास्त, हिमगिरि के उत्तुंग शृंग, विशाल नन्दन आदि उसी परम सुन्दर महादेव के रूप हैं। शरीर में सरल प्रसाधनों से सौन्दर्य निखरता है, पाउडर और क्रीमों से प्राकृतिक सौन्दर्य का अवरोध करने से नहीं।

संसार की व्यवहार रूपी नदी में संयम के ढोल को बांध कर एवं असंयम-प्रस्तर-खण्डयुक्त जन दोनों प्रवेश करते हैं। वे क्रमशः तैर और डूब जाते हैं। चतुर मक्खी बीकर के किनारे बैठ कर मधु पान करती है। वह केवल Probosis का प्रवेश कराती है। मूर्ख मक्खी उसके अन्दर पैर और पंख भी डाल कर मारी जाती है। इसी प्रकार जो चक्षु इन्द्रिय का समझ कर प्रयोग करता है वह बच ही

नहीं जाता, चक्षुरिन्द्रिय उसको ब्रह्म प्राप्ति के लिये मददगार हो जाती है ।

*　　　*　　　*　　　*

उत्तर गीता में 'पृथिव्यां यानि भूतानि जिह्वोपस्थनिमित्तकान्' जगत् में सभी पदार्थों को जिह्वा और उपस्थ के लिये ही बताया गया है । इन दो का परित्याग करने वाला जगत्-विजयी बन जाता है । अग्नि-तत्व के बाद रस तन्मात्रा उत्पन्न होती है । प्रत्येक प्राणी को भोजन आवश्यक होने के कारण रस का सर्वथा परित्याग असम्भव है । मछली रसनेन्द्रिय के लोभ से मारी जाती है । रसना के लोभ से ही हम हानिकारक पदार्थों को भी खाते रहते हैं जिससे स्वास्थ्य और धर्म दोनों का नाश हो जाता है । राजस-तामस दोनों को छोड़ कर केवल सत्व पदार्थों को खाने से रसनेन्द्रिय नियन्त्रित हो जाती है ।

मानव में प्रायशः घ्राणेन्द्रिय अधिक महत्व की नहीं है । महाभूतों में गन्ध तन्मात्रा स्थूलतम है । लहसन, प्याज, मांस आदि की गन्ध से दूर रह कर सुगन्धित पदार्थों का, विशेषकर सुन्दर पुष्पादि का परमेश्वर के प्रसाद रूप से ग्रहण करना घ्राणेन्द्रिय को ठीक रास्ते पर रखता है ।

हमेशा स्मरण रखना चाहिये कि सभी इन्द्रियों के नियन्त्रण के लिये परमेश्वर सम्बन्ध ही सरल उपाय है । प्रत्येक इन्द्रिय को अलग-अलग यमन करने का प्रयत्न मेढकों को तोलने की तरह व्यर्थ है । अतः सभी इन्द्रियों पर एक साथ आक्रमण करना चाहिये, एवं सभी इन्द्रियों को परमेश्वर में लगा देना ही वह अस्त्र है जो अमोघ है ।

यद्यपि इन्द्रियों को परमेश्वराभिमुखी करने से हम जीवन के उद्देश्य अमरता को प्राप्त कर लेते हैं तथापि प्रश्न है कि उसे इन्द्रियों का विषय बनाया कैसे जाय ? परमेश्वर के सगुण साकार रूप का यही रहस्य है । हमारी इन्द्रियों को सफल बनाने के लिये वह स्वयं ही साकार बन कर आता है । सामवेद के तलवकार ब्राह्मण में इसी

लिये 'नेदं यदिदमुपासते' के बाद ही सदाशिव के यक्ष रूप का वर्णन है। यदि परमेश्वर का दिव्य साकार विग्रह न हो तो इन्द्रियां बेचारी छूछी ही रह जायेंगी। परमेश्वर के साकार रूप के विषय में शंका व्यर्थ है। यदि अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड बनने पर भी ब्रह्म के स्वरूप में कोई दोष नहीं आता तो एक और रूप लेलेने से कौनसा दोष आ सकता है। और यह रूप ही तो साधक को सर्वतो भावेन सन्तोष दे सकेगा जहां वह अपनी सारी इन्द्रियां, मन, बुद्धि, प्राण, भावनायें अर्पित कर सकेगा।

* * * *

जागृत् अवस्था की प्रधानता तुरीय पद प्राप्ति के लिये ही है। अतः स्थूल भुक् वही कहा जायेगा जो जागृत अवस्था का प्रयोग केवल संसार-निवृत्तिरूप परम शिव की प्राप्ति के लिये ही करे। इन्द्रियों का प्रयोग करते हुए किस प्रकार शिव-प्राप्ति की जाय यह विचारणीय है। प्रारम्भिक संत्संगी भी ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करो, इस रहस्य से परिचित है। परन्तु प्रयत्न करने पर भी सफलता पूर्वक कर नहीं पाता। देहाध्यास के कारण हमारा सारा समय एवं शक्ति देह-पूजा में खर्च हो जाती है। स्व प्रयत्न से इसे छोड़ना बड़ा कठिन है। इसी लिये अपने आप को वेद की आज्ञा के अधीन करना आवश्यक है। वेदाज्ञा के अनुसार चलने वाला शनैः शनैः देहाध्यास से दूर होता चला जाता है, सुख दुःख का भोग तो स्वाभाविक है। परन्तु शिव की तरफ लेजाने वाले पदार्थों को सुखद समझना एवं शिव से दूर ले जाने वाले पदार्थों को दुःखद समझना ही देहाध्यास की निवृत्ति का लक्षण है। इस ज्ञान के होने पर पाप और दुःख से मनुष्य दूर हो जाता है। परम शिव ही आनन्दघन है। यही कसौटी है। कर्म विधान एवं भिन्न भिन्न प्रकार की अधिकार भेद के कारण होने वाली उपासनायें जैसे जैसे सफल होती जाती हैं साधक अधिकाधिक शिवानन्द को प्राप्त करता जाता है। लौकिक क्रिया और भोग कम होते होते अन्त में स्वभावतः संन्यास आ जाता है। इस अवस्था में देहाध्यास नष्ट हो जाता है। यह साधना की पराकाष्ठा है। आसुप्तेरामृते : कालं नयेद् वेदान्त-

चिन्तया । क्वचिन्नावसरं दद्यात् कामादीनामनागपि । आमरण, जब तक नींद न आजावे, वेदान्त चिन्तन में ही लगा रहे जिससे काम क्रोधादि वृत्तियों को मौका ही न मिले । यह स्थिति जिसने पहले कर्म कर लिया है उसकी ही आ सकती है । लेकिन जो कर्म करते हुए मीमांसक परमशिव को भूलकर कर्म को ही सब कुछ मान लेते हैं वे तो आवागमन के चक्कर में ही पड़े रहते हैं । कर्म और उसके फल का त्याग या अर्पण वे ईश्वर को नहीं कर पाते । मध्यम अधिकारी यद्यपि कामनाओं के कारण कर्म में प्रवृत्ति करता है परन्तु फल को परमेश्वर की इच्छा पर छोड़ देता है । परमेश्वर उसे लाभदायक कर्म-फल तो देता ही है, धीरे धीरे मोक्ष का अधिकारी भी बना देता है । इस प्रकार वह भी केवल कर्ममार्गी की अपेक्षा शीघ्र पहुंच जाता है । जो सर्वथा लौकिक कार्यों में लगा रहता है वह तो पशुवत् शास्त्र का अनधिकारी होने के कारण यहां की चर्चा का विषय ही नहीं ।

* * * *

भगवान् शंकर भगवत्पादाचार्य

आरूढ़स्य विवेकाश्वं तीव्रवैराग्य खड्गिनः, तितिक्षावर्मयुक्तस्य प्रतियोगी न दृश्यते ।। कह कर स्थूलभुक् को विजयी बनाने का साधन बतलाते हैं । विवेक रूपी घोड़े पर चढ़ा हुआ वैराग्य के तेज खड्ग को लेकर तितिक्षा का कवच पहनने वाले साधक का काम-क्रोधादिक प्रतिद्वंदी कुछ नहीं बिगाड़ सकते । विवेक का साधक नित्य वेद विचार है । जिस प्रकार घर में प्रतिदिन झाड़ू लगाना पड़ता है, मास में या वर्ष में एक बार नहीं, उसी प्रकार मानस संस्कारों का वेद ज्ञान के द्वारा प्रतिदिन परिष्कार करना चाहिये । जब वेद के विचार से शिव में प्रेम उत्पन्न हो जायेगा तब संसार से वैराग्य सुलभ होगा । उसके बाद इन्द्रियां कभी कष्ट नहीं दे सकेंगी । इन्द्रियों की प्रवृत्ति राग-द्वेष से ही सम्भव है । शिव-प्रेम उसका प्रतिबन्धक है । शिव-प्रेमहीन मनुष्य मरा हुआ ही समझना चाहिये । बहुत से लोग सत्संग भवन में आंखें खोल के सोते रहते हैं । एवं पूछते हैं कि बीस साल के सत्संग के बाद भी हम में परिवर्तन क्यों नहीं आया । जैसे नौकरों की अपेक्षा अधिक सावधान रहने वाला

मालिक ही उनका नियंत्रण कर सकता है उसी प्रकार आपको इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक सावधान रहना पड़ेगा। नहीं तो सियारों के मकान बनाने में राजा के धन की तरह आपकी शक्ति व्यर्थ चली जायेगी।

विवेक का प्रधान अर्थ है आत्मा और अनात्मा का विवेक। आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं 'येषां चित्ते नैव विवेकः ते पच्यन्ते नरकनिगूढ़ाः' जिनका चित्त विवेक रहित है वे नरकाग्नि में पकाये जाते हैं। यह न समझना कि नरक आगे आयेगा अथवा अदृश्य है। यह जीवन ही नरक है। गर्भवास की कैद, चिन्ता रूपी अग्नि में जलते रहना, निरन्तर दुःखानुभव नरक नहीं, तो क्या है। बुद्धिमान् पुरुष जानना चाहता है मैं कहां से आया, मुझे कहां जाना है, एवं यात्रा के लिये किस परिवहन का संश्रयण करना है? यदि कोई गन्तव्य स्टेशन और किस रेल से जाना है का पता लगाये बिना यात्रा करता है तो उसे बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। काश्मीर जाने की इच्छा वाला सम्भवतः जबलपुर में पहुंच जायेगा। पूछने के लिये भी अधिकारी से ही पूछना चाहिये। बहुत से लोग टिकट संग्राहक की अपेक्षा स्टेशन के अन्य यात्रियों से पूछना अधिक पसन्द करते हैं। इसी प्रकार प्रामाणिक वेद को छोड़कर बहुत से लोग मतमतान्तरों के द्वारा धर्म व ब्रह्म को जानना चाहते हैं। अतः वेद के आधार पर ही आत्मा-अनात्मा के विवेक में प्रवृत्त होना चाहिये।

वेद आत्मा को सच्चिदानन्द रूप बतलाता है। जिस प्रकार यदि सूर्य की गर्मी या रोशनी प्रतीत नहीं होती तो बीच में बादल की कल्पना करनी पड़ती है। इसी प्रकार यदि सच्चिदानन्द रूप की प्रतीति नहीं होती है तो अज्ञान का आवरण मानना पड़ता है। यदि इस परमानन्द को प्राप्त करने की इच्छा है तो परदा हटाना पड़ेगा। यदि क्षणिक आनन्दों को पर्याप्त समझते हो तो विषय भोगों में लगे रहो।

*　　*　　*　　*

विवेक के द्वारा स्थूल भोग मोक्ष देता है। विवेक की सम्भावना केवल जागृत् में है इसीलिये इसको प्रथम पाद कहा गया है। यही

इसका प्राथम्य है । यह विवेक केवल पुस्तक पढ़ने से ही उत्पन्न नहीं होता । काम, क्रोध, लोभ, मोह, संग छोड़ने पर ही विवेक का उदय हो पाता है । इन विकारों से युक्त इस तत्व को नहीं समझ सकता । लोग पूछते हैं बात को समझने के लिये बुद्धि की आवश्यकता हो सकती है, इन चीजों की क्यों ? यह विषय शुद्ध बुद्धि के द्वारा ही समझा जा सकता है । जिस प्रकार गणित-संस्कार-विशिष्ट-बुद्धि ही सापेक्षतावाद का ग्रहण कर सकती है अथवा अर्थशास्त्र-संस्कार-विशिष्ट बुद्धि ही शेयर बाजार को समझ सकती है उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये । सामान्यतः बुद्धि में विषय आजाने पर भी श्रद्धा का विषय नहीं बन सकता । श्रद्धा ही जीवन-प्रवाह को बदलने में समर्थ है । साधना-प्रवाह ही मोक्ष-समुद्र की प्राप्ति करा सकता है । इस श्रद्धा और साधना के अभाव से ही आत्मा के विषय में इतने मतभेद हैं । लोकायत यदि जड़ शरीर को ही आत्मा मानते हैं तो बौद्ध शून्य रूप को ही आत्मा स्वीकार करते हैं । जैन यदि देह परिमाणी आत्मा को स्वीकार करते हैं तो वैष्णव उसे परमाणु एवं वैशेषिक व्यापक मानते हैं । आस्तिकों में भी श्रौत प्रस्थान और तर्क प्रस्थान का आपस में मतभेद है । श्रौत प्रस्थान श्रुति को परम प्रमाण स्वीकार करता है एवं युक्ति को गौण । तर्क प्रस्थान युक्ति को प्रधानता देता है । कोई आत्मा को कर्ता मानते हैं, कोई कर्ता-भोक्ता दोनों, एवं कोई केवल भोक्ता स्वीकार करते हैं । जिस प्रकार जब आप मकान बनाना चाहते हैं तो अपने पड़ोसियों के मकानों, गृहनिर्माण के सूची-पत्रों, एवं ग्रन्थ और पत्रिकाओं को देखकर उनमें से अपने काम का अच्छा भाग स्वीकार कर लेते हैं, बुरे भागों को हटा देते हैं, इसी प्रकार समग्र दर्शनों का आलोड़न करके आत्मस्वरूप का निर्णय आवश्यक होता है । यद्यपि सामान्य पुरुष के लिये यह सुकर नहीं परन्तु वह सिद्धान्त ग्रन्थों के द्वारा अन्तिम निर्णय को समझ सकता है ।

समग्र लक्षणों का विवेचन करके ब्रह्मसूत्रों में आत्मा को अकर्ता

अभोक्ता बताया गया है । सुख दुःख का कारण स्वरूप का अज्ञान है । द्वैत प्रतीति का कारण केवल अध्यास है । प्राणस्य क्षुत्पिपासे द्वे, मनसः शोकमोहकौ, जरामृत्यु शरीरस्य, षडूर्मि रहितः शिवः ।। प्राण के धर्म भूखप्यास, मन के धर्म शोक मोह, एवं देह के धर्म जरा और मृत्यु से जो रहित होता है वही शिव है । प्राणों के निरोध से भूख-प्यास का घटना बढ़ना प्रत्यक्ष देखा जाता है । कम काम करने वाले को भूख भी कम लगती है अतः यह मेरा धर्म नहीं । मन के सो जाने पर शोक और मोह के अभाव से वह भी मेरा धर्म सिद्ध नहीं होता । जरा-मृत्यु तो शरीर का अति स्फुट है । अतः इन से रहित होने के कारण मैं आत्मरूप ही शिव हूं । इस प्रकार अध्यास निवृत्त हो जाने पर आत्मा का सच्चा स्वरूप अवगत होता है । वस्तुतः अध्यास मूलक ही विचार होने के कारण वादियों के अध्यास को विचार नहीं काट पाता । वैदिक तो वेद के सहारे से उसे ठीक जान लेता है । अतः इस विवेक को प्राप्त करना ही स्थूलभुक् बनने का उद्देश्य है ।

* * * *

भोगों के कारण एवं भोक्ता के स्वरूप पर कुछ विचार हुआ । अब भोग देने वाले एवं उसके प्रकार पर कुछ विचार आवश्यक है । सुख दुःख के अनुभव का नाम ही भोग है । सभी पदार्थ सुख या दुःख देते हैं । इस दृष्टि से उन पदार्थों को भी भोग कह दिया जाता है । भोजन, वस्त्र, धन, पुत्र आदि भोग हैं । इनमें नियत रूप से सुख दुःख रूपता नहीं है । अपक्व एवं असंस्कृत भोजन सुख के बजाय दुःख देता है । भोजन के परिवर्तन का कारण क्या ? रसोइया । लेकिन इसी रसोइये ने एक दिन पहले अच्छा भोजन बनाया था । यह अन्वेषण असीम है । अतः मानना पड़ेगा कि कारण परम्परा का अन्वेषण गलत तरफ किया गया । इस दृष्टि से भोक्ता को ही सुख दुःख का कारण स्वीकार किया जाता है और जैसा उसने बोया वैसा ही वह काटता है यही कर्म सिद्धान्त है । जो मैंने स्वयं किया है उसे कोई

भी दूसरा बदल नहीं सकता अतः अपने द्वारा आमन्त्रित सुख दुःख का स्वागत करना चाहिये । आगे के लिये जैसे फल की इच्छा हो वैसे ही बोना चाहिये । जिस प्रकार किसान उत्तम बीज को बोने के लियें रखता है, मध्यम को बेचता है एवं निकृष्ट को खाता है तभी वह सफल हो सकता है । जो किसान उत्तम को खायेगा वह अगली साल गरीब हो जायेगा । और सारे ही बीज को खा लेने वाला अगले साल भूखों मरेगा ! इसी प्रकार उत्तम मानव पुण्य का समय शिव भक्ति में लगाता है । मध्यकाल शुभ कर्मों में लगाता है । सबसे निकृष्ट समय सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये खर्च करता है ।

सुख दुःख स्व-संवेद्य हैं । अतः दूसरे के सुख दुःख को जाना नहीं जा सकता । सामान्यतः सुख दुःख में तादात्म्याध्यास रहता ही है। देह और मन से इसके हट जाने पर मनुष्य सुखदुःखातीत बन जाता है। अतः जब तक अध्यास है तभी तक इसका नाम स्थूल भुक् रहता है। सुषुप्ति में अध्यास न रहने के कारण सुख दुःख भी नहीं रहता। अत्यन्त बीमार भी नींद आजाने पर दुःखानुभव नहीं करता। परन्तु सुषुप्ति में क्षणिक अध्यासाभाव आता है और वह भी हमारे नियन्त्रण में नहीं। अतः जागृत् में ही इस अध्यास को नष्ट करना पड़ेगा । पाप अध्यास का पोषक है । धर्म के द्वारा अध्यास झीना हो जाता है । इस लिये श्रुति ने धर्मेण पापं अपनुदति कहा है । इस प्रकार सूक्ष्म भोग वासना जन्य है, उसी प्रकार स्थूल भोग कर्म जन्य है । स्वांस लेने में भी कर्म की अपेक्षा है । अतः कर्मों का स्वरूप समझना आवश्यक है ।

कर्म दो प्रकार के—जो परमेश्वर की तरफ ले जाते हैं एवं जो परमेश्वर से दूर ले जाते हैं—इस प्रकार कर्म दो प्रकार के हैं । प्रथम को धर्म कहते हैं, द्वितीय को अधर्म । पुराणों में इनके अनेक भेद बतलाये हैं । पापों की निवृत्ति का उपायं प्रायश्चित्त कहा जाता है । जिस प्रकार साबुन से कपड़े धुलते हैं उसी प्रकार प्रायश्चित्त से पाप धुलते हैं । कुछ लोग मानते हैं कि पापों का फल भोगना ही पड़ेगा, दूर नहीं किया जा सकता । परन्तु यह

अश्रौत मत है । वस्तुतः जान करके प्रायश्चित्त के भरोसे किये जाने वाला पाप दूर नहीं किया जा सकता । क्यों कि

'प्रायो नाम तपः प्रोक्तः चित्त निश्चय उच्यते ।
तपोनिश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ।

तप और आगे न करने का निश्चय ही प्रायश्चित का स्वरूप है । जो बार बार पाप करता है वह प्रायश्चित्त का अधिकारी नहीं है । शारीरिक, वाचिक, और मानसिक पाप के लिये भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त बताये गये हैं । पापों का अनुताप पापों को शुद्ध करके पापों को धो देता है । विकर्मणस्तप्यमानः पापाद्धि परिमुच्यते । अघमर्षण मंत्र का जप पाप निवृत्ति के सर्वोत्तम उपायों में बताया गया है । इसी प्रकार वेदान्त-श्रवण भी पाप निवृत्तिं का अमोघ उपाय है । ईश्वर-भक्ति सारे पापों को नष्ट कर देती है । समदर्शी पाप से अस्पृष्ट रहता है । वेद स्वाध्याय तीन वर्ष तक किये जाने पर समग्र संचित कर्म को नष्ट कर देता है यह आश्वलायन महर्षि का मत है । याज्ञवल्क्य महर्षि स्वाध्याय के लिये पाठ की अपेक्षा मंत्रार्थ चिन्तन को प्रधानता देते हैं । यहां भी स्मरण रखना चाहिये न वेदबलमाश्रित्य पापकर्म रतो भवेत् । (वशिष्ठ स्मृति) वेद के सहारे पाप कर्मों में रत न हो जाय । अशक्त के लिये तो शास्त्रकारों ने लेटे लेटे पाठ करने तक का विधान किया है । जो स्वयं पाठ न कर सकें वह ब्राह्मण के द्वारा उसका श्रवण कर सकते हैं । कम से कम जीवन में समग्र वेदों का तीन पाठ तो अवश्य कर लेना चाहिये ।

इस प्रकार पापों को दूर कर पुण्य कर्म में रत रहने वाला ही निरन्तर सुख भोग करते हुए विवेक को प्राप्त कर सकता है ।

* * * *

जो लोग वेदाध्ययन करने में सर्वथा असमर्थ हैं उनके लियें शास्त्रों में मंत्र जप का विधान किया गया है । इसके लिये दीक्षा आवश्यक होती है । मंत्रों के अरि, मित्र, सिद्ध, सुसिद्ध, सामान्य, पुरुष, स्त्री

नपुंसक, स्मार्त, आगमिक, बीज, श्रौत आदि अनेक भेद होने के कारण मनमाने मंत्र का जप हानिकारक सिद्ध हो सकता है। जिस प्रकार दवाइयों की किताब पढ़ कर स्वयं औषधि खाने वाला नुकसान उठाता है। दीक्षा अर्थात् गुरु का आत्म दान एवं शिष्य का देहमनादिक्षय। देह बुद्धि का क्षय होकर सच्चिदानन्दरूपता का ज्ञान ही दीक्षा का उद्देश्य है। डाक्टर से दवाई लेना काफी नहीं है। उसके सारे निर्देशों को मानना पड़ता है। बहुत से लोग सोचते हैं कि जितना करें उतना ही अच्छा है। यह खतरनाक विचार है। सम्भवतः जिस अंश को तुमने घटाया वह अत्यावश्यक था। अतः गुरु की आज्ञा से ही असमर्थ होने पर कमी करनी चाहिये। इसी प्रकार यदि डाक्टर कहता है आज फल का रस ले लेना और तुम समझते हो एक दिन और भूखे रहना अच्छा है तो सम्भवतः गर्मी बढ़ जायेगी। अथवा दो गोली प्रतिदिन की एक सप्ताह तक बताने पर इकट्ठी ही चौदह गोली खा लेने से हानि ही होगी। योग्य डाक्टर, अच्छी दवाई, पूर्णतः नियम पालन, सुपथ्य के साथ काल की प्रतीक्षा करने वाला ही शीघ्र रोग-मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार सद्गुरु, मंत्र, सदाचार का पालन, पाप-निवृत्ति और दीर्घ काल तक अभ्यास करने पर ही मोक्ष रूपी फल उत्पन्न होता है। जिस प्रकार कौन सा वृक्ष उगेगा इसका निर्णायक बीज है, उसी प्रकार मोक्ष, बल, ऐश्वर्य, ज्ञान आदि में से साधक को कौन सा फल मिलेगा यह मंत्र पर निर्भर करता है। परन्तु वृक्ष की पुष्टि खेत, पानी और खाद के आधीन है। जितना ही सदाचार रूपी जल, शुद्ध अन्तःकरण रूपी क्षेत्र एवं नियम पालन रूपी खाद डाली जायेगी उतना ही वृक्ष मजबूत होगा।

शाक्त, शांकर, आणवी, पूर्ण, क्रियावती, वर्णमयी, कलावती, वेधमयी, मानस, शाब्द आदि भेद से दीक्षा कई प्रकार की होती है। यद्यपि पूर्णाभिषेक ही दीक्षा का अन्तिम स्वरूप है जिसमें गुरु अपना सर्वस्व शिष्य में स्थापित कर देता है तथापि ये सारी दीक्षायें एक के बाद एक आती जाती हैं। आगम शास्त्रों में दीक्षा की सुन्दर दार्शनिक व्यवस्था की गई है। जीव माया में फंसा हुआ है और जब तक

उसके नियन्त्रण में है माया से नहीं छूट सकता। अतः माया रहित से सहायता की आवश्यकता है। कुएं में पड़े हुए को कुएं के बाहर वाला ही रस्सी डालकर खींच सकता है। माया के बाहर केवल परम शिव है। अतः गुरु रूपी डोरी के सहारे परम शिव ही जीव को बाहर खींचता है। जिस प्रकार कुए वाला आदमी केवल डोरी को देखता है, खींचने वाले को नहीं, उसी प्रकार शिष्य केवल गुरु को देखता है गुरु में रहने वाली पारमेश्वरी शक्ति को नहीं। यह डोरी डालना ही शक्तिपात कहा जाता है। लेकिन शक्तिपात के लिये अधिकार प्राप्ति आवश्यक है। अतः गुरु से यह प्रार्थना निरर्थक है कि आप हमारी रक्षा क्यों नहीं करते। चाहने पर भी परम शिव की आज्ञा से भिन्न वह कोई क्रिया नहीं कर सकता। वस्तुतस्तु उसका संकल्प शिवसंकल्प से अभिन्न होता है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद तो प्रपंचसार में यहां तक लिखते हैं कि जिस प्रकार मंत्री के दुर्व्यवहार का दोष राजा को लगता है उसी प्रकार दीक्षोत्तर काल में शिष्य के पाप और दोषों को गुरु को भी भोगना पड़ता है। प्रेम अथवा लोभ से अनधिकारी पर कृपा करने से गुरु और शिष्य दोनों ही देव-शाप के भागी बनते हैं। अतः आणवी दीक्षा के द्वारा शिष्य को तय्यार करके ही दूसरी दीक्षा दी जा सकती है। शास्त्रीय दीक्षा एवं यागी दीक्षा के तो सभी अधिकारी होते हैं। शास्त्रीय दीक्षा में शास्त्र में बताये सिद्ध मंत्रों का उपदेश दिया जाता है। इसमें श्रद्धा ही प्रधान अधिकार है। कुछ आगे बढ़े हुए साधकों में गुरु शिष्य की जीव कलिका का आकर्षण करके अपने अन्तःकरण में स्थित कर वहीं ध्यान में लय कर देता है। इसके द्वारा शुद्धि होकर शक्तिपात का अधिकारी बन जाता है। लेकिन इसके लिये दोनों की निरन्तर सन्निधि आवश्यक होती है। त्रोटकाचार्यों में भगवान् भाष्यकारों ने शांकरी दीक्षा का प्रयोग किया था। इसमें गुरुशुश्रूषा के द्वारा वहीं पर पूर्ण एकाग्रता लानी आवश्यक होती है। पद्मपादाचार्यों को शाक्त दीक्षा दी गई थी। इसमें शिष्य को कुछ भी नहीं करना पड़ता। सूक्ष्म शरीर के द्वारा जनाये

बिना ही गुरु ही शिष्य से सारी क्रियायें करा लेता है। इसी प्रकार अन्य दीक्षाओं का विचार आगम ग्रन्थों में किया गया है।

दीक्षा की सफलता का देहाध्यास की कमी से पता लगता है। यदि शरीर में मैं-पने का भाव हिलने लगा है तो सफलता की ओर बढ़ रहे हैं। शक्तिपात के द्वारा कम्पन का अर्थ अध्यास का कम्पन ही है। आजकल तो लोग शरीर हिलने को ही कम्पन समझ लेते हैं, इसी प्रकार स्वेदन का तात्पर्य पाप एवं वासनाओं का बाहर निकलना है, पसीना बहना नहीं। रोमाञ्च का अर्थ सुप्त भावनाओं का प्रबुद्ध होकर दण्डायमान एवं क्रियाशील बनना है, रोओं का खड़ा हो जाना नहीं।

बहुत से लोग सोचते हैं गुरु की प्राप्ति कैसे होगी। गुरु का अन्वेषण व्यर्थ है। परमेश्वर स्वयं ही गुरुरूप से योग्य शिष्य को प्राप्त हो जाता है। आवश्यकता है अपने को योग्य बनाने की। इसीलिये शास्त्रों में गुरु को दुर्लभ नहीं बताया गया है, शिष्य को ही दुर्लभ बताया है।

इस प्रकार के साधनों से युक्त होकर मंत्रजप भी जीव के कल्याण का मार्ग बन जाता है।

* * * *

मंत्र का अर्थ होता है मननात् त्रायते जो मनन करने से बचाये। अतः शास्त्रविधि पूर्वक मंत्र का ग्रहण प्रथम सोपान हुआ। यदि इस का अभ्यास नहीं किया जायेगा तो अपने फल को उत्पन्न नहीं कर पायेगा। मंत्र वेत्ताओं ने बताया है कि एक वर्ष तक अनुष्ठान न करने से मंत्र शक्ति नष्ट हो जाती है, एवं पुरश्चरण के द्वारा ही पुनः प्राप्त हो सकती है। बहुत से लोग नये-नये मन्त्रों की तलाश में रहते हैं। यह श्रद्धा की कमी का ही फल है। यद्यपि यह सत्य है कि सभी मंत्र परमेश्वर के ही हैं तथापि जिस प्रकार भूमि के नीचे सर्वत्र जल होने पर भी एक जगह खोदने वाला पानी पा जाता है दस जगह खोदने वाला कहीं भी पानी नहीं पाता। तीन वर्ष में कुछ अनुभव

अवश्य होने लगता है। अन्यथा साधन की कमी प्रतीत होती है। मंत्र जप के लिये सिद्ध पीठ ही सर्वोत्तम क्षेत्र माना गया है। परन्तु उसकी अनुपलब्धि में किसी पुण्य क्षेत्र, नदी तट, पर्वत अथवा घर का कोना भी अनुकूल स्थान है। जो भी स्थान हो मन के अनुकूल होना चाहिये। जहां बाह्य विक्षेप, गन्दगी, बदबू आदि न हों ऐसा ही स्थान चुनना चाहिये।

सदाचार की आवश्यकता भगवान् शंकर ने पार्वती को बताया है। जिह्वा दग्धा परान्नेन, हस्तं दग्धं प्रतिग्रहात् परस्त्रीचिन्तनात् चित्तं मन्त्रसिद्धिः कथं भवेत्। दूसरे के अन्न से शक्तिहीन जीभ के द्वारा जप किया जाने पर एवं दूसरे के धन से शक्तिहीन हाथ से माला फेरने पर, परस्त्री चिन्तन से शक्तिहीन चित्त के द्वारा मंत्र सिद्धि कैसे हो सकती है। भोजन, स्नान, आचमन आदि भी मंत्र पूर्वक करना चाहिये। प्रतिदिन पूजा का नियम रखना चाहिये। माला को नाभि के नीचे नहीं लटकना चाहिये। जप के मध्य में बात-चीत नहीं करना चाहिये। यदि करनी ही पड़े तो पुनः प्रारम्भ करना चाहिये। यदि छींक आवे तो आचमन कर्त्तव्य है। खुजली करने पर हाथ धोकर प्राणायाम कर्त्तव्य है। मंत्र न अति शीघ्र जपना चाहिये, न धीरे-धीरे और न गाकर ही विधान है। देह के अंगों को हिलाने का निषेध है। पुस्तक देखकर पाठ होता है जप नहीं। शौच, लघुशंका आदि को रोक कर जप ध्यानादि करने का सर्वथा निषेध है। यदि सम्भव हो तो जमीन पर बिछौना बिछा कर सोने का अभ्यास करना चाहिये। जप काल में इष्ट मन्त्र और गुरु की ऐक्य भावना कर्त्तव्य है। गृहस्थ के लिये भी शास्त्र विहित काल से अतिरिक्त काल में ब्रह्मचर्य का विधान है। यथा सम्भव प्रतिदिन गुरु सेवा और दर्शन करना चाहिये सम्भव हो सके तो एक बार भोजन और तीन बार स्नान करे। प्रतिदिन कुछ न कुछ दान करना भी गृहस्थ के लिये कर्त्तव्य है। इस प्रकार के नियमों का पालन करने से ही मंत्र पूर्ण फल देता है।

* * * *

विश्वचासौनरः विश्वानरः। विश्वानर एव वैश्वानरः। विष्णु सहस्त्रनाम में भगवान का सर्व प्रथम नाम विश्व ही आता है। विश्व शब्द व्याकरण दृष्टि से सर्वनाम है। मैं हूं इस बात को जानने वाला नर कहा जाता है। अतः वैश्वानर का अर्थ वह जीव है जिसने सर्व भाव को प्राप्त कर लिया है। चूंकि यह ऐक्य केवल जागृत में ही अवगत होता है अतः जागृत् अभिमानी को भविष्य दृष्ट्या वैश्वानर कह दिया गया है। ब्रह्मात्मैक्य यद्यपि सभी उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित है तथापि लक्षण और प्रमाणों द्वारा इस एकता का विचार करने से ही इसकी सिद्धि सम्भव है। लक्षण उसको कहते हैं जो केवल लक्ष्य पदार्थ में रहे। जैसे सास्ना वाले को गौ कहते हैं। जो सफेद द्रव है वह दूध है, यह कोई लक्षण नहीं क्योंकि चावल के आटे का घोल भी सफेद होता है।

यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करने वाले साधन को प्रमाण कहा जाता है। यद्यपि प्रत्यक्ष और अनुमान द्वैत का निर्देश करते हुए प्रतीत होते हैं परन्तु विचार करने से प्रतीत होता है कि वह पदार्थों के नाम रूप का निर्देश करते हैं, स्वरूप का नहीं। अतः पदार्थों की अद्वैतता का स्वरूप प्रतिपादन करने वाली श्रुति से उनका कोई विरोध नहीं। अतः जीव-ब्रह्म की एकता में श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है। चूंकि श्रुतियां एकमत से जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करती हैं अतः दृष्ट विरोध अकिंचित्कर है।

आत्मा के चार पादों में इस स्थिति को जागृत् अवस्था में ही पाया जा सकता है। इन अवस्थाओं को पाद कहने का तात्पर्य है कि इनके द्वारा आत्मा चलता है। पाद शब्द बड़ा सार्थक है। जीवन में गतिमान बने रहने का उपदेश इसी शब्द से किया जाता है। जिस प्रकार चार पहियों वाली गाड़ी स्थिर (Steady) रूप से और तेजी से चलाई जा सकती है उसी प्रकार आत्मा भी स्थिर होते हुए तीव्र गति से चलता है। जीवन गतिहीन बन कर श्मशान-शान्ति प्राप्त करने के लिये नहीं है। वेद का उद्देश्य हमें तीव्रतम क्रिया के

अन्तस्तल में शान्त बनाने का है। पुल को पार करने वाला व्यक्ति पुल पर मकान बनाने की मूर्खता नहीं करता, परन्तु आश्चर्य है कि संसार के ९९ प्रतिशत व्यक्ति जाग्रत् अवस्था को, जो परम शिव को प्राप्त करने का पुल है, केवल भोगार्थ समझ कर उसी में लिपट जाते हैं। यह कोई नया रोग नहीं है। भगवान शंकर भगवत्पादाचार्य भी--

बाल स्तावत् क्रींडासक्तः तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चति आशा पिण्डम्।

कह कर उस समय की सामान्य जनता को भी पहले खेल, फिर घर और अन्त में चिन्तासक्त बता रहे हैं।

वस्तुतः यह मानव की ही विशेषता है कि वह ब्रह्म बन सकता है। उसके ऊपर एक बड़ी भारी जिम्मेदारी दी गई है। यदि सत्य-परमार्थ-महान्-नित्य-ब्रह्म को अपना स्वरूप न बना पाया तो अति दीर्घ काल तक दुःख ही उठाना पड़ेगा। लेकिन मोह की ऐसी गरिमा है कि जानते हुए भी काम, क्रोध और लोभ के अन्ध कूप में मनुष्य कूद जाता है। हम उस सेठ की तरह हैं जिसने घर में चोर आजाने पर एवं पत्नी के कहने पर भी मैं जानता हूं, जानता हूं, कहकर धन लुट जाने दिया। बहुत से सत्संगी मैं जानता हूं, मैं योजना बना रहा हूं, इत्यादि कहते रहते हैं एक दिन मृत्यु आकर सब कुछ ले जाती है। हम संसार के पदार्थों के लिये तैयारी करने में समय खोते रहते हैं जहां कि बड़े से बड़ा महल भी हमें लेटने के लिये साढ़े तीन हाथ से अधिक जगह नहीं दे सकता। आचार्य तो स्वर्ग के राज्य को भी एक कुटी ही बतलाते हैं। इन्द्र जब बड़ा मकान बना रहा था तो लोमश महर्षि उधर से निकले। इन्द्र से बोले मालूम होता है तू बहुत साल जियेगा। मैंने तो थोड़ी सी उमर के लिये मकान न बनाकर चटाई से ही काम चला लिया है। इन्द्र ने उनकी आयु पूछी तो उन्होंने बताया कि एक ब्रह्मा के समाप्त हो जाने पर मेरा एक रोयां टूट जाता है। जहां सारे रोये टूटे कि मैं मर जाऊंगा।

इतनी थोड़ी सी जिन्दगी के लिये कौन मकान बनाने की झंझट करे। इन्द्र का मुंह छोटा सा रह गया क्योंकि ब्रह्मा की आयु १०० वर्ष की होती है और ब्रह्मा के १ दिन में १४ इन्द्र बदल जाते हैं। इस प्रकार विचारशील आत्मा के पादों से आगे बढ़ता रहता है और तुरीय पाद तक पहुंचता है। विश्वभुक् में अटककर नहीं रहता। अब श्रुति स्वप्न और सुषुप्ति के विचार से किस प्रकार हम तुरीय पाद को प्राप्त कर सकते हैं उसका प्रतिपादन करेगी।

स्वप्नस्थानः अन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ।३।

स्थूल प्रपञ्च को कहने के बाद श्रुति सूक्ष्म प्रपञ्च को बतलाती है। स्वप्न-स्थान अर्थात् जिसका अनुभव स्वप्न में होता है। सूक्ष्म प्रपञ्च के अनुभव को ही स्वप्नानुभव कहा जाता है। जागृत्-प्रज्ञा मनस्पन्दनमात्र बनकर चित्त में संस्कारों का आधान करती है। वह मन उन संस्कारों से चित्रित होकर बाह्य साधनों से निरपेक्ष ही जागृत की तरह अवभासित होता है। इसी लिये इसको अन्तःप्रज्ञ कहा जाता है। अथवा इन्द्रियों की अपेक्षा मन अन्दर होने से एवं स्वप्न का वासना रूप मन से अभिन्न होने के कारण भी इसको अन्तः प्रज्ञ कहा जा सकता है। विषय-शून्य केवल प्रकाश-स्वरूप प्रज्ञा में विषयी रूप से प्रतीत होने के कारण इसे तैजस कहा जा सकता है। केवल वासना मात्र का ही भोग करने के कारण इसे प्रविविक्त भुक् कहा जा सकता है। यही आत्मा का द्वितीय पाद है। स्थूल प्रपञ्च के संस्कार से स्वप्न में भी उन्हीं सात अंग और इक्कीस मुखों की प्रतीति होती है। जगत् के अविद्यमान होने पर भी आत्मा में उसकी प्रतीति होती है इस बात का निश्चय कराने के कारण ही स्वप्न को आत्मा का द्वितीय पाद कहा गया है।

तैजस को बतलाते हुए श्रुति उसकी प्रथम विशेषता अन्तःप्रज्ञा बताती है। वस्तुतस्तु यह दार्शनिकों में बड़ा ही शास्त्रार्थ का विषय है कि पदार्थ बाह्य हैं या आन्तरिक। एक पक्ष मन से भिन्न पदार्थों की सत्ता को अस्वीकार करता है एवं दूसरा पक्ष पदार्थों से अतिरिक्त मन की सत्ता को अस्वीकार करता है। कुछ लोग मन एवं पदार्थों को समानान्तर सत्ता वाले मानते हैं। वेदान्त मन को ही एक (Amalgamation) मिश्रित तत्त्व स्वीकार करता है, जिसमें जड़ और चेतन

का अभूतपूर्व मिश्रण होता है। वस्तुतस्तु चेतन का द्वैत भावापन्न होना ही मन बन जाना है।

'चितिरेव चेतनपदादवरूढ़ा चैत्यसंकोचिनी चित्तम्' के द्वारा आचार्य इसी बात को कहते हैं। पदार्थों को मन जानता है। अतः मन और पदार्थ का सम्बन्ध ज्ञान के लिये आवश्यक है। प्राचीन भारत में मन का चक्षुरादि इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ स्थल में जाना माना गया है। इन्द्रिय देश में पदार्थ अथवा उसकी छाप का स्नायु मंडल द्वारा मन से सम्पृक्त होना आधुनिक वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है। दोनों ही स्थितियों में पदार्थ और मन का सम्बन्ध सम्भव है। सामान्यतः वेदान्त अपनी मीमांसा यहां से प्रारम्भ करता है। मन से सम्बन्ध होने की पूर्व अवस्था वैज्ञानिक का विषय है। एवं यह स्थिति मन के अन्दर ही होती है। इसी लिये अनेक बार वेदान्त को अध्यात्म शास्त्र भी कहा गया है। मन में ही पदार्थ की छाप रहती है, इसी लिये स्मृति सम्भव है। अनुभूत पदार्थ के दूर अथवा नष्ट हो जाने पर भी, एवं घोर अन्धकार में भी उस पदार्थ को पुनः पुनः देखा जा सकता है। अतः चित्त को स्मृति में सर्वथा स्वतंत्र स्वीकार करना पड़ता है। जिस प्रकार भाचित्र (Photo) पदार्थ से उत्पन्न होने पर भी उत्पत्ति के बाद पदार्थ निरपेक्ष है उसी प्रकार स्वप्न जागृत् पदार्थों से संस्कारों के द्वारा सम्बन्धित होने पर भी जागृत् से असम्बन्धित है। स्वप्न में अनुभूत पदार्थों की अदला बदली के द्वारा अनेक नयी परिस्थितियों का निर्माण भी होता है। एवं कार्य कारण भाव की ढील से असम्भव अनुभव भी होते हैं।

स्मृति भी यद्यपि संस्कार-जन्य है तथापि स्मर्ता के अधीन है। स्मृति प्रयत्न-साध्य है। अनेक बातों को तो प्रयत्न करने पर भी स्मृति-पथ में लाना सम्भव नहीं होता। स्वप्न निद्रादोष से स्वतः उत्पन्न होता है अतः प्रयत्न निरपेक्ष है। एक दृष्टि से तो स्वप्न प्रारब्ध का फल है। मानस कर्मों का फल सुख दुःख रूप से स्वप्न में

मिल जाता है अतः स्वप्न के ऊपर हमारा नियन्त्रण सम्भव नहीं। ठिठुरते जाड़े में ज्येष्ठ की चिलचिलाती धूप की अनुभूति को प्रबल प्रारब्ध मानना ही पड़ता है। जहां तक स्वप्न-द्रष्टा का सम्बन्ध है उसके लिये उस समय गर्मी ही है क्यों कि गर्मी और सर्दी कोई निश्चित पदार्थ नहीं हैं। यह तो हमारी अनुभूतियों का ही नाम है। बर्फ में रखे हुए हाथ को जल में डालने पर जल गरम मालूम पड़ेगा एवं उबलते पानी में से हाथ को निकालने पर जल में डालने पर वह ठंडा मालूम पड़ेगा। अतः स्वप्न में गरमी की अनुभूति को प्रारब्ध का फल ही मानना पड़ेगा। कुछ विचारक तो स्वप्न में कार्य-कारण-भाव के निश्चित सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में संस्कार से अतिरिक्त स्वप्न में सारे अनुभव यदृच्छा से होते हैं। कारण-कार्य-भाव वहां सिद्ध करना असम्भव सा है। लेकिन संसार में कारण-कार्य-भाव स्वीकार करना ही पड़ता है। अन्यथा सारे जगत् में अनवस्था प्राप्त हो जाती है। अतः स्वप्न के प्रति प्रारब्ध को कारण मान लेना चाहिये।

प्रश्न उठ सकता है कि चित्त इतना सूक्ष्म है, उसमें इतने संस्कार कैसे रखे जा सकते हैं। यद्यपि आधुनिक अणुभा (Micro film) में स्थान की अत्यधिक बचत हो जाती है तथापि अनन्त जीवनों के अनन्त अनुभवों का संरक्षण उनमें भी संभव नहीं। जीवन के प्रत्येक क्षण में चित्त में एक नवीन अनुभव का संस्कार पड़ता है। इस हिसाब से एक जीवन के ७५ वर्षों में अनुभवों की संख्या परिगणना से परे हो जायेगी। चित्त में तो एक जीवन के ही नहीं सारे जीवनों के संस्कार पड़े रहते हैं। इसी लिये अनेकों को पूर्व जन्म के अनुभवों का स्मरण होता देखा जाता है। जातिस्मर लोग तो साधना के बल से इन संस्कारों का प्रयत्न पूर्वक उद्बोधन कर लेते हैं। पूर्व जन्मों में गृहीत मन्त्रों का स्मरण भी अनेक व्यक्तियों में देखा जाता है। विद्यार्थियों में स्वभावतः किसी विशेष विषय में प्रवृत्ति अथवा अधिकार भी पूर्व जन्म के संस्कारों के उद्बोध के कारण ही होते हैं। बाल्यावस्था में वृद्धजनों के द्वारा सौन्दर्य-

लहरी याद करा दी जाती है। आंग्ल विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने पर अति दीर्घ काल तक उसका सम्बन्ध छूट जाता है। ग्रन्थ सर्वथा विस्मृत हो जाता है। प्रौढ़ावस्था में किसी कारणवश उस ग्रन्थ को पढ़ने पर प्रथम कठिनता लगती है परन्तु अतिशीघ्र ही पुनः याद हो जाती है। इसी प्रकार मृत्यु के बाद विस्मृति होने पर भी जन्मान्तर में स्वल्प प्रयत्न से ही विषय पर अधिकार आ जाता है। अतः पदार्थों का मन में निवास किस प्रकार होता है यह अत्यन्त विचार का विषय है। वस्तुतः चूंकि मन समष्टि मन का एक अंग मात्र है अतः समष्टि मन से सम्बन्धित होने के कारण उसमें अनन्त शक्तियों का और अनन्त संस्कारों का निवास स्वाभाविक रूप से ही होता है। इसी लिये श्रुतियों ने 'अनन्तं वै मनः' कहा है। (बृ० ३/१/६)। जिन मतों में इस व्यष्टि समष्टि के भेद को ही स्वीकार किया गया है उनके यहां संस्कारों की व्यवस्था असम्भव है।

* * * *

श्रुतियों में 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्, (ऋ० वे० १०।१२६।४) के द्वारा सृष्टि का मूल कारण काम ही बताया गया है। इसके बिना ईश्वर में सृष्टि प्रेरणा का मूल ही असम्भव होता है। संकल्प के प्रति काम की कारणता अनुभव सिद्ध है। इसीलिये परमेश्वर के मन्दिर में उनके शयन कक्ष में इच्छा-शक्ति के साथ ही शिव-शयन कराने की प्रथा आगमानुकूल संचालित मन्दिरों में सर्वत्र दृष्ट है। ईश्वर में जो काम इच्छा-शक्ति रूप है वही जीव में वासनामय बन्धन का हेतु है। अविद्या एवं कर्म को ग्रथित करने वाली लड़ी काम ही है। परमेश्वर का स्वातंत्र्य और जीव का पारतंत्र्य विद्या एवं अविद्या के कारण है। परन्तु अविद्या स्वतः कष्टदायक नहीं। सुषुप्ति में अविद्या के होने पर भी दुःख की प्रतीति नहीं होती। काम ही वस्तुतः जीव के समग्र दुःखों का कारण है। काम से प्रेरित होकर शुभाशुभ कर्म करता है जिनके फलस्वरूप सुख दुःख भोगता है। अतः सुख दुःख की निवृत्ति के लिये तत्कारण

कर्म की निवृत्ति आवश्यक है एवं काम निवृत्ति के बिना कर्म निवृत्ति असम्भव है। चूंकि काम का प्रकट रूप वासना है अतः वासना निरोध से ही आध्यात्मिक साधना का यथार्थ प्रारम्भ माना जाता है।

जागृत् अनुभूति विषयाधीन होने के कारण जीव के नियन्त्रण के अधीन नहीं है। विषयों के उपस्थित होने पर इन्द्रियों का सम्बन्ध और तदधीन अन्तःकरण वृत्ति एवं उसका आत्म प्रतिबिम्ब के द्वारा ज्ञान अपरिहार्य (irrevocable) है। स्वप्न में वास्तविक विषयों का अभाव है अतः उनकी उत्पत्ति (प्रतीति) वासनाओं पर ही निर्भर है। अतः स्वप्नानुभूति चित्त अर्थात् हमारे ही अधीन है। अतः वासना-निरोध से सर्व प्रथम स्वाप्न जगत् में परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। सामने रखा हुआ कमल सुन्दर, लाल, सुरभिपूर्ण एवं सुकोमल है। चाहे जितनी भी साधना की जाय इसे अन्यथा नहीं किया जा सकता। इसका ज्ञान इसी प्रकार से सम्भव है। यह ज्ञान चाहे मायिक हो चाहे सच्चा। यही स्थूल भोग है। परन्तु उसमें इष्ट और अनिष्ट की भावना सूक्ष्म भोग है, क्योंकि वासना पर निर्भर करती है। इसीलिये जिस पदार्थ को एक आनन्द रूप मानता है, दूसरा सहन भी नहीं कर सकता। ब्रह्मसूत्रभाष्य को पढ़ते हुए विचारक आनन्द विभोर हो जाता है परन्तु सामान्य जन उकता जाता है। अभ्यास के द्वारा इसका परिवर्तन भी सम्भव हो जाता है। इसी में जीव की स्वतंत्रता शास्त्रकारों ने बताई है। अयमेव हि शास्त्रार्थो यत् रागद्वेषाभिभवः।

अभ्यास से वासनायें दृढ़ होती हैं एवं दूर हो जाने से कमजोर पड़ जाती हैं। छत पर सोये हुए को दीखने वाले वृक्ष विषयक भूत की कथा के संस्कार दृढ़ होते जायेंगे। किसी दिन सचमुच उनको भूत दीख भी सकते हैं। यदि किसी वृक्ष पर भूत को सुन करके उस गांव से बाहर चले जाने का मौका हो जायेगा तो वासनाओं को दृढ़ होने का मौका नहीं मिलेगा। अतः विषय वासना निवृत्ति के लिये इन्द्रिय-सम्प्रयोगाभाव भी कारण-कोटि में निविष्ट किया गया

है। परन्तु बाह्य विषय से दूर रह के उसका अन्तःकरण से चिन्तन चलता रहेगा तो वासना दृढ़ ही होगी, कमजोर नहीं। अतः अन्तःकरण को भी वहां से हटाना आवश्यक है। विचार पूर्वक जिस पदार्थ में इष्ट बुद्धि हो उसके दोषों का पौनःपुन्येन अनुचिन्तन ही राग निवृत्ति का सफल अस्त्र है। वेदों का स्वाध्याय राग को हटाने का अमोघ उपाय है। जिस प्रकार चलचित्र अकेला ही सारे नरकों में जाने का श्रेष्ठ उपाय है उसी प्रकार स्वर्ग और मोक्ष का वेद विचार ही सर्वोत्तम साधन है। आकस्मिक अनुभव भी वासना का कारण बन जाता है। व्यापारी वर्ग किसी विशिष्ट पदार्थ को कुछ समय के लिये बाजार में लाकर उत्पादन की न्यूनता द्वारा उसकी वासना को बनाये रखते हैं।

मन लाख है, एवं वासना मुहर। जब तक राग-द्वेष की गर्मी से इसे नहीं पिघाला जाता तब तक वासना की छाप नहीं लग सकती। प्रातःकाल समाचार पत्र में अनेक दुर्घटनाओं का पढ़ने पर भी प्रभाव नहीं पड़ता। अपनी पत्नी की मृत्यु का समाचार संदिग्ध सूत्र से सुनने पर भी विह्वलता आ जाती है। इसका कारण भार्या विषयक राग ही है। वासा में बैठे हुए कोठारी के लड़के की आदतों को बिगड़ी हुई सुन कर भी हमारे मन पर विशेष प्रभाव इसीलिये नहीं पड़ता कि हमारा सम्बन्ध है ही कितना। इसी प्रकार जीवन-यात्रा के ९० या १०० वर्ष हैं ही कितने जिनके लिये राग-द्वेप की गठरी उठाई जाय। इतने अल्प समय के लिये किसी पदार्थ की प्राप्ति या अप्राप्ति का फरक ही क्या पड़ सकता है। सर्वथा ममताभिमान शून्य होकर एक अतिथि की तरह रहना ही शान्ति का एक मात्र उपाय है।

सभी पदार्थ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमसे सम्बन्धित हैं जगत् की अयुतसिद्धावयवता अति स्फुट है। फिर भी कुछ चीजों को ही हम अपना मानते हैं। यह अपनापन भी बदलता रहता है। मिश्रित समूह में हम कहते हैं कि हम ब्राह्मण हैं और वे क्षत्रिय हैं। ब्रह्मभोज के समय यह विचारधारा बदल कर हम द्राविड़ हैं अतः

उसी पंक्ति में जाकर बैठते हैं और दूसरे गौड़ हैं। मद्रास में द्रविड़ों के भोजन में हम तामिल हो जाते हैं और वे नम्बूदरी। तामिलियों के समूह में हम ताम्रपर्णी होते हैं वे ग्राम्य। चिदम्बरम् में हम दीक्षित होते हैं और वे अदीक्षित। इस भेद की कोई सीमा नहीं। अन्ततः हमारा शरीर ही हम रह जाते हैं। दूसरी तरफ चीन के आक्रमण काल में ब्राह्मण और क्षत्रिय भी मिलकर भारतीय बन जाते हैं और वे चीनी होते हैं। यदि मंगल ग्रह का आक्रमण हुआ तो अवश्यमेव हम मानव हो जायेंगे और वे मांगलिक। अब प्रश्न है कि हमारा वास्तविक रूप क्या है? यह मानसिक स्थिति विशेष पर निर्भर करता है। विस्तृत दृष्टि वाला केवल मानव या सौर (सूर्य मण्डल का) ही नहीं वरन् अपने आपको ब्रह्म मानता है। संकुचित दृष्टि वाला देह या उसमें भी उदरमात्र को अपना वास्तविक स्वरूप समझता है। लेकिन विचार करने पर पता लगता है कि वह शरीर के अन्दर अपने आप को संकुचित करके रह नहीं पाता। अन्यथा वस्त्र, मकान इत्यादि के द्वारा अपने आप को बड़ा समझने की भावना पैदा न होती। विवाह, पुत्र भी अपने को बढ़ाने की प्रवृत्ति का ही द्योतक है। जब हम संकुचित वृत्ति से सन्तोष नहीं कर पा रहे हैं तो क्यों न अपने विस्तार को असीम बना लें। मनुष्य कहता है मेरे पास दो लाख रुपये हैं परन्तु क्या वस्तुतः वे उसके पास हैं वे तो बैंक के पास हैं। यदि बैंक में रखे हुए रुपये ही मेरे हैं तो रिजर्व बैंक के सारे ही रुपयों को अपना क्यों न मान लिया जाय। आप कहेंगे कि आप उन्हें यहां ला नहीं सकते हैं अतः वे वस्तुतः आपके नहीं हैं। यदि उन्हें लाना ही था तो पूर्व के दो लाख वहां क्यों रख छोड़े हैं? जितने से अपना कार्य चलता है वस्तुतः उतनी ही अपने को आवश्यकता है और वह मिल ही जाता है। कभी कभी कठिनाई तो करोड़पतियों को भी देखी जाती है अन्यथा बड़े मैनेजिंग एजेन्ट रुपये उधार न लेते। कलकत्ते के एक अत्युच्च उद्योगपति की पत्नी अशोक होटल से हमारे पास मिलने आई। वे लोग किसी काम से आये हुए थे ऊपर आते ही कहने

लगी महाराज छोटी सी बात है, मैं अपना मनीबेग भूल आई नीचे टैक्सी खड़ी है पांच रुपये भिजवा दीजिये। रुपये भिजवा दिये लेकिन मन में आया कि इसी प्रकार तो भोजन न होने पर एक दरिद्र व्यक्ति किसी से भोजन की प्रार्थना किया करता है। अतः वह रुपये उन दूसरे रिजर्व बैंक में रखे रुपयों से किसी प्रकार भिन्न नहीं नजर आते। केवल भाव-राज्य में एक सन्तोष है कि हमारे पास दो लाख रुपये हैं। विचारशील अपने भाव-राज्य को विस्तृत करके रिजर्व बैंक के अरबों का मालिक ही नहीं समग्र ब्रह्माण्ड के सारे धन का मालिक बन जाता है। वस्तुतः इस दृष्टि वाले की राग-द्वेष-निवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है और इसी लिये प्रवृत्ति-निवृत्ति का भी अभाव हो जाता है।

कुछ लोगों को भय है कि राग निवृत्त हो जाने पर व्यवहार लोप हो जायेगा। सिद्धान्त दृष्टि से तो यह प्रश्न ही निरर्थक है। व्यवहार का उद्देश्य है आनन्द प्राप्ति। यदि राग-निवृत्ति के द्वारा हमें यह मिल जाता है तो किसी को बुरा क्यों लगता है। अनुभव से तो पता चलता है कि राग व्यवहार का प्रतिबन्धक है। कार्यालय में रुग्ण पुत्र की स्मृति अथवा लावण्यमयी भार्या का चिन्तन कार्य की गति में न्यूनता ही लायेगा। इस राग के बिना हजारों बीमार लड़के और हजारों औरतें कार्य में विघ्न नहीं डालतीं। विचारशील समुपस्थित कार्य में ही रागाभाव के कारण अपनी समस्त शक्तियों को एकाग्र कर लेता है। उसका उद्देश्य है उस क्रिया के द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न करना। अतः उसकी सारी शक्तियां उस समय उसी में केन्द्रित रहेंगी। ब्रह्मसंस्थ की तो परमेश्वर से अभिन्नता होने के कारण स्वकीय स्वातंत्र्य शक्ति के विलास से जन्य परिस्थिति में उल्लास का प्रवाह स्वतः ही होता है। अतः ब्रह्मदृष्टि वासना-क्षय का सर्वोत्तम उपाय है। एवं वेदाध्ययन ही इस पूर्ण दृष्टि को उत्पन्न करता है।

* * * *

अपने पीछे रखा हुआ फूल न सुख देता है न दुःख। आसन्दी (Sofa) के नीचे पड़ा हुआ सांप ऊपर बैठे हुए व्यक्ति पर कोई

प्रभाव नहीं डालता जब तक वह उसे देख न ले। देखते ही मनुष्य उछलता है और चिल्लाता है। अतः पदार्थ नहीं वरन् पदार्थ-ज्ञान सुख दुःख का कारण है। अविद्यमान पदार्थ भी ज्ञान-मात्र से सुख दुःख देता है। वृद्ध कन्या (spinster) पति के प्राप्त होने के विचार-मात्र से प्रसन्न हो जाती है। उनकी इस भावना का दुरुपयोग अनेक लोग धन-संग्रह के लिये करते देखे जाते हैं। कहीं तो ज्ञात भावना भी सुख को उत्पन्न करती है। बांझ गोद लिये हुए पुत्र को यह जानते हुए भी कि वह पुत्र नहीं है पुत्र की भावना से सन्तुष्ट होती है। अतः पदार्थों को सुख दुःख का हेतु मानना अन्धविश्वास मात्र है। इस अन्धविश्वास का कारण जागृत् अवस्था में अधिकतर सुखोत्पत्ति के कुछ क्षण पूर्व तक पदार्थ की उपस्थिति हुआ करती है। पदार्थ की अनुपस्थिति और सुखोत्पत्ति के मध्य का काल इतना स्वल्प होता है कि अविचारशील उसको ग्रहण नहीं कर पाता अतः पदार्थ को ही साक्षात् सुख के प्रति कारण मान लेता है। वस्तुतः पदार्थ की इच्छा, पदार्थ-प्राप्ति में सुख का आधान करती है। एवं इच्छा-निवृत्ति ही दुःख-निवृत्ति होने के कारण सुख रूप से प्रतीत होती है। यदि पदार्थ विषयक इच्छा उत्पन्न न हो तो दुःख-निवृत्ति स्वभाव से ही है इसीलिये श्रुति कहती है 'स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकाम-हतस्य' (ब्रह्मानन्द वल्ली) अर्थात् काम या इच्छा के अभाव वाले श्रोत्रिय को सभी सुख प्राप्त होते हैं।

वस्तुतः इच्छा को वासना उत्पन्न करती है। एवं इच्छा के द्वारा स्पष्ट पदार्थ वासना को उत्पन्न करता है अतः यह चक्र कटता नहीं। पहले कह आये हैं कि वासना का निरोध कैसे किया जाय। वासना की समाप्ति से इच्छा स्वतः निवृत्त हो जाती है। इसी प्रकार इच्छा-निवृत्ति से वासना-निवृत्ति का उपाय भी शास्त्र ने बताया। 'कामेनमाकाम आगन् हृदयात् हृदयं परि। यदमीषामदो मनः तदैतूपमामिह'। (अ० वे० १९/५२/४) में यही बताया है। विषयों की मन के साथ सन्निधि हमेशा नहीं रह सकती। विषयों का निरन्तर परिवर्तन ही इसमें कारण है।

मन की इच्छा अपरिवर्तनीय पदार्थ विषयक यदि करली जाय तो यह सन्निधि नित्य हो सकती है। इच्छा सर्वदा आनन्द की ही होती है। यदि वह नित्य पदार्थ आनन्द हो तो मन की इच्छा भी तद्विषयक नित्य रहेगी। अतः शास्वत आनन्द की इच्छा क्षणिक आनन्द की इच्छाओं को हटा देती है। सदाशिव ही वह शाश्वत आनन्द रूपी विषय है, अतः शिव विषयक इच्छा शिव-प्राप्ति में शान्त हो जाती है और विषय की नित्य सन्निधि के कारण पुनः इच्छा की उत्पत्ति असम्भव है इस प्रकार चक्र कट जाता है। इच्छा-निवृत्ति में विचार या प्रेम दोनों अलग अलग या मिलकर कारण बन सकते हैं। इसी को ज्ञान या भक्ति का नाम परवर्ती साहित्य में दिया गया है। एक में प्रेम सारी अन्य विषयक इच्छाओं को समाप्त कर देता है। अतः शाश्वत आनन्द के प्रति प्रेम क्षणिक आनन्द की इच्छाओं को खत्म कर देता है। इसी प्रकार क्षणिक सुख की अनुपादेयता का विचार भी तद्विषयक इच्छाओं का नाशक है। पदार्थ आदि अन्त वाले हैं, एवं कुछ पदार्थ संयोग में दुःख देते हैं कुछ वियोग में। यदि पुत्र मूर्ख, बेकमाऊ, आवारा है तो जीवित काल में दुःख देता है। यदि विद्वान्, धनार्जक और सुशील है तो मर कर दुःख देगा। धन पास में रहने पर सुख देता है, परन्तु आयकर अधिकारी के सामने अथवा चोर के सामने दुःख देता है। वस्तुतः संसार के पदार्थ आत्म-भिन्न हैं अर्थात् अनात्मा हैं। चूंकि आत्मा शाश्वत और आनन्द है अतः वे स्वरूपतः अनित्य और दुःख रूप हैं। आत्मा अपने सम्बन्ध से ही उनमें सुखरूपता का आधान करता है और आत्म-सम्बन्ध हट जाने पर वे पुनः दुःखरूप हो जाते हैं। सुखरूपता का आधान करने की क्रिया का नाम ही इच्छा है। इस बात को जान कर इच्छा का निरोध सुकर होता है। पदार्थ में सुख-भ्रान्ति इच्छा का कारण है और आत्मा का पदार्थों में सुखदातृत्व रूपी ज्ञान कैवल्य का कारण।

अनादि काल से आज पर्यन्त सभी प्राणी सभी देशों में सभी कालों में पदार्थों का संग्रह करते रहे हैं परन्तु कोई भी संग्रही परम सुखी न हो सका। कहा जाता है कि अलक्ष्येन्द्र ने अपने गुरु से कहा था कि

इन तारों को देखते हुए मझे नींद नहीं आपाती क्यों कि उन्हें देखकर उनको जीतने की कामना फूट पड़ती है। एक मकान बनाओ परन्तु उस मकान में रहते न रहते वह प्रकार पुराना हो जायेगा। दूसरा मकान बनाने पर वहां भी यह दोष आयेगा। अतः विचारशील पदार्थों से दृष्टि को हटा लेता है। वह जानता है कि पदार्थ यदि आज सुख के कारण नहीं तो भविष्य में उनके सुख की कारणता को मानना अन्धविश्वास है। हमारे एक मित्र कहा करते हैं कि जितना रुपया पास में है उनको अभी खर्च करके भोग भोग लो अन्यथा उनसे उपलब्ध भोग दस वर्ष बाद आधे ही रह जायेंगे। इसी प्रकार संग्रह करने वाला व्यक्ति व्यर्थं ही भविष्य के सुख की आशा से आज दुःख भोगता रहता है। आजकल सरकार ने भी नया धर्म चलाया है कहते हैं तुम भूखों मरो ताकि तुम्हारे पोतों को सुख मिलेगा। यदि कहीं अणु-युद्ध आ गया तो हमने जिन पोतों के लिये दुःख भोगा वे इस संसार में आयेंगे ही नहीं। ऐसे ऐसे अन्धविश्वासों को बढ़ा कर जन-मानस को निरन्तर दुःख की भट्टी में जलाया जाता है। वैदिक धर्म जीवन के प्रति-क्षण को आनन्दमय बनाने में विश्वास करता है। चूंकि यह पदार्थ-प्राप्ति से सम्भव नहीं अतः वह इच्छा-निवृत्ति का आदर्श रखता है। पदार्थ काल में पदार्थों में सुख का आधान करके उस आनन्द को ग्रहण किया जाय एवं पदार्थाभाव काल में उस आनन्द को पुनः अपने में इच्छा-निवृत्ति के द्वारा लीन कर लिया जाय तभी प्रति-क्षण आनन्द होगा। यदि योगी की तरह केवल पदार्थ-निवृत्ति को सुख का कारण माना जायेगा तो पदार्थ-प्राप्ति काल में विक्षेप-जन्य दुःख अवश्यम्भावी होगा। इसी प्रकार पदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धि पहले से निश्चय करली जायेगी तो अनिष्ट प्राप्ति काल में दुःख होगा। अतः जिस काल में जो पदार्थ भुज्यमान परिधि में आवे उसे इच्छा का विषय बना कर सुख का साधन कर लिया जाय। एवं सर्व पदार्थाभाव काल में उसी इच्छा को अपने में लीन करके ही नित्य आनन्द का अनुभव किया जा सकता है। 'प्रवृत्तिं वा निवृत्तिं वा न कटाक्षेण वीक्षते' कह कर भगवान् सुरेश्वराचार्य इसी आदर्श को सामने रखते हैं।

मनुष्य की विचार-शक्ति की अदृढ़ता एवं पदार्थों के सुख-बुद्धि की स्वाभाविकता का मूल धर्म-विरुद्ध आचरण है। अधर्म से विचार शक्ति कमजोर होती है। एवं पापों के फलस्वरूप पदार्थों का अभाव बढ़ता जाता हैं और जितना अभाव बढ़ता है उतनी ही कामना बढ़ती है। हलवाई की दूकान में रहने वाले को मिठाई की अधिक इच्छा नहीं होती। छापाखाने के मालिकों का परिचय-पत्र साधारण से भी न्यून कोटि का छपा करता है। अनेक बार संन्यासी लोग शिकायत करते हैं कि गृहत्याग के पूर्व जितना साधना का वेग था वह गृहत्याग के बाद कम हो गया। यहां भी अवसर की पूर्ण प्राप्ति ही कारण है। इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से व्यापारी वर्ग ने सबसे ज्यादा लाभ उठाया है। वह किसी भी पदार्थ को बाजार में इतना नहीं आने देता कि लोगों की तृप्ति हो जाय। पुण्य-बहुलता से पदार्थों की बहुलता अतः इच्छा की न्यूनता हो जाती है। एक बहुत बड़े व्यापारी के पुत्र का विवाह था। लड़की वालों ने कई तरह की मिठाइयां बनाईं। लड़के का पिता अत्यन्त नाराज हो कर कहने लगा ये क्या ब्राह्मणों का तमाशा बना रखा है? दो मिठाइयां और दो नमकीन काफी हैं। परन्तु सामान्य घरों में ठीक इसके विपरीत झगड़ा होता है कि पदार्थ इतने कम क्यों बने? पुण्य के फलस्वरूप सत्व गुण की वृद्धि के कारण विचार-शक्ति की तीव्रता तो अतिस्फुट है। शास्त्रों में यद्यपि धर्म को पुण्य-लोक स्वर्गादि की प्राप्ति का कारण माना है तथापि बुद्धि की तीव्रता ही इसका सबसे बड़ा लाभ है। विचार या प्रेम के मार्ग में चलने वाले को इसीलिये सर्वप्रथम पाप प्रवृत्तियों को छोड़ कर पुण्य का मार्ग अपनाना चाहिये। पाप मनुष्य का स्वभाव नहीं है वरन् काम-क्रोध-लोभ से जन्य है। अतः इनका परित्याग ही प्रधान धर्म है, इन धर्मों के पालन से ज्ञान के द्वारा शाश्वत आनन्द अवश्यम्भावी है।

* * * *

विचार के लिये शुद्ध कर्म की आवश्यकता साधारणतः आधुनिक

मनुष्य की समझ में नहीं आती। सम्भवतः इसीलिये आजकल एक नया वेदान्त चल पड़ा है, जिसने अपने आपको कर्म-निरपेक्ष कहना प्रारम्भ कर लिया है। वेदान्त वेद का सिद्धान्त है इसकी जगह नवीनों ने वेदान्त को वेद का अन्त या मृत्यु मान रखा है। कुछ लोग तो प्रकरण अप्रकरण से उठाकर उपनिषदों के कई मंत्रों में वेदविरुद्धता भी देखते हैं। इस भ्रम का पोषण पाश्चात्य प्राच्यविदों ने पूर्णरूप से किया। परन्तु ये सभी विचारधारा इसीलिये गलत सिद्ध होती हैं कि उपनिषद न तो वेद के अन्त में ही आती हैं और न वेद से भिन्न उपलब्ध होती हैं। उपनिषदें कहीं वेद की संहिता के बीच में और कहीं ब्राह्मणों के बीच में आते हैं। उनके आगे भी कर्मकाण्ड या उपासना का वर्णन आता है। इस हालत में उनके स्वतंत्र सिद्धान्तता का समर्थन सर्वथा अनुचित है। भगवान् भाष्यकार इसीलिये वेद स्वाध्याय को वेदान्त विचार के प्रति सामान्य कारण मानते हैं। 'स्वाध्यायानन्तर्यंतु समानं।' (ब्र० सू० १।१।१) वेद में धर्म एवं ब्रह्म दोनों का ही प्रतिपादन सर्वत्र है। सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् (मु०) तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन, (बृ० आ०) व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणां। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्य माप्यते। (वा० सं १९।३०) यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तां अन्वविन्दन् ऋषिषुः प्रविष्टान् (ऋ० १०।७१।३) इत्यादिमंत्र एवं ब्राह्मण दोनों ही धर्म को ब्रह्म के प्रति निश्चित कारण मानते हैं। अतः इनका सम्बन्ध दूर करने का प्रयास व्यर्थ ही नहीं घातक भी है। आज वेदान्त का बार बार विचार करने पर भी ज्ञान की दृढ़ता इसीलिये नहीं आ पाती कि पुण्यों को आचरित नहीं किया गया है। यह सत्य है कि वेद-स्वाध्याय का पूर्णतः साफल्य ब्रह्म-ज्ञान में ही है परन्तु उससे भी अधिक यह सत्य है कि वेद का अध्ययन किये बिना ब्रह्म-ज्ञान में स्थित होना असम्भव ही नहीं पाखण्ड भी बन जाता है।

यद्यपि वेद में शुद्धि के लिये अनेक कर्मों का प्रतिपादन है तथापि

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् । (या० स्मृ०)

अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, शौच, इन्द्रियों का निग्रह, दान, अन्तःकरण का शमन, क्षमा ये नौ ही परमेश्वर प्राप्ति के लिये प्रधान धर्म माने गये हैं । इनसे युक्त होकर जो निरन्तर वेदाध्ययन में रत रहता है, वह अवश्य ही विचार की पुष्टि को प्राप्त कर सदाशिव को पा लेता है ।

वस्तुतः तीन वेद पारायणों से समग्र पापों की निवृत्ति बतलाई गई है परन्तु यह वेद पारायण विधिवत् होना चाहिये । याज्ञवल्क्य कहते हैं 'वाक्प्रपञ्चं तुयत् स्थूलं शब्द ब्रह्म महत् परं त्रिवर्ग फलदं ज्ञेयं यदि सम्यगधीयते ।' (या० स्मृ०) अर्थात् वेद की शब्द राशि का विधिवत् अध्ययन धर्म अर्थ काम तीनों को देता है । आगे कहते हैं 'त्रिर्वृत्तपूर्णपृथिवीदानस्य फलमश्नुते तपसश्च परस्येह नित्यं स्वाध्यायवान् द्विजः' अर्थात् सारी पृथिवी को धन धान्य जलादि से पूर्ण करके दान करने का जो फल मिलता है अथवा सारे तपों का जो फल है वह वेद-स्वाध्याय करने वाला प्रतिदिन प्राप्त कर लेता है । अतः इसके द्वारा चित्त को शुद्ध करके विचार-शक्ति को दृढ़ करके आत्म-ज्ञान प्राप्त करने से ही ज्ञान स्थिर होता है । अन्यथा जिस प्रकार ऊंट अपने ऊपर लदे हुए कुंकुम की कीमत को नहीं जानता उसी प्रकार वेदान्त की प्रक्रियाओं को याद करने पर भी उनसे होने वाले ब्रह्मानन्द को नहीं जानता ।

दो शिष्य थे उनमें से एक जल्दी से पाठ पढ़ के चला जाता था । दूसरा देर तक पढ़ता रहता था । स्त्रियां स्वभाव से ही कमजोर का पक्ष लिया करती हैं । अतः गुरुपत्नी ने अपने पति से शिकायत की कि आप भेद भाव से पढ़ाते हैं । दोनों को बराबर समय क्यों नहीं देते ? गुरु ने कई बार समझाया कि मैं योग्यता के अनुसार व्यवहार करता हूं परन्तु पत्नी को न जंचा । रोज का यह झगड़ा मिटाने के लिये गुरुजी ने एक दिन पत्नी से कहा देखो तुम्हें परीक्षा करके बत-

लाता हूं । आज जब शिष्य आवे तो उससे कहना कि गुरुजी की कमर में गिरगिट घुस गया है । कम समय बैठने वाला शिष्य पहले आया । पत्नी ने वैसा ही कहा । शिष्य ने पूछा फिर तो आज पाठ की सम्भावना नहीं है ? पत्नी के 'हां' कहने पर चला गया । जब दूसरा शिष्य आया और पत्नी ने वही बात कही तो उसने पूछा गिरगिट कमर में कैसे घुस सकता है, बात समझ में नहीं आ रही, गुरुजी हैं कहां ? पत्नी ने कहा डाक्टर के यहां गये हैं । उसने पूछा कौन से डाक्टर के यहां गये हैं जाकर देखें कमर में गिरगिट कैसे घुस सकता है ? पत्नी ने कहा चिकित्सक का नाम तो मुझे बताया नहीं, पता नहीं कहां गये हैं । शिष्य ने कहा कम से कम किस दिशा में गये हैं, यही बताओ उधर ही जाकर के पता लगाया जाय । गुरुजी अन्दर से बोल पड़े 'बेटा आ रहा हूं, ये तो केवल तेरी माता को समझाने का तरीका था ।' तब गुरु-पत्नी की समझ में आया कि गुरु पक्षपाती न थे, वरन प्रथम शिष्य की अयोग्यता के कारण ही उसे पढ़ाना व्यर्थ था । इसी प्रकार मननशील को श्रुति नित्य नवीन अर्थों का प्राकट्य करती है । जो अविचारशील हैं उनके सामने अपना घूंघट नहीं खोलती ।

*　　　*　　　*　　　*

कुछ लोग सोचते हैं यदि ध्यान एवं ज्ञान ही मुख्य साधन हैं तो वाह्य पूजा की क्या आवश्यकता है । परन्तु पूजा केवल वाह्य ही नहीं मानसिक भी होती है । सत्संग की शक्ति से जिनका चित्त अत्यन्त शुद्ध हो गया है एवं स्वभावतः उसमें सत्व गुण की पुष्कलता हो गई है उसकी अन्तर्निहित भावनायें शुद्ध हो जाती हैं । ऐसे व्यक्ति मानस पूजा कर सकते हैं । उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणः रूपकल्पना । बिना किसी मूर्ति के पूजा असम्भव है । यद्यपि एक स्थिति ऐसी भी आती है जब 'जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्रा विरचना गतिः प्रादक्षिण्यं क्रमणमशनाद्याहुतिविधिः प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पण दृशा स पर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम् ।' (सौ० ल० २७)

अर्थात् जो कुछ मैं बोलूं वह जप, मेरी सारी हस्तकलायें मुद्रायें, घूमना प्रदक्षिणा, भोजन यज्ञ, सोना प्रणाम, एवं सारे विलास आपका पूजन हो जाँय। परन्तु इस स्थिति को लाने के लिये प्रमाद छोड़कर नियम-बद्धरूप से पूजा आवश्यक होती है। मानस पूजा में मानस ही मूर्ति होती है परन्तु नियम बद्धता यदि न रखी जाय तो मनुष्य हमेशा टालने पर जोर देता है। इस टालने को ही मृत्यु समझना चाहिये। सनत्सुजातीय में कहा है 'प्रमादोवै मृत्युमहं ब्रवीमि'।

मनुष्य कहता है मुझे जप ध्यानादि के लिये समय नहीं मिलता। परन्तु जब लड़का पैदा होता है तो प्रतिदिन घंटों उसके नहलाने धुलाने में लगाये जाते हैं। इसी प्रकार वेद का अध्ययन कठिन मालूम पड़ता है परन्तु अंग्रेजी की गपड़चौथ सीख जाता है। अतः नियम किया गया कि वेदाध्ययन, जप, ध्यानादि नित्य-कर्म हैं। जैसे धन कमाने के लिये अंग्रेजी को जरूरी समझते हो, एवं लड़के को बड़ा करना कर्तव्य समझते हो, उसी प्रकार ये सब जरूरी कर्तव्य हैं। दैनिक पूजा न केवल किसी प्रकार से बेगार टालने का साधन है बल्कि शान्ति पूर्वक करने का नियम है। मानसिक पूजा में तो यह और भी अधिक आवश्यक है। वस्तुतस्तु जब तक मन अपेक्षतया शान्त न हो जाय तब तक मानस पूजा सम्भव ही नहीं। वाह्य पूजा स्थूल क्रियाधीन होने के कारण अति चंचल मन को भी एकाग्र कर देती है। निर्गुण ब्रह्म तीव्र वैराग्यवान् के लिये मोक्ष साधन भले ही हो परन्तु जो केवल ब्रह्म को चाहता हो ऐसे लोग संसार में दुर्लभ ही नहीं, सर्वथा नहीं हैं कहने से भी चलेगा। शिव के सगुण रूप की उपासना निष्काम-सकाम सभी कर सकते हैं। स मे कामान् कामकामाय धेहि कामेश्वरो वै श्रवणो ददातु। (य० वे०) के द्वारा वेद उसे सर्व कामप्रदाता बता रहा है। अतः सारी भावनाओं को उसमें केन्द्रित करना अत्यन्त सरल है। गीता भी उन्हें 'उदाराः सर्व एवैते' कहकर सकामी निष्कामी, ज्ञानी, जिज्ञासु, दुःखी सभी भक्तों को उदार बतलाती है। अतः परमेश्वर पूजन के

द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होकर स्थूल पदार्थों से सूक्ष्म पदार्थों की तरफ जाकर अन्ततः परम अणु सदाशिव को प्राप्त कर लेता है। शिव के हाथ का सर्प प्रथम केवल सर्प है। वही बाद में हमारा मन बन जाता है। तब परमेश्वर के हाथ में अपने मन के समर्पण का भाव ही वास्तविक शिव का अंग है ऐसा पता लगता है।

इसी प्रकार वाचिक पूजा भी होती है। वाचिक पूजा दो प्रकार की है। श्रवण रूप और कथन रूप। वस्तुतः संसार विषयक पदार्थों के श्रवण से जितना हमारा बन्धन होता है उतना संसार के पदार्थों से नहीं। परमाणु युद्ध के विषय में अखबारों में सुन सुन करके गत १५ वर्षों से हमारे मन में भय हो रहा है जब कि सम्भव है कि अणु युद्ध कभी होगा ही नहीं। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद इसी प्रकार से दुर्वायु (gas) युद्ध से लोग भयभीत रहा करते थे। बिना मरे ही हम कई मौत मरते रहते हैं, ऐसा किसी ईसाई विचारक का कथन है। इसी प्रकार समाचार पत्रों में विज्ञापन को पढ़ पढ़ कर हमें पदार्थों के प्रति स्पृहा उत्पन्न होती रहती हैं। इटावे में बैठे हुए अशोक होटल अथवा दिल्ली में बैठे हुए न्यूयार्क की इच्छा भी इसी कोटि की है। अतः विचारक तो आंखों की अपेक्षा कानों के बंधन को बड़ा मानता है। यदि सदाशिव के विषय में ही निरन्तर श्रवण किया जाय तो तद् विषयक तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। अतः वेदों में शिव विषयक श्रवण को भी पूजा ही माना है। उपनिषदों में तो श्रवण रूपी पूजा को ही सबसे बड़ी प्रधानता दी गई है।

श्रवणायापि बहुभिर्योनलभ्यः (क० उ०)। जिस प्रकार पालने में पड़ा हुआ बच्चा रंगीन कागजों से खेलता रहता है, कुछ बड़ा होने पर खिलौनों के बगैर उसका जी नहीं मानता, बड़े होने पर चाबी से चलने वाले खिलौनों की अपेक्षा होती है और बाद में बोलने चालने वाले साथी बच्चों की जरूरत महसूस करता है। युवावस्था में नित्य नवीन साड़ियां और गहने चाहिये लेकिन जब विचार उत्पन्न

होता है तो ये सब चीजें रंगीन कागज से ज्यादा महत्व की नहीं मालूम पड़तीं क्योंकि तत् तत् अवस्थाओं में तत् तत् पदार्थों से जो सुख हुआ उसमें कोई भेद नहीं। जिस प्रकार सुख उत्पन्न करने वाले साधनों में समान शक्ति है उसी प्रकार वेद में कोई भेद न होने पर भी उनके अर्थों में श्रवण के अवस्था भेद से भेद होता जाता है। प्रारम्भ में वेद मंत्रों की ध्वनि ही सुख प्रद मालूम पड़ती है। बाद में उनका एक संग्रथित अर्थ सामने आने लगता है और तब उनका पारस्परिक क्रम ज्ञान सुख-प्रद हो जाता है। फिर वेदों का देवता विषयक ज्ञान स्फुट होता है और तब अंग रूपी देवताओं के द्वारा अंगी परमेश्वर का भान होता है। अन्ततः उस परमेश्वर का अपने से अभिन्न अनुभव समग्र अविद्या को नष्ट कर देता है और तब सुख रूप में स्थिति हो जाती है। इस प्रकार वेद-श्रवण सभी अवस्थाओं में वाचिक पूजा रूप से कर्तव्य है। मनु तो और कुछ करे या न करे सारे प्राणियों के प्रति मित्रता का भाव रख करके वेद-पाठ मात्र से मुक्ति स्वीकारते हैं। आज के युग में जबकि स्वतः वेदाध्ययन करना सामान्य जन को कठिन मालूम पड़ता है, श्रवणात्मक पूजन को अधिक प्रधानता मिलनी ही चाहिये।

श्रवण करते करते विचार अवश्य ही उत्पन्न होता है। यह संसार एक खिलौना है जिसकी इच्छा छोटे छोटे बच्चों को ही हो सकती है। वैराग्यरागरसिको भवभक्तिनिष्ठः। वैराग्य राग का रसिक होने पर शंकर की भक्ति में निष्ठा अवश्य प्राप्त होती है। जिसको एक बार शिव का रसास्वाद मिल गया वह फिर संसार के फीके रसों को नहीं चाख सकता। वैराग्य का रस केवल सत्संग से ही प्राप्त हो सकता है। अतः जिन्हें ब्रह्मनिष्ठों का संग मिल जाता है उनके लिये यह मार्ग सरलतम है। देवर्षि नारद कहते हैं कि सत्संग यद्यपि दुर्लभ है फिर भी मिलने पर अमोघ है। परन्तु सत्संग करना नियम से चाहिये तभी दृढ़ता आती है। कबीर ने तो सत्संग के ही रस में मोक्ष को भी अल्प माना है। जब वे मरने लगे तो रोने लगे। लोगों को बड़ा आश्चर्य

हुआ कि इतने बड़े भक्त कैसे रो रहे हैं कबीर बोल उठे, अरे मैं शरीर छोड़ने से थोड़े ही डर रहा हूं। दास कबीर जतन सों ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया। झीनी झीनी बीनी चदरिया॥ परन्तु मुझे दुःख तो इस बात का है कि मृत्यु के बाद सत्संग नहीं मिलेगा। महर्षि लोमश कहते हैं कि यह शरीर एक धर्मशाला है जिसमें जीवन भर ठहरने का ही नियम है। पास में ही बुद्धि रूपी गुफा में भूमानन्द रूपी धन पड़ा हुआ है। जिस प्रकार कोई चोर पास के कमरे में रखे हुए धन के लिये लालायित रहते हुए अपने औजार लाकर जल्दी से जल्दी धन निकाल लेना चाहता है उसी प्रकार साधक यदि एक बार अन्तः स्थित आनन्द का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो फिर उसके लिये शान्त बैठना असम्भव हो जाता है। इन्द्रिय रूपी दरवाजों को बन्द कर श्रवण, चिन्तन आदि औजारों के द्वारा किसी न किसी प्रकार उस धन को पाना चाहता है। धन मिलने पर ही उसको शान्ति होती है। यदि उसमें यह उत्सुकता नहीं है तो अभी उसको भूमानन्द का पूरा पता ही नहीं है। इस तीव्र उत्सुकता से अन्य सारी इच्छायें निवृत्त होकर केवल शिवेच्छा ही रह जाती है। यह संसार एक कोयले की दूकान है। इसमें काम करने वाले को प्रति दिन साबुन लगा कर नहाना पड़ता है। साधारण आदमी केवल सोमवार को स्वफेन लगा कर भी साफ रह सकता है परन्तु कोयले की दूकान में काम करने वाला नहीं। सत्संग रूपी साबुन लगाने वाला ही संसार के व्यवहारों से साफ रह सकता है।

* * * *

श्रवण की तरह ही परमात्म विषयक कथन भी परमात्म पूजन ही है। दृष्ट्वा च सर्व शास्त्राणि विचार्यैव पुनः पुनः इदमेकं सुनिष्पन्नं कीर्तनीयो महेश्वरः। सारे शास्त्रों का पाठ एवं विचार करके उनसे यही एक सार तत्व निकला कि महेश्वर विषयक कथन ही सबसे बड़ा कर्त्तव्य है। स्वयं वेद भी कहता है 'स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'। वेद अध्ययन एवं वेद-प्रवचन से कभी प्रमाद न करे, (तै० उ०

शिक्षा वल्ली ११/२)। वस्तुतः कहने में सुनने की अपेक्षा अधिक चित्त एकाग्र करना पड़ता है। कितना समझा गया है यह भी कहने से पता चल जाता है। कथन से मनुष्य की आसक्ति का भी पता लग जाता है। शेयर खरीद लेने पर मनुष्य मौका लगते ही शेयर विषयक बातचीत करने लगता है। व्यापारी को कर बढ़ जाने पर निरन्तर कर विषयक ही बातचीत करते देखते हैं। जिस विषय में आसक्ति होती है वह कथन द्वारा फूट पड़ती है। इसी प्रकार किसी भी व्यक्ति का वास्तविक चरित्र जानना हो तो उसको खुल कर बातचीत करने दो। धन प्रेमी चाहे जितनी शास्त्रीय बात करे अन्त में धन के विषय पर आ जायेगा और पुनः घूम फिर कर शास्त्र विषय पर कभी नहीं पहुंचेगा। हमारे एक मित्र बंगलौर में वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित हैं। जब कभी उनसे बातचीत करने का मौका मिलता है तो कुछ देर खण्डन अथवा चित्सुखी का प्रकरण चलता है। परन्तु शीघ्र ही वे अपने भिन्न भिन्न लड़कों की भिन्न भिन्न नौकरियों और वहां की तरक्कियों की बात करने लग जाते हैं और वह चर्चा कभी समाप्त होती ही नहीं। इसी प्रकार जिस की आसक्ति शिव में होगी वह इधर उधर कुछ बात करेगा भी तो अन्त में शिव की ही बात करने लगेगा और उसकी कभी समाप्ति ही नहीं होगी। वाणी मन का निश्चित प्रतिबिम्ब होती है। जिस प्रकार मनुष्य के मुख खोलते ही कस्तूरी, इलायची, मूली, लहसेन आदि व्यक्ति का खाद्य तुरन्त प्रकट हो जाता है उसी प्रकार वाणी के द्वारा मन का स्तर प्रकट होता है। यदि पिघले हुए धातु को राक्षस के सांचे में डाल दिया जाय तो वह राक्षस की मूर्ति बन जाती है; और यदि दुर्गा में डाल दिया जाता है तो दुर्गा की मूर्ति बन जाती है। इस में न सांचे का दोष है न धातु का। परन्तु डालने वाला ही जिम्मेवार है। इसी प्रकार इच्छा के द्वारा पिघला हुआ मन संसार रूपी सांचे में डालने पर संसार बन जाता है और ब्रह्म के सांचे में डालने से ब्रह्म बन जाता है। मन को डालने का सबसे सुन्दर तरीका वाणी के द्वारा अभिव्यक्ति है।

परमेश्वर विषयक कथन के लिये न कोई विशिष्ट आसन उपयोगी है न देश, न काल। पवित्रता अपवित्रता का भी नियम नहीं। किसी भी प्रकार किया जाय, यहां तक कि श्रद्धा भक्ति से रहित करने पर भी अपना फल उत्पन्न कर देता है। वेद का उच्च स्वर से पाठ अथवा उसके अर्थों का कथन या तत्सम्बन्धी विचारों का उद्भव सभी इसी कोटि के हैं। श्रुति कहती है सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति वचांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति (क० उ०) सारे वेदों के द्वारा उसी परमात्मा का वर्णन किया जाता है एवं सारी ही वाणियां उसी का प्रतिपादन करती हैं। 'अन्यां वाचां विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः' (मु०२/२/५) बाकी सब प्रकार की बातों को छोड़ कर परमात्म विषयक वार्ता ही करनी चाहिये क्योंकि वही अमृत-प्राप्ति का पुल है।

वस्तुतः चित्त में संस्कारों की अभिवृद्धि से एक ऐसा स्तर आता है जब हमारी आन्तरिक विचार धारा फूट निकलना चाहती है। यही कथन का उत्तम क्षण है। प्रायः मनुष्य इसलिये भगवत्सम्बन्धी कथन करता है कि उस समय उसे कर्तव्य समझता है। कर्त्तव्य रूप से पाठ किया जा सकता है, कथन नहीं। चित्त को जितना ही हम भाव साम्राज्य में डुबा देते हैं उतना ही गीले कपड़े की तरह चित्त चूने लगता है। इसी लिये देखा जाता है कि एक ही युक्ति एवं एक ही प्रकार से कहे हुए वाक्य का व्यक्ति-भेद से भेद हो जाता है। नेहरू जी के भाषण को रट कर कोई भी उसे बोल सकता है परन्तु उसका प्रभाव नेहरू जी के ही मुख में था। ब्रह्म सम्बन्धी कथन में तो यह और भी सत्य है क्यों कि अदृष्ट फल वाला होने के कारण उसमें कथक की श्रद्धा ही प्रधान हेतु हो जाती है। इतना ही नहीं श्रोता के अन्तःकरण की स्थिति का प्रभाव वक्ता के अन्तःकरण पर अवश्यंभावी है। इसीलिये बुद्धिमान लोग अपने श्रोतृवर्ग का चुनाव करते हैं। यद्यपि आज के युग में मिथ्या जनवाद के नाम पर प्रत्येक व्यक्ति अपने को सभी विषयों का अधिकारी समझने लग गया है और छपी पुस्तकें पढ़ कर अपने आप को विद्वान् भी समझने लग गया है लेकिन विद्या

ऐसे लोगों से हरम की बीवी की तरह छिपी ही रहती है । अतः जब मनुष्य उन भावनाओं को अपने जीवन और चिन्तन का अभिन्न अंग बना लेता है तब उन्हें सबके सामने प्रकट नहीं करता वरन् योग्य अधिकारी के सामने ही बतलाता है । एक मित्र को यह बताने पर कि अच्छे संस्था की भागीदारी का प्रमाण पत्र (Share certificate) खरीद लेने पर काफी लाभ हो जाता है उन्होंने केवल पांच प्रमाण पत्र खरीदने का निर्णय किया । उन पर जब लब्धि आई तो सरकारी नियम के अनुसार छै रुपये कट गये । उन्हें बड़ा दुःख हुआ । जब बताने वाले से उन्होंने बार बार जिक्र किया तो उन्होंने सोचा कि अनधिकारी को बात बताने का यही परिणाम होता है । शिव-ज्ञानी जब किसी को ब्रह्म सम्बन्धी बात बताता है तो उसकी दृष्टि उसके सारे जीवन-क्रम को बदलने की होती है । अनधिकारी पांच प्रमाण पत्रों की तरह केवल पांच दस मिनट ही इस कार्य में लगाना चाहता है । प्रथम-प्रथम तो उसे कुछ आनन्द आता है, पर जब आनन्द में कमी होने लगती है तो वह ज्ञानी के उपायों पर ही दोष लगाने लगता है । स्वयं निरुक्तकार ने भी "विद्याह वै ब्राह्मणमाजगामं गोपाय मा शेवधिष्ठेहमस्मि ।" कह कर इसी बात को स्फुट किया है । गीता के अन्त में कृष्ण ने भी 'इदं ते नातपस्काय ना भक्ताय कदाचन न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति' कह कर यही सूचित किया है कि इस ज्ञान को ऐसे व्यक्ति को नहीं देना चाहिये जो मुझसे द्वेष करता है, एवं न तो विचार करता है, न भक्ति, न शुश्रूषा ही करता है । अधिकारी के प्रति कथन करने से स्वयं अपने विचारों में भी धीरे धीरे परिष्कार आता जाता है । अतः आचार्य विद्यारण्य स्वामी तच्चिन्तनं तत्कथनं कह कर साधक के लिये चिन्तन के बाद कथन का विधान करते हैं । लेकिन इस कथन में और अधिकारी के उपदेश रूपी कथन में बहुत बड़ा फर्क है । यहां स्वज्ञान की वृद्धि और परिष्कार ही कथन का फल है । श्रोता में उस ज्ञान का संचार आनुषंगिक फल है । इसके विपरीत ब्रह्मनिष्ठ के कथन में दूसरे के अन्दर ज्ञान का संचार ही

प्रधान उद्देश्य है। साधक को इसी लिये समान साधना वालों के साथ ही कथनोपकथन करना चाहिये जिससे उसका भाव पुष्ट होता चला जाय परन्तु सिद्ध सभी को तत् तत् अधिकार के अनुरूप स्वभाव से ही उपदेश करता-है। भगवान् शंकर भगवत्पादाचार्य जीवन्मुक्तानन्द, लहरी में इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं निराकारं क्वापि क्वचिदपि च साकारममलम् निजं शैवं रूपं विविधगुणभेदेन बहुधा कदाश्चर्यं पश्यन् किमिदमिति दृश्यन्नपि कदा मुनिर्न व्यामोहं भजति गुरुदीक्षा क्षततमाः। (जी०मु० १५) कभी कहीं पर निराकार के प्रतिपादन में रत है तो कभी अपने निर्मल साकार रूप को ही वर्णन करता है। अनेकों कार्य भेद से बहुत प्रकार के अपने ही शिव रूप का विस्तार करते हुए कभी आश्चर्य भी करता है कभी प्रसन्न भी होता है। परन्तु गुरु की दीक्षा के द्वारा जिसका अज्ञानान्धकार नष्ट होगया है ऐसा परमहंस संन्यासी फिर कभी भी मोह को प्राप्त नहीं होता। चूंकि सिद्ध का मन स्थित होगया होता है इस लिये वह सर्वत्र समदृष्टि से केवल शिव का ही आस्वादन कर सकता है लेकिन साधक का निश्चय दृढ़ न होने के करण अपनी साधन धारा के प्रतिकूल धारा का संग भ्रम उत्पन्न करके उत्पथगामी बना देता है। वेदान्ती न्याय की युक्तियों से भ्रम में पड़ सकता है एवं अनीश्वर-वादियों के युक्तिवाद में ईश्वरवादी अपनी आस्था को खो बैठता है। अतः प्रारम्भिक साधक को अपने संग का बुद्धिमत्ता पूर्वक चुनाव करना चहिये। बहुत बार परमेश्वर विषयक कथन के लोभ से साधक सब प्रकार के लोगों को एकत्रित कर लेता है जो उसकी साधना के लिये हानिकारक ही नहीं अन्ततः साधना को समाप्त भी कर देता है।

* * * *

सफेद कपड़ा रंग में डाल देने पर सर्वथा भिन्न प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार मनुष्य का मन राग से आक्रान्त होकर अपने रंग को बदल देता है। जिस प्रकार रंगीन कांच के द्वारा दृष्ट पदार्थ रंगीन

दीखते हैं उसी प्रकार राग से आक्रान्त अन्तःकरण के द्वारा दृष्ट पदार्थ जैसे हैं उससे भिन्न प्रतीत होते हैं। यह रंग ही दोष रूपी होने के कारण रज भी कहा जाता है। जो पदार्थों के दर्शन को बिल्कुल ही प्रतिबद्ध करदे उसे अन्धकार रूप होने के कारण तम कहते हैं। इन दोनों के द्वारा ही पदार्थों का स्वरूप ज्ञान नहीं हो पाता। वस्तुतस्तु यह कोई पदार्थ नहीं है। ज्येष्ठ मास की चिलचिलाती धूप में से कमरे में आने पर कुछ नहीं दिखाई देता अतः व्यक्ति कहता है यहां अंधेरा है; अथवा मिश्री की डली खाने के वाद लड्डू फीका लगता है। यहां पर कोई अन्धकार या कम मीठा पदार्थ नहीं है परन्तु प्रबल प्रतियोगी के कारण ऐसी प्रतीति होती है। यह तम कहा गया है। घोर अन्धकार की रात्रि के तम को तामिस्र कहते हैं। तम में थोड़ी देर के वाद पदार्थ स्पष्ट दिखाई देते हैं। तामिस्र में वर्षों रहने के वाद भी स्पष्टता नहीं आती। शोक मोहादिक इसी लिये तामिस्र माने गये हैं। जैसे आजकल के लोग अखाद्य अपेय के विषय में चाहे जितना समझाया जाय समझ ही नहीं सकते। कुछ वर्ष पूर्व तक मांस खाने या शराब पीने वाला छिप कर पीता था, अब सभ्य आदमियों की गोष्ठी में जाने पर अनिच्छु भी सभ्यता के नाते पीता है। शराब, मांस और परदाराओं के साथ नृत्य ही आज की सभ्यता का प्रतीक है। आश्चर्य है कि सांप और मेढक के खाजाने का युग आने पर भी भोजन की समस्या हल नहीं हो पारही है। ऐसे लोगों को मरणक्षण पर्यन्त भी अपनी गलती समझ में नहीं आती और वे अपनी मान्यताओं से स्वयं भी मरते हैं और अपने स्वदेश वासियों को भी मारते हैं।

विवाद तम है और अतिवाद तामिस्र। वाद में तत्व निर्णय किया जाता है। विवाद में स्वपक्ष को पुष्ट किया जाता है। अतः कभी न कभी विवाद से वाद में गति हो सकती है परन्तु अतिवादी केवल समय नष्ट करके न अपने पक्ष को पुष्ट करता है न दूसरे के ही पक्ष को समझना चाहता है। अतः विज्ञान से राजनीति, वहां से चिकित्साशास्त्र, धर्मशास्त्र,

दर्शनशास्त्र, आदि किन्हीं भी विषयों में घूमता रहता है। न तो किसी शास्त्र का ज्ञान ही प्राप्त करता है न तद् विषयक साधना ही। आज के लोगों ने तो अपने समग्र ज्ञान का साधन केवल दैनिक पत्र बना रखा है। बड़े से बड़ा झूठ वहां छप जाने से सच बन जाता है। आज तो केवल अपनी बुद्धि शक्ति को ही अतिवाद में नष्ट नहीं किया जा रहा है वरन् अति आलस्य के कारण शारीरिक शक्ति भी नष्ट हो रही है। जो जितना बैठा रहता है उसे उतना ही अधिक बड़ा आदमी माना जाता है। सरकारी कर्मचारियों में तो पीयूनों की संख्या से ही पद मर्यादा का निर्णय होता है। काम से जितनी अधिक छुट्टी मिले एवं जितना अधिक कार्यों को करने के लिये यन्त्र तुम्हारे पास हों उतनी ही अधिक उन्नति मानी जाती है। आज घर में आटा पीसने की जगह मिल का आटा खाया जाता है एवं दही से घी निकालने की जगह फैक्ट्रियों में मूंगफली के तेल से घी बनाया जाता है। दूध और मट्ठे की जगह कॉफी, कोको और ओवल्टीन ले चुका है। देहली में पानी चाहे दुर्लभ हो जाय शरबत की दूकानों में कोका कोला की कमी कभी नहीं देखी जाती। हमें चाहे अन्न उत्पन्न करने की जमीन में तमाखू और जूट उत्पन्न करके ही विदेशी मुद्रा क्यों न कमानी पड़े विदेशी शराब और लिपस्टिक के बिना काम नहीं चलता। ऐसे व्यक्तियों में विचार उत्पन्न होना असम्भव सा है।

अश्लील नृत्य एवं गानों की प्रवृत्ति मनुष्य की ललित कलाओं की भूख का द्योतक है। यदि उन्हें भरत के नाटयशास्त्र अथवा शास्त्रीय संगीत में प्रवृत्ति कराई जाती तो अन्ततः शिव भक्ति प्राप्त कर लेते। परन्तु आज तो मीरा के संगीत को भी चलचित्र की तर्ज में लगा कर काम की अभिवृद्धि का ही उपाय बना लिया गया है। विशेष धर्म का परित्याग तम है और सामान्य धर्म का परित्याग तामिस्र।

आनन्द का उद्रेक सत् के अत्यन्त नजदीक होने के कारण सत्त्व कहा जाता है। आनन्द की अभिवृद्धि से रज और तम दब जाता है। यह आनन्द सांसारिक पदार्थ विषयक नहीं समझना चाहिये। बल्कि

संसार की असलियत को समझने का नाम ही आनन्द है । यद्यपि आनन्द प्राप्ति के लिये ही जीव की सारी तड़फड़ाहट है परन्तु अविवेक के कारण तम में पड़ा हुआ रज के द्वारा प्रवृत्त हो परमेश्वर को छोड़ संसार में सुख को ढूंढने लगता है । इस प्रवृत्ति में इतना लगा रहता है कि परमेश्वर की तरफ जाने के समय भी तद्वासना विशिष्ट होने के कारण आनन्द स्वरूप परमात्मा को भोग नहीं पाता । मुख में नमक की डली लिये हुए एक चींटी शक्कर के पर्वत पर चढ़ कर कहने लगी कि यह सारा पहाड़ नमकीन ही नमकीन है । दूसरी विदुषी चींटी ने उसके मुख से नमक की डली निकाली तब उसे शक्कर की मिठास का पता लगा । इसी प्रकार साधक में वासनाओं को समाप्त करने पर ही शिव के आनन्द का भोग सम्भव है । शान्ति एवं सुख ही वह तापमापक का पारा है जिसकी अभिवृद्धि से आध्यात्मिक प्रगति का पता लगता है । धीरे धीरे यह सुख और शान्ति अपने में केन्द्रित न रहकर सर्व भूतों में प्रीति रूप से अभिव्यक्त होने लगती है । घृणा और द्वेष आध्यात्मिकता का विरोधी है । क्यों कि अभेद भावना ही आध्यात्मिकता है । परमेश्वर हमारा पिता है और हम सब उसके सन्तान हैं, यह प्रथम सीढी है । परमेश्वर ही यह सब कुछ है, यह द्वितीय सीढ़ी है । मैं ही सब कुछ हूं, यह अन्तिम सीढ़ी है । यहां सबका अर्थ केवल मानव जाति नहीं वरन् जड़, चेतन, सारा ही संसार है । शरीर से कुटुम्ब, कुटुम्ब से जाति, जाति से नगर, नगर से राज्य, राज्य से देश, देश से मानव, मानव से चेतन जगत् एवं वहां से जड़-चेतनात्मक सारा जगत् यदि उत्तरोत्तर प्रीति के क्षेत्र में अधिकाधिक आता जाता है तो आध्यात्मिक प्रगति हो रही है । यदि इसके विपरीत चलता है तो वह प्रीति नहीं मोह है । मोह तमोगुणात्मक है और प्रीति सत्व गुण का फल है । 'येन केनाप्युपायेन यस्य कस्यापि जन्तुनः सन्तोषं जनयेत्प्राज्ञः तदेव शिवपूजनम् ।' इस प्रकार तमोगुण और रजोगुण को दबाकर सत्वगुणं की निरन्तर अभिवृद्धि करना भी भगवान् शंकर का पूजन है ।

* * * *

विषय से जीव की कभी तृप्ति नहीं हो सकती। लोग सोचते हैं हमें अमुक अमुक पदार्थ या साधन मिल जायेंगे तो हमें सन्तोष हो जायेगा। परन्तु सन्तोष तो मन का धर्म है। विषयों का नहीं; वस्तुतः पदार्थ-स्मृति से ही वासना वृद्ध होकर बन्धन का कारण बनती है। अतः भोग काल से अतिरिक्त काल में भोग्य पदार्थ की स्मृति को हटा लेने से वासना का वेग नष्ट हो जाता है। यही वास्तविक सन्तोष है। आजकल तो पदार्थों की न्यूनता का निरन्तर वर्णन करते हुए अपने सन्तोष की प्रख्याति करना ही इसका रूप बन गया है। श्रद्धा पूर्वक जगत् विषयक विचार ही सन्तोष को उत्पन्न करता है। पदार्थों में सुख नहीं है। यह श्रद्धा का विषय नहीं। श्रद्धा का अर्थ विश्वास नहीं होता। विचार और विश्वास का विरोध हो सकता है। परन्तु श्रद्धा तो विचार से ही उत्पन्न होती है। वैदिक धर्म में श्रुत और मत में ही श्रद्धा करने का नियम किया गया है। हम बुद्ध देव का पूजन करते हैं परन्तु उनमें श्रद्धा नहीं। अवैदिक होने के कारण उनका मत श्रुति और युक्ति दोनों से विरुद्ध है अतः अश्रद्धेय है। अन्य शास्त्रों में श्रद्धा की जा सकती है बशर्ते कि वह वेद और युक्ति के विरुद्ध न हो। श्रद्धा हमेशा व्यवहार और क्रिया में प्रकट होती है। जो केवल मन में ही माना जाय वह तो विश्वास होता है। जिन लोगों की बातें बड़ी और ज़ीवन खोखला होता है एवं क्रिया विरुद्ध; वे श्रद्धा और सत्य गुण से रहित हुआ करते हैं। आज तो इस पाखण्ड को सार्वजनिक और वैयक्तिक जीवन के द्वैतवादी दर्शन द्वारा छिपाने का प्रयत्न किया जा रहा है। सदा पैंट, कोट पहन कर बन्दर बना रहने वाला भी सभा में जाते हुए खद्दर की धोती और कुर्ता पहन कर देश-भक्त होने का दावा किया करता है। 'मद्य-निषेध का कानून पास करने वाले मंत्रि वर्ग कोठियों में शराब पीते पकड़े गये हैं।

कृपणता सत्व गुण जन्य प्रीति का विरोधिनी तत्व है। जो मेरे पास है वह और किसी के पास न जाय इसी का नाम कृपणता है।

चीनी मिट्टी की टूटी रकाबी के टुकड़े को फेंकते हुए भी कई लोगों को दु:ख होता है। किसी भी कार्य को करने के पहले उसके अन्तिम फल का विचार करना आवश्यक होता है। कृपणता अविचार जन्य है। अनावश्यक क्रियाओं को करना भी अविचार का ही रूप है। घर में सुख और शान्ति होने पर भी बहुत से लोग अड़ोस पड़ोस की चिन्ताओं के मारे दुबले होते चले जाते हैं। आज के समाचार पत्र तो सारे संसार की चिन्ताओं को हमारे सर पर डालने के लिये सवेरे से ही तय्यार रहते हैं। प्रश्न हो सकता है क्या हमें दूसरों के लिये सहानुभूति एवं तज्जन्य क्रियायें नहीं करनी चाहिये ? वस्तुत: सहानुभूति एवं उसकी क्रियाएँ तो प्रीति के अन्त: पाती आ चुकी हैं। यहां तो उन क्रियाओं को बता रहे हैं जो न अपने लिये लाभदायक हैं न दूसरों के लिये। चिकित्सक के मना करने पर भी रुग्णशाला में जाकर रोगी से घंटों गप लगाना कौन सी सहानुभूति का द्योतक है ?

धृति भी सत्त्वगुण को बढ़ाने के लिये आवश्यक है। दु:ख और सुख में हिमालय की तरह अकम्पित रहना ही धृति का लक्षण है। सूखे पत्ते की तरह थोड़ी सी हवा में उड़ जाना और पुन: जमीन पर गिर जाना अधीरता का लक्षण है। भर्तृहरि कहते हैं जो बड़े से बड़े कष्ट में धर्म पथ से विचलित नहीं होता वही धीर है। महात्मा गांधी को जेल में डाला गया और अन्त में मार डाला गया फिर भी उन्होंने अपने धैर्य को नहीं छोड़ा। यदि मैं क्लब में न गया और परदारा के साथ नृत्य न किया तो लोग मुझे क्या कहेंगे ? यदि मैंने सूट न पहना और टेबलों पर डिनर न खाया तो लोग क्या कहेंगे ? अपनी लड़की को स्टेज पर न नचाया तो लोग क्या कहेंगे ? इत्यादि कह कह कर लोग अपनी अधीरता का परिचय देते हैं। हम कटिबद्ध होकर अपने ही सिद्धान्तों का कार्यों में खून करते रहते हैं। सिद्धान्त के विरुद्ध की हुई क्रिया दर्शन को नष्ट कर देती है। आज तो लोग यह आशा करने लगे हैं कि ऐसा कपड़ा

बनाया जाय जिसका कुर्ता बाहर से लाल और भीतर से हरा हो। चीन के जीतने पर एक तरफ का काम आवे और पाकिस्तान के जीतने पर दूसरी तरफ का। जो लोग सामाजिक कारणों से धैर्य को नहीं छोड़ते वे भी धन के लिये धैर्य छोड़ते देखे गये हैं। विचार शील जानता है कि सभी चोरबाजारी लखपति नहीं हैं और सभी ईमानदार दिवालिये भी नहीं हैं। अनैतिक उपायों से अर्जित धन राजःदण्ड एवं चिन्ता का विषय सदा ही बना रहता है। डाक्टर सोरोकिन जार के पश्चात् रूस के समाजवादी प्रजातंत्र के मंत्रि-मण्डल में थे। जब लेनिन ने जबर्दस्ती रूस की सत्ता को हथिया लिया तो इन्हें शर्वरी (Siberia) में भेज दिया गया। इनके बहुत से साथी माफी मांग कर छूट गये। इन्होंने माफी नहीं मांगी। किसी तरह छिपकर भाग आये। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के लोक-संग्रह विभाग के अध्यक्ष बन गये। माफी मांगने वालों में से १३ वैज्ञानिक बाद में सन्देह के कारण सूली पर चढ़ा दिये गये। इस प्रकार माफी मांग कर बचने की चेष्टा करने वाले भी मारे गये और धैर्य पूर्वक धर्म में दृढ रहने वाले भी बच गये। अतः सत्त्व गुण की अभिवृद्धि धृति, धर्म एवं व्यक्ति का रक्षण अवश्य ही करती है। आज जब कि खुले आम सरकार एवं उसके पृष्ठसेवी अधर्म के ऊपर स्वयं भी आचरण करते हुए दूसरों को भी उस पर आचरण करने के लिये बाध्य कर रहे हैं धृति की अत्यन्त आवश्यकता है। किसी जमाने में चोटी कटाने वाला अपनी असभ्यता को टोपी में छिपाता था वहां आज चोटी रखने वाला टोपी में सिर छिपाता है। अतः आज के युग में यदि धैर्य का पालन नहीं किया गया तो धर्म हिमालय की कन्दराओं में छिप जायेगा। जितना बड़ा रोग होता है उतनी ही बड़ी दवाई देनी पड़ती है। इसी प्रकार जितना अधिक धर्म का ह्रास हो उतना ही अधिक धैर्य पूर्वक धर्म पालन आवश्यक है। तभी परमेश्वर दर्शन सम्भव है। जब आप शिव को अपने हृदय रूपी पट-कुटी में बुलाना चाहते हैं तो देखना पड़ेगा कि उसका मध्यस्तम्भ रूपी धृति कितना मजबूत है।

कहीं वह हमारे हृदय में आयेगा तो वितान गिर तो न पड़ेगा। अतः ऐसे कमजोर हृदय में भगवान प्रवेश नहीं करते।

सत्य भी वासना नाश का एक उत्तम उपाय है। यद्यपि आज के जन जीवन में धृति की तरह सत्य भी गायब सा हो रहा है; लोग कहते हैं सत्य से चाहे परमेश्वर मिले सांसारिक उन्नति सम्भव नहीं। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि एक पैन्सिल खरीदने के लिये भी मनुष्य विलायती खरीदना चाहता है। इसका कारण क्या है? उन लोगों का सत्य व्यवहार। आज से पचास वर्ष पूर्व जो चीज बनाते थे उससे अच्छी ही आज बनायेंगे खराब नहीं। लेकिन भारतीय उद्योगपति अपने स्तर को घटा कर लोगों को ठगना ही पैसा कमाने का साधन मानता है। इतने पर भी उन लोगों के धन का अत्यल्प अंश भी नहीं कमा पाता। वस्तुतः सत्य के विना झूठ चल ही नहीं सकता। सत्य की आड़ में ही झूठ चलता रहता है। आज तक एक भी आदमी, न था न है जिसने जीवन भर एक भी सत्य न बोला हो। परन्तु ऐसे व्यक्ति हमेशा ही रहे हैं जिन्होंने कभी झूठ न बोला हो! सत्यवादी की जबान पर ही लाख रुपये मिल जाते हैं। झूठ बोलने वाले को 'धारयामि ते' 'I owe you' लिखने पर भी कोई रुपया देने को तैयार नहीं। हमारा संविधान, दण्ड-विधान आदि सभी झूठों को प्रश्रय देने के लिये बनाये जाते हैं। कर लगाने वाले, वसूलने वाले और देने वाले सभी इस बात को जानते हैं कि हममें से कोई सत्य का व्यवहार नहीं कर रहा है। वकील तो सर्वसम्मति से झूठ का ही आश्रय स्वीकार किया गया है। प्रत्येक विवाद का एक पक्ष तो अवश्य ही झूठा होता है एवं उस पक्ष का वकील झूठ बोलने को बाध्य किया जाता है। यदि कोई वकील यह झूठ बोलने को तैयार न हो तो सरकार ने उस पक्ष को वकील देने की अपने ऊपर जुम्मेवारी ले रखी है।

आध्यात्मिक साधक को असत्य के विषय में अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है। बात को बढ़ा कर कहना भी झूठ का ही एक प्रकार है। समाचार पत्र तो झूठ का उद्योग है। दूसरों को

आशीर्वाद देना भी झूठ का ही एक प्रकार है। दूसरे को अपनी तपस्या का फल प्रदान किया जा सकता है। एवं उससे उसका लाभ भी होता है। परन्तु यदि तपस्या की पूंजी स्वयं अपने पास नहीं है तो आशीर्वाद बिना पूंजी के बैंक का चेक काटने के समान है। सुहृद्‌जनों के प्रति परमेश्वर से सत्कामना करना स्वाभाविक है एवं ठीक भी है।

सत्य का प्रयोग दूसरे को कष्ट देने के लिये करना भी आध्यात्मिक साधक के लिये अकर्तव्य है। वेदव्यास भाष्य में लिखते हैं 'पुण्याभासेन कष्टतमं प्राप्नुयात्' इस प्रकार का सत्य पुण्य के जैसा प्रतीत होने पर भी पुण्य न होने के कारण वक्ता एवं जिसके बारे में कहा जाय दोनों को कष्ट देता है।

धर्म-पालन एवं वासना-क्षय और इच्छा-निवृत्ति का आपस में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि यह एक दूसरे के सापेक्ष हैं। ऊपर के सभी साधनों में यह समझना चाहिये। जब तक जीवन है तब तक पदार्थों का सर्वथा अभाव जीवन में नहीं हो सकता। परन्तु जो पदार्थों को पदार्थत्वेन नहीं देखता बल्कि शिवरूप से देखता है वह जीवन-मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। यही वस्तुतः शिव का तीसरा नेत्र है। आँखों से तो पदार्थ ही दीखते हैं। परन्तु ज्ञान-नेत्र से उनकी शिव रूपता प्रतीत होती है। शिव ही उपादान शक्ति से जगत् रूप बना है एवं निमित्त शक्ति से जीव बना है। अतः जीव और जगत् शिव और उसकी शक्ति से सर्वथा अभिन्न हैं। इस बात को सर्वदा स्मरण रखना ही हमें अपने स्वरूप में स्थित कर देता है। स्वप्न की यही विशेषता है कि वह हमें इस सत्य का अनुभव करा देता है। स्वप्न का जगत् हमारी ही उपादान शक्ति से बनता है एवं स्वप्न के जीव हमारी ही चेतन शक्ति की अभिव्यक्ति हैं। इसी प्रकार यह विश्व शिव की ही अभिव्यक्ति है। हमारी चेतनता भी उसी की अभिव्यक्ति है। ज्ञेय और ज्ञाता की स्वप्नद्रष्टा से अभिन्नता युक्ति और अनुभव से सिद्ध है। इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। यदि यह अनुभव हो गया तो स्वप्न हमारे लिये तुरीय की तरफ जाने का पाद बन गया।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयोह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।५।

जागृत् एवं स्वप्न भोग काल हैं । इनमें तत्व का अन्यथा ग्रहण होता है, इसीलिये भगवान् गौड़पादाचार्य इन दोनों को मिलाकर अन्यथाग्रहण और अग्रहण रूपी दो ही अवस्थायें बताते हैं । 'स्वप्न जागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः' एवं 'अन्यथागृह्णतः स्वप्नः निद्रा तत्वमजानतः' । श्रुति अन्यथाग्रहण के वर्णन के बाद अब अग्रहण रूपी सुषुप्ति को बतलाती है । जिस अवस्था में सोया हुआ न किसी कामना को करता है न स्वप्न देखता है वही सुषुप्ति की अवस्था है । पुण्य-पाप का उत्पादक एवं पुत्रादि को विषय करने वाला काम कहा जाता है । जब यह क्रियाशील नहीं रहता तब जिस प्रकार भिन्न-भिन्न आभरण पिघलाये जाने पर एक रूप (स्वर्ण) बन जाते हैं उसी प्रकार काम के अभाव हो जाने पर सारा प्रपञ्च केवल अज्ञान रूप बन जाता है। अथवा रात्रि के अन्धकार में जिस प्रकार सारे पदार्थ एक रूप दिखाई देते हैं इसी प्रकार मन के स्पन्दन न रहने से केवल तमोरूप अविद्या ही अविद्या रह जाती है । यही प्रज्ञानघन है । प्रज्ञानघन ही है ऐसा कह कर प्रज्ञानघन के अतिरिक्त और किसी का निषेध किया जा रहा है । मनस्पन्दन के आयास से होने वाले दुःखाभाव के कारण ही उसको आनन्दमय कहते हैं । जिस प्रकार श्रम-रहित स्थितिरूप आनन्दानुभूति करने वाले को आनन्द-भुक् या आनन्दभोक्ता कहा जाता है उसी प्रकार यहां आत्मा को आनन्दभुक् या आनन्दभोक्ता कहा गया है । स्वप्न जागृत् के प्रति कारणभूत होने से इसे चेतोमुख कहा जाता है । यहां केवल

प्रज्ञप्ति मात्रता रहती है अतः यह प्राज्ञ है। स्वप्न जागृत् में तो विशिष्ट ज्ञान भी रहता है। शुद्ध ज्ञान अर्थात् विषयानभिभूत ज्ञान के लिये सुषुप्ति का विचार आवश्यक है। जिस प्रकार स्वप्न के विचार से जागृत् पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध होता है उसी प्रकार सुषुप्ति के विचार से ज्ञातृ-ज्ञेय भाव रहित ज्ञान की सिद्धि होती है। द्वैताभाव में भी आनन्द की सिद्धि सुषुप्ति ही करती है। विषयों के अभाव काल में आत्मा के ज्ञानरूपता की अर्थात् स्वयंप्रकाशरूपता की सिद्धि भी सुषुप्ति के विचार से ही है। इसी लिये वेदान्तियों ने अवस्थात्रय के विचार पर ही ब्रह्मात्मैक्य का प्रासाद खड़ा किया है। संसार के अन्य वादी इनमें से एक या अधिकतम दो अवस्थाओं का ही विचार करते हैं। सुषुप्ति यदि आनन्द न देती तो लोग दवाइयां खा खा कर इसकी ओर न दौड़ते। सारे ही जीव सुख प्राप्ति के लिये ही प्रयास करते हैं। आप रोग को नहीं बुलाते परन्तु आने पर उसे हटाने के लिये प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में आप जागृत् को नहीं बुलाते परन्तु जागृत् के आने पर उसे हटाने का प्रयास सुषुप्ति द्वारा करते हैं। एक सप्ताह भी यदि नींद न आये तो सिर भारी होने लगता है। सुन्दरतम नाच गान नींद आने पर फीका हो जाता है। कितना भी थका व्यक्ति थोड़ी देर भी सुषुप्ति में हो आता है तो तरो ताजा हो जाता है। इसी लिये सुषुप्ति में आनन्द-प्रचुरता कही गई है। चेतः या जिसे हिन्दी में चेतना कहते हैं वस्तुतः विशेषज्ञान का नाम है। यह सारा विशेषज्ञान मानो सुषुप्ति काल में छिपा रहता है एवं जागृत्-स्वप्न में बाहर निकल आता है। वस्तुतः प्राज्ञ में किसी भी प्रकार के विशेष के अभाव से उसमें और ईश्वर में भेद मानना अनावश्यक है। अगले मन्त्र में इसी लिये ईश्वर का वर्णन आयेगा। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद भी 'भूतभविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञातृत्वं अस्यैव' कहकर इसी बात को ध्वनित करते हैं।

यद्यपि 'यत्र' पद से ऐसी प्रतीति होती है कि किसी अवस्था विशेष में ही सोया जाता है परन्तु भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'निद्रा तिसृषु अवस्थासु तुल्या'। स्व-स्वरूप के अज्ञान मात्र का ही नाम निद्रा है और वह जागृत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में समान रूप से रहती है। पारमार्थिक दृष्टि से यह पुस्तक पढ़ते हुए अथवा चांदनी चौक में व्यापार करते हुए भी आप सुषुप्ति में ही रहते हैं। यद्यपि आकाशवाणी 'जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहां जो सोवत है' केवल प्रातःकाल गाकर श्रोताओं को जगाती है परन्तु कबीर तो जगते हुओं को जगाना चाहते थे और यही सबसे कठिन काम है। सोते हुए को जगाना सरल है।

अपने जगने का कारण बताना सरल होता है। किसी आवाज से, सूर्य की किरण से, किसी के हिलाने से हमारी आंख खुलती है। परन्तु नींद किससे आयी इसका पता नहीं लगता। रबड़ की गद्दी को यदि नींद का कारण माना जाय तो अनेक उस पर रात भर लोटते ही रहते हैं जब कि कोई अनघड़ पत्थर पर ही खुर्राटें भरता रहता है। इसी प्रकार तत्त्व में जगने का कारण तो गुरु अथवा वेद वाक्य बन जाते हैं परन्तु तत्त्व के अज्ञान का क्यों और कैसे पता नहीं लग सकता, इसीलिये इसे अनादि माना गया है। जगाने के साधनों का ही विचार सम्भव है और कर्तव्य है। इतना स्मर्तव्य है कि अज्ञान केवल ज्ञान का अभाव नहीं, क्योंकि वह यदि केवल अभाव रूप होता तो विपर्यय ज्ञान, जो कि भाव रूप है, उससे उत्पन्न न हो सकता। जिस प्रकार न निद्रा वाले को निद्रा का ज्ञान हो सकता है और न जगे हुए को। उसी प्रकार न ब्रह्म ही अज्ञान को समझ सकता है और न जीव ही। जीव स्वयं अज्ञान से उत्पन्न है और ब्रह्म की दृष्टि में अज्ञान है ही नहीं। एक बार हमारे कमरे में एक सज्जन आये और बड़े जोर से एक महात्मा को लात मारते हुए गिर पड़े। महात्मा नाराज होकर कहने लगे दिन दहाड़े तेरे को नहीं दीखता, बदमाश है। आने वाले सज्जन बड़े ही संकोच

और नम्रता से बोले भई कमरे में अंधेरा था मुझे दीखा नहीं। दिन का समय था महात्मा का कहना सत्य था। परन्तु प्रकाश रहते हुए भी बाहर की चिलचिलाती हुई धूप से आने के कारण सज्जन को अंधेरा दिखाई देना भी उतना ही सत्य था। इसी प्रकार ब्रह्म-दृष्ट्या जगत् का अत्यन्त अभाव उतना ही सत्य है जितना जीव दृष्ट्या उसका भाव। अविद्या आत्ममणि को असंख्य तालों रूपी अपने अनन्त रूपों में बन्द करके रखती है। यद्यपि अविद्या तीनों ही अवस्थाओं में है लेकिन सुषुप्ति में वह स्वरूप से है--जागृत्, स्वप्न में कार्य रूप से। जागृत् की अपेक्षा स्वप्न कार्य अधिक सूक्ष्म है, यह विषय दूसरा है।

संसार में मांग के अनुसार ही वितरण का नियम है। अधिक-तम लोग परमेश्वर प्राप्ति का सरल उपाय चाहते हैं। अतः पाप करते हुए भी नाम-जप या गंगा-स्नान अथवा किसी गुरु से कान फुंकवाना आदि अनेक सस्ते लटके निकल आये हैं। महिषासुर राज्य (मैसूर) के कुछ प्रतिभाशाली विद्वानों ने वेदान्त को सुषुप्ति-ब्रह्मवाद में परिवर्तित करके ऐसे ही सरल उपाय का आविष्कार कर रखा है। यद्यपि दार्शनिक इतिहास की दृष्टि से नागेश भट्ट ने ही इस सिद्धान्त का प्रथम प्रतिपादन किया था परन्तु इसको साम्प्रदायिक रूप देने का प्रयास गत २५ वर्षों में ही हो पाया है। सुषुप्ति ही इनकी दृष्टि में ब्रह्म स्थिति है। संसार के पदार्थों की प्राप्ति में चाहे कोई सरल मार्ग निकल आये लेकिन आत्मज्ञान के मार्ग में इसकी आशा करना व्यर्थ है। 'नान्यःपन्था' विद्यते अयनाय वैदिक घण्टापथ को छोड़ कर अन्य कोई रास्ता नही है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद भी 'सदा दृक् स्वभावत्वात् तत्त्वाप्रतिबोध लक्षणा निद्रा तुरीये न विद्यते' कह कर इसी को स्फुट करते हैं। 'बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः साच तुर्ये न विद्यते' कहकर भगवान् गौड़पाद भी इसी का समर्थन करते हैं। अनुभव का भेद भी यहां कारण है।

'अहमेव इद ँ सर्वम्' एवं 'अहमन्नं अहमन्नादः' इत्यादि तुरीय का अनुभव है एवं 'नाहं किञ्चिदवेदिषम्' निद्रा का अनुभव है। इसीलिये

सुख स्वरूप आत्मा सुषुप्ति में अपने आपको सुख अनुभव करता हुआ नहीं मानती । सुख और दुःख ज्ञात सत्ता वाले पदार्थ हैं, सुषुप्ति में सुख ज्ञात भी नहीं है और जगने पर उसकी स्मृति भी होती है। यह विरुद्ध बात अनुभव सिद्ध होने के कारण दार्शनिक इसका अपलाप नहीं कर सकता केवल संगति लगा सकता है । अविद्या ही वह संगति है । आगे प्रश्न उठता है जब सुषुप्ति में सुखानुभव है तब जागृत् को प्राथम्य क्यों दिया गया ? बात बिलकुल ठीक है । परन्तु सौषुप्त सुख अपने हाथ में नहीं है। आचार्य आनन्दगिरि स्वामी लिखते हैं 'जागृत स्वप्न हेतु कर्मक्षयानन्तरं स्थानद्वयसञ्चारयुक्तश्रमोद्भव परिजिहीर्षया कारणात्मनि उपसंहारः सुषुप्तिः' जाग्रत् और स्वप्न के भोगों को देने वाले धर्माधर्म के नष्ट होने पर जाग्रत् स्वप्न के परिश्रम को हटाने के लिये कारण अविद्या में लीन होना ही सुषुप्ति है । चूंकि कर्म क्षय हमारे हाथ में नहीं बल्कि स्वतः होता है अतः सुषुप्ति भी हमारे हाथ में नहीं । आप कह सकते हैं कि दवा लेकर तो हम सो सकते हैं । परन्तु दवा लेने से सुषुप्ति नहीं बल्कि अचेतनता आ जाती है। इसीलिये स्वापौषध से उठने के बाद वह हल्कापन अनुभव में नहीं आता जो सुषुप्ति से आता है बल्कि एक खुमारी सी बनी रहती है। ब्रह्मसूत्रकार इसीलिये सुखानुभव के अभाव के कारण मूर्च्छा को सुषुप्ति से भिन्न अवस्था मानते हैं ।

किंच सुषुप्ति में एक बड़ी कमजोरी है । यहां अज्ञान रूपी बंधन को तोड़ने के लिये कोई भी प्रयत्न नहीं किया जा सकता । दुःखानुभव की उपस्थिति से जाग्रत् अवस्था यद्यपि बड़ा बंधन है तथापि वहां उस बन्धन को नष्ट किया जा सकता है। सुषुप्ति उस छोटी सी कोठरी की छोटी सी दीवालों की तरह है जिसमें बन्द जेली बाहर नहीं निकल सकता यद्यपि कोई जेलर उसे कोड़ा लगाने वाला नहीं है । जाग्रत् बड़ी जेल की तरह है जहां जेलर इत्यादि सभी हैं एवं बहुत सी दीवालें भी हैं, परन्तु उसे काम करने के लिये एक कुदाली भी दी जाती है जिसका बुद्धिमत्ता पूर्वक प्रयोग करके धीरे

धीरे दीवालों को खोद कर जेली भाग भी सकता है। इसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न के दुःख भोगने के लिये जीव को बुद्धि देनी पड़ती है जिसका उपयोग करके वह माया की जेल से निकल भागता है। इसी लिये सुषुप्ति को प्रथमता न देकर तृतीय पाद बतलाया गया है।

*   *   *   *

सुषुप्ति ब्रह्मानन्द का एक नमूना है सचमुच ब्रह्मानन्द नहीं। जिस प्रकार मकान अथवा बांध बनाने के पहले लोग उसका एक नमूना (Model) बना लेते हैं जिससे कि वास्तविक मकान का अन्दाज लग के ग्राहक की उसमें अभिरुचि हो जाय। उसी प्रकार सुषुप्ति परमशिव के आनन्द का एक नमूना है। अथवा गन्धिक गन्ध की (scent) ऐसी शीशी का निर्माण करता है जिसमें से मुहर लगा ढक्कन होने पर भी हल्की हल्की सुगन्धि आती रहे। उस सुगन्धि के द्वारा आकृष्ट होकर ग्राहक पूरी शीशी खरीद लेता है। इसी प्रकार ब्रह्मानन्द को यद्यपि अज्ञान की शीशी में बन्द कर दिया गया है तथापि उसमें से सुषुप्ति में हल्का हल्का आनन्द आता रहता है। शीशी को गत्ते के डब्बे में वन्द रखा जाता है अतः डब्बे के बाहर गन्ध नहीं के जैसी ही रहती है। इसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न में विक्षेप के गत्ते का डब्बा रहने के करण आनन्द नहीं के समान ही रहता है। इस सुगन्धि के लोभ से ही जीव की ब्रह्मानन्द में प्रवृत्ति होती है। अन्यथा अननुभूत होने के कारण ब्रह्मानन्द के लिये किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होती। वस्तुतः विषयाभाव में उत्कृष्ट सुख का ज्ञान सुषुप्ति में सहज सिद्ध है।

पक्षी पंखों को फड़फड़ाकर एक बार उड़ान भर लेता है बाद में डैना फैलाकर विना परिश्रम के ही हवा में तैरता रहता है। यहां से यदि आपको नागपुर जाना हो तो वायुयान वाले कम से कम १०० रुपये ले लेंगे। परन्तु पक्षी यहां से नागपुर एक मुट्ठी अनाज खाकर पहुंच जाता है क्योंकि वह वायु का ही आश्रयण करता है, अतः वायु उसे गिरने से बचा लेती है। अन्तरिक्ष यानों में इसी सिद्धान्त का आश्रयण करने के कारण नक्षत्रों तक गति की सम्भावना

हो गई है। इसी प्रकार चित्तरूपी पक्षी जाग्रत् और स्वप्न में पंख फड़फड़ा कर फिर सुषुप्ति रूपी वायु के द्वारा सुख को पाता है। 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति'। वस्तुतः विचार करने से पता चलता है कि आत्मा की सद्रूपता जड़-चेतनादि सभी पदार्थों में स्फुट है। चिदवस्था चेतन में स्फुट है। समाधि सुषुप्ति आदि में आनन्द की स्फुटता है। अनन्तता ईश्वरभाव में स्फुट है। जिस प्रकार अग्निकुण्ड के और अपने बीच में हल्का सा काला टाफ्टा का पर्दा पड़ा रहने पर यद्यपि गर्मी का अनुभव होता है परन्तु पुस्तक पढ़ने लायक प्रकाश का नहीं इसी प्रकार ईश्वर एवं प्राज्ञ में हल्का सा अज्ञान का पर्दा होने के कारण आनन्द का भान होता है परन्तु पूर्णानन्द का नहीं। इस ज्ञान की कमी के कारण ही श्रुति कहती है 'यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञाः उपर्युपरिसंचरन्तः न विन्देयुः एवमेव इमाः सर्वाः प्रजाः' (छा० ८।३) जिस प्रकार खेत के ऊपर जाने वाले उसके नीचे दबे हुए सोने की खान को न जानने के कारण लाभ को नहीं उठा पाते या करोड़पति नहीं बनपाते उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ जीव प्रतिदिन ब्रह्म के ऊपर से निकलते हुए भी अज्ञान के द्वारा ढका हुआ होने के कारण उसका लाभ नहीं उठाता। एक बार एक सज्जन आके कहने लगे स्वामी जी आपने सुना वह जो सेठ जी आते हैं उन्होंने सुन्दर नगर में एक वसति क्षेत्र खरीदा था। उस में उन को इतना गड़ा हुआ धन नीव के अन्दर मिला कि सारी कोठी उसी से बन गई। हमने आश्चर्य से कहा कि बेचने वाले ने ही उससे अपना मकान क्यों नहीं बना लिया? सज्जन कहने लगे अरे! उसे पता कहां था? सरकार को भी यदि पता चल जाता तो वह सारा धन ले जाती। अतः अज्ञान से इतने दिन उस वसति क्षेत्र का मालिक होने पर भी बेचने वाला फायदा न उठा सका। यदि हम सुषुप्ति के आनन्द को जाग्रत् की स्फुट चेतना के साथ मिला सकें तो परमानन्द का अनुभव सहज हो जाय इसी को समाधि अवस्था कहा जाता है।

इस तत्त्व के अज्ञान रूपी निद्रा से कैसे उठा जाय? जिस प्रकार सोने के पहले आदमी स्ववाद्य घटिका के कान उमेड कर (अलार्म लगा

कर) सो जाता है उसे उस यन्त्र में पूर्ण विश्वास होने से उसकी शरण लेता है। इसी प्रकार ब्रह्म ने अपौरुषेय वेद वाणी को अपने आप को जगाने के लिये रख दिया है। जिस प्रकार छोटे बच्चे या हिज मास्टर्स् वॉयस का कुत्ता ग्रामोफोन से आती आवाज को अन्दर रहने वाले किसी पुरुष की आवाज समझते हैं उसी प्रकार सामान्य बुद्धि के लोग वेद को शब्द राशि के समान समझने के कारण पुरुष कृत मानते हैं। कभी-कभी अत्यधिक गाढ़ी नींद लेने वाला यन्त्र का भी विश्वास न करके अपनी मां को कह देता है कि यन्त्र की आवाज सुनो तो मुझे जगा देना। इसी प्रकार अज्ञान की गाढ़ी निद्रा में जाने के पूर्व गुरु रूपी माता को कह दिया जाता है कि वेद की वाणी के सहारे से मुझे समय पर जगा देना। अतः भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृता-बुद्धिः आत्मज्ञाने करणम्'। अपने आप शास्त्र पढ़ने से भी संसार के प्रति वैराग्य नहीं होता। मनुष्य सोचता है क्या जल्दी है समय आने पर स्थिति हो जायेगी। परन्तु मां की तरह गुरु हिलाकर, डुलाकर, पानी डालकर, उठने पर ही चैन लेने देता है। स्वकीय मन स्वयं चोर होने के कारण विश्वास करने के योग्य नहीं। जिस प्रकार चोर ही घर का नौकर बनकर मालिक के लिए डनलोपिलो बिछाकर प्रेम से पैर दबाता रहता है जिस से मालिक खुर्राटे भरते रहें और उस नौकर के अन्य चोर साथी चोरी करते रहें इसी प्रकार मन रूपी चोर जीव रूपी मालिक को विषय सुख पर सुलाकर उसको मग्न करता रहता है जिसमें इन्द्रिय तस्करें उसके ज्ञान-रत्न को चुराती रहें। अतः अपने मन का विश्वास न कर गुरु के ऊपर अपना बोझ डालने वाला व्यक्ति ही तुरीय में जग सकता है।

जगाने के साधनों में वेद के महावाक्यों में विलक्षण शक्ति है। जिस प्रकार मोहन, भूपाली या भैरवी प्रातःकाल सुनने मात्र से सुख पहुंचाती है, असावरी मन को शान्त कर देती है, भोजन के बाद सारंग अन्न को पचा लेता है, और मालकोश, बागेश्वरी, याम्या सुला देती है, उसी प्रकार वेदों के मंत्रों की विशिष्ट ध्वनियां विशिष्ट फल उत्पन्न करती हैं

एवं तत्त्वमस्यादि महावाक्य तुरीय में जगा देते हैं। मुसोलिनी को अति दीर्घ काल तक नींद नहीं आती थी अन्त में संगीतज्ञ ही उसको सुला पाया।

तुम्हारा मकान कहां है? ऐसा पूछने पर, यमुना के किनारे, ऐसा बताया जाता है। फिर प्रश्न उठता है पूर्व या पश्चिम। पश्चिम कहने पर पुनः लाल किले से उत्तर या दक्षिण का प्रश्न उठता है। इसी प्रकार अन्त में स्थान का पूर्ण निर्णय हो जाता है। यद्यपि ये सारे वाक्य भिन्न-भिन्न हैं तथापि परम्परया स्थान का ज्ञान कराने के कारण सभी ठीक हैं। इसी प्रकार वेद के मंत्र सभी परम्परया शिव में ही गतार्थ हैं। महावाक्य साक्षात् साधन हैं। रसायन वेत्ता संसार को बिल्कुल अलग होकर देखता है। मनोविज्ञान उसकी अपेक्षा आन्तर है। बुद्धि को विषय करने के कारण बौद्ध उससे भी आन्तर हैं। वेद सबसे आन्तर है क्यों कि आत्मा को साक्षात् बतलाता है। सत्य किसी प्रतिद्वन्द्वी को सहन नहीं कर सकता। इसीलिये उसे एकमेव अद्वितीय कहा जाता है। न उससे बड़ा कोई हो सकता है न छोटा, उससे भिन्न कोई हो ही नहीं सकता। आजकल के समन्वयवादी छोटा सत्य, उससे छोटा सत्य, बड़ा सत्य, उससे बड़ा सत्य, मझोला सत्य, आदि न जाने कितने सत्य के भेद बना डालते हैं। भगवती श्रुति इसीलिये कहती है 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्' आत्मा का ध्यान ॐ इस प्रकार से ही तुम लोग करो क्यों कि वह तुम्हें अज्ञान के पार ले जायेगा। शास्त्र जाल का अन्त नहीं। 'नानुध्यायाद्-बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्' 'शास्त्रजालं महारण्यं चित्त भ्रमण कारणम्' इत्यादि श्रुति स्मृतियां वृथा वाणी का विलास एवं कण्ठ को सुखाने वाले शास्त्रजाल को छोड़कर तत्त्व ज्ञान प्रतिपादक वैदिक अध्ययन को ही कर्तव्य बतलाते हैं। इसी प्रकार न्याय अथवा युक्तिजाल भी सैकड़ों जन्मों में भी तत्त्व निश्चय नहीं करा सकता। इसीलिये भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि इन सब चीज़ों को छोड़कर केवल आत्मज्ञान में रति करे। यही जीवन का सार है।

तत्वमसि को अनेक बार सुनने वाले में भी ज्ञान होता नहीं देखा गया है। इसका कारण पदार्थ ज्ञान का अभाव है। 'वाक्यार्थस्यापि विज्ञानं पदार्थस्मृतिपूर्वकम्'। पद अर्थात् वह शब्द जिसका अर्थ हो। जब तक पदों के अर्थ का ज्ञान नहीं होता तब तक पदों से निर्मित वाक्य का ज्ञान नहीं हो सकता। जिस प्रकार पञ्चकोष का व्यतिरेक करने से ही त्वं पदार्थ का ज्ञान हो सकता है उसी प्रकार ध्यानादि से तत् पदार्थ का ज्ञान होता है। तभी दोनों की एकता बनती है। तत् पद का अर्थ माया शबल होने से ऐक्य ज्ञान के बिना परोक्ष ही बना रहता है अतः वाक्यार्थ का ज्ञान आवश्यक है। सांख्य एवं योगी त्वं पदार्थ का शोधन करके भी अपनी अनन्तता को इसीलिये नहीं जानते। उपासक, भक्त आदि तत् पदार्थ को जान के भी उसे अपने से भिन्न परोक्ष ही जान पाते हैं। केवल वेदान्त से ही दोनों की एकता का ज्ञान होता है।

इस वाक्यार्थ ज्ञान से अपनी अनन्त आनन्द रूपता का स्फुट पता लगता है, जिसमें सुषुप्ति की तरह अविद्या का कोई परिच्छेद नहीं रहता।

* * * *

यदि जीव-ब्रह्म की एकता सत्य हो तो हमें उसका ज्ञान क्यों नहीं? ऐक्य ज्ञान की अनुपलब्धि ही उसकी असत्यता बता रही है। जीव अनित्य, अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान एवं नित्य अपरोक्ष है। ज़ब कि भगवान् नित्य, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं अत्यन्त परोक्ष होने के कारण बड़े बड़े तपस्वियों के लिये भी अज्ञात ही बने रहते हैं। हमारे लिये तो अपने ही पेट के यकृत विषयक अज्ञान का भी बना रहना स्वाभाविक है। अपनी आंख, गण्ड, कपाल, शिर आदि अनेक पदार्थ सदा ही परोक्ष बने रहते हैं। धर्माधर्म की परोक्षता तो अत्यन्त स्फुट है। परमेश्वर को किसी भी पदार्थ में अज्ञातता या परोक्षता नहीं है। वह पाप और शोक से रहित आनन्दघन है। एवं हम दुःख एवं पाप से बिंधे हुए हैं। हमारा स्वल्प सुख भी सुखाभास मात्र है क्योंकि उसके पहले एवं बाद में दुःख ही रहता है। इतना ही नहीं भोग काल में भी सातिशय

तो बना ही रहता है। ईश्वर सर्वव्यापी है एवं हम अत्यन्त परिच्छिन्न। अपने नाखून और बाल कटने का भी हमें पता नहीं लग पाता क्योंकि वहां हमारी चेतना नहीं जा पाती। अतः सूर्य और ओस कणों की एकता के समान जीव ब्रह्म की एकता असम्भव है।

इस प्रकार के संदेह विचार से ही दूर होते हैं। पदार्थों की एकता में भेदाभास के अनेक सिद्ध दृष्टांत हैं। मिट्टी या सोना घडे या गहने से भिन्न प्रतीत होता है। यदि अभिन्न होता तो सुनार को गढ़ाई और कुम्हार को पैसा कोई न देता। यदि इन्हें भिन्न मानो तो तुम्हें गहना देकर तुम्हारे सोने को बेच बेच कर सारे ही सुनार अरबपति बन गये होते। सारे व्यवहारों की जड़ नाम-रूप हैं, जो स्वतः सत्ताहीन हैं। जिस प्रकार गहने की कोई कीमत न होने पर भी सोने पर आश्रित होकर बनवाई की भी कीमत हो जाती है उसी प्रकार नाम-रूप की कोई सत्ता न होने पर भी ब्रह्म पर आश्रित होकर वह सत्ता वाला बन जाता है। स्वयं सुनार इसीलिये गढ़ाई की कीमत नहीं देता। इसी प्रकार जो तत्त्वमसि का अर्थ जानना चाहता है उसे नाम-रूप को छोड़ कर निरुपाधिक वस्तु की दृष्टि बनानी पड़ेगी। अल्पज्ञता, सर्वज्ञता आदि उपाधियों को छोड़ने पर ही ज्ञप्ति में एकता है। सूर्य और जुगनू की एकता प्रकाश रूप से ही सम्भव है। छोटे से लट्टू जलाने वाले गरीब की कोठरी का एवं वातानुकूल चलाने वाले सेठ जी के बिजली के भाव में कोई फरक नहीं होता। अनादि काल से उपाधि को पकड़े रहने के कारण इसे छोड़ने की कठिनता के कारण ही ऐक्य ज्ञान नहीं बन पाता। वस्तुतः उपाधि का यह आग्रह ही हमें सो-पाधिक ब्रह्म के द्वारा निरुपाधिक शुद्ध ब्रह्म के प्रतिपादन की घुमावदार प्रक्रिया करने के लिये बाध्य करता है। 'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ये मन्दास्तेनुकम्प्यन्ते सविशेष निरूपणैः।' एवं 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते'॥ लोग निरुपाधिक को सीधे समझने में समर्थ नहीं हो पाते, क्योंकि

इस प्रकार का अनुभव नवीन है, अतः चित्त एकाग्रता के लिये प्रथम सोपाधिक रूप का वर्णन किया जाता है जो एक प्रकार का आरोप है। चित्त एकाग्रता की सिद्धि हो जाने पर उस आरोप को हटा देने पर शुद्ध का ज्ञान सरलता से हो जाता है। जगत् रूप उपाधि एक अनिवार्य सत्य है। अतः जगत् सृष्टा रूप से चेतन पर जो आरोप किया जाता है उसे ईश्वर एवं जगत् के भोक्ता रूप से चेतन पर जो आरोप किया जाता है उसे जीव कहते हैं। जिस प्रकार दर्पण के कारण ही सूर्य में विम्ब और प्रतिविम्ब की कल्पना है। दर्पण के हट जाने पर न विम्ब है, न प्रतिविम्ब। इसी प्रकार जब तक जगत् प्रतीति है तब तक जीव और ईश्वर है। जगत् प्रतीति के न रहने पर न जीव है न ईश्वर। जगत् प्रतीति का नाश निरवशेष होने के कारण उसमें मिथ्यात्व की सिद्धि स्वतः ही हो जाती है। कारण ही मिथ्या है तो उस पर कल्पित जीव-ईश्वर के मिथ्यात्व की सिद्धि तो कैमुतिक न्याय से है। जगत् प्रतीति यदि मिथ्या न हो तो मोक्ष-शास्त्र अर्थहीन हो जायगा। इसीलिये अखण्डज्ञान की सिद्धि के लिये सर्वप्रथम अध्यास भाष्य लिखा गया। ब्रह्म जगत् का आध्यासिक कारण है एवं अध्यास-कारण-विशिष्ट-चेतनत्व ईश्वर का लक्षण है। अतः जगत्, जीव और ईश्वर तीनों की ही निवृत्ति होने पर ही स्वरूप स्थिति सम्भव है।

संसार के सभी पद अर्थ के साथ सम्बन्ध वाले होते हैं। ब्रह्म का किसी भी शब्द के साथ सम्बन्ध न होने के कारण केवल लक्षणा से ही उसका प्रतिपादन सम्भव है। प्रत्यक्षादि प्रमाण से ज्ञात अर्थ में ही पद रूढ्यर्थ से शक्ति वाला बनता है। ब्रह्म प्रत्यक्ष से ज्ञात ही नहीं हो सकता तो उसमें पद की प्रवृत्ति कैसे हो। यदि पद की प्रवृत्ति स्वीकार करली जायेगी तो वह सविशेष ब्रह्म ही रह जायेगा। स्वयं वेद भी माया के अन्तः पाती होने से स्वयं बाधित हो जाता है तो अबाधित का ज्ञान साक्षात् कैसे करावे ? जहां तक प्रमाण हैं वहां तक अविद्या है और जहां अविद्या नहीं वहां प्रमाण भी नहीं। इसीलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा सत्यमर्थं प्रबोधयेत्'।

इसीलिये वेद भी उसे साक्षात् नहीं बता सकते। मेरा ही सपने का बेटा मेरे जागृत् बेटे का भाई नहीं बन सकता। ब्रह्म हमारा स्वरूप होने के कारण वेद के निर्देश से भ्रान्ति दूर होते ही हम उसमें स्थित हो जाते हैं। श्रुति का कार्य अग्रहण रूपी माया को हटाना है। आत्मा को ब्रह्म रूप से न जानना ही माया है। अग्रहण रूपी दोष हटते ही आत्मा और ब्रह्म की एकता तो स्वतः सिद्ध है। अतः ब्रह्मात्मस्थिति के लिये प्रयत्नान्तर आवश्यक नहीं। अग्रहण स्वतः मिथ्या होने के कारण मिथ्या शब्द से उसकी मिथ्या निवृत्ति हो जाती है। स्वप्न की मिथ्या प्यास, मिथ्या जल के द्वारा हट कर मिथ्या तृप्ति को उत्पन्न करती है। सच्चे जागृत् कण्ठ पर इसका कोई प्रभाव नहीं। इसी प्रकार परमार्थ शिव से न अध्यारोप और न अपवाद सम्बन्धित होता है।

यद्यपि अज्ञान की निवृत्ति श्रवण से ही है तथापि मनन निदिध्यासनादि सहकारी कारण तो मानने ही पड़ते हैं। सहकारी कारणों के अभाव में फल उत्पन्न नहीं होता। रोटी के प्रति आटा कारण होने पर भी तवा, अंगीठी, वेलन, चकला इत्यादि के विना उसकी सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार अनेक बार श्रवण करने पर भी जहां ज्ञान उत्पन्न नहीं होता वहां मनन अथवा निदिध्यासन की कमी ही कारण है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि दर्शन के प्रति आंख ही कारण है। अंधेरे में न देख पाने मात्र से प्रकाश को मुख्य कारण नहीं माना जा सकता। प्रकाश आदि सहकारी कारण हैं। कुछ लोग श्रवण से ज्ञान न होने के कारण ध्यान को ही कारण मान लेते हैं। परन्तु यह सर्वथा अयुक्त है। प्रमा का कारण प्रमाण ही हो सकता है। ध्यान को किसी भी सिद्धान्त में प्रमाण नहीं माना गया है। किंच ध्यान मानस क्रिया होने से उसका फल भी अनित्य ही होगा। गारुड़ोपासक 'मैं गरुड़ हूं' की भावना कर लेता है जिससे सर्प का असर उस पर नहीं होता पर इतने मात्र से वह गरुड़ नहीं बन जाता। थोड़े वर्ष ध्यान छोड़ देने पर उसका असर भी जाता

रहता है। अधिक से अधिक इस जीवन में ही उसका फल रह पाता है। यदि ब्रह्मभावना का फल ब्रह्मज्ञान होता तो वह भी इसी प्रकार सच्चा न होने के कारण खतम हो जाता। अनित्यमोक्ष सालोक्यादि से कथमपि भिन्न नहीं मानी जा सकती। अतः मननादि सहकृत श्रवण ही प्रमाण होने के कारण आत्मज्ञान का साधक है।

श्रवण अर्थात् उपक्रम उपसंहारादि छै लिंगों के द्वारा वेदान्तों का तात्पर्य निर्णय। श्रवण का अर्थ केवल सुनना नहीं समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार मनन का अर्थ श्रुतियों के विरोध का परिहार करके युक्त्याभासों को निवृत्त करना है। श्रुत और मत अर्थ के ऊपर चित्त को एकाग्र करना ही निदिध्यासन कहा गया है। इस प्रकार के श्रवण-मनन-निदिध्यासन से ही आत्मा की एकता का दृढ़ ज्ञान होता है। यह श्रवणादि निरन्तर करना चाहिये। अशुभ वासनाओं के कारण ही इसकी निरन्तरता नहीं रह पाती क्यों कि वे बुद्धि को कुण्ठित कर देती हैं। पैन्सिल छीलने वाला ब्लेड दाढी छीलने के काम में नहीं लिया जा सकता। अतः निरन्तर मनन की खराद पर चढ़ाने से ही बुद्धि तेज रह सकती है। विषयों में प्रवृत्ति, उनमें सुख प्रतीत होने के कारण ही होती है। जितना ही किसी पदार्थ में सुख प्रतीत होता है उतना ही उसके लिये प्रयास किया जाता है, उस पदार्थ को छोड़ना तो असम्भव है। सुखप्रदता का ज्ञान हटते ही त्याग स्वाभाविक हो जाता है। इसी प्रकार जब तक संसार सुख वाला प्रतीत होगा तब तक उसका त्याग असम्भव ही है। सुषुप्ति हमें संसार के पदार्थों से सुख रूपता को हटा कर उनके अभाव में सुख रूपता का परिचय देती है। जिस प्रकार सूर्य को बिना देखे बन्द खिड़की वाले कमरे में भी रोशनी के भान से जगने वाले को सूर्योदय का भान हो जाता है उसी प्रकार सर्वभावाभाव रहित ब्रह्म को जाने बिना भी सर्वभाव रहित सुषुप्ति में उसका भान हो जाता है। समाधि में और भी स्पष्ट भान है। वस्तुतस्तु जहां पदार्थों में सुख प्रतीत होता है वहां भी निवृत्ति के कारण ही सुख है। प्यास मिटने में ही पानी का सुख, एवं भूख मिटने में ही अन्न का सुख है।

अतः विषय-त्याग ही सुख रूप है। विषय तो संस्कारों की उत्पत्ति से दुःख परम्परा उत्पन्न कर फिर उसकी शान्ति के द्वारा सुखाभास उत्पन्न करने में ही परम्परा से कारण बनता है। पूर्व वासना भोगों में प्रवृत्त कराती है। यदि उन भोगों में रस लोगे तो वासना बढ़ती चली जायेगी। यदि विचार द्वारा भोग काल में रस का परित्याग करोगे तो वासना क्षयोन्मुखी हो जायेगी। अतः 'न कञ्चन कामं कामयते' से श्रुति सुषुप्ति अवस्था में हमें इस उपाय को बतलाती है।

एष सर्वेश्वरः एष सर्वज्ञः एषोऽन्तर्यामी
एष योनिस्सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ।६।

व्यष्टि रूप से जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति का वर्णन करके आधिदैविक एवं आध्यात्मिक, अर्थात् समष्टि और व्यष्टि की एकता बताने के लिये श्रुति ईश्वर व प्राज्ञ का अभिन्न रूप से वर्णन करती है । पूर्वोक्त मन्त्र प्रतिपादित ही सबका ईश्वर है । अर्थात् ईश्वर उससे भिन्न जाति का नहीं है । यही सारी भेदावस्थाओं को जानने वाला है एवं सब में प्रविष्ट होकर यही उनका शासन करता है । सारे जगत् का यही कारण है इसी से सब उत्पन्न होते हैं और इसी में सब लीन होते हैं ।

यद्यपि एष प्रकृत को बतलाता है परन्तु इसके द्वारा अपरोक्षता भी ध्वनित की जा रही है । उसे कहीं दूर नहीं ढूंढ़ना है वरन् वह हमारे समीप ही है । सर्वेश्वर और सर्वज्ञ पद उसके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं । योनि, प्रभव और अप्यय तटस्थ लक्षण हैं एवं अन्तर्यामी उपलब्धि-स्थान को बतलाता है । इस प्रकार यह एक ही मंत्र ब्रह्म का पूर्ण रूप से वर्णन कर देता है ।

जीव को ईश्वर भाव की प्राप्ति कराना ही इस मंत्र का लक्ष्य है । यही वास्तविक उत्थान है । आजकल तो आय की अभिवृद्धि को ही उत्थान माना जाता है । वस्तुतः उत् पूर्वक स्था धातु का अर्थ जहां हैं वहां से ऊपर जाना है । चूंकि हम अज्ञान में हैं इसलिये अज्ञान से ऊपर जाना ही उत्थान है । 'पाशबद्धो भवेत् जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः' पाश से ऊपर जाना सदाशिव बन जाना है । माया के भीतर दांये-बांये जाना उत्थान नहीं माना जा सकता । वैदिक दृष्टि से तो उत् का अर्थ ही ब्रह्म होता है । अतः उत्थान का अर्थ ही ब्रह्म स्थिति है, वेस्टिब्यूल रेलों (Vestibule Trains) का निर्माण नहीं ।

यह सब तो व्युत्थान कहा जा सकता है। इसीलिये समाधि से नीचे आ जाने पर व्युत्थान में आ गया कहा जाता है । संसार अध्यस्त है अतः अधिष्ठानज्ञान से ही इसकी निवृत्ति बनती है । अधिष्ठान-ज्ञान में ही सारे शास्त्रों का तात्पर्य है । अधिष्ठान-दृष्टि से सारा जगत् ब्रह्ममय है ।

एष द्वारा निर्दिष्ट अपरोक्षत्व रूप से ही ईश्वर की उपादेयता है । साक्षात् अनुभूयमान को ही अपरोक्ष कहा जाता है । कमरे में सामने बैठा हुआ व्यक्ति अपरोक्ष है । दीवाल की दूसरी तरफ से आवाज आने पर भी उस व्यक्ति को परोक्ष ही माना जाता है । संसार में कुछ पदार्थ स्वभाव से ही परोक्ष हैं । उनका अपरोक्ष कभी भी नहीं किया जा सकता; जैसे धर्म, अधर्म आदि । हम किसी के सुख को देख कर धर्म का अनुमान कर सकते हैं अथवा उसकी अच्छी क्रियाओं को देख कर उन क्रियाओं से उत्पन्न फल की धर्मरूपता का अनुमान कर सकते हैं । परन्तु धर्म स्वतः कभी भी अपरोक्ष नहीं हो सकता । वैदिक परोक्ष पदार्थों का विचार करने के कारण ही पूर्वमीमांसा धर्ममीमांसा कही गई एवं अपरोक्ष पदार्थ का विचार करने के कारण उत्तरमीमांसा ब्रह्ममीमांसा कही गई। अन्यथा वेदजिज्ञासा नाम का एक ही शास्त्र बन जाता । ब्रह्म को साक्षात् अपरोक्ष कहा गया है। यदि धर्म प्रत्यक्ष का विषय होता तो प्रतिदिन सत्संग में आने वाला, ऊर्ध्व पुंड्र धारण करने वाला अपने बाह्याडम्बर से आपको ठग के पांच सौ रुपया उधार न ले पाता । आप यह नहीं कहते कि वह धर्मात्मा था और अब पापी हो गया, वरन् कहते और मानते हैं कि वह जब धर्मात्मा दीख रहा था तब भी उसमें धर्म नहीं था । जिस प्रकार व्यक्ति का गौर वर्ण दुश्मनी में भी गौर ही रहता है उस प्रकार धर्म यदि प्रत्यक्ष का विषय होता तो भ्रान्ति सम्भव नहीं होती । धूम्र रूपी लिंग से वह्नि के अनुमान को तरह धर्म अधर्म का निर्णय केवल कुछ लिङ्गों से करना पड़ता है । पहले जिन्हें लिङ्ग समझा था वे लिङ्गाभास सिद्ध हुए । अब अधर्म के लिङ्गों का ज्ञान हुआ अतः उसकी अधार्मिकता का अनुमान हो रहा है । यह ज्ञान भी आनुमानिक

है प्रत्यक्ष नहीं । किसी भी व्यक्ति को जब तक वह मर न जाये अच्छा या बुरा कहना खतरनाक है । जिन लोगों ने किसी समय राजगोपालाचार्य को सबसे बुद्धिमान बताया वही उन्हें बाद में पागल बताने लग गये । किसी के चित्त में क्या है और वह कब प्रकट हो जायेगा यह कोई नहीं बता सकता । रावण और शिशुपाल की तपस्या के काल में उनकी दुष्टता का किसे पता था ? दम्भ रूपी अधर्म के कारण व्यक्तियों को धार्मिकता का बाना पहने हुए किसने नहीं देखा ? अतः धर्माधर्म सर्वदा ही परोक्ष माने गये हैं । इसीलिये क्रियाहीन धर्म-ज्ञान स्वतः फल नहीं देता ।

ब्रह्म अपरोक्ष होने के कारण ज्ञान मात्र से अज्ञान को निवृत्त कर देता है । यदि ऐसा न होता तो निष्क्रिय होने के कारण किसी भी क्रिया का आश्रय और विषय न बनता एवं अनुपयोगी हो जाता । ज्ञान की फल रूपता तो चोरी आदि से बच निकलने में स्फुट है । यहां कुछ करना नहीं पड़ता । यदि ब्रह्म नित्य परोक्ष होता तो भी व्यर्थ हो जाता । वस्तुतः यदि ब्रह्म साधन सापेक्ष भी अपरोक्ष होता तो साधनों की उसमें गति न होने के कारण व्यर्थता ही रह जाती । वह तो साधन निरपेक्ष ही अपरोक्ष है । रसगुल्ले की अपरोक्षता साधन सापेक्ष है । अतः पत्ते से ढक दिये जाने पर अथवा अंधेरे में या अन्धे व्यक्ति के लिये और कभी-कभी तो पत्नी विरह में अत्यन्त शोकातुर व्यक्ति को आंख खोलने पर भी उसका ज्ञान नहीं हो पाता । एकमात्र अपना आपा ही ऐसा है जिसका ज्ञान किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं रखता । इसीलिये याज्ञवल्क्य आत्मा की स्वयं ज्योतिता का प्रतिपादन करके ब्रह्म से एकता बतलाते हैं ।

यदि वह नित्य अपरोक्ष है तो हमें उसका भान क्यों नहीं ? साधन निरपेक्षता को नहीं समझने के कारण ही उसका भान नहीं हो पा रहा है । हम उसको जानने के लिये साधन करते हुए परेशान हैं । यह साधनों की लत ही हमें उसका अपरोक्ष नहीं करने देती । साधन और उनकी प्रवृत्ति छोड़ी तो सारा काम बना । इसीलिये भगवान्

भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद ससाधन-कर्म-परित्याग को मोक्ष के प्रति कारण बतलाते हैं। ब्रह्मविषयक यह निश्चय ही बुद्धि का एकमात्र वास्तविक निश्चय है क्योंकि बाकी सारे निश्चय कभी न कभी बदल जाते हैं। व्यावहारिक निश्चय कभी पूर्ण नहीं होता। भाव बढ़ते देख कर बुद्धि का निश्चय मान कर भागी प्रमाणपत्र (Share certificate) खरीदने वाला दूसरे दिन घटे भावों को देख कर अपनी ही बुद्धि से अपनी ही बुद्धि को कोसता है। ब्रह्मविषयक निश्चय कभी बदलता नहीं। जप-ध्यानादि साधन भी धन-स्त्री आदि चिन्तन को हटाने मात्र में गतार्थ हैं। अतः अपरोक्ष ब्रह्म की साधन निरपेक्षता ही सर्वदा स्मर्तव्य है। मन इन्द्रियादि सभी इस अपरोक्षता को आवृत करते हैं। अतः इनके द्वारा की जाने वाली प्रवृत्ति भी उसको ढक देती हैं।

परमेश्वर ही सर्वेश्वर रूप से बाह्य रह कर शासन करता है एवं अन्तर्यामी रूप से अन्दर रह कर शासन कर रहा है। यह अन्तर्यामिता ही शिव की विशेषता है। राजा, मालिक आदि भी बाहर से शासन कर लेते हैं। परमेश्वर तुम्हारे पूर्वकृत कर्मों के अनुरूप अच्छे या बुरे संस्कारों को प्रवृत्त करा कर तुम्हें यह प्रतीति कराते हुए कि तुम स्वयं प्रवृत्ति कर रहे हो क्रिया में प्रवृत्ति कराता है। उपादान और निमित्त दोनों ही होने से ईश्वर के लिये यह सरल है। इसीलिये श्रुति 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' कहती है। वही भोग्य प्रपञ्च है, वही भोक्तृ प्रपञ्च है। जिस प्रकार बन्द गुफा में रखा हुआ दीपक मटकी से ढका हुआ है एवं गुफा में स्थित लोग कह रहे हैं कि हम टॉर्च या दियासलाई भूल आये, मेरी दियासलाई खाली है, मैंने दो पत्थर पालिये अगर एक रुई मिल जाय तो काम चल जाय। कोई आलसी कहता है थोड़ी देर में सूर्योदय हो जायेगा तब तक चुपचाप बैठे रहें। अन्ततः एक आदमी मटके को लट्ठ से फोड़ देता है, गुफा में रोशनी हो जाती है। वह बहुत देर से लोगों से एक लट्ठ मांग रहा था कि मुझे दे दो तो

रोशनी कर दूंगा । जब तक उसने यह नहीं किया सब लोग हंस रहे थे । क्या मटकी के फूटने से रोशनी आयी ? तब तो लोग घर में बिजली के लट्टू लाने की जगह मटके ही फोड़ते रहें ! वस्तुतः रोशनी वहीं थी, मटकी के द्वारा आवृत थी, मटकी फूटने से प्रकट हो गई । इसी प्रकार अपने अन्दर आत्म-ज्योति जल रही है परन्तु मन के द्वारा निर्मित द्वैत से ढकी हुई है। इसीलिये भगवान् गौड़पादाचार्य कहते हैं 'मनसोह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते' एवं 'मनसो निग्रहायत्तं अभयं सर्वयोगिणां दुःखक्षयः, प्रबोधश्चाप्यक्षयाशान्तिरेव च ।' (मा० का० ३।४०) शराबियों को, मोतियाबिन्द वाले को एक में अनेकता का भ्रम करण दोष से अनुभव सिद्ध है। पीलिया रोग वाले को इसी प्रकार वर्णविषयक भ्रम होता है। परमार्थ दर्शन की दृष्टि से मन का स्पन्दन स्वतः ही दोष है । उपनिषदों में कथा आती है कि चक्षु आदि इन्द्रियों को असुरों ने बींध दिया । इसका यही तात्पर्य है। देवासुर युद्ध में सर्वत्र देवता प्रथम हारते हैं अन्त में ईश्वर की सहायता से जीतते हैं । इसका तात्पर्य ही यह है कि साधक जब तक स्व साधन सापेक्ष परमेश्वर को समझता है आत्म केन्द्रित बना रहता है । अतः आसुरी सम्पत्ति से हारता जाता है। जब साधन निरपेक्षता के ज्ञान से परमेश्वर का सहारा लेता है आसुरी सम्पत्ति नष्ट हो जाती है ।

कहीं पर बच्चे गोपाल का खेल खेल रहे थे । एक बच्चा गाय बन गया था दूसरा उसे हांक रहा था । एक बुड्ढा आदमी वहीं पर बैठा था । उसको भी शौक चर्राया । वह भी उन में शामिल होने गया। गाय बना हुआ बच्चा भाग गया। बुड्ढा हांफते हुए हाथ में छड़ी लेकर गाय कहां गई, गाय कहां गई सोचता हुआ जा रहा था । तब तक एक सच्ची गाय सामने आ गई । वह उसे ही खेल वाली गाय समझ कर भगाने लगा । गाय ने उसे घर पटका । उसके दांत टूट गये । ठीक इसी प्रकार मन और इन्द्रियां गोपाल और गाय का खेल खेल रही हैं । अनादि काल से चला आने वाला होने से जीव ही पुराण पुरुष है । विषय रूपी गायों को हांकने जाता है जो उसे पटक

देती हैं और इसके दांत टूट जाते हैं। वस्तुतः बुड्ढे का यह भूल जाना कि वह खेलने आया था और सच्ची गाय से उलझ जाना ही दुःख का कारण है। उसी प्रकार जीव का यह भूल जाना ही कि वह संसार के बगीचे में खेलने आया है उसके दुःख का कारण है। वेद इसे जीव का बगीचा 'आरामं अस्य' (बृ०) बताता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन खेल के मैदान हैं। इन मैदानों में घूमते हुए सत्य को नहीं देखा जा सकता अतः उसके साक्षात्कार के लिये इनमें घूमना बन्द करना आवश्यक है। वस्तुतः अत्यन्त सन्निहित अपरोक्ष तत्त्व भी खेल के कारण दूर-सा हो गया है। यह काम बुद्धि के द्वारा ही किया जा सकता है। बुद्धि एक ऐसी इन्द्रिय है जो अन्दर और बाहर दोनों तरफ काम करती है। ज्यादा रबड़ी खाने से जो पेट में दर्द होता है उसका पता इन्द्रिय से नहीं बुद्धि से ही लगता है। परन्तु वासना के दोष या गुणों से बुद्धि राग या द्वेष वाली बन जाती है एवं उससे सत्य का दर्शन सम्भव नहीं है। सर्व वासना रहित होने पर ही बुद्धि आत्मा से तदाकार बन जाती है।

बुद्धि गर्वीली बन कर के लोगों को यहां तक कहने को प्रवृत्त करती है कि परमेश्वर को दुनियां बनानी नहीं आती नहीं तो गुलाब में कांटा क्यों लगाता! वह भूल जाती है कि मच्छर भी यही शिकायत करते हैं कि आदमियों को हाथ वाला क्यों बनाया! इस हालत में स्वार्थ और आसक्ति की पूर्णता होती है। मेरा रेंकना शास्त्रीय संगीत है और बीथओवन की सेवन्थ सैम्फनी कुत्तों का चिल्लाना है। गुलाब में कांटे न होते तो बकरियां चर जातीं। जिस परमेश्वर ने समग्र पदार्थों को ठंडे होने पर भारी बनाया, उसी ने जल को चार डिग्री के बाद हल्का बनाया। अन्यथा बरफ भारी होकर नीचे बैठ जाती और सारे जलचर मर जाते। अब बरफ ऊपर तैरती रहती है और जलचर नीचे खेलते रहते हैं। परन्तु गर्वीली बुद्धि अपने को ही सर्वज्ञ समझती है। ऐसी बुद्धि सदाचार भी नहीं करने देती। अधर्म को धर्म मानती है। तपस्या, त्याग को व्यर्थ समझती है। हमेशा अल्प और अतथ्य को ही पदार्थ समझने के कारण भूमा को समझना

इसके लिये असम्भव है। इसीलिये निरन्तर दुःख भोग स्वाभाविक है। ऐसी बुद्धि अपने लिये घर बनाने का न सोच कर दूसरे के घर को गिराने का सोचती रहती है। आज हमारे सारे नेता अमीर को गरीब बनाने पर सारा जोर लगा रहे हैं, गरीब को अमीर बनाने पर उतना जोर नहीं है। यह प्रवृत्ति गर्व व आसक्ति को छोड़ कर समग्र विश्व में एकत्व दृष्टि करने पर ही सुधर सकती है।

इस बुद्धि की अपेक्षा साधक की बुद्धि सूक्ष्म होती है। परन्तु विचार की कमी वाला साधक साधना को पूरे जोर से नहीं कर पाता। प्रायः शिकायत रहती है कि ध्यान नहीं लगता। विषय के प्रचण्ड प्रकाश में से बुद्धि रूपी गुफा में जाने पर अंधेरा तो नजर आयेगा ही। इसका मतलब यह नहीं कि वहां अंधेरा है। बैठक का मन्द प्रकाश युक्त परदे खिचा हुआ सौन्दर्य बाहर की चिलचिलाती हुई धूप की अपेक्षा अच्छा होते हुए भी थोड़ी देर के बाद ही नजर आयेगा। इसी प्रकार आन्तरिक गुहा का आनन्द विषय की अपेक्षा अधिक होने पर भी कुछ देर अन्दर बैठने पर ही अनुभव हो सकता है। वह परमात्मा रस रूप है अतः जितना ही उसके पास जायेंगे आनन्द की अभिवृद्धि होती जायेगी। कई तथाकथित धार्मिक लोग अपने चारों तरफ ऐसी उदासी फैलाते हैं कि उससे स्वर्ग की तो नहीं नरक की याद अवश्य आ जाती है। अध्यात्म जीवन तो निरन्तर नवीन अनुभूति का क्षेत्र है। बड़े घमण्ड से लोग कहते हैं सौ सुनार की एक लुहार की, परन्तु सुनार की हथौड़ी जिस सुन्दर हार को तय्यार करती है उसको क्या लुहार की हथौड़ी कभी बना सकती है। हरेक सुन्दर काम धीरे-धीरे होता है। मन को सूक्ष्म बनाने से ही वह सूक्ष्म पदार्थ का ग्रहण कर पायेगा। जब चित्त का स्वरूप ही नहीं समझा गया तो उसका नियन्त्रण क्या किया जायेगा? चिन्तन करना ही चित्त का स्वरूप है। अतः जितना ही शुद्ध विषय का चिन्तन किया जायेगा मन सूक्ष्म और शुद्ध होता जायेगा। चिन्तन की रोक नहीं वरन विषय परिवर्तन करना है। यही चित्त की शुद्धि या अशुद्धि का कारण है। दिन भर चोरबाजारी करते रहें, पत्नी की

फर्मायिशों को पूरी करने के लिये कनाट प्लेस घूमते रहें, सास के दुर्व्यवहार को साथिनों को बताते रहें, और चाहें ध्यान करने बैठते ही निर्विकल्प समाधि लग जाय तो यह कैसे सम्भव होगा ? कुछ लोग तो इसी से निराश होकर ध्यान करना भी छोड़ देते हैं। कुछ सप्ताह निरन्तर शुद्ध पदार्थों का चिन्तन करके देखो कि जीवन में कितनी शान्ति एवं ध्यान में कितना आनन्द आता है। राग-द्वेष को छोड़ना प्रथम सीढ़ी है। और यह हमारे हाथ में है। हमारे सिवाय हमारे राग-द्वेषों को कोई दूर नहीं कर सकता। चाहे सारे शास्त्रों को घोट कर पण्डित बन जाओ राग-द्वेष की निवृत्ति के बिना त्रिविध ताप कभी नहीं शान्त हो सकते। आचार्य विद्यारण्य स्वामी तो पण्डितों में त्रिविध ताप के अतिरिक्त और तीन तापों का वर्णन करते हैं। तप से शरीर शुद्ध हो सकता है लेकिन वह भी राग-द्वेष को दूर नहीं कर सकता। तपस्वियों का क्रोध प्रसिद्ध है और पुराणकार तो पण्डितों के बारे में रमन्ते महिषा इव स्पष्ट ही बतलाते हैं।

वैराग्य की प्राप्ति के लिये विवेक की आवश्यकता है। विवेक अर्थात् अलग अलग करके जानना। जब हम अन्नमयादि कोषों से और उनके धर्मों से अपने को अलग करके समझते हैं तब तद्विषयक राग नष्ट हो जाते हैं। परन्तु विवेक व्यावहारिक होना चाहिये। हम अपने दिमाग को कबूतरखाना बना रखते हैं। अतः हमारा ज्ञान संग्रथित नहीं हो पाता। हमारा धर्मविषयक ज्ञान, विज्ञानविषयक ज्ञान, राजनीति विषयक ज्ञान, एक दूसरे से विरोधी होने पर भी तत् तत् काल में चलता रहता है। सत्संग काल में सबसे आगे बैठकर होटल के भोजन की अखाद्यता की स्वीकृति में जोर जोर से सिर हिलाने वाले उठकर बाहर निकलते ही होटल में खाते देखे गये हैं। ऐसे व्यक्तियों का विवेक व्यर्थ है एवं आध्यात्मिक जीवन निरर्थक। जिस प्रकार चौराहे का राजपुरुष दिन भर आसमान के नीचे खड़ा रहने पर भी मृत्तर नियन्त्रण में लगे रहने के कारण आकाश के मेघाच्छादित सौन्दर्य के अवलोकन से वंचित रह जाता है उसी प्रकार मन के चौराहे में नाना

वासनाओं के प्रवाह में पड़ा हुआ परमेश्वर के सौन्दर्य से वंचित रह जाता है।

जीवन का वास्तविक आनन्द तो एकत्व देखने वाला ही लेता है। वह सारी क्रियाओं में अनुस्यूत आत्मानन्द से सम्बन्धित होने के कारण क्षणमात्र भी दुःख का अनुभव नहीं करता। जिस प्रकार पैर में नासूर हो जाने पर जो चिकित्सक की राय से उसको कटवा लेता है उसका रोग दूर हो जाता है। परन्तु जो कटने से डरता है उसे सारे खून में नासूर होकर अत्यन्त कष्ट से मरना पड़ता है। इसी प्रकार एकत्वदर्शी भेददर्शन को काट कर अनन्तानंद का सुख भोगता है और भेद दृष्टि को बचाने वाला राग-द्वेष के नासूर से मारा जाता है। साधन के विषय में विचार चलने पर बहुत से लोग कहते हैं महाराज! आप अपनी शक्ति से खींचेंगे तो सब कुछ हो जायेगा, आप की कृपा चाहिये। सारे संसार का कार्य चलाने के लिये उनकी अपनी शक्ति, उनकी अपनी कृपा। केवल पारमार्थिक विषय में ही अव्यवसायिक वृत्ति अपनाते हैं। अतः अपने राग-द्वेषों की निवृत्ति के लिये साधक को सावधानी पूर्वक प्रयत्न में लग जाना चाहिये। विवेक को व्यावहारिक बना कर वैराग्य उत्पन्न करने पर ही साधना सफल हो सकती है।

* * * *

परमेश्वर की अन्तर्यामिता के द्वारा श्रुति बता रही है कि वह अन्दर प्रकाशित होता है। यद्यपि परमेश्वर ही सर्वरूप है एवं सर्वव्यापक है फिर भी उसकी अपरोक्षता का भान अन्दर ही हो पाता है। इस प्रकार उसने अपने आप को सुलभ बना रक्खा है। उसको जानने के लिये कहीं भी जाने आने की जरूरत नहीं यही उसकी महती कृपा है। फिर भी वह अत्यन्त अणु तत्व है अतः शुद्ध मन के द्वारा जब उसका मनन किया जाता है तभी उसका स्फुरण होता है। मन+न=मनन है। मन को नष्ट करना ही मनन है। जिस प्रकार बरफ की सिल पानी में गल जाती

है उसी प्रकार शुद्ध चित्त ब्रह्म के सम्बन्ध से अपने अस्तित्व को खो देता है। जब तक इस प्रकार मन का आपा नष्ट नहीं हो जाता तब तक मनन करते ही रहना चाहिये। बरफ क्या है? जमा हुआ पानी। पानी के बहने का स्वभाव ठंड से प्रतिबद्ध हो जाने पर ही उसे बरफ कहते हैं। ब्रह्म ही अपनी स्वतंत्रेच्छा से सर्वव्यापकता को प्रतिबद्ध कर मन नाम वाला बन जाता है। इस प्रतिबन्धक के दूर हो जाने पर मन ब्रह्म ही बन जाता है। मन विषयों की तरफ अध्यास के कारण नैसर्गिक रूप से बहता है। प्रयत्न करके अधिष्ठान की तरफ बहाना पड़ता है। वस्तुस्थिति देखी जाय तो विषयों की तरफ भी मन उनमें ब्रह्म समझ कर ही जाता है। अध्यास का अर्थ ही है 'अतस्मिन् तद् बुद्धिः'। आदमी सीप की तरफ नहीं चांदी की तरफ ही दौड़ता है। सीप में चांदी नहीं है यह विषय दूसरा है। ब्रह्म का स्वरूप है आनन्द। जिस विषय में मन को आनन्द प्रतीत होता है उसी तरफ दौड़ता है। विषय में आनन्द है नहीं, केवल अध्यस्त है। इस बात को समझते ही विषयों से निवृत्त हो जाता है। बड़ा आश्चर्य होता है कि हमें विषयों में सुख को ढूंढ़ते पचास साठ साल बीत गये, हमारे बाप परदादा सब ढूंढ़ते रहे लेकिन किसी को न मिला फिर भी हमारा भ्रम दूर नहीं होता। अन्धविश्वास की बड़ी महिमा है। एक सज्जन ने एक प्रश्न पूछा था कि मुंह में उंगली जाने से उंगली जूठी हो यह तो समझ में आता है, पर लड्डू मुंह में जाने पर मुंह कैसे जूठा हुआ? बहुत विचार करने पर यही निर्णय हुआ कि अति दीर्घ काल से चले आने के कारण यह अन्धविश्वास हमारे लिये नैसर्गिक हो गया। लोग कहते हैं कि संसार में दुःख है। संसार से जिसका सम्बन्ध हो वह दुःखी हो यह तो समझ में आता है परन्तु दुःख स्वरूप संसार में दुःख कहां से हो सकता है।

सबसे बड़ी भ्रान्ति है जड़ शरीर को आत्मा मानना। वस्तुतः शरीर, मन, प्राण, इन्द्रियां, बुद्धि में आत्मबुद्धि हटाने के लिये ही तप, शौच, प्राणायाम, श्रवण, भक्ति आदि साधनायें बतायी हैं। सारी साधनाओं

का तात्पर्य अध्यास-निवृत्ति में है। चूंकि सारे अध्यास, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषों के अन्तःपाती होने से चतुर्धा विभक्त होते हैं इसलिये सारे साधनों को भी चार वर्ग में बांटा जा सकता है। आनन्दमय कोश में मन का अभाव होने के कारण अतद्‌बुद्धि की असंभवता तो स्पष्ट है। वस्तुतः श्रुतियों में जो 'अक्षय्यंहवै चातुर्मास्य याजिन:' लिखा है उसका मतलब भी यही है। ब्रह्म का ही नाम अक्षय है। चार अध्यासों की निवृत्ति ही चातुर्मास्य याग है। इसी लिये सर्व-कर्म-तत्साधन छोड़ने वाले संन्यासी भी इस व्रत का अनुष्ठान करते हैं। यही जीवन का उद्देश्य है। काम दिलाने वाले दफ्तर की लाइन में खड़े हुए किसी को रुपया धेली देने पर भी लाइन छोड़ने में प्रलुब्ध नहीं किया जासकता, क्यों कि न जाने फिर कब नम्बर आवे। उस लाइन में खड़े होने से हजारों से अधिक रुपयों की प्राप्ति की आशा लगी है। हम भी ब्रह्मप्राप्ति की लाइन में खड़े होगये हैं और काफी आगे भी बढ़ गये हैं। सत्कुल में जन्म, हृदय में दया, सत्संग, गुरु, शिवभक्ति आदि अनेक गुणों से सम्पन्न होना ब्रह्म के अत्यन्त समीप पहुंचने का लक्षण है। आश्चर्य है कि इतना होने पर भी क्षणिक भोगों के लोभ में हम माया ठगिनी के पञ्ज में पड़ जाते हैं। लाइन से हटने के बाद न जाने वापस कब नम्बर आवे। जिस प्रकार डाल का चूका बन्दर और पंक्ति का चूका साधू भटकता रहता है उसी प्रकार हमें भी चौरासी लाख में भटकना पड़ेगा। अतः प्रयत्न पूर्वक चतुर्विध अध्यास की निवृत्ति के लिये लग जाना चाहिये।

आत्मबल से ही हम में वीर्य आता है। ब्रह्म को विशेष रूप से जानना ही आत्मबल है। आत्मा का सामान्य ज्ञान तो सब को होता ही है। परमानन्द की प्राप्ति के लिये विशेष ज्ञान ही कारण है। प्रश्न होता है कि अखंड अद्वैत निरवयव ब्रह्म में सामान्य-विशेष भाव कैसे हो सकता है, क्यों कि पदार्थ के किञ्चित् अवयव को जानना और अन्य अवयव को न जानना ही सामान्य ज्ञान कहा जाता है। भगवान् पद्मपादाचार्यों ने इसका विस्तार पूर्वक वर्णन करके बतलाया है कि जैसे निरवयव

आकाश में भी दूरत्व कल्पना विशिष्ट में नीलत्व का भ्रम है, सामीप्य विशिष्ट आकाश में नहीं इसीप्रकार अखण्ड ब्रह्म में भी सत्त्व, चित्त्व, सुखत्व और भूमात्व की कल्पना बन-जाती है। इन कल्पित खण्ड ज्ञानों को ही सामान्य ज्ञान कहा जाता है एवं कल्पनातीत को विशेष ज्ञान माना गया है। अशेष अज्ञान नाश के प्रति अखण्ड अपरोक्ष ज्ञान ही कारण है। जिस प्रकार नैय्यायिक मानते हैं कि अग्नि-पट-संयोग के प्रति अग्नि कारण होने पर भी पट नाश के द्वारा उस संयोग का नाश करने वाली भी वही अग्नि है उसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति के प्रति ब्रह्म कारण होकर अन्त में ब्रह्म ज्ञान (ब्रह्माकार वृत्ति) को भी नष्ट कर देता है। ऐसा भी सुना जाता है कि बिछुई के गर्भ से निकलने वाले उसके बच्चे पेट फाड़ कर निकलते हैं और अन्त में बिछुई को भी खा जाते हैं। कुल्हाड़ी का बैंट लकड़ी का ही बना होता है एवं जिस वृक्ष से बैंट बना था उसी को काटता है। इसी प्रकार अन्तःकरण से उत्पन्न ब्रह्माकार वृत्ति अन्तःकरण को ही नष्ट कर देती है। अविद्या तत्कार्य के नष्ट हो जाने से आत्मा का विशेष ज्ञान ही वीर्य कहा जाता है। यह वीर्य ही अनादि घोर संसार को नष्ट करने में समर्थ है। जिस प्रकार अग्नि की ही यह विशेषता है कि अपने संयोग को नष्ट करे, जल-पट-संयोग में जल की यह सामर्थ्य नहीं; उसी प्रकार ब्रह्म में ही यह शक्ति है कि अपने से युक्त अन्तःकरण को नष्ट करे, अनात्मा के संयोग में नहीं। अतः उस शिव के साथ सम्बन्ध कायम करना जरूरी है तभी मोक्ष हो सकता है। 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्'। विचारशील तो जानता है कि वस्तुतः यह मन ब्रह्म ही है। अपने अमृतत्व का ही ज्ञान इसे करना है।

पहले कह आये हैं कि जड़ पदार्थों में ब्रह्म का सत्त्व, चित्त में चित्त्व, एवं कारण में आनन्दत्व का भान है। ब्रह्माकार वृत्ति में भूमात्व का भी भान है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सर्वत्र समान रूप से व्याप्त होने पर भी ग्राहक भेद से दीवाल में एक प्रकार,

वार्निश में अन्य प्रकार, कांच में तीसरा प्रकार एवं तलवार में चौथे प्रकार का भान होता है। सूर्यकान्त मणि में तो उसकी जलाने की शक्ति का भी भान हो जाता है। इसी प्रकार समरस ब्रह्म का भी ग्राहक भेद से ही भेद है स्वरूप से भेद नहीं। आर्द्र ईंधन से संयुक्त अग्नि न सरदी ही दूर कर पाती है न रोशनी ही दे पाती है। केवल धुंये से जी घोटती रहती है। उसी प्रकार आनन्दघन सदाशिव भी विक्षिप्त चित्त से संयुक्त होकर दुःख का ही कारण बनता है। विक्षिप्तता रूपी गीलापना दूर होते ही नित्य सुख का कारण बन जाता है। विक्षेप का कारण चित्त-गत वासनायें ही हैं। जिस प्रकार हवा पानी में लहरें उठाती रहती हैं उसी प्रकार वासनायें चित्त को हिलाती रहती हैं। स्वभाव से चित्त विक्षिप्त नहीं है। विषय-संयोग से ही उसमें वासना का आधान होता है। जिस प्रकार स्वभाव से ठंडा पानी चूल्हे पर रख देने से गरम हो जाता है उसी प्रकार विषय-संयोग होते ही चित्त में वासनायें आकर उसे विक्षिप्त बना देती हैं। वस्तुतस्तु आत्मा स्फटिक की तरह निर्मल है। सामने वाले फूल का रंग उसमें आता नहीं है केवल प्रतीतमात्र होता है। अतः लाल स्फटिक को साबुन से धोना नहीं पड़ता है, फूल हटाते ही सफेद का सफेद रह जाता है। इसी प्रकार विषय निवृत्त होते ही आनन्द अभिव्यक्त हो जाता है। यह सुषुप्ति में सब को अनुभव सिद्ध है। परन्तु अनन्तता की सिद्धि विषयों के हटने मात्र से नहीं होती। सुषुप्ति में परिच्छेद का यही कारण है। यह अनन्तता प्राप्ति ही ब्रह्म प्राप्ति है। इसका अनुभव आज तक नहीं हुआ। यदि किसी क्षण हो जाय तो तुरन्त सारी अविद्या हट जाय। मन शान्त कर देने से आनन्द प्रकट होगा, अनन्तता नहीं। इसीलिये योगी की तरह मन को समाप्त नहीं करना है वरन् मन को रखते हुए उसे ब्रह्माकार बनाना है।

इन्द्रिय-दमन से विषयों का अन्दर आना और अन्दर भरी हुई वासनाओं का बाहर जाना बन्द हो जाता है। अतः वासनाओं की निवृत्ति असम्भव है। सामान्यतः योग में यही त्रुटि है। अभ्यास काल

में वासनायें लय हो जाती हैं और इन्द्रिय रूपी दरवाजे के खुलते ही फिर पूरे जोर शोर के साथ बहने लगती हैं। हजारों वर्षों तक इन्द्रियों को रोकने के बावजूद विश्वामित्रादि का पतन इसे सिद्ध करता है। अन्दर की कामना नष्ट नहीं हुई थी। अतः वैदिक दृष्टि कुछ और है। यहां इन्द्रिय रूपी दरवाजे को बन्द नहीं किया जाता। परन्तु दरवाजे पर बन्दूक हाथ में लिये एक तगड़ा गोरखा खड़ा कर दिया जाता है जो लोगों को बाहर निकलने देता है भीतर घुसने नहीं देता। भीतरवालों को डंडा मारा जाता है अतः वे जल्दी से जल्दी बाहर निकलना चाहते हैं। दृढ़ संकल्प ही वह सिपाही है। शुभ कर्मों के प्रवाह में अन्दर की वासनाओं को बाहर निकाल दिया जाता है। विचार के डंडे से वासनाओं को अन्दर से भगाया जाता है। अनासक्ति के द्वारा विषयों को वासना बन कर बाहर से अन्दर नहीं घुसने दिया जाता। लोग कहते हैं हमें अविद्या ने बांध रखा है, माया ने बांध रखा है, लेकिन यह माया, अविद्या, अज्ञान आया कहां से? तुम्हारा स्वतंत्र काम (संकल्प) ही तुम्हारे बन्धन का कारण है। स्वसंकल्पात् भवेत् जीवः। जगत्-भाव और जीव-भाव के प्रति संकल्प ही एक मात्र कारण है। अतः बार बार वेदों में संकल्प रूपी सन्तरी को दृढ़ बनाने का उपदेश दिया। आंख खुली रहेगी परन्तु मजाल है कि शिव के अतिरिक्त और कोई चीज अन्दर जासके। कान खुले रहेंगे लेकिन किस की हिम्मत है कि शिव के सिवाय और किसी को अन्दर ले जासके। यही आत्म ज्ञान का साधन है। आंख कान बन्द करना नहीं। वैदिक योग में और पातञ्जल योग में इसीलिये बहुत बड़ा फर्क है। भगवान् बादरायण भी 'अपिच संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' कह कर इसी बात को बतलाते हैं।

परोक्ष ज्ञान शान्ति और सुख का कारण नहीं, इसीलिये अपरोक्ष ज्ञान के लिये ध्यान द्वारा पूत अन्तःकरण अपेक्षित है। अशुद्धान्तःकरण में परोक्ष ज्ञान हो सकता है अपरोक्ष नहीं। इसीलिये श्रुतियों ने ध्यानयोगानुगताः, ध्यान-योगात्, अभिध्यानात्, ध्यायमानः आदि के द्वारा ध्यान का प्रतिपादन किया हैं। दृढ़ अपरोक्ष के लिये निदिध्यासन

रूपी ध्यान तो ज्ञान के बाद भी कर्तव्य रहता ही है । दृढ़ अपरोक्ष बोध के बाद ध्यान सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि तब क्षण मात्र भी भेद प्रतीति नहीं होती । जिस प्रकार ज्योतिष्टोमादि कर्म केवल एक बार करने पड़ते हैं और संध्या अग्निहोत्रादि जीवनभर उसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासन दृष्ट-फलक होने से फलोत्पत्तिपर्यन्त करने पड़ते हैं । इसीलिये सूत्रकार कहते हैं 'आवृत्तिरसकृत् उपदेशात्' । इसी को स्पष्ट करते हुए भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'दर्शनपर्यवसानानिहि श्रवणादीनि आवर्त्यमानानि दृष्टार्थानि भवन्ति' दृष्ट फल वाले होने के कारण श्रवणादियों को जब तक दृढ़ अपरोक्ष न हो जाय करते रहना चाहिये । ध्यान के द्वारा ही अन्तःकरण में अपरोक्ष ज्ञान का सामर्थ्य आता है । इसे बतलाते हुए आचार्य वाचस्पति लिखते हैं—'नखलु पित्त-हृतेन्द्रियस्य गुड़े तिक्तासाक्षात्कारः अन्तरेण माधुर्यसाक्षात्कारं सहस्रेणाप्युपपत्तिभिर्निवर्तितुमर्हति अतद्वतो नरान्तरवचांसि वोपपत्ति-सहस्राणि वा परामृशतोपि थूत्कृत्य गुड़त्यागात्' । अर्थात् पित्तदोष से ग्रस्त इन्द्रिय का हजारों युक्तियों के द्वारा भी तीतापने का अपरोक्षा-नुभव मधुरता अनुभव के बिना नहीं हट सकता । पित्त दोष से रहित मनुष्यों की आप्त वाणी, हजारों युक्तियां अथवा परामर्श देने पर भ' थूक कर गुड़ को फेंकना देखा जाता है । इसी प्रकार अशुद्ध अन्तःकरण शास्त्र, युक्ति अथवा गुरु वचन से भी अपरोक्षानुभव उत्पन्न नहीं होता भगवती श्रुति भी वारुणी विद्या में यही बतलाती है । भृगु को उपदेश के बाद 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' तप के द्वारा ही ब्रह्म की जिज्ञासा करने का आदेश दिया है । अतः अपरोक्ष ज्ञान के लिये ध्यान की आवश्यकता श्रुति, युक्ति व अनुभव सिद्ध है ।

ध्यान क्या है ? यह कोई अजीबोगरीब चीज नहीं और न यह कठिन ही है । न जाने क्यों इस शब्द को सुन कर के ही लोग घबरा जाते हैं ? सभी लोग निरन्तर ध्यान करते हैं । ध्यै धातु से निष्पन्न होने वाला ध्यान शब्द चिन्तन का द्योतक है । जिस प्रकार बगुला तालाब पर खड़ा हुआ केवल मछली का चिन्तन करता रहता है उसी

प्रकार किसी भी चीज का चिन्तन ध्यान कहा जाता है । संसार में सभी प्राणी किसी न किसी चीज का चिन्तन करते ही रहते हैं । जब दुकान में आंख का अन्धा गांठ का पूरा ग्राहक आ जाता है तब उस पर कैसी निगाह जमाई जाती है ? ध्यान का स्वरूप है भिन्न जाति के पदार्थों की निवृत्ति पूर्वक समान वृत्ति का प्रवाह । शिव के विषय में इसी प्रकार का चिन्तन करना अध्यात्म शास्त्रों में ध्यान कहा जाता है । जिस प्रकार खास ग्राहक से फंसे रहने पर पत्नी द्वारा लाया गया गरमागरम समोसा भी उपेक्षा का विषय बन जाता है उसी प्रकार शिव चिन्तन में लगे रहने पर संसार के सब सम्बन्ध एवं पदार्थ उपेक्षा के विषय बन जाते हैं । शिव का स्वरूप भी स्वाद आ जाने पर तो अनात्म चिन्तन का बीच में प्रवेश ही नहीं हो सकता क्योंकि उसका सौन्दर्य और माधुर्य अनुपम है । एक बार व्यापार का रस आ जाने पर गुल्ली डंडे वाले दोस्त उपेक्षित हो जाते हैं एवं उनके बुलाने पर भी प्रवृत्ति नहीं होती है । प्रारम्भ में व्यापार का रस न आने के कारण अवश्य अपने मन के साथ जबर्दस्ती करनी पड़ती है । इसी प्रकार प्रारम्भ में, शिव-रस आने के पूर्व, मन के साथ कुछ जबर्दस्ती करनी पड़ती है । वेदान्ती तो इसीलिये श्रवण और मनन से चित्त को शिव तत्व का रहस्य पता करने को कहता है । उसके बाद ही ध्यानरूपी निदिध्यासन करने को कहता है । अतः वेदान्त का ध्यान तो स्वाभाविक प्रवाह में ही चलता है । जब कभी लोग मेहमान, काम आदि के बहाने से ध्यान को टालते हैं तो निश्चय समझना चाहिये कि उन्हें अभी परमेश्वर का रस नहीं आया । ध्यान मन की स्थिरता पर निर्भर करता है । जिस प्रकार अत्यन्त थका हुआ आदमी केवल लेटने मात्र से, जोकि विषयाभाव रूप है, सुख पाता है, उसी प्रकार संसार से श्रान्त मन ध्यान की शान्ति से सुख पाता है । पहाड़ पर पत्थरों को विदारित करने वाला जल ही तल में शान्ति से बहने लगता है । वस्तुतस्तु जब वह समुद्र में पहुंच जाता है तभी सर्वथा शान्त बन जाता है । इसी प्रकार विषय-पर्वतों

में टकराने वाला मन ही ध्यानस्थल में शान्ति से बहता है एवं सदा-शिव के अपरोक्षानुभव में लीन होने पर ही पूर्ण तृप्ति को पाता है। सारे ज्ञानों की परम अवधि शिव ही हैं। इसी में सारे ज्ञान हैं।

जौहरी के हाथ में हीरा लाखों का होता है और वही ग्वाले के हाथ में कौड़ी का भी नहीं। इसी प्रकार यद्यपि परोक्ष रूप से ब्रह्म को लोग जानते हैं परन्तु वह उनके लिये किसी कीमत का नहीं है। ब्रह्मसंस्थ को सारा सुख और सारी शान्ति उसी एक से मिल जाती है। ग्वाला भी हीरे की चमक को देख कर उसे अच्छा कांच तो समझता ही है। इसी प्रकार अहं में चेतनता का अनुभव तो सामान्य जन को भी हो ही जाता है। नाम-रूप-युक्त अनुभव साधारण है एवं अनन्त आनन्द नाम-रूप-मुक्त अनुभव विशेष। घट-पट रूप से भी हमें ब्रह्म का ही ज्ञान होता है परन्तु वास्तविक स्वरूप न जानने के कारण लाभ नहीं हो पाता। रस्सी को सर्प रूप से देखने वाला उससे लाभ नहीं उठा सकता। जिस प्रकार भीड़ में राष्ट्रपति को देखने पर भी उसे मानव रूप से समझा जाता है राष्ट्रपति रूप से नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म को हम पदार्थ रूप से समझने की चेष्टा करते हैं। अर्जुन कृष्ण को मानव समझता रहा इसीलिये वह उनसे भगवद्रूपता का लाभ न उठा सका। इसी प्रकार निरन्तर सर्वव्यापक ब्रह्म को देखते हुए भी हम उससे शान्ति और सुख नहीं पाते हैं।

*　　*　　*　　*

प्रश्न उठता है ध्यान किया कैसे जाय, विशेष करके जब कि श्रुति उसको मन का अविषय बता रही है? 'यन्मनसा न मनुते'। जिसको मन सोच नहीं सकता उसके विषय में वृत्ति का प्रवाह कैसे हो? वस्तुतः श्रुति ने ही अन्यत्र कहा है 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' 'चेतसावेदितव्यः'। ब्रह्म मन का विषय नहीं इसका तात्पर्य कुछ और है। जिस प्रकार अंधरी कोठरी में रोशनी डालने के लिये कांच की जरूरत है। एक विशेष कोण में कांच को रखने पर सूर्य की रोशनी अन्दर चली जाती है। इसी प्रकार जड़ विषयों को प्रकाशित करने के लिये अन्तःकरण की

आवश्यकता होती है। विषयों के सामने करने पर अन्तःकरण ब्रह्म के ज्ञान को उन तक पहुंचा देता है। परन्तु क्या सूर्य को देखने के लिये दर्पण की आवश्यकता है ? इसी प्रकार ब्रह्म को देखने के लिये मन की आवश्यकता नहीं। इसी दृष्टिकोण से मन की साधनता का निषेध है। मन को उधर केन्द्रित नहीं किया जा सकता यह इसका तात्पर्य नहीं। वस्तुत: औपाधिक भेद कल्पना के द्वारा ही ध्यान किया जाता है। औपाधिक शब्द से घबरा नहीं जाना चाहिये। सारे ही लौकिक व्यवहार उपाधि से ही सम्पन्न होते हैं। बी. ए., एम. ए. की उपाधि के आधार पर ही नौकरी मिलती है। मिलने पर भी फर्स्ट क्लास, सेकिंड क्लास के भेद से तनखा और मर्यादा में भेद रहता है। किसी ब्राह्मण को भोजन करने बुलाने पर उसके बच्चे और पत्नी को अलग से नहीं बुलाना पड़ता। वे उसकी उपाधि हैं। उपाधि को प्रधान रखें या उपाधि वाले को यह आप पर निर्भर करता है। ध्यान में भी यही बात है। परमेश्वर का ध्यान करेंगे तो उसकी उपाधि भी साथ आयेगी। शुद्ध सत्त्व वाला उपाधि वाले अर्थात् ध्येय तत्त्व को प्रधानता देता है। मन्द वासना से स्पृष्ट मध्यम सत्त्व वाला ध्येय और उपाधि दोनों को समान रूप से प्रधानता देता है। सामान्य साधक उपाधि को ही प्रधानता देता है। इसमें ऐश्वर्य की सर्वाधिक प्रधानता रहती है। यदि चाहे तो ईश्वर हमें दे सकता है, इस भावना से ही साधारण उपासक उपासना में प्रवृत्ति करता है। कामना पूर्ण न होने पर इसका दिल टूट जाता है। मध्यम ध्याता की दृष्टि में यद्यपि परमेश्वर दे सकता है परन्तु यह उसकी इच्छा पर है। पाने और न पाने की दोनों ही अवस्था में उसका भाव एक सा रहता है। हमें परमेश्वर से कुछ चाहिये ही नहीं वह स्वयं ही हमारा धन, सुख, शान्ति, सब कुछ है, वह हमारे लिये कुछ कर सकता है ऐसा नहीं, वरन् हम उसके लिये सब कुछ कर सकते हैं, यह उत्तम साधक की भावना है।

उत्तम साधक बनने के लिये श्रद्धा और तत्परता आवश्यक है। आप रुद्र का ध्यान करते हैं। कुछ दिनों बाद सुनते हैं देवी का ध्यान

अच्छा है तो मन डोल जाता है । आप अपने मंत्र, मूर्ति इत्यादि को बदल देते हैं । फिर कोई कहता है ॐ ही सबसे अच्छा है तो उसी में लग जाते हैं । यह श्रद्धा की कमी है । साधना प्रारम्भ करने के पूर्व खूब विचार पूर्वक निर्णय करना चाहिये । परन्तु एक बार शुरू करके बदलना नहीं चाहिये । बड़ी से बड़ी कठिनाई आने पर भी, फल न मिलने पर भी, निरन्तर लगे रहने का गुण तत्परता कही जाती है । मन को विषयों से खाली करके हल्का बना लेना चाहिये । अत्यधिक लोहे के भार को बैल खींच नहीं पाते वरन् मर भी जाते हैं । इसी प्रकार विषयों से भारी हुए मन को परमेश्वर की तरफ नहीं चलाया जा सकता । ध्यान करने के लिये एकान्त की आवश्यकता होती है । चांदनी चौक की भीड़ भाड़ में ध्यान सम्भव नहीं । यद्यपि अत्यन्त अशुद्ध अन्तः करण वाले के लिये एकान्त पतन का मार्ग हो जाता है तथापि साधक के लिये वह उन्नति का पथ है । सामाजिक विश्रृङ्खलता के कारण आज चोरी और चोर बाजारी प्रतिष्ठित व्यवसाय बन गया है एवं होटल, शराब और क्लब अब लज्जाजनक नहीं रहे । सामाजिक श्रृङ्खलित जीवन में बहुत कुछ मनुष्य का व्यवहार सामाजिक बल से सुधर जाता है । परन्तु धार्मिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन भिन्न चीजें हैं । आध्यात्मिक जीवन सर्वथा वैयक्तिक होता है । किसी भय से पाप न करना धर्म हो सकता है परन्तु वह हमें आध्यात्मिकता की ओर एक जौ भर भी नहीं लेजाता । अतः आध्यात्मिक साधक के लिये एकान्त जीवन आवश्यक है । आध्यात्मिक साधक के लिये कम खाना भी जरूरी है । आजकल एक गलत धारणा बन गई है कि खाने से पुष्टि आती है । वस्तुतः जितना अधिक हजम होता है वह पुष्टि देता है । चूंकि साधक थोड़ा खाकर उसके सारे तत्त्व को खींच लेता है अतः उसे अत्यन्त कम मात्रा में खाना पड़ता है । व्यर्थ का भोजन खाने और निकालने का उसका शारीरिक श्रम बच जाता है । इस श्रम के कारण ही अधिक खाने वाला तामसिक बन जाता है । भोजन थोड़ा और हल्का होना चाहिये । भोजन से ही मन बनता है ।

'अन्नमयं हि सोम्य मनः' । आज का विज्ञान देह पुष्टि पर ध्यान देता है, मन के विषय में अभी उसने विचार नहीं किया । अतः साधक को सर्वथा उन पर आधारित न होकर स्वानुभव, गुरु और शास्त्र की आज्ञानुसार चलना चाहिये । केवल मेध्य भोजन ही करना चाहिये ।

मौन भी ध्यान के लिये आवश्यक है । बाह्य शब्द मन को कितना विक्षिप्त करता है यह अखबारों से स्पष्ट है । जहां अखबार पढ़ने को नहीं मिलता ८५ प्रतिशत विक्षेप दूर हो जाता है । दिल्ली के ज्यादा से ज्यादा २५ मकानों को हमने अन्दर बाहर से देखा होगा । परन्तु गृहविज्ञान की पत्रिकाओं में हजारों मकानों को अन्दर से देख लिया जाता है । आचार्य अनुभूति स्वरूप तो एकान्त से भी अधिक मौन को उपादेय बतलाते हैं । बहिः शब्द की अपेक्षा अन्तः शब्द अधिक कष्ट देते हैं । हमारा सारा चिन्तन शब्दों के द्वारा ही तो होता है । सामान्य जन को यह जान कर आश्चर्य होगा कि जब मनुष्य सोचता है उसके नादस्थान (Vocal chords) की मांस पेशियां भी स्फुरण करती हैं । कुछ लोग तो सोचते समय हाथ मुख को जोरों से हिलाने भी लगते हैं । कुछ का सोचना तो इतने जोर से होता है कि पड़ोसी को पता लग जाता है । श्रुति ने इसीलिये 'नानुध्यायाद्बहूञ्शब्दान्' 'अन्यांवाचां विमुञ्चथ' इत्यादि स्थलों में बहुत या अन्य शब्दों को छोड़ना कहकर थोड़े से आत्म सम्बन्धी शब्दों को रखने का विधान किया है । अन्यथा साधना ही असम्भव हो जाती है । ध्यान चिन्तन-रूप होने के कारण शब्द के सहारे के बिना नहीं हो सकता । ये शब्द उस झाड़ू की तरह हैं जो स्वयं मैला होने पर भी कमरे को झाड़ देता है । शब्दत्व अविशिष्ट होने पर भी ये शब्द अन्य सारे वासनात्मक शब्दों को हटा देते हैं । परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि कितना भी साफ करने वाला हो झाड़ू बिछौने पर नहीं रखा जा सकता । उसको छूकर भी हाथ धोना ही पड़ता है । इसीलिये सिद्धावस्था में उनको भी छोड़ने का विधान है । 'बाल्यंच पाण्डित्यं च निर्विद्य अथ मुनिः' ।(बृः ३/५) सरलता और ज्ञान को प्राप्त करके फिर सारे शब्दों को छोड़ दे ।

प्रश्न हो सकता है कि कितने शब्दों को रखा जाय । इतना तो निर्णीत है कि केवल शास्त्रीय शब्दों को ही रखा जा सकता है । लेकिन उनमें से भी कितने शब्दों को रखा जाय यह व्यक्ति के अधिकारानुरूप ही हो सकता है । जिस प्रकार कौन कितना खाय यह सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये । न्यूनतम जितने शब्दों में हमारा वृत्ति प्रवाह निरन्तर चलता रहे उससे एक भी अधिक शब्द नहीं रखना चाहिये । शब्दों का प्रयोग जितना कम होगा उतना ही उनका मन में आना बन्द होगा । हमारा दुर्भाग्य है कि मौन का आविष्कार करने वाला भारत आज चुप रहने के सुख को भूल गया । पाश्चात्य देशों में दिनों तक रेल की सफर में आपको व्यर्थ की बकवाद का मौका नहीं मिलता । यहां तो यदि डब्बे में एक भी और यात्री हो तो वह आप कहां जा रहे हैं, आपके कितने बच्चे हैं, लड़कियों की शादी हुई कि नहीं, क्या तनखा है इत्यादि हल्ला मचा के उसे नरक बना देता है । मित्रों का चुपचाप बैठकर आनन्द लेना भारत में असम्भव है । यहां तो चुप रहने वाले को गंवार समझा जाता है । इसी लिये आचार्य जगद्धर भट्ट कहते हैं कि 'विमर्शशून्य निरर्थक शब्दों से हम अपने आप को भरते रहते हैं । परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य विषय में वाणी का उपयोग न करने का नियम साधक के लिये अत्यधिक उपादेय है चाहे वह शुरू में हफ्ते में एक दिन का ही हो ।

पुण्य देश का सेवन भी ध्यान के लिये उपयोगी है । यद्यपि सारे शरीर में मन रहता है फिर भी सुख दुःखादि का अनुभव विशेष रूप से हृदय में ही होता है अतः वही विशेष अभिव्यक्ति का स्थान माना गया है । इसी प्रकार पृथ्वी सब जगह एक सी होने पर भी कहीं चावल अच्छा पैदा होता है, कहीं बाजरा । केशर और कुंकुम कश्मीर में ही पैदा होता है । उत्तम रूई मिश्र की भूमि को ही मांगती है । इसी प्रकार साधना के लिये भी विशिष्ट स्थल हैं । 'रेवातीरे तपः कुर्यात् ज्ञानं च जाह्नवीतटे ।' नर्मदा का तट ही तप के लिये उत्तम है और गंगा का तट

ज्ञान प्राप्ति के लिये। पुण्य देशों में जाने से स्वभावतः चित्त की एकाग्रता बढ़ती है। इसी लिये तीर्थ सेवन को प्रधानता दी गई है।

ध्यान के लिये आसन भी एक आवश्यक अंग है। यद्यपि खड़ा रहना, लेटना, एवं बैठना तीनों ही प्रकार से मनुष्य का अवस्थान सम्भव है, परन्तु ध्यान बैठकर ही हो सकता है। खड़े होने पर गिरने का भय है एवं लेटने पर नींद आने का भय है। जो किसी कारण से बैठ ही न सकते हों वह अंगहीन ध्यान भी कर सकते हैं। लेकिन इसे बहाना न बनाना चाहिये। कम से कम तीन घंटा निश्चल अवस्था में बैठने का सब को अभ्यास करना चाहिये। यह कोई कठिन कार्य नहीं। आज चलचित्र ने इस कार्य को बड़ा सरल बना दिया है। यथासम्भव पूर्व या उत्तर की तरफ को मुंह करके बैठना चाहिये। जो व्यक्ति कमसे कम तीन घंटे ध्यान नहीं कर सकता उसका ध्यान जमता नहीं। प्रथम घंटा तो बाह्य वृत्तियों के हटाने में लग जाता है, दूसरे घंटे में मन को शान्त करना पड़ता है और तब तीसरे घंटे में ध्यान होता है। इसी लिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'अतएव पद्मकादीनां आसनविशेषाणां उपदेशः' एवं 'आसीनकर्मोपासनम्'। अर्थात् उपासना बैठ कर ही करने वाला कर्म है इसीलिये पद्मासन वगैरह विशेष आसनों का उपदेश किया गया है। जिस किसी प्रकार से सुखपूर्वक निश्चल भाव से बैठा जा सके वही आसन श्रेष्ठ है।

समय भी ध्यान के लिये उपयुक्त होना चाहिये। सभी कामों का अपना समय होता है। रात में स्वभावतः नींद आती है। रात का पहरेदार अपनी सम्पूर्ण इच्छा शक्ति को लगाकर सावधानतापूर्वक रहते हुए भी बीच-बीच में ऊंघ जाता है एवं दिन के समय बहुत कोशिश करने पर भी नींद नहीं आती। प्रातःकाल का समय ध्यान के लिए उपयुक्त है क्योंकि उस समय संस्कार अप्रबुद्ध होते हैं। सुषुप्ति में सत् से सम्बन्ध हुआ-हुआ रहता है अतः सात्विक वृत्ति का प्रकाश अधिक होता है। मनुष्य केवल अपनी क्रियाओं से ही नहीं सन्निधि मात्र से भी हमारा नुकसान करता है। जिस प्रकार वह जिधर से

निकलता है अपने शरीर की दुर्गन्ध को छोड़ता जाता है उसी प्रकार चारों तरफ अपने मन की दुर्गन्ध को भी फैलाता जाता है। प्रातः लौकिक व्यक्तियों का सम्पर्क नहीं होता। उनमें से अधिकतर तो सोये रहते हैं इसलिये सारा वातावरण भी सात्त्विक रहता है। इसलिये उनके उठने से पहले ही ध्यान समाप्त कर लेना सरल, सुखद एवं सुरक्षित है। जल्दी सोना और जल्दी उठना ध्यान करने वाले को ग्राह्य है।

प्राण और अपान की गति को समान करने से ध्यान में बड़ी सुविधा हो जाती है। यह स्वभावतः भी होता है एवं क्रिया साध्य भी है। सामान्य साधक स्वभावतः इनकी समानता का उपयोग करे। जब दोनों नथुनों से वायु का प्रवाह अन्दर और बाहर समान गति से चल रहा हो तब यह अवस्था समझनी चाहिये। कहीं ऐसा न समझ लेना कि एक घंटा प्राण में ध्यान कर लिया एक घंटा अपान में तो ठीक हो जायेगा। १८ बरस की लड़की के लिये २२ बरस का एक वर ही काम दे सकता है ११ बरस के दो नहीं। प्राण और अपान की समानता प्रयत्न पूर्वक लाना योग साधना का विषय है।

इन सभी साधनों के द्वारा ध्यान का अभ्यास करने वाला अन्तः-करण को शुद्ध करके अपरोक्ष ज्ञान का अधिकारी बन जाता है।

* * * *

वस्तुतः परमेश्वर ही सचमुच अपरोक्ष है। इसीलिये वेद में उसे साक्षात् अपरोक्ष कहा है। 'यत् साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म' (बृ० ३/४/४/) में श्रुति साक्षात् विशेषण देकर दो प्रकार के अपरोक्षों को बतला रही है। प्रत्यक्ष और शब्द भी अपरोक्ष ज्ञान कराते हैं। परन्तु साक्षात् अपरोक्ष तो विषयगत गुण के कारण केवल ब्रह्म का ही हो सकता है। रात्रि में दूकान पर जो साड़ी अत्यन्त सुन्दर अपरोक्ष हो रही थी वही दिन में भद्दी मालूम पड़ती है। इसका कारण वहां के प्रकाश का सूर्य प्रकाश से भिन्न होना है। अपरोक्ष होने पर भी रोशनी के माध्यम से ही वह सम्भव है अतः साक्षात् नहीं। इसी प्रकार शब्द से भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में अर्थों के सूक्ष्म भेदों में फरक हो जाता

है। इसका कारण है पहले वक्ता के मन में बात आयी, फिर उसने शब्द चुना, फिर उसके लिये वाक्य बना, फिर हमने सुना, फिर पदों में समझा तब अपनी वासनाओं के बल से उसके अर्थ का ज्ञान किया। अनादि काल से सारे ही विद्वानों के झगड़े अधिकतर शब्दार्थ भेद के कारण ही हैं ऐसा ध्वनि सिद्धान्त मानता है। जानश्रुति को रैक्व ने शूद्र कहा और आज तक इस का विवाद चल रहा है कि इस शब्द का अर्थ क्या था। चूंकि दूसरे का भाव शब्द के द्वारा व्यक्त होता है अतः वह भी साक्षात् अपरोक्ष नहीं है। वस्तुतः प्रत्यक्ष और शब्द व्यवहित अपरोक्ष माने गये हैं। चूंकि आत्मा अव्यवहित विषय है अतः उसका ज्ञान भी साक्षात् अपरोक्ष है। इसीलिये उषस्त चाक्रायण को जवाब देते हुए 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' कह कर सर्वान्तरत्व ही उसकी अपरोक्षता में हेतु रूप से बतलाया है। माण्डूक्य उपनिषद् का यह मन्त्र भी अन्तर्यामी शब्द से इसी बात को बतला रहा है। उषस्त ने फिर पूछा अन्दर तो प्राण, मन आदि सभी हैं तब याज्ञवल्क्य ने कहा जो प्राणन करता है, अपानन करता है अर्थात् सब क्रियाओं के अन्दर है वही आत्मा है। चाक्रायण कहने लगा मुझे तो उसे गाय की तरह सामने दिखा दो। तब याज्ञवल्क्य ने कहा वह सब का अन्तर होने के कारण देखा सुना कैसे जा सकता है। इस प्रकार आत्मा की साक्षात् अपरोक्षता का प्रतिपादन श्रुति की विशेषता है।

जिस प्रकार अन्तर्यामी कह कर उसकी साक्षात् अपरोक्षता बतलाई है उसी प्रकार सबकी योनि अर्थात् जगत्कारणता का प्रतिपादन किया जा रहा है।

संसार के सभी आस्तिकवादी जगत् का निमित्त या चैतन्य कारण तो ईश्वर को स्वीकार करते हैं परन्तु उपादान कारण के विषय में मतभेद है। माया, प्रकृति, परमाणु, कर्म, शून्य, विज्ञान, जीव, विद्युत् इत्यादि प्रतिपादित किये गये हैं। वेदान्ती कहता है कि किसी ने सृष्टि होते हुए देखी हो यह असम्भव है। अतः सृष्टि कारण ज्ञान ईश्वर को छोड़ कर और किसी को नहीं हो सकता। ईश्वर से भिन्न किसी भी

कारण का प्रमाण नहीं मिलता अतः वही एक मात्र कारण सिद्ध होता है। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' भी इसी बात को बतलाता है। वस्तुतस्तु काल, स्वभाव इत्यादि अन्य उपादान कारणों का अनुवाद करके श्रुति उनका साक्षात् निषेध भी करती है। अतः ईश्वर से अतिरिक्त कारण मानने वाले सभी श्रुति-सिद्धान्त के विरुद्ध हैं।

नैय्यायिक आरम्भवाद मानता है एवं सांख्यवादी परिणामवाद मानता है। नैय्यायिक का कहना है कि यदि परिणाम माना जाय तो प्रत्येक बार नये कारण को लेना पड़ेगा क्योंकि परिणाम का लक्षण है तत्वतः अन्यथाभवन। आरम्भवाद स्वीकार करने पर यह कठिनाई नहीं रहती क्योंकि मकान की ईंट आदि का पुनः प्रयोग किया जा सकता है। सांख्यवादी का कहना है कि महाप्रलय में केवल निराकार निरवयव प्रकृति ही रह जाती है। अतः उसमें से सावयव साकार जगत् कैसे निकल सकता है। नीले धागे से सफेद कपड़े का बुना जाना कैसे सम्भव है? परिणामवाद में पूर्व रूप का त्याग हो जाता है अतः निराकार वायु से आकार वाले तेज की उत्पत्ति भी सम्भव हो जाती है और महाप्रलय की निराकारावस्था से जगत् की साकारावस्था भी सम्भव हो जाती है। वेदान्ती इन दोनों विकल्पों का विचार करके दोनों को अस्वीकार करता है। भगवान् गौड़पादाचार्य कहते हैं 'भूतं न जायते किञ्चित् अभूतं नैव जायते। विवदन्तोद्वयाह्येवं अजातिं ख्यापयन्ति ते। ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयं। विवदामो न तैस्सार्धं अविवादं निबोधत।'' अर्थात् न सत्कार्यवाद ही ठीक है न असत्कार्यवाद। लेकिन उन दोनों के विवादों से किसी भी चीज की उत्पत्ति की असम्भवता सिद्ध हो जाती है। चूंकि वादी प्रतिवादी बन कर वे अजातवाद को ही पुष्ट करते हैं इसलिये हम दोनों पक्षों को साधुवाद देते हैं। उनके साथ विवाद नहीं करते। हे शिष्यों! आप भी उनसे विवाद न करके विवाद रहित अजात पक्ष को स्वीकार करलो। बौद्धों के संघातादि पक्ष तो अत्यन्त कमजोर होने के कारण विचार करने योग्य ही नहीं हैं। वस्तुतस्तु वैदिक इन विषयों में

अनुमान को प्रमाण ही नहीं मानता। श्रुति को केवल विवर्तवाद इष्ट है जो अजातवाद का ही व्यावहारिक रूप है।

* * * *

जिस प्रकार वासना के भेद से जीवों का भेद होने के कारण साधकगत साधनों का भेद हो जाता है उसी प्रकार उपाधि के कारण ईश्वर में भी साध्य या उपास्य रूप से भेद हो जाता है। जब सत्त्वोपहित तमोविशिष्ट गुण होता है तब उसको रुद्र कहा जाता है। इस रहस्य को न समझने के कारण बहुत से लोग रुद्र को तमोगुणी समझ लेते हैं। तमोगुणी अर्थात् तमोगुण वाला जीव हो सकता है ईश्वर नहीं। तमोगुण का शासक ही तमोगुण का ईश्वर कहा जा सकता है। किंच रुद्र का कार्य संहार है। तमोगुण का कार्य निद्रा, आलस्य, प्रमाद गिनाया गया है संहार नहीं। अतः सत्त्व स्वरूप में स्थित होकर तमोगुण को चलाने वाला रुद्र है। इसीलिये तमोगुण का अधिष्ठाता होने पर भी रुद्र स्फटिक वर्ण के एवं ध्यान शील माने गये हैं। विष्णु तमोपहित सत्त्वविशिष्ट होने के कारण कृष्ण वर्ण के और सोते हुए माने गये हैं।

ईश्वर का स्वरूप चित् शक्ति है। चित् और शक्ति अलग-अलग नहीं वरन् स्वरूप में एकीभूत है। अज्ञान दृष्टि से जो शक्ति है ज्ञान दृष्टि से वही चित् है। दोनों का सामरस्य ही अनुत्तर तत्त्व है। यह शक्ति ज्ञान-इच्छा-क्रिया से तीन रूप वाली है। 'स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च'। ज्ञान शक्ति अविद्या की संहारिका होने के कारण तमोगुणी प्रतीत होती है। उधर गुण विचारक लोग सत्त्वात् संजायते ज्ञानं मानते हैं। इसी प्रकार संहारक रुद्र ही ज्ञानदाता माने गये हैं। भागवतकार तक ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरात् लिख गये हैं। इसी प्रकार नारायण का कार्य पालन करना है। तथापि सब से ज्यादा राक्षसों को मारने का कार्य वे ही करते देखे जाते हैं जो लोकदृष्टया तमोगुण का कार्य है। क्रिया का मूल ज्ञान मानना ही पड़ता है। विष्णु सत्त्वगुण के अधिष्ठाता होने पर भी स्थिति काल का समर्थन करते हैं। इसीलिये जीवों के बन्धन का कार्य वे ही करते हैं। जीव का संरक्षण ही जीव का बन्धन है। रजोगुण प्रवृत्ति रूप होने के कारण किसी अन्य गुण की आवश्यकता नहीं

रखता। इच्छा में विषय रूप से ज्ञान एवं आश्रय रूप से क्रिया रहती ही है। अतः ब्रह्मा में रजोगुण उपहितत्व और रजोगुण विशिष्टत्व दोनों ही हैं। नारायण सोते रहते हैं, और शिव समाधि लगाते रहते हैं अतः आपत्ति आने पर उनको प्रार्थना द्वारा उठाना पड़ता है। उत्कट राग के कारण ब्रह्मा जी स्वतः प्रवृत्ति करते रहते हैं। इन्हीं उपाधिगत भेदों को लेकर ही एक ही परमेश्वर के अनेक रूपों की कल्पना करनी पड़ती है। जीव में जिन वासनाओं की प्रबलता होगी उनका ही विपरीत तत्त्व उपहित हो जायेगा, एवं समान तत्व विशिष्ट हो जायेगा और वह रूप ही उपास्य बन जावेगा।

यद्यपि तत्त्व दृष्टि से विष्णु में और मच्छर में कोई भेद नहीं है फिर भी विष्णु ही उपास्य हैं क्योंकि जीव की उपाधि मलिन माया है, और ईश्वर की शुद्ध माया। यद्यपि अल्मारी की लकड़ी और कांच दोनों ही अन्तस्थ पदार्थ को छूने नहीं देती लेकिन कांच की पारदर्शिता से अन्तस्थ पदार्थ दीख जाता है। इसका उपयोग व्यापारी लोग खूब जानते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु आदि में से अन्तस्थ चेतन दीख जाता है। अनावृत न होने पर भी कुछ ज्ञान तो हो ही जाता है। साड़ी को पहनने की इच्छा यद्यपि कांच के अन्दर से पूरी नहीं हो सकती लेकिन देखने की इच्छा तो पूरी हो ही जाती है। इतना ही नहीं खरीदने की इच्छा प्रबल हो जाती है। इसी प्रकार तत्पदार्थ के साक्षात्कार से उससे अभिन्न होने की कामना प्रबल हो जाती है। किंच ईश्वर में नित्य शक्ति का उद्बोध होने के कारण उसकी कृपा से साधन सरल हो जाते हैं। ब्रह्मा में रजोगुण ही रजोगुण है और विष्णु में केवल अन्दर सत्त्वगुण है। अतः विष्णु ब्रह्मा की अपेक्षा अधिक उपास्य है। रुद्र में बाहर सत्त्व गुण होने के कारण सत्त्वगुण का चरमोत्कर्ष है अतः वे सर्वोत्कृष्टतया उपास्य हैं। उपासना शास्त्र अत्यन्त गम्भीर है अतः इसका विस्तार यहां कार्य नहीं।

* * *

'आदधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि' इस श्रुति में एक गूढ़ बात कही गई है। बड़े-बड़े विद्वानों ने अपनी टिप्पणी देते हुए कहा है कि

इसका अर्थ नहीं लगता। साधारण अर्थ लगाने से 'तेरे पैर को जलती हुई तीव्र अग्नि के अन्दर रखता हूं' ऐसा अर्थ का अनर्थ होता है। यहां श्रुति ने अग्नि शब्द का प्रयोग न कर 'जातवेदसे' का प्रयोग किया है। जिस ज्ञान से वेद उत्पन्न हुआ है या जो उत्पन्न होते ही चीज को जान ले, दोनों अर्थों में जातवेद का अर्थ ज्ञान है। अग्नि ज्ञान का प्रतीक है। तीव्र जलता हुआ ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान है। उसमें 'ते पदं आदधामि' का अर्थ हुआ 'तुम्हारे पद को धारण करता हूं' और अपनी मन्या को नष्ट करता हूं। हम अपनी मन्या के कारण ही बंधते हैं। वेदान्त की भाषा में मन्या ही चित्त है। उस चित्त को कैसे जलाया जाय? श्रुति कह रही है कि उसके अन्दर परमेश्वर को स्थापित कर दो तो वह जल जायेगा। मन के अन्दर प्रवृत्तियों के संस्कार पड़े हुए हैं। ऊर्ध्व चेतना से आने वाले ब्रह्म से अधः चेतना के संस्कार जल जायेंगे। अतः अपने आप को ऊर्ध्व चेतना के अधीन कर देना है।

परमेश्वर रूपी अग्नि में जो मन्या को जलाता रहेगा वही मोद करेगा। परमेश्वर रूपी आग ही तप है। वेद कहता है 'यस्य ज्ञान मयं तपः' प्रज्वलित ज्ञानाग्नि को हमेशा चित्त में जलाना ही तप है। भरद्वाज ऋषि कहते हैं कि ब्रह्म के द्वारा सप्तप्राण और आठमन्या को दूर करना है। सारे स्नायु मंडल के केन्द्र को ही मन्या कहा जाता है। इस भौतिक केन्द्र में रहने वाली प्रवृत्तियों की वहीं स्थिति है। अधश्चेतना वहीं है। आधुनिक मनोविज्ञान में स्वाभाविक प्रवृत्ति (instinct) का वह केन्द्र है। उसमें विकार आने से स्वाभाविक प्रवृत्ति गड़बड़ हो जाती है। यथा भय उत्पन्न करने वाले पदार्थ को देखते ही खून में शक्कर की मात्रा बढ़ जाती है। क्यों बढ़ जाती है यह विषय दूसरा है। अचार की दूकान के सामने से निकलते ही जीभ में पानी आने लगता है। इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों का केन्द्र मन्या है। आठ प्रवृत्तियां जीव के बन्धन का साक्षात् कारण होने से वेद ने चुन लीं। वे आणव, मोह, मद, राग, विषाद, ताप, वैचित्र्य,

ग्रौर शोष हैं। ग्राणव कहते हैं ग्रपने को परिच्छिन्न, संकुचित समझना। यहां बैठे हुए हमको चन्द्रमा दीख रहा है। ग्रतः मेरा ग्रौर चन्द्रमा का समानाधिकरण है। इसलिये मानना तो यह चाहिये कि मैं चन्द्रमा तक व्यापक हूं। यथा दिल्ली में बैठे हुए मुझे यह पता नहीं कि कलकत्ते में मेरे लड़के का क्या हाल है क्योंकि मैं कलकत्ते में नहीं हूं। जहां मैं होता हूं वहां का पता चल जाता है। जिस समय मैं कमरे में हूं मुझे कमरे का पता लग रहा है कि मेरे ग्रास पास कौन लोग बैठे हैं। ऐसे ही यदि मुझे चन्द्रमा का पता चलता है तो मेरा चन्द्रमा से समानाधिकरण है। ग्रतः उस समय मैं चन्द्रमा तक व्यापक हूं। इस व्यापकता का ग्रनुभव करते हुए भी ग्राणव प्रवृत्ति मुझे परिचालित करती है। 'ग्राणवत्त्वं नाम ग्रात्मनो दृक्क्रियावरोहत्वम्'। व्यापक में क्रिया नहीं होती। क्रिया शक्ति को तो परिच्छिन्नता ही परिचालित करेगी। व्यापक ग्राकाश न कहीं जाता है, न ग्राता है। व्यापक ग्रात्मा में भी प्रवृत्ति सम्भव नहीं। उस में परिच्छिन्नता लाने से ही क्रिया सम्भव होगी। ग्राकाश में तुम कुछ रख नहीं सकते। घड़े के ग्रन्दर की खाली जगह (परिच्छिन्न ग्राकाश) में पानी रख सकते हो। इस कमरे की खाली जगह में पानी नहीं रख सकते। व्यापक पदार्थ में क्रिया सम्भव नहीं। ग्रतः व्यापक ग्रात्मा में तब तक प्रवृत्ति सम्भव नहीं जब तक इसे परिच्छिन्न न कर दिया जाय।

ग्रपने को परिच्छिन्न समझना ही सारी क्रियाग्रों का मूल कारण है। ग्रतः ग्राणव मूल कारण है ग्रौर बाकी सारी प्रवृत्तियां उसी से चलती हैं। ग्राणव ग्राने से मोह ग्राया। मोह का स्वरूप है 'मोहो नाम मलः पुंसां सहजः ग्रनादिमान्'। यह मल सहज ग्रौर ग्रनादि है। ग्राणव से उत्पन्न होने के कारण इसे मल या मैल कहा गया। ग्राकाश ग्रपरिच्छिन्न है ग्रतः उसमें मल नहीं। सारी फैक्ट्रियों का धुंग्रां ग्राज तक उसे काला नहीं कर पाया। सारे बादल पानी बरसा कर ग्राकाश को ग्राज तक गीला नहीं कर पाये। पर परिच्छिन्न कमरे के ग्रन्दर

फौरन धुंआं भर जाता है। सहज का अर्थ है कि यह साथ ही पैदा हुआ है। मोह ही मद आदि अन्य छै मन्यात्रों का कारण है अतः 'योनिः षण्णां' उनकी योनि कहा गया।

इस मोह का स्वरूप क्या है ? यह जानते हुए भी कि क्या ठीक है और क्या गलत है जो जबरन गलत काम करने की प्रवृत्ति होती है वह मोह है। जिस व्यक्ति को युक्ति से समझा दिया कि धन खराब वस्तु है और धर्म ही उपादेय है वह भी धनार्थ ही प्रवृत्ति करता है। परिच्छिन्नता का भाव जब तक है तब तक जबरन प्रवृत्ति करता है। यथा पिता को पता चल गया कि उसके लड़के की बुद्धि कम है फिर भी चार चार उपाध्याय (ट्यूटर) रखता है कि शायद उनसे बुद्धि बढ़ जाय। सभी जानते हैं कि एक दिन मरना है पर मोह अगले ही क्षण इस बुद्धि को ढांक देता है। यह मोह आणव से उत्पन्न होता है। इसका स्वरूप सप्तशती के प्रारम्भ में बताया गया है कि समाधि-नामक वैश्य को उसके घर वालों ने गर्दन पकड़ कर बाहर निकाल दिया। मेधा ऋषि के आश्रम में जाकर कहता है कि जिन रिश्तेदारों ने मुझे घर से बाहर निकाल दिया उन्हीं का चिन्तन हो रहा है कि वे सुखी हैं या दुःखी। मोह वर्ज्य और अवर्ज्य विभाग को नष्ट कर देता है। जानता है कि बाजार के भोजन से रोग होता है, सिगरेट पीने से कैन्सर होता है, पर बिना खाये पीये रहा नहीं जाता। दिल्ली में रोज घोषणा हो रही है कि यमुना का पानी बाढ़ के कारण गन्दा होगया है और बाजार की चाट से पीलिया रोग होने का डर है फिर भी सारी चाट की दूकानें भरी पड़ी हैं। यही मोह है। मोह वाले को धर्म का उपदेश काफी नहीं है।

कर्तव्य अकर्तव्य का अविवेक आया तो मद नाम का दोष आता है। मद नाम है नशे का। अपनी पत्नी में स्वर्ग की अप्सरा का भाव, गृहादि पदार्थ में अतिशय अभिमान होना ही मद है। मद और सन्तोष अलग अलग चीजें हैं। सन्तोष में तो यह भाव है कि परमेश्वर ने जो पदार्थ हमें दिया है वह हमारे लिये पर्याप्त समझा तभी दिया अतः

सन्तोष करना चाहिये। पर जो पदार्थ मेरे पास है उससे अधिक अच्छा कुछ नहीं हो सकता, यह मद है। यथा पिता लड़के के फेल होने पर कहे कि मेरा लड़का तो लायक है परीक्षक लोग ही बड़े कड़े या पक्षपाती हैं या मेरा लड़का कहीं झगड़ कर घर आया तो मैं कहूं कि पड़ौस के लड़कों का स्वभाव बहुत बुरा है। इसी प्रकार जितने भी पदार्थ हैं उनमें स्वकीयत्व हेतु से अतिशय अभिमान ही मद है।

यदि स्त्री पुत्रादि से मद हटा भी लें तो अपने शरीर का मद नहीं जाता। इन्द्रियों में भी अभिमान है। कान से सुनाई नहीं देता तो यह नहीं कहता कि मैं ऊंचा सुनता हूं, कहेगा स्वामी जी धीरे-धीरे बोलते हैं। यदि अपनी बुद्धि के दोष से बात नहीं समझता तो कहेगा कि विषय कठिन है। अपनी बुद्धि के दोष से मैं बात नहीं समझता यह नहीं मानता। यदि मैं क्रोध करता हूं तो इस कारण कि दूसरे का स्वभाव खराब है। कहता हूँ क्या बताऊं मेरी पत्नी का स्वभाव ही ऐसा है कि डांटना पड़ता है। यदि मैं किसी से ज्यादा काम करवाता हूं तो ठीक है, पर यदि वह ज्यादा मांगता है तो लोभी है। अपने पदार्थ में अतिशय अभिमान मेरा मकान, मेरी पत्नी, मेरा शरीर उत्तम ही हैं, यह मद हमेशा मनुष्य को अपने स्वरूप से गिरा देता है। उत् या ऊपर की तरफ दृष्टि रखेगा एवं अपने से उत्तम के प्रति नति या नम्रभाव रखेगा तभी उन्नति होगी। लेखक उन्नति तभी करेगा जब समझेगा कि मेरे से ज्यादा बढ़िया लिखने वाला दूसरा है। नौकर यदि यह दृष्टि रखेगा कि मेरे से बढ़िया काम करने वाले दूसरे मुनीम हैं तभी उन्नति करेगा। उन्नति तभी हो सकती है जब दूसरे की तरफ दृष्टि रखे।

सामाजिक जीवन में भी यही है। भारतवर्ष का पतन क्यों हुआ? हजार साल की गुलामी से। तो हम गुलाम क्यों बने? यह तो भाग्य का मामला था। यदि भाग्य ही खोटा था तो मुसलमान और अंग्रेजों को दोष क्यों देते हो। और यदि कार्य-कारण भाव स्वीकार करते हो तो हम गुलाम बने मद रूपी दोष से। अतः हमने आगे अपनी उन्नति का मार्ग बन्द कर दिया। चाहे वैज्ञानिक क्षेत्र में हो चाहे आध्यात्मिक

क्षेत्र में, हमारी दृष्टि उन्नति की नहीं रही, मद की रही। अतः दूसरे आगे बढ़ गये।

मत्त, प्रमत्त और उन्मत्त ये तीन गिरने के सोपान हैं। जहां मद आया तो प्रमाद या असावधानी आयी। मैं बहुत योग्य हूं, मैंने सब पढ़ लिया यह भावना आते ही प्रमाद आगयी। जहां प्रमाद या असावधानी आई कि दूसरा आगे बढ़ा। अब उन्मत्त होगये तो दूसरों को दोष देने लगे। जब विदेशियों ने आक्रमण किया तो हम उन्मत्त हो गये। मित्र राजा लड़ रहा है, हम गुलछर्रे उड़ाते रहें। स्थिति यह है कि आज तक हम स्वतंत्र नहीं हुए। एक हजार वर्ष पूर्व जो गुलाम बने थे वे हिन्दू थे। मुसलमान तो बाद में, केवल डेढ़ सौ वर्ष पूर्व, गुलाम बने। हम हिन्दू क्या आज स्वतंत्र हैं? आज केवल नेपाल एक हिन्दू राज्य रह गया है। जो गुलाम बने थे उनकी गुलामी बदलती गई। पहले मुसलमानों ने राज्य किया। वे लोग बाहर से कम संख्या में आये थे। उनका सिद्धान्त हमारे सिद्धान्त से भिन्न था, और हम उनके गुलाम रहे। मुसलमानों का राज्य गया तो ईसाई आये। ईसाई गये तो समाजवादी आये। आज भी हमारा उन्माद गया नहीं है। उस समय पागलपन था; हमारे देश के एक राजा पर मुसलमानों का आक्रमण होता था तो दूसरे राजा कहते थे कि हमसे क्या मतलब? ईसाइयों ने अपना राज्य बढ़ाया तो भी हमारा पागलपन न गया। सारे जगत् को छोड़ो, हम सब हिन्दू ही आपस में एक नहीं तो ब्रह्म से एक क्या होंगे? जो घर में अपनी लड़की और दामाद को एक नहीं कर पाते थे वे विश्वशान्ति का नारा लगाने चले। मत्तः प्रमत्तः उन्मत्तः यही क्रम है गिरने का। यदि भगवान् के अन्दर भी मद का अंश आये तो गिरेंगे।

मत्स्य, कूर्म, वराह आदि अवतारों के बाद भगवान् ने परशुरामावतार लिया। जब उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियों को मारा तो उनके मन में मद आ गया कि मेरे बराबर योद्धा नहीं। परशुराम भीष्म के गुरु थे। जब अम्बा परशुराम के पास जाकर रोने लगी कि भीष्म मुझे

ले आये अब व्याह नहीं करते, परशुराम ने कहा मैं समझा देता हूं। वे गये। भीष्म ने पाद्य अर्घ्य दिया। परशुराम ने कहा अम्बा से ब्याह करले। भीष्म ने कहा गुरु जी, यह तो धर्म का मामला है। हम धर्म को भगवान् से भी बड़ा मानते हैं। हमने बुद्ध को भगवान् का अवतार तो मान लिया, पर बात उनकी नहीं मानी। उनके धर्म को यहां से जड़ से उखाड़ कर सांस ली। धर्म पर वैदिक का इतना अभिमान है। गुरु की बात धर्म विरुद्ध है तो उसे भी न मानो। अपनी विवाह न करने की प्रतिज्ञा तोड़ना भीष्म का धर्म नहीं था। तब परशुराम बोले कि मेरा भी तो धर्म है कि अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करूं। मैं अम्बा को अभय दे आया हूं। उसका विवाह तुम्हीं से होगा अन्यथा युद्ध कर। अम्बा से पूछा गया तो उसने भी कहा कि मुझे यह मंजूर है कि भीष्म मर जाय पर यह मंजूर नहीं कि मुझसे विवाह न करे। परशुराम को पूरा मद था कि भीष्म मेरा चेला है, चाहे जब उसे मार लूंगा। इसलिये पहले प्रमाद किया कि हमारा ही पढ़ाया है। पर भीष्म ने परशुराम से शस्त्रास्त्र की शिक्षा लेने के बाद शंकर भगवान् से भी दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये थे। युद्ध में परशुराम कई बार मूर्च्छित हो गये। भीष्म ने सेवा की, उठाया और फिर आज्ञा लेकर लड़ाई की। अब परशुराम को प्रमाद के बाद उन्माद हुआ। उन्होंने दिव्यास्त्रों का अनुसंधान किया। भीष्म ने मना भी किया, छोटे मोटे अस्त्र उसने काट भी दिये। पर जैसे ही परशुराम ने पाशुपतास्त्र उठाया तो भीष्म ने कहा गुरु जी सावधान यह मत उठाओ पर वे न माने। भीष्म ने भी पाशुपतास्त्र उठा लिया। इसी समय दोनों के बीच में ऋषि आ खड़े हुए कि बराबर के शस्त्र का संधान हो रहा है तो संसार नष्ट हो जायेगा केवल एक स्त्री के खातिर ! चाहिये तो परशुराम को यह था कि सामान्य शस्त्रों से सामान्य युद्ध करते पर अब वे संसार को नष्ट करने को खड़े हो गये। यही उन्मत्तावस्था है। परशुराम ने जब देखा भीष्म ने भी पाशुपतास्त्र उठा लिया तो पूछा कि अरे तुझे यह अस्त्र मिला कब

था ? मैंने तो सिखलाया नहीं। भीष्म बोले, मैंने भी आपके गुरु शंकर से पा लिया। तब परशुराम से ऋषि लोग बोले महाराज ! अब ज़ाने भी दो, आपको क्या फायदा होगा इस अस्त्र का प्रयोग कर के। आप रामावतार के पूर्व आये थे और अब कृष्णावतार भी हो चुका है। अब तो संन्यास लो। परशुराम भगवदवतार थे अतः ऋषियों के कहने पर मान गये कि मुझ से गलती हो गई। मद आने से प्रमाद आया फिर उन्माद आया। पर साधारण व्यक्ति तो नहीं समझता।

* * * *

श्रुति कहती है 'गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीं ईश्वरीं सर्वभूतानां' वह ईश्वरी शक्ति सारे प्राणियों का शासन करती है। कैसे शासन करती है ? गन्ध या वासना से। रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श इन पांचों से ही वासना बनती है। मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि जिस विषय की वासना नहीं होती उसका बाह्य जगत् में भी ज्ञान नहीं होता। जिस अनुभव का सन्दर्भ केन्द्र (Point of Reference) नहीं उसका ज्ञान भी संभव नहीं है। एक ही परिस्थिति में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न अनुभव होते हैं। सूरज उदय हो रहा है। साधारण आदमी के लिये तो दिन निकलने का अर्थ केवल इतना है कि काम के लिये तय्यार हो जाओ। उपासक की दृष्टि में सूर्य भगवान् जगत् को प्रकाशित कर रहे हैं। तीसरा उनको मित्र मानता है। एक ने सूर्य को देख कर हल उठाया, दूसरे ने कहा भगवान् सूर्य उदय हो रहे हैं, तीसरा उनको शक्ति देने के लिये अर्घ्य दे रहा है, क्यों कि वेदों की भक्ति समानता या मित्रता की है। यदि हम आहुति नहीं देते तो देवता क्या खा सकते हैं ? ईशावास्योपनिषत् में जब कहा कि हे अग्नि मुझे अच्छे मार्ग से लेजा, तो 'अग्ने नय' कहा 'नयतु' नहीं। हम नौकर की तरह गिड़गिड़ाकर मांगते नहीं। 'न तु भृत्यवद्याचे'। हम कहते हैं मैंने जन्म भर तुम्हारी सेवा की तो अब मुझे अच्छे पथ से लेजा। यदि कहो कि तूने गलती भी की तो उत्तर है 'भूयिष्ठां ते नमः' नमः कह लिया, बाकी क्या चाहता है ? यदि

प्रातःकाल अर्घ्य से उस सूर्य को पुष्ट किया तो वह दिन भर हमें पुष्ट करेगा। भौतिक विज्ञान वाला उसी सूर्य को देख कर समझता है कि धुरी से ऊपर जाकर अवि-क्षेप (deflection) से किरणें घूम गई इस कारण सूर्य लाल दीखता है। कवि की प्रतीति है कि सूर्य संन्यास लेकर गेरुवा वस्त्र धारण कर भिक्षाटनार्थ निकल पड़ा है। सब के सन्दर्भ केन्द्र अलग-अलग हैं अतः चित्त की वासनायें अलग-अलग हैं। सारे ज्ञानों के प्रति वासना सन्दर्भ केन्द्र का कारण पड़ती है। 'गन्धद्वारां' से श्रुति ने वासना केन्द्र का निर्माण करने वाली ईश्वरी शक्ति को 'दुराधर्षां' भी कहा। उसे कोई पटक नहीं सकता। सारी शक्ति उसकी है तो उसके साथ बलात्कार करने की शक्ति लाओगे कहां से ? 'नित्यपुष्टां' से कहा कि यह तो हमको नित्य पुष्ट करती है। हम उस से झगड़ा कर रहे हैं इसलिये कमजोर हो रहे हैं। जब कुश्ती सीखने जाते हो तो उस्ताद तुम्हें एक हाथ इधर और एक हाथ उधर मार कर दे पटकता है। वह पटक कर तुम्हारे शरीर को पुष्ट कर रहा है। तेल मालिश वाला जोर से रगड़ेगा तो दुबले नहीं रहोगे। इसलिये पुष्ट बनने में थोड़ा कष्ट सहना पड़ेगा। जो परिस्थिति हमारे सामने जिस क्षण में लायी गई है वह हमको कमजोर करने को नहीं, पुष्ट करने के लिये है। 'उपाह्वये' से कहा है कि इसी क्षण निर्णय करना है कि वही एक आह्वान के योग्य है।

उसका आह्वान करना ही उसका आश्रय लेना है। शाखान्तर में 'उपाह्वये' की जगह 'आश्रये' भी आया हुआ है। उसका गुणोपसंहार न्याय से अर्थ बना कि उसका आश्रय आह्वान के द्वारा लेते हैं। छोटा बच्चा मां को रोकर बुलाता है। मनुष्य बड़ी उमर का भी हो गया तो बीमारी में मां! मां! चिल्लाता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहेगा कि मां को बुलाता है। वैदिक कहेगा कि यह मातृ शक्ति का आह्वान है। मातृ शक्ति बचपन में मां में आविर्भूत हुई। बड़ा होकर भी उसी मातृ शक्ति को बुलाता है। हम अपनी मांगों की फेहरिस्त

भगवान् के पास पेश करते जरूर हैं पर फिर उस पर छोड़ते नहीं। दुराधर्षा से कहा कि जब तक उसको भिन्न मान कर के उससे झगड़ा करता है तो वह अजेय है। पर जब उसे अभिन्न मान लिया तो वह दुराधर्षा नहीं रहती। मछुवा जब तालाब में जाल फैलाता है तो उसमें बड़ी-बड़ी मछली पकड़ में आती हैं। पर वह मछली बच जाती है जो जहां मछुवा खड़ा है वहां रहेंगी। जहां मछुवा खड़ा है वहां रहने वाली मछली यदि जाल में फंसे तो मछुवा खुद फंस जाय। अतः अभिन्न होना ही मछुवे के पास जाना है क्योंकि सबसे अधिक पास होना अभिन्न होना ही है। पास की कोई सीमा नहीं। पत्नी से माता अधिक पास है क्योंकि माता के अंक में सब समय चिपट कर रहा जा सकता है, पत्नी के अंक में नहीं। दो शरीरों का एक हो जाने का अर्धनारीश्वर एक ही दृष्टान्त है। पर आध्यात्मिक जगत् में भेद हटा कर माया को अभिन्न बना लिया तो वह दुराधर्षा नहीं रही। इसी लिये यही एकमात्र उपाय है।

यह भेद कैसे बढ़ता है? उसे दूर करने के लिये इसे समझना जरूरी है। इसे आणव, मोह, मद, राग, विषाद, ताप, वैचित्र्य और शोष के क्रम से समझा रहे थे। आणव से सर्वप्रथम अपने को संकुचित कर लिया। संकुचित होने पर चिति का नाम चित्त पड़ गया। संकुचित 'मैं' का ज्ञान ही चित्त है। मेरा ज्ञान अपरिच्छिन्न है, यह परमेश्वर की अवस्था है। मेरा ज्ञान परिच्छिन्न है, यह अनुभूति चित्त की है। मैं जो जानना चाहता हूं वह नहीं जान पाता। परमेश्वर जानता है कि मैं सब कुछ जानता हूं। ज्ञान करने की सम्भावना मुझ में और परमेश्वर में दोनों में है। परमेश्वर तो सब कुछ जानता है, उससे अज्ञात कुछ भी नहीं, पर पीठ पर चींटी चढ़ जाय तो मैं देख भी नहीं सकता। उसका संकल्प अप्रतिहत, हमारा प्रतिहत है। उसने संकल्प किया कि मैं अनेक बन जाऊं तो झट एक से बहुत हो गया। हम १७ वर्ष से संकल्प कर रहे हैं कि अन्न की कमी को दूर कर लें पर दूर होती नहीं। अतः दोनों की शक्ति का भेद है। प्रतिहत ज्ञान और

अप्रतिहत ज्ञान, परिच्छिन्न शक्ति और अपरिच्छिन्न शक्ति; सत्य संकल्पता और प्रतिहत संकल्पता; यह दोनों का अलग-अलग अनुभव है। अतः क्षेमेन्द्र ने कहा कि चितिरेव चित्तः, पर कब ? संकोच होने पर चिति ही चित्त है। यह चित और उससे निर्मित जगत् हमसे भिन्न है।

आणव से मोह आया। यह कर्तव्य है यह अकर्तव्य है ऐसा जानते हुए भी अकर्तव्य करता है। अपने को परिच्छिन्न मानेगा तो जानते हुए भी अकर्तव्य करेगा। सब जानते हैं सच बोलना अच्छी बात है, पर बोलता कोई नहीं। यदि जानने मात्र से काम होता तो यहां सभी सत्यवक्ता होते। धर्मज्ञ की प्रवृत्ति का रोध मोह से है। धर्म शास्त्र बांचना धर्म नहीं, धर्म को करना धर्म है। इसलिये चाहे जितना धर्म का अध्ययन कर लो व्यवहार नहीं किया तो धर्म का प्रचार नहीं हुआ। जानने पर भी क्यों नहीं कर पाता ? क्योंकि अपना परिच्छिन्न भाव गया नहीं। यदि बैंक में पड़ा हुआ सारा रुपया मेरा है तो बिड़ला का रुपया भी मेरा ही है। यदि बिड़ला उससे फायदा उठा रहा है तो वह धन मेरी तिजोरी में क्यों आये ? हमने परिच्छिन्न अहंभाव से अपने बैंक के खाते को अपना मान रखा है। जब तक यह परिच्छिन्न भाव है तब तक धर्म बोझ रहेगा। उसे करते हुए आनन्द नहीं हैं। उसे करने में आनन्द तब आयेगा जब आणव रूपी दोष दूर होगा। उसी से मोह है।

अब प्रश्न है कि अज्ञानी पाप में प्रवृत्ति क्यों करता है ? अज्ञान से। पर यह आत्म विषयक अज्ञान नहीं कर्तव्य विषयक अज्ञान है। आणव अज्ञान का नाश करने के लिये तो आत्म-ज्ञान आवश्यक है पर मोह नामक अज्ञान की निवृत्ति के लिये वेद-ज्ञान आवश्यक है। अपच का इलाज डाक्टर नहीं करता, केवल अपथ्य न करने को कहता है। अकर्तव्य या अधर्म में प्रवृत्ति इसलिये होती है कि अधर्म के निश्चित रूप का पता नहीं है। कुछ लोग पाप और पुण्य को अपनी कल्पना के अनुसार मान लेते हैं। यदि ऐसा करना सम्भव हो तो किसी कर्म को पाप मानो ही नहीं छुट्टी होगई। पर पाप का यथार्थ

स्वरूप यह है कि बिना जाने हुए भी उसे करो तो भी पाप लगेगा। यदि बिना जाने पाप न करने से पाप नहीं लगता तो सारे शास्त्र उठा कर समुद्र में फेंक दो। कभी पाप को जानोगे ही नहीं तो पाप नहीं लगेगा। पाप और पुण्य उतने ही सच्चे हैं जितना कपड़ा और घड़ा। उनका फल भी उतना ही सच्चा है ... दिक दृष्टि यह है कि पाप-पुण्य अवश्य होते हैं। एक बुड्ढ़ी औरत एक बिजली के प्लग में अन्वेषण करने निकली कि यह छेद क्यों हैं। तार ले आई। उसमें डाला तो झटका लगा। उस दीवार में भूत समझ कर उस कमरे को ही बन्द कर दिया और फिर कभी उसमें नहीं गई। उस औरत को जैसे बिजली नहीं दीखती थी वैसे ही पाप पुण्य नहीं दीखता। समाज की हालत उस औरत की जैसी है। यदि एक ग्रन्थ कहता है यह धर्म है तो दूसरा ग्रन्थ कहता है यह अधर्म है। अतः विचार की सरणी पर कस कर देखो। वैदिक धर्म वैज्ञानिक है, बाकी सब अन्धविश्वास हैं। वैज्ञानिक दवा को १०० रोगियों को देता है और यदि केवल ५० ठीक हुए तो उस दवा को फिजूल मानता है। ऐसे ही धर्म-अधर्म का विवेक द्वारा विवेचन करो। चाहे ईसा कहे, चाहे मोहम्मद, चाहे बुद्ध, चाहे ऋषि, पहले विचार की कसौटी पर कसो। बुद्ध को पुराणों ने भगवान् का अवतार माना। एक फूल की माला वैदिक उसे भी पहना देगा, पर बात उसकी नहीं मानेगा। न्यूटन की वर्ष शताब्दी तो मना लो पर उसकी बात तो न मानो क्योंकि आइन्स्टीन ने उसे खण्डित कर दिया।

'युक्तिहीनविचारेण धर्महानिः प्रजायते'। धर्माधर्म की मान्यता युक्ति से है, अन्धविश्वास से नहीं। वेद के स्वाध्याय की कमी से धर्म की भावना में कमी है। धर्म की प्रवृत्ति यदि हम डंडे के जोर से चलाते रहे तो वह वास्तविक प्रवृत्ति नहीं है। मोह का कारण, अधर्म की प्रवृत्ति का कारण, यह है कि अधर्म में धर्म बुद्धि करली है। व्यवहार में चोरी करना आवश्यक है इसलिये वैशाखी संक्रान्ति के स्नान का नियम करलो। यह प्रायश्चित्त नहीं है। 'प्रायो नाम तपः प्रोक्तः चित्त

निश्चय उच्यते' मैं आगे ऐसा कार्य नहीं करूंगा, ऐसा जो सोचेगा उसी का प्रायश्चित्त है। यदि कोई कहे हमारे घर में यह चाल चली आयी है, अतः ठीक है, तो यहां भी अधर्म में धर्म बुद्धि संभव है। अठारहवीं सदी में ठग लोग होते थे। उनका कुल परम्परा से काम ही ठगी था। फिर उस धन से वे देवी की पूजा करते और नरबलि तक देते थे। राजा राममोहन राय ने उसे अंग्रेज सरकार से कह कर बन्द करवाया तो सरकार से ठगों ने भी यही कहा कि पुश्त दर पुश्त से यही डकैती हमारा धर्म है। पीढ़ी दर पीढ़ी से कोई चीज चली आरही है इतने मात्र से वह धर्म नहीं बनता। अधर्म में धर्म बुद्धि करना मोह है।

मोह का कारण है प्रमाद। प्रमाद आलस्य है। एक हाथी को महावत हमेशा मारता रहता था। हाथी सहन करता रहा। अन्न भी कम कर दिया। वह भी सहा। एक दिन हाथी ने निश्चय किया कि मैं महावत के वश में नहीं रहूंगा तो हाथी को मद चढ़ा। उसके कपोलों से रस टपका। महावत समझ गया, उसे सांकलों से बांधा और बन्द कर दिया। हाथी ने दस पांच झटके देकर सांकल तोड़ डाले, दांतों से दरवाजे को खोदा, जमीन से ढीला किया और झटका देकर दरवाजा तोड़ कर निकल गया। महावत जबर्दस्त था। छत पर से कूद कर उसके मस्तक पर जा बैठा और अंकुश पर अंकुश मारने लगा। हाथी जंगल की तरफ दौड़ता गया, वह उसे अंकुश मारता गया। जंगल पहुंचा तो वहां बाकी हाथी मिले। उन्होंने उससे कहा तुझे छूटना नहीं आता। बैठ के कुलांची खा। महावत या तो गिरेगा या दबेगा। हाथी बैठा और बैठते ही जो कुलांची खाई तो महावत दब कर मर गया।

ब्रह्मरूपी हाथी जेल में पड़ा हुआ जीव बन गया है। मोह रूपी महावत को अपने ऊपर रख छोड़ा है। वह बराबर मारपीट करता है। उससे प्रवृत्त होकर इस शरीर रूपी मकान में ब्रह्मरूपी हाथी रह रहा है। कटा पैर तो रोता हूं मैं, फूटी आंख और दुःखी मैं।

इस शरीर के अन्दर इस हाथी को मोह ने डाल दिया । फिर सारे संसार के कर्तव्यों की जंजीरें बांधदीं। घर वालों को खुश रखो, मुनीम को खुश रखो, पड़ौसी को खुश रखो। कोई यह नहीं कहता अपने को भी खुश रखो। जब अपनी खुशी बढ़ेगी तो थोड़ी बांट देना। महावत ने हाथी का अन्न कम कर दिया था। आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है। आनन्दं ब्रह्म । जो जिससे पैदा होता है वही उसकी खुराक है। हम आनन्द से उत्पन्न हैं आनन्द हमारी खुराक है । अपने आनन्द रूपी फल को हमने पाप से कम कर दिया । पुण्य से कुछ कुछ आनन्द अब भी मिलता है, पर वह काफी नहीं है। एक दिन अलं की भावना आयी। यह छूटने की इच्छा ही मुमुक्षा है। ज्यों ही हम छूटना चाहते हैं तो सारे के सारे लोग समझ जाते हैं कि यह छूटना चाहता है। यदि कोई लड़का सत्संग करके रात को दस बजे घर जाता है तो लोग कहते हैं देर से क्यों आता है। यदि बहू प्रातःकाल सात बजे उठ कर सत्संग के लिये चली जाय तो घर वाले मना करते हैं, पर यदि वह आठ बजे तक बिस्तर पर पड़ी पड़ी सोती रहे तो ठीक है । जो जीव छूटना चाहता है उसे लोग और तगड़ा बांधना चाहते हैं। अतः इस हाथी ने एक झटका देकर लोक धर्म, कुल धर्म देहाध्यास (दरवाजे की जड़) सब उखाड़ कर फेंक दिये। मन समाहित कर लिया तो देहाध्यास छूट गया। समाधि से छूटते ही फिर महावत कूद कर ऊपर बैठ गया । वेद की वाणी रूपी जंगली हाथी इसे मिला, जो स्वतंत्र परमेश्वर की वाणी है। जीवरूपी हाथी कहता है क्या बताऊं समाधि तक तो गया पर यह फिर कूद कर सिर पर चढ़ बैठा। इस चित्त को बड़ा भारी बना रखा है और परिच्छिन्न भाव से इस में मोह आगया है। वेद कहता है तू पलट जा, कुलांची मार। तत्त्वमसि श्वेतकेतो । अपने स्वरूप को समझ। जहां पलटा तो गुलाब की पंखड़ी मसलने में देरी है पर आत्मज्ञान में देरी नहीं। जहां कुलांच खाई तो अज्ञान की लाश भी न रही। हाथी ने महावत को उठाकर गंगाजी में फेंक दिया।

अब देखना है कि मोह, मद, राग, विषाद किस तरह से आगे बढ़ता है ?

*　　　　*　　　　*　　　　*

आणवमल से मोह आया तब आगे मद आया । यथा उत्तर भारत वाले अपने को आर्य समझते हैं और दक्षिण वालों को द्रविड़ । दक्षिण भारत में आन्ध्र ब्राह्मण अपने को उच्च मानेंगे, और केरल में चले जाओ तो नम्बूदरी अपने को श्रेष्ठ समझते हैं । भावना यह है कि वही ब्राह्मण श्रेष्ठ है जो मेरी जाति का है । क्षत्रियों में राजपूत अपने को श्रेष्ठ मानते हैं । राजपूतों में भी सिसोदिया अपने को श्रेष्ठ समझेगा । पञ्जाब में चले जाओ तो खत्री अपने को चार घर और ढाई घर वाला मानेगा । महेश्वरी और अग्रवाल अपने को उच्च मानेंगे । राष्ट्रों में अंग्रेज कहेगा असली जाति तो हमारी है, और भारतीय कहेगा हमारी दृष्टि से तो अन्य सब म्लेच्छ हैं । धर्म भी ऐसे ही हैं । ईसाई कहते हैं सब ईसाई हो जाओ और मुसलमान सबको मुसलमान बनायेगा । वैष्णव कब बनोगे ? जब कण्ठीमाला गले में लटका लोगे तब ! केवल वैदिक यह समझता है कि प्राणी मात्र वैदिक है, चाहे वह माने या न माने । पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है, इसे चाहे मानो या न मानो । आप न्यूटन के इस सिद्धान्त में दीक्षित नहीं हो सकते । यदि विज्ञान के नियमों को मान कर उनसे फायदा उठालो तो तुम्हारी मर्जी । इसी प्रकार वैदिक सिद्धान्त में आया नहीं जाता, वह स्वीकारने की चीज है केवल हाथ उठाकर गिनने की नहीं । हम तो केवल मनुष्य ही नहीं राक्षस और देवता का भी इस धर्म में अधिकार मानते हैं । जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में किसी प्रकार का भेद नहीं, चंद्रलोक में भी अग्नि जलायेगी, ठंढक नहीं देगी, वैसे ही वैदिक कहता है कि सारे वैदिक धर्म के नियम सर्वत्र परमेश्वर के राज्य में एक से हैं । पर जब मद आगया तो उसने अपने क्षेत्र को संकुचित कर दिया कि इतना क्षेत्र हमारा है ।

पहले ब्रह्म को प्रत्यगात्मा बनाया कि वह शरीर में ही रहेगा,

फिर इस आणव दोष के बाद मैं और मेरे से भिन्न, दो बना। अब मद आया तो मैं, मेरा और मेरे से भिन्न, इस प्रकार मैं के चारों तरफ 'मेरा' की परिधि बनी। अब इससे तीसरा दोष राग आगया। जो मेरे क्षेत्र के बाहर हैं उन्हें मम के क्षेत्र में लाना है। जो राष्ट्र दूसरे को कमजोर देखता है वह दूसरे की चीज अपनी बनाने को झट से उसकी जमीन पर कब्जा कर लेगा। राग के कारण ही ग्राहक कम दाम में चीज खरीदना चाहता है और बेचने वाला अधिक दाम लेना चाहता है। मेरे से भिन्न क्षेत्र पर प्रभाव डाल कर मैं उसे अपने क्षेत्र में लाना चाहता हूं। जिस प्रकार मैंने मेरा क्षेत्र माना है उसी प्रकार दूसरे ने भी अपना क्षेत्र माना है। यदि तुम दूसरे का क्षेत्र लेंना चाहोगे तो तुम्हारे क्षेत्र को भी कोई ले लेगा। रूस ने पूर्वी यूरोप के इतने देश ले लिये तो उसका काम बड़ा अच्छा चला। उसकी विषयाभिलाषा बढ़ी। जब चीन ने कहा हम भी मंगोलिया तुम से ले लें तो रूस कहने लगा कि अब बस करो। अपने अपने घर में सब राजी रहो। अतः जब राग प्रतिबद्ध होने लगा तो कहते हैं बस, इतना ही, इससे आगे नहीं। विषयाभिलाषा के ऊपर जब चोट पड़ी तो कहा बस इससे आगे न जाना। भारतवर्ष में विदेशों से दूसरे लोग आये और हिन्दू धर्म पर आक्षेप करते रहे। जब हिन्दुओं ने भी जवाब देना शुरू कर दिया तो कहते हैं बस शान्ति से रहो अपना अपना धर्म सबका अच्छा है। यदि हिन्दू लोग बुद्धिमान् होते तो समझ जाते। पर जब यहूदी लोग अपने ही देश को लेने के लिये गये तो हिन्दुस्तान आज तक कहता है कि वहां मुसलमानों का ही राज्य रहना चाहिये। वे पूछ सकते हैं कि हम अपने देश में क्यों मुसलमानों का राज्य नहीं रहने देते ?

राग का फल विषाद होता है। 'संविषादो मदो नाम प्राणिनां अति दुस्सहः'। आदमी को अपने राग का विषय नहीं मिला तो आंख में आंसू भर जाते हैं। नौकर ने कहा दिवाली आ रही है। अपने बच्चों के लिये खिलौने और मिठाइयां खरीदूंगा, एक महीने की तनखा पेशगी दे दो। मालिक ने दिया नहीं तो उसकी छाती भर आयी।

इसका फायदा हल्ला मचाने वाले लोग उठाते हैं। वे एक महीने की तनखा एडवान्स न लेकर एक महीने का बोनस लेते हैं। क्या कभी मालिक ने सोचा कि उसका अपना जीवन स्तर साइकिल से उठ कर मोटर तक पहुंच गया तो नौकर का पैदल से उठाकर साइकिल का तो करते। ममता के क्षेत्र का झगड़ा बढ़ता ही चला जायेगा। मिठाई न मिलने से छोटे बच्चे की आंखों में पानी आया और दूसरे के हृदय में। यहीं से दुःख उत्पन्न हुआ। विषाद आया कि वह पदार्थ मिला नहीं।

यदि परिच्छिन्नता से सीधा दुःख उत्पन्न हो जाता तो जीव सीधा निकल जाता और फौरन फिर अपरिच्छिन्न बन जाता। जब मोह, मद, राग तक उतर गया तो माया ने वापस जाने का दरवाजा बन्द कर दिया। अब 'तद् अलाभे विषादः' राग की वस्तु न मिलने से विषाद हुआ। विषाद से मनुष्य को ताप होता है। पदार्थ नहीं मिला तो अन्तःकरण को जलाने लगा। जिस समय इच्छा है उस समय चीज नहीं मिली यह विषाद है। बाद में उसके विषय में अन्तःकरण में सोचते रहना ताप है। सोचना ही अपने आपसे बात करना है। जब आपने नौकर को दिवाली के लिये तनखा पेशगी नहीं दी तो दुःखी होकर गया। जाकर बनिये से १००) रु० उधार मांगे। उसने २) रु० सैंकड़ा ब्याज पर उधार दिया। ९०) रु० देकर १००) रु० की रसीद लिखाई और कहा अगले पांच महीनों का ब्याज पहले ही काट लिया है। नौकर का विषाद तो दूर हो गया। उसकी दीवाली का खर्चा चल गया, पर मालिक ने रुपया नहीं दिया इसका अन्तस्ताप नहीं गया। अन्तस्ताप ही साधारण भाषा में चिन्ता कहलाती है। शास्त्रकारों ने चिता से चिन्ता को गरीयसी बतलाया है। यदि कहो जाने दो, चिन्ता न करो, तो करे कैसे नहीं? वह तो विषाद से ताप तक आ गया अब चिन्ता कैसे न करे? जब विषाद को, राग को, मद को और आणव को छोड़ेगा तब चिन्ता जायेगी। मूल कारण अज्ञान जब तक नष्ट नहीं होगा तब तक काम बनेगा नहीं।

ताप की विशेषता है कि वह पदार्थ सम्भोग काल में भी है और

पदार्थ वियोग काल में भी । अतः कभी शान्ति नहीं । जिस पेड़ की खोह में आग जले वह क्या कभी हरा-भरा रह सकता है ? सुख पदार्थों के कारण नहीं है । जब चिन्ता निवृत्त हो वह तभी प्राप्त होगा । समष्टि जीवन में भी यही है । हमने चीन को तिब्बत दे दिया और मुसलमानों को पाकिस्तान, पर उनमें ताप की अग्नि जल रही है । उनकी मांग बढ़ती ही जायेगी । पदार्थ जैसे हैं वैसे ही रहेंगे । उनके अलाभ से विषाद और चिन्ता भ्रम मूलक है । विषाद और ताप बढ़ता चला तो यह हो नहीं सकता कि एक जगह कुछ होवे और दूसरी जगह उसका प्रभाव न पड़े । गर्मी पड़ेगी तो बरसात अवश्य आवेगी । समाज की अयुतसिद्धावयवता है । सर्वव्यापक आत्मा ने अपने आपको संकुचित किया तो एक प्रमाद का फल ब्रह्म आज तक संसार रूप से भोग रहा है ।

जब चिन्मात्र संकोच से चित्त बना तो चित् ने अपने को परिच्छिन्न मान लिया । यह उसकी स्वतंत्र शक्ति थी । ज्ञान की स्वतंत्र शक्ति है कि वह अपने को सर्वव्यापक रूप से समझे या परिच्छिन्न रूप से समझे । चित् का चित्त बनना परतंत्रता को नहीं, उसकी स्वतंत्रता को बतलाता है । यदि हमेशा वह व्यापक ही रहता तो आजाद नहीं रहता । परिच्छिन्नता का मजा क्या जानता ? चित् से चित्त बनने के लिये जैसे अनेक कल्पनायें अज्ञान, माया इत्यादि की हैं वैसे ही चित्त से चित् बनने को अनेक साधनाओं की कल्पना अपने खेल के लिये हैं । यथा अभी चित्त एकाग्र नहीं हुआ, शास्त्र नहीं पढ़ा, इत्यादि अनेक बहाने हैं । पर वास्तव में यह जिस क्षण चित् बनना चाहे उसे कोई रोक नहीं सकता । अभी चित् परिच्छिन्न रहना चाहता है । अतः चित्त बनते ही कर्तव्य अकर्तव्य को जान कर भी अकर्तव्य की तरफ प्रवृत्ति हुई, उसी से मैं और मेरा भाव बना, अपने क्षेत्र से भिन्न को अपने क्षेत्र में लाने का प्रयास करने लगा । 'विनोदाय चैतन्य मेकं विभज्य' एक अखण्ड चिन्मात्र में लकीर शिव और जीव के नाम की खींच दी । वे चित्तरूपी गेंद खेलते हैं । कभी चित्त परमेश्वर

की तरफ जाता है कभी जीव की तरफ। जैसे फुटबॉल खेलने में ग्यारह की टीम होती है वैसे यहां भी पञ्च कर्मेन्द्रियां पञ्च ज्ञानेन्द्रियां और एक मन इन ग्यारह की टीम है। जो चित्त संसार में सर्वथा फंसा उसे दुःख की ठोकर लगी तो फिर भगवान् की तरफ आया। इस प्रकार गेंद फिर बीच में आ गई। परमेश्वर की तरफ और संसार की तरफ इन्द्रियों की खींचातानी हो रही है। खेल के लिये यह सब था, पर बीच में झगड़ा हो गया। जैसा कलकत्ते की फुटबाल मैचों में अक्सर हो जाता है। दर्शक मैच को देखते देखते आपस में ही झगड़ने लगते हैं।

शिव तो अपनी शिव रूपता को भूलता नहीं, पर जीव भूल जाता है अतः विषाद और ताप होता है। जीव की जीव रूपता ही यह है कि वह अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् रहे। ताप आया तो उससे वैचित्र्य का दोष आ गया। यह मेरा दोस्त है, यह पत्नी है, यह धन हैं, मेरे को जो पाना था वह पा लिया, मैं कृतार्थ हो गया। फिर गोल लगा। पत्नी मर गई, दोस्त धोका दे गया, साझीदार ने दूसरी दूकान खोल ली, सरकार ने सब धन ले लिया। सुख के आने के साथ ही दुःख की ठोकर लगती है। कहता है अरे मैं डूब गया, मेरी रक्षा कौन करेगा? सास समझती है बहू के आते ही मुझे सत्संग के लिये छुट्टी मिलेगी। बहू ने ऐसा चक्कर चलाया कि सास का सत्संग छूट गया। यह संसार का वैचित्र्य नाम का दोष है। इसमें वृत्ति इधर से उधर होती रहती है। जब कभी ज्यादा सुख मिला तो दुःख की ठोकर आने वाली है। जब कभी ज्यादा दुःख मिला तो सुख की ठोकर आने वाली है।

चेतन को आसक्ति है अपनी चिति शक्ति की। वह नित्यानन्द चाहता है। चित्त चाहता है संसारानन्द। अतः मन तो खुश हो जाता है पर संसार से हम खुश नहीं हो सकते। बड़े से बड़ा सुख भी मिल गया तो मन को तो सुख मिल गया। उसी क्षण ख्याल आया कि यह तो कुछ भी नहीं है! क्यों? क्योंकि हम नित्य सुख के आकांक्षी

हैं। गर्मी में किसी के घर धूप में चल कर गये। उसने एक छोटा सा गिलास पानी का दिया उसमें बरफ भी थी। जीभ तो ठंडी हुई पर प्यास नहीं बुझी। संसार के पदार्थों की प्राप्ति से मन तो खुश हो गया पर तड़पन नहीं मिटी।

द्वैत बुद्धि से आक्रान्त, अकर्तव्य की बुद्धि वाला, ममता को बढ़ाने के प्रयत्न में असफल होने पर ताप का अनुभव करता है और उसकी विचित्रता बढ़ी। अब अन्त में उसे शोष हुआ। जो सुखा डाले वह शोष है। यह आणव, मोह, मदादि का अन्तिम परिणाम है। इसके द्वारा नित्य निरन्तर दुःखानुभूति होती है। यह आनन्द को सुखा डालता है, जीवन के अन्दर से विशिष्ट शक्ति गायब हो जाती है। यथा रेलगाड़ी की भाफ निकल गई तो गाड़ी रुक गई। शोष के बाद जीवन में कोई रस नहीं रहता।

शक्ति-केन्द्र व्यक्ति का ही नहीं समाज और राष्ट्र का भी सूख जाता है। भारत के जीवन का केन्द्र आज सूख गया है। हमें कुछ प्राप्त करना है आज यह उद्देश्य ही गायब है। शक्ति का केन्द्र नहीं रह गया। बाह्य कार्य निर्वाह के लिये केवल धन की आवश्यकता है अतः उसी के पीछे लगे हैं। जैसे बड़े होने पर व्यक्ति के बचपन के सपने सूख गये। बचपन के स्वप्न स्फुट बनाने का युवावस्था में आदर्शवाद रहता है। जब वह धीरे धीरे खतम हो गया तो समझो कि वह व्यक्ति पक गया। अब वह केवल सूख कर चलती फिरती मशीन रह गया। जिस प्रकार उमर पाने से व्यक्ति का केन्द्र सूखा, उसी प्रकार आज राष्ट्र का केन्द्र भी सूख गया है। ऐसी हालत में एक पंचवर्षीय योजना क्या पचास पंचवर्षीय योजनायें भी कुछ नहीं कर सकती। इस शोष से श्मशान वैराग्य पैदा होता है।

श्मशान वैराग्य बुद्ध के समय से भारत में प्रारम्भ हुआ। संसार दुःख रूप है। इससे मुंह मोड़कर भागो। ऐसे सो जायें कि फिर न उठ सकें तो मोक्ष है। हम आनन्द को भूल गये तो सुख का स्फुट भाव कहां आया? उठकर अनुमान करते हो कि सुषुप्ति में सुख था।

पर अनन्त काल की सुषुप्ति जिससे न उठो यदि मोक्ष होता तो सुख अस्फुट ही रहता। वेद ने सुख को वास्तविक एवं स्पन्दनशील माना है। आनन्द के प्रति राग केवल दुःख से बचना नहीं है। आगे बढ़ने का केन्द्र श्मशान-वैराग्य में नहीं है।

वैराग्य का स्वरूप है परमेश्वर में विशेष रक्तिपूर्वक परमेश्वरेतर वस्तुओं से विरक्ति। 'परमात्मनि यो रक्तः विरक्तः अपरमात्मनि' इस लक्षण में परमेश्वर के प्रति राग को प्रथमता है।

शोष का स्थूल रूप क्या है? चीजों के दाम बढ़े तो हड़ताल करो। नेताओं ने कहा हड़ताल करके तुम हमें दुःख दे रहे हो। सामाजिक क्षेत्र में हड़ताल करने वाला ऐसा ही है जैसा कि विपत्ति आने पर कोई व्यक्ति आंख, नाक, कान बन्द कर बैठ जाता है। यदि चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया तो तुम आंख बन्द कर ध्यान करने बैठ गये और कहा कि जगत् नहीं है, तो क्या चीन हट जायेगा? शुतुरमुर्ग बाज के झपट्टा मारने पर बालू में सिर छिपाता है। हम जागृत्-स्वप्न के दुःख हटाने को ध्यान करते हैं। पर जागृत् में ही जागृत् के कारणों का निरोध करना पड़ेगा। सुषुप्ति उसका हल नहीं है। यदि बाह्य इन्द्रियों के निरोध से मोक्ष हो जाता तो सुषुप्ति ही मोक्ष होता।

शोष की पूर्णावस्था सुषुप्ति को मोक्ष मानना है। वस्तुतस्तु जागृत् में समस्याओं का सामना करना होगा। अन्न की कमी है तो अन्न ज्यादा पैदा करना होगा। इतवार की छुट्टी को भी बन्द करना पड़ेगा। घर में पैसों की कमी है तो कुछ समय अतिरिक्त काम करना पड़ेगा। हड़ताल करने से क्या कपड़ा और अन्न टपक पड़ेंगे? समस्या से दूर हटने से काम नहीं बनेगा। हम अविद्या का मुकाबला नहीं करते, उससे भागना चाहते हैं। आज कुछ पाने को नहीं है इसीलिये भागना चाहते हैं। कुछ पाने की इच्छा ही शक्ति का केन्द्र है; आनन्द ही वह शक्ति का केन्द्र है। शोष में, श्मशान-वैराग्य में, वह आनन्द का केन्द्र सूख गया है।

.पुरुष शिव स्वरूप है, जब वह शक्ति युक्त है । जितने भी आणवादि दोष हैं वे इसे घेर भी लें तो इसकी शिवता कहीं नहीं जाती । पर यदि वह शक्ति से रहित है तो मन के स्पन्दन स्वप्न भी नहीं बनते । बाह्य जीवन में तो क्या सपनों में भी सुख मिट जाते हैं । किसी को लड्डू खाने को न मिलें तो चने खाकर लड्डू की कल्पना तो कर सकता है, शोष से यह कल्पना भी खतम हो जाती है । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इत्यादि भी इस शक्ति के केन्द्र की तरफ ही दृष्टि रखते हैं । ब्रह्मा में यदि शक्ति का केन्द्र न रहा, सृष्टि करने की इच्छा नहीं हुई तो वह हमारे किस काम का ? विष्णु की मूर्ति यदि अजायबघर में है तो पूजा न होने से उसकी शक्ति चली गई । परन्तु यदि खाली पत्थर की भी मन्दिर में पूजा होती है तो उसमें शक्ति रहती है । भगवान् विष्णु यदि रक्षा नहीं कर सकते तो पूजा करेगा कौन ? शक्ति के केन्द्र से प्रवृत्त होकर ही सब व्यवहार हैं । इस शक्ति के केन्द्र को सभी प्रणाम क्यों नहीं करते ? पाप करने वाला शक्ति के केन्द्र को न तो प्रणाम कर सकता है न उसकी स्तुति ही कर पाता है । मनुष्य क्यों कहता है कि दुःख मिट जायें चाहे सुख मिले या न मिले ?

सुख पुण्य से होता है, पाप से नहीं । हमारे मानस जीवन में जब से यह भावना भर गई कि सुख पाप का फल है तो हमने सुख की इज्जत करना ही छोड़ दिया ! वेद रोते नहीं, वे कहते हैं तुमने सुख की चीजें बनायीं इसलिये हमको दो । हम पदार्थों को दुःख रूप नहीं मानते । उनका दुरुपयोग पाप बनके दुःख पैदा करता है । पिता पुत्र को रुपया देता है कि तुम इससे आराम से रहना । वह यदि जाकर शराब पीकर दुःख उठाये तो इसमें पिता का क्या कसूर ? पदार्थों की प्राप्ति पुण्य के फल से है । पुण्य से ही सत्वगुण की वृद्धि होती है । जो पुण्य में प्रवृत्ति करने वाला नहीं उसका सुख का केन्द्र सूख जाता है, दुःख को हम खुद ढूंढ़ते हैं । हम खुद गिरे हैं । न अंग्रेजों को दोष दो, न मुसलमानों को । आज नेता कहते हैं लोग

बिगड़ गये। तुमको रुपया चाहिये, उनको वोट। दोनों घूस लेते हैं। हम सब बिगड़ गये। प्रमाद ही मृत्यु है। फिर चाहते हैं सुख मिले। आज का काम कल पर टालते हैं तो प्रमादी हैं। जब संसार के काम ही कल पर टालोगे तो भगवान् के काम भी स्वयं कल पर टल गये। प्रमाद से ब्रह्मनिष्ठा नहीं आयेगी। शोप की अवस्था ही प्रमाद की स्थिति है।

नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षण-मचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।७।

अथर्ववेद की माण्डूक्योपनिषद् के सातवें मंत्र में परब्रह्म तत्व को ही एक मात्र ज्ञान का विषय कहा गया है । वह अत्यन्त सन्निकट होने पर भी क्यों नहीं जाना जाता ? क्योंकि तीन प्रकार के मलों से ढका होने के कारण वह आत्म तत्व स्फुट नहीं हो पाता ।

प्रथम आणव मल है । आणव मल, अपरिच्छिन्न आत्मा को परि-च्छिन्न समझना, सब लोगों में एक जैसा है । और यह तीव्रतम शक्तिपात से दूर हो सकता है । विज्ञानकल साधक की दीक्षा सूक्ष्मतम होने से तीव्रतम शक्ति-पात से होती है । क्योंकि शक्तिपात तीव्रतम है इसलिये इसी जन्म में ज्ञान होता है । विज्ञानकल साधक को दीक्षा काल में ही सद्यः ज्ञान होता है ।

कुछ मल कर्मज हैं । कर्मज मल युक्त साधक को प्रलयाकल कहते हैं । प्रलयाकल में मल कर्मज होने के कारण उन्हें दूर करने में समय-सापेक्षता होती है । कर्मज मल प्रत्येक जीव के अलग-अलग होते हैं । ये अनन्त प्रकार के और अनन्त परिमाण वाले होते हैं । पर कर्मज मल भी दीक्षा मिलने पर जन्म के अन्तिम समय तक नष्ट अवश्य होते हैं । प्रारब्ध कर्म की न्यूनता और बढ़ती के कारण इसमें कितना समय चाहिये यह नहीं कहा जा सकता । प्रारब्ध कर्म की समाप्ति होते-होते ज्ञान अवश्य हो जायेगा । यहां भी अन्य जन्म अपेक्षित नहीं । कहीं प्रारब्ध कम होता है तो उसका अन्त होने में देर नहीं लगती । कहीं

कहीं कर्मज मल इतना कम होता है कि केवल तत्त्वमसि आदि महावाक्यों की आवृत्ति मात्र से ज्ञान हो जाता है । लोक में भी विचारशील पुरुष साधारण वुद्धि वाले से जल्दी समझता है । एक सुई तीन कागजों में एक साथ जाती हुई दीखती है परन्तु विचारशील उन्हें एक के बाद एक छिदा हुआ जानता है । स्थूल दृष्टि वाले को भेद का पता नहीं चलता ।

विज्ञानकल का ज्ञान कालसापेक्ष नहीं होता । वहां परमेश्वर ही स्वयं तीव्रतम शक्तिपात करता है । तीव्रतर शक्तिपात करने वाले विशेष अधिकारी को मंत्रेश्वर या विद्येश्वर कहते हैं । सारे मंत्रों पर शक्ति उन्हें प्राप्त होती है । ब्रह्मसूत्रों में इन्हें अधिकारी पुरुष कहा गया है ।

परमेश्वर में पांच शक्तियां हैं । सृष्टि, स्थिति, लय, अनुग्रह, और तिरोभाव । ये पांच शक्तियां परमेश्वर में ही रह सकती हैं अन्य किसी में नहीं । इनका नियामक सब काल में वही रहता है । बाकी शक्तियों को योगादि अभ्यास से जीव भी प्राप्त कर सकता है । यद्यपि सर्वकर्ता परमेश्वर सब कुछ कर सकता है परन्तु ये पांच केवल उसी के काम हैं । यथा प्रधानमंत्री नेहरू जी के अधीन सब मंत्री थे परन्तु विदेश मंत्री केवल वही थे । अन्य काम करने में अन्य मंत्री काफी स्वतंत्र थे पर विदेश मंत्री का कार्य वे स्वयं चलाते थे ।

इन पांच कृत्यों को परमेश्वर स्वयं चलाते हैं ।

(१) सृष्टि--संसार की उत्पत्ति को परमेश्वर स्वयं करते हैं । परमेश्वर जब चाहेंगे कि सृष्टि का प्रारम्भ हो तभी होगा । यह कर्म साक्षात् उनकी निगरानी में है ।

(२) स्थिति--संसार कब तक स्थिर रहेगा यह भी वे निर्णय करते हैं । जहां समष्टि का सम्बन्ध है वहां परमेश्वर का हक है । जहां व्यष्टि का सम्बन्ध है वहां तत्-तत् देवता, जीव, मानव स्वतंत्र हैं । यहां सृष्टि का मतलब मूल सृष्टि या पंच महाभूतों की उत्पत्ति है और स्थिति का अर्थ समष्टि की स्थिति या सारे महाभूत और जीवों की स्थिति है ।

(३) इसी प्रकार संहार भी परमेश्वर के संकल्प से ही होता है।

(४) अनुग्रह तथा (५) तिरोभाव में भी परमेश्वर स्वतंत्र है। तिरोभाव का अर्थ होता है अपने को ढांक कर रखना। अपने आप को आवृत करके रखना यह परमेश्वर की अपनी शक्ति है। ऐसे ही आविर्भाव या अनुग्रह, अपने को प्रकट करना भी उनकी अपनी शक्ति है।

इन कर्मों को वह स्वयं करता है। पर कर्म बिना व्यष्टि उपाधि के नहीं बनते। समष्टि उपाधि में जब तक व्यष्टि नहीं होती तब तक क्रिया नहीं बनती। 'एकोऽहं' सृष्टि का कारण नहीं है। 'बहु स्याम्' के अन्दर जो प्रक्षेप है, विभिन्न भागों में अपने को बांटना, वह संकल्प व्यष्टि उपाधि को स्वीकार करके ही बनेगा। 'एकोऽहं' समष्टिगत संकल्प है। 'बहुस्याम्' व्यष्टिगत संकल्प है। बहुत दूर से आपको कुछ आता हुआ नजर आता है। कोई चीज आ रही है। सारी चीज एक मालूम पड़ती है। नजदीक आने पर वह गायें दीखने लगीं। व्यष्टि की दृष्टि बनाने से ही बहुत बनेंगे। परमेश्वर ने पहले एकोऽहं का संकल्प किया। फिर प्रश्न उठता है कि क्या उस ज्ञान को छोड़ कर बहुस्यां का संकल्प किया? क्या 'गायें आ रही हैं' इस ज्ञान से 'कोई चीज आ रही है' इस ज्ञान का बाध हो गया?

यदि ऐसा मानोगे तो परमेश्वर को अज्ञानी मानना पड़ेगा। यदि कहो कि 'एकोऽहं' रहते ही 'बहुस्यां' हो गया तो सर्वथा विरोध होगा। एक ही आश्रय में एक काल में एकत्व और बहुत्व नहीं रह सकते। इस विषय में तत्त्व मीमांसकों का कहना है कि समष्टि दृष्ट्या एकत्व रहते हुए ही व्यष्टि दृष्ट्या बहुत्व एक ही काल में रहेगा। यथा सारे स्वप्न की दृष्टि से सोने वाला एक ही है पर स्वप्न की दृष्टि में वह स्वप्न में बीस आदमी बन गया। स्वप्न के जीव की दृष्टि से वह २० दीखने वाले आदमियों में एक था, पर जागृत् की दृष्टि से वह एक ही स्वप्न में २० बन गया। इसी प्रकार परमेश्वर समष्टि की दृष्टि से आज भी 'एकोऽहं' है। लेकिन व्यष्टि की दृष्टि से 'बहुस्यां' है।

पञ्चकृत्य परायण जब व्यष्टि दृष्टि को अपनायेगा तभी वह बहुत होगा। परमेश्वर के साक्षात् तादात्म्यवाली उपाधि में पञ्चकृत्य स्फुट होते हैं, परमेश्वर की अन्य उपाधियों में वह स्फुट होते नहीं। परमेश्वर जगत् की सृष्टि करता है तो अपने अनेक रूपों में तादात्म्य स्फुट करता है। विद्येश्वर और मंत्रेश्वर तो अनेक तादात्म्य वाले हैं, और अनुग्रह शक्ति की प्रस्फुटता उनमें है। प्रलयाकल के कर्मज मल को दूर करने के लिये मंत्रेश्वर का संकल्प अनुग्रह का कार्य करते समय परमेश्वर का ही संकल्प है।

इस शक्तिपात के कार्य त्रिविध होते हैं। सूक्ष्मतर कार्य दृष्टि, सूक्ष्म स्पर्श और स्थूल शब्द है। विज्ञानकल में मानस क्रिया द्वारा प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। दृष्टि, शब्द, स्पर्श इन तीनों को दृष्टान्त से समझा जा सकता है। एक कछुई अपने बच्चों को पोषण दृष्टि से देती है। उसकी नजर बराबर बच्चों पर रहती है। यदि बच्चों को वह दृष्टि न मिले तो वे मर जायेंगे। कबूतर के अण्डे या चिड़िया के अण्डे हैं। यदि आप उसको छू दीजिये और फिर वहीं रख दीजिये तो कबूतरी फिर उस अण्डे पर नहीं बैठेगी। चिड़िया अन्य व्यक्ति के द्वारा स्पर्श किये अण्डे को त्याग देती है। एक प्रकार की ऐसी मछली होती है जिसको कोई उंगली दिखादे तो वह मर जाती है। जिस प्रकार अपने अपत्यों को कूर्मी केवल वीक्षण द्वारा पोषित करती है (स्वापत्यानि यथा कूर्मी वीक्षणेनैव पोष्यति) उसी प्रकार गुरु की दृष्टि मात्र कर्मों को नष्ट कर देती है। दृष्टि के द्वारा गुरु कर्मज मलों को जान कर उनका ज्ञान दृष्टि के द्वारा ही शिष्य को देता है। 'सकषायं विजानीयात्' में भगवान् गौडपाद दृष्टि पर ही जोर देते हैं। भगवान् दक्षिणामूर्ति विज्ञानकल को मौन के द्वारा ही दीक्षा देते थे। भगवान् शंकराचार्य के काल तक साधकों में कर्मज मल अधिक हो गया था अतः वे दृष्टि पर ही अधिक जोर देते थे।

कहीं कहीं ऐसा भी होता है कि दृष्टि मात्र से काम नहीं चलता। जीव के अन्दर यह शक्ति नहीं होती कि वह दृष्टि मात्र से ज्ञान ग्रहण

करले । तव उसे शब्द या स्पर्श की जरूरत पड़ती है। एक मोटा दृष्टान्त लीजिये । सत्संग के अन्त में जब लोग तुलसी लेने के लिये आते हैं तो कोई तो केवल आंख से ही समझ जाता है कि लाइन से आओ, और किसी को हाथ पकड़ कर पीछे करना पड़ता है । जहां हृदय का विकास नहीं हुआ वहां स्पर्श करना पड़ता है । कहीं साक्षात् शब्द की जरूरत है और कहना पड़ता है कि तुम्हारे अन्दर यह पाप के मल हैं ।

पर शब्द के द्वारा एक बार में एक ही बात कही जाती है । स्पर्श से हजार बात कही जा सकती हैं और दृष्टि से तो लाख बात एक साथ कही जा सकती हैं । शाब्द व्यवहार में पहले तो अपने भाव ठीक होते ही नहीं । किसी प्रकार उन्हें व्यक्त करो भी तो कठिनाई यह आती है कि दूसरा ठीक समझेगा कि नहीं । फिर सारी बातें मुंह से कहने की होती भी नहीं । बहुत सी बातें समझ गया तो समझ गया, अन्यथा वक्ता मन मसोस कर रह जाता है । इन्हीं कठिनाइयों के कारण शब्द को स्थूल माना गया है । शाब्दी दीक्षा में साधन काल दीर्घ हो जाता है ।

प्रलयाकल के लिये ये तीन दीक्षा हैं । 'वीक्षणेनैव पोषयेत्' और 'शिशून् संवर्धयेत् शनैः' कहा तो शनैः का अर्थ धीरे धीरे होता है। धीरे इस लिये कहा कि स्पार्शी दीक्षा में विलम्ब होता है। कहीं तो शाब्दी दीक्षा में भी कहने के बाद पुनरावर्तन करना पड़ता है। प्रलयाकल को भगवान् छोड़ते नहीं । उसे ज्ञान इसी जन्म में सिद्ध हो जाता है । जब आणवमल नष्ट होकर सर्वत्र आत्मबोध होता है तो इसी जन्म में मुक्ति होती है ।

* * * *

परब्रह्म तत्त्व न तो अन्तः प्रज्ञा से जाना जा सकता है, न बहिः प्रज्ञा से । अतः वासना और जगत् के निराकरण का उपाय बतला रहे हैं । आणव और कर्मज मल के दोषों को दूर करने के उपाय ऊपर बता चुके हैं । और निर्बीज में तीव्रतम और तीव्रतर शक्तिपात

बताया। अब कुछ सकल सबीज अवस्था वाले पुरुष का विचार करेंगे। इस अवस्था में आणव कर्मज मल के साथ-साथ मायिक मल भी है। सबीज पुरुष अपनी वासनाओं की पूर्ति चाहता है। सकल पुरुष खिचता है पर चाहता नहीं। चाहता वह परमेश्वर को है, संसार के पदार्थों को अन्दर से नहीं चाहता, पर न चाहने पर भी वासनाओं के वेग में बह जाता है। यह मायिक मल है। यहां मल की पूर्णता है परन्तु सत्सङ्ग के कारण अन्दर से समझता है कि ये वासनायें पूर्ण होने वाली नहीं, ये हमको कष्ट देंगी। मन को झक-झोरता है कि अरे मन! तू संसार की ओर क्यों जा रहा है? फिर वासनायें उसे चञ्चल करती हैं। इस मायिक मल को गौड़पादाचार्यों ने विक्षेप कहा है। 'विक्षिप्तं शमयेत् पुनः'। मन की दृष्टि से जिसकी संज्ञा विक्षिप्त है, उसी को जीव की दृष्टि से सकल कहते हैं। मायिक मल से जिसका मन विक्षिप्त हुआ वह जीव सकल कहलाता है। मायिक मल का अर्थ है वासनाओं की सत्ता। यह जीव वासनाओं की पूर्ति अन्दर से चाहता नहीं पर बह जाता है। ऐसे मुमुक्षु की दीक्षा का प्रकार क्रियावती कहा जाता है जो अति स्थूल है। 'सकषायं विजानीयात्' कषाय को केवल जान कर अब यहां काम नहीं चलता। वासना केवल जानने से निवृत्त नहीं होगी। क्योंकि वह चेतन मन के अन्दर उपस्थित हैं। वासना कहते ही उसे हैं जो ज्ञात है। मेरा मन अमुक चीज में जा रहा है, यह पता चलता है। बिना जाने हुए वासना की सत्ता नहीं रहेगी। वासना को दूर करने के लिये ज्ञान नहीं क्रिया अपेक्षित है। इस लिये कहा 'विक्षिप्तं शमयेत् पुनः' उपशमन करे, हटावे, शान्त करे। उसकी निवृत्ति का साधन क्रियावती दीक्षा है।

क्रिया में कई चीजों का विचार होता है। साधन में चार प्रकार के शोधन आवश्यक हैं। मंत्र, अधिकारी, काल, देश इन चारों का शोधन अपेक्षित है। पहली शुद्धि है मंत्र शुद्धि। मंत्र का अर्थ है

उपाय । 'मननात् त्रायते इति मन्त्रः' । मनन करने से जो त्राण करे वह मंत्र है । अतः उपाय शुद्धि में वासनाओं के भेद के कारण उपाय भेद हो जाता है । प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्येक वासना प्रबल नहीं होती । किसी की रसनेन्द्रियं वासना प्रवल होती है तो खाते समय चार सब्जी और रबड़ी के बगैर काम नहीं चलता । कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं कि जो कुछ परोस दो उसे चुपचाप खा लेते हैं । किसी में क्रोध प्रबल है तो किसी में काम प्रबल और किसी में लोभ, मान, मद, मात्सर्य । सभी तरह के लोग होते हैं । कोई यश के लिये सारे घर को बेच देगा । ऐसे करोड़पति भी हैं जो दो रुपये के लिये इज्जत बेच देते हैं और दो पैसे के लिये मजदूर से घंटेभर झिकझिक करते हैं । यद्यपि हैदराबाद का निजाम संसार के सबसे अधिक धनी व्यक्तियों नें से है, पर वह छै आने आठ आने गज से अधिक का कपड़ा नहीं पहनता था । उसने भारत पर चीन का आक्रमण होने के बाद कितने दयनीय ढंग से कहा कि हमारे पास सुरक्षा के लिये देने को कुछ भी धन नहीं है और कुछ स्कूल के लड़कों ने चन्दा करके उसके पास ५ रु० का मनीआर्डर भेजा तो उसे भी उसने लौटाया नहीं । कई लोग पुत्र-पत्नी में मोह अधिक करते हैं । लड़का खून करके आजाय तो भी उसे जेल नहीं भेजना चाहते । इसीलिये एक उपाय से सबका काम नहीं चलता । अधिकारी भेद का रहस्य यही है ।

अन्तःकरण, शरीर और इन्द्रियां महाभूतों से बनी हैं । मन भी भौतिक पदार्थ है । इनके शोधन का उपाय अधिकारी की शुद्धि है । जिस तत्त्व का मन पर अधिक अधिकार है उसका शोधन करना पड़ता है । जिस तत्त्व का पञ्च महाभूतों में अधिक प्रभाव होगा वह मन पर भी कब्जा करेगा । अग्नि तत्त्व से रूप की ओर प्रवृत्ति होगी तो जल तत्त्व से रसनेन्द्रियं में प्रवृत्ति हो जायगी । इसी प्रकार पांच तत्त्वों की प्रधानता का अलग अलग फल है । जो लोग शास्त्रीय आधार को नहीं जानते वे भी जानते हैं कि प्रायः दुबला आदमी गुस्सैला ज्यादा होता है । प्रायः अग्नि तत्त्व प्रधान व्यक्ति में पित्त की प्रधानता होगी

ग्रौर शरीर में स्थूलता नहीं होगी । ग्रग्नि तत्व की प्रधानता ही क्रोध को बढ़ायेगी । मोटा ग्रादमी हंसमुख होता है । स्थूल व्यक्ति के ग्रन्दर जल की मात्रा ग्रधिक होती है । जहां व्यक्ति स्थूल होगा जल की प्रधानता से रसनेन्द्रिय प्रधान होगी । एक दिन उपवास करादो तो उसकी सारी हंसी गायब हो जायेगी क्योंकि रसनेन्द्रिय रुक गई । पञ्च तत्वों के द्वारा ही शरीर, मन, बुद्धि सबका निर्माण होता है । इनमें से जिस तत्व की प्रधानता होगी उसकी वासना बढ़ेगी ।

ग्रतः ग्रधिकारी शुद्धि में उसके प्रधान तत्व को लेकर ही उसका शोधन चलता है । बाह्य शरीर का ग्राकार नहीं बदलता पर ग्रन्तः शरीर का शोधन हो जाता है । साधना से स्वभाव बदलेगा । जहां ग्रति स्थूल वासनायें होती हैं वहां स्थूल देह का भी शोधन करना पड़ता है । यहीं हठ योग का प्रयोग शरीर को बदलने के लिये ग्रावश्यक होता है । पर जहां केवल सूक्ष्म शरीर का परिवर्तन चाहिये केवल न्यासादि से काम चल जाता है ।

महात्मा सुकरात के पास एक सामुद्रिक शास्त्र का ज्ञाता गया । सामुद्रिक में सारे ग्रंगप्रत्यंगों का स्वरूप बतलाया गया है । सुकरात को देख कर उसने कहा कि यह व्यक्ति ग्रत्यन्त कामी है । यह सुनकर शिष्यों को बड़ा गुस्सा ग्राया । सुकरात हंस पड़े । उन्होंने कहा यह व्यक्ति ठीक कह रहा है । मेरी वृत्ति ऐसी ही थी । मैंने उसे ग्रभ्यास द्वारा नियन्त्रित किया है । मुझे पता है कि इसे जीतने के लिये मुझे कितना प्रयत्न करना पड़ा था । स्थूल शरीर से उसने ठीक देखा कि मैं कामी था ।

काल का प्रभाव ग्राजकल प्रायः लोग ग्रनुभव नहीं करते । सारे काल एक से समझते हैं । भगवान् के बनाये सभी दिन हैं ग्रौर सभी रात्रि हैं । दस दिन तक ग्राप रात भर जागिये ग्रौर दिन भर सोइये तो पता चल जायेगा कि रात भर जागना कठिन है ग्रौर दिन भर सोना भी कठिन है । रात्रि में नींद का झोंका ग्रा ही जाता है । कोई

काल जागने के उपयुक्त है तो कोई काल सोने के उपयुक्त है। ऐसे ही सवेरे और शाम मन में शान्ति आती है। यह काल का प्रभाव है। शास्त्र ने काल का सूक्ष्म अध्ययन किया। काल का अर्थ है पदार्थों की स्थिति विशेष। सूर्य का पृथिवी के उस तरफ जहां तुम रहते हो, प्रकाश न दे सकना रात्रि कहलाती है। चन्द्रमा का पूर्ण रूप प्रकट करने में समर्थ न होना अमावास्या है। चन्द्रमा का पूर्ण प्रकट होना पौर्णमासी है। नक्षत्र आदि की विशेष स्थिति का नाम योग है।

प्रत्येक ग्रह नक्षत्र प्रत्येक प्राणी पर प्रभाव डालता है। आप रास्ते से जा रहे हैं। दिल्ली परिवहन की बस आपके पास से निकल गई तो आप फौरन रूमाल निकालते हैं कि बड़ी बदबू आ रही है। प्रत्येक बार निकला हुआ धुआं सारी दिल्ली में व्याप्त होता रहेगा, उसका प्रभाव जरूर पड़ता है। यह निःसन्दिग्ध है। व्यक्तियों के प्रभाव का जल्दी पता नहीं चलता। रास्ते में जा रहे हैं अकस्मात् धन का चिन्तन होने लगा। किसी पदार्थ ने उस संस्कार को जगाया। इसका उपादान कारण तो अन्तःकरण का संस्कार है पर निमित्त कारण किसी लोभी व्यक्ति का सान्निध्य बना। लोभी का कभी स्मरण भी मत करो। लोभी का स्मरण उद्बुद्ध हुआ तो भोजन भी न कर पाओगे। बिना किसी कारण अकस्मात् धन का स्मरण किया तो किसी न किसी व्यक्ति के विचारों का प्रभाव पड़ा। अतः अज्ञातभावसे नक्षत्रों का भी प्रभाव पड़ता है इसमें क्या आश्चर्य ?

शास्त्रकारों ने नक्षत्रों के प्रभाव का विशेष अध्ययन किया। जिस ग्रह या नक्षत्र का अत्यधिक प्रभाव था उसको देख कर काल शुद्धि की। नक्षत्रों के रंग अलग अलग हैं। रंगों का सम्बन्ध मन से है। दूर तक हरियाली देखो तो मन प्रसन्न होता है, दूर तक रेगिस्तान देखो तो मन में उदासी आती है। इसी कारण लोग कमरे में रंग करने के लिये बहुत सोच विचार करते हैं। कई नक्षत्रों की प्रधानता का अध्ययन करके शास्त्रों ने काल शोधन किया। इसी कारण जिन तत्वों की शरीर में प्रधानता है उसको देख कर विवाह का मुहूर्त निश्चित होता है। जो

एक लड़के के लिये अत्युत्तम मुहूर्त है वही दूसरे के लिये निकृष्ट हो जाता है।

प्रयत्न करके सूक्ष्म शरीर बदलने वाले को सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है। दीक्षा काल भी इसीलिये प्रधान है। साधना का काल भी किसी को प्रातः, किसी को सायं, किसी को अर्धरात्रि इसी कारण बताते हैं कि ये क्रियावती दीक्षा के अंग हैं।

दिक् शुद्धि भी काल शुद्धि की ही तरह है। अतः प्रातः संध्या पूर्वाभिमुखी, मध्याह्नसंध्या उत्तराभिमुखी और सायं संध्या पश्चिमाभिमुखी होकर करनी चाहिये। अपने से विपरीत प्रकृति की साधना करोगे तो अनुकूल नहीं पड़ेगी। अतः एक नियम से सब की साधना नहीं होती। जापान भर के मंदिरों में एक समय ही घंटे बजते हैं और पूजा होती है। कुछ लोग यह देख कर कहने लगे कि भारत में भी ऐसा ही होना चाहिये। जापान तो छोटा देश है वहां एक साथ संध्या होगी। पर भारत में दिल्ली और कलकत्ते में आधे घंटे का फरक है। रामेश्वर में १२ घंटे का दिन और १२ घंटे की रात्रि होती है। कश्मीर में १५ घंटे का दिन हो तो रात छोटी होगी और १५ घंटे की रात हो तो जाड़ों में दिन छोटा होगा।

विष्णु का पूजन पूर्वाह्न में प्रधान है और शिव का पूजन संध्योत्तर प्रदोष में। बाटा शू कम्पनी यदि सभी के लिये सात नम्बर के जूते बनाये तो क्या होगा? जब सबके लिये जूते ही एक जैसे नहीं बन सकते तो साधना कैसे एक जैसी होगी? देश शुद्धि की आवश्यकता इस कारण है कि हर देश में कोई न कोई विशेषता होती है। जगह जगह के तत्त्वों में फरक आता है। पृथ्वी तत्त्व के कारण जल में भेद आ जाता है। किसी जगह स्वतः पूजन पाठ की प्रवृत्ति होती है। कहीं रात्रि में ध्यान जमता है, कहीं दिन में। साधक के लिये किसी समय कहीं बैठना उपयुक्त है, किसी समय कहीं अन्यत्र।

* * * *

तीन प्रकार के मुमुक्षु जीवों को लेकर इस प्रकार आणव, कर्मज और मायिक कर्मों से बद्ध जीवों के तीनों दोषों को दूर करने के लिये

दीक्षा की आवश्यकता है। क्रियावती दीक्षा में देश, काल, अधिकारी और मंत्र इन चारों के शोधन से मायिक दोष निवृत्त होगा। यह सकल साधक के लिये उपाय है। कल का अर्थ है संसार अतः सकल संसार और उसके बन्धन को कहते हैं। इसी कारण परम शिव को अकल कहते हैं। अर्थात् जहां विषयों का परम अभाव हो उसे अकल यां निष्कल कहते हैं। इसी कारण श्रुति ने 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम् निरवद्यं निरञ्जनम्' कहा। अतः सकल को निष्कल बनाना है। क्योंकि परमात्मा संसार और उसके कार्य से रहित है, इसीलिये निष्क्रिय है। जो सक्रिय है उसे निष्क्रिय बनाना है। सक्रिय कौन है? प्रकृति के सम्बन्ध से जिसमें क्रिया की प्रतीति हो। यथा आकाश में बादल के चलने से चन्द्रमा में गति की प्रतीति होती है। सक्रिय चन्द्रमा को निष्क्रिय बनाना है तो इसका अर्थ होगा बादल का हट जानां। इसीलिये श्रुति ने 'निष्क्रियं' के बाद 'शान्तं' कहा। शान्ति दो प्रकार की होती है। स्वाभाविक और लादी हुई। ब्रह्म का स्वरूप तो शान्त है। जो स्वरूप से निष्कल, निष्क्रिय और शान्त है वह प्रतीत हो रहा है सकल, सक्रिय और अशान्त। इसंका कारण क्या है? जिस प्रकार चन्द्रमावाले उदाहरण में बादल है उसी प्रकार यहां मल है। इस मल के दूर होने पर वह छिपा हुआ गुण स्फुट हो जाता है। ब्रासो (Brasso) पीतल को साफ नहीं करती, पीतल के मल को हटाती है। ब्रासो रगड़ते समय क्रिया पीतल में नहीं मल के ऊपर हो रही है पर मल निवृत्ति की क्रिया पीतल में होती जैसी दीखती है।

ईशावास्योपनिषद् में भगवान् भाष्यकार शंकर भगवत्पाद उदाहरण देते हैं कि चन्दन की लकड़ी पानी में पड़ी हुई सड़ गई है तो दुर्गन्धि ही निकलेगी। फिर सड़ा हुआ हिस्सा घिस दिया तो सुगन्धि वाला हो गया। चन्दन या अगरु में जिस समय दुर्गन्धि की प्रतीति थी उस समय भी वह सुगन्ध वाला ही था। ऐसे ही जीव को जिस समय सकल, सक्रिय, अशान्त समझा जा रहा है उस समय भी वह अकल निष्क्रिय और शान्त है। पर क्रिया या साधना के द्वारा उसके मल

को हटाना है। हवा चलाने से बादल हटेगा। रगड़ने से चन्दन सुगन्ध देगा। इसी प्रकार तीन मलों को भिन्न भिन्न क्रियाओं द्वारा दूर करने से निष्कल प्रकट होगा।

आणव मल को दूर करने के लिये केवल श्रवण काफी है। प्रलयाकल कर्मज दोष केवल जानने से ही निवृत्त हो जाते हैं। पर मायिक मल अधिक स्थूल होता है। इसमें क्रिया की स्फुटता है। इस लिये क्रियावती दीक्षा आवश्यक है।

क्रियावती दीक्षा के लिये गुरु का पूजन करके मंत्र प्राप्ति के लिये प्रार्थना करे। क्योंकि प्रश्न सदा शिष्य की तरफ से होता है। नियम है कि 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्'। बिना पूछे किसी को उपदेश न करे। यह शास्त्र का सिद्धान्त है कि जिसके मन में जिज्ञासा नहीं उसे उपदेश देना व्यर्थ है क्योंकि जिज्ञासा रहित उसको धारण नहीं कर सकता। गुरु का लक्षण है 'ऊहापोहविचक्षणः' शिष्य के मन में जो सन्देह हो सकता है उसका अनुमान करके बता दे। पर जहां जानने की इच्छा ही न हो, जिसके मन में प्रश्न ही नहीं है, वह धारण ही नहीं करेगा। अतः मंत्र के लिये प्रार्थना शिष्य करे तो गुरु स्वस्ति वाचन करके सारे देवताओं की प्रार्थना करता है कि हमारा यह कर्म 'सु अस्ति' शुभ है। केवल चावल लेना और चावल फेंकना स्वस्ति-वाचन नहीं है। अक्षत से देवताओं का पूजन प्रतीक मात्र है। द्वार-पालादिकों का पूजन मण्डल या मण्डप में होता है। मण्डप एक प्रकार का घर है। वह इस बात का द्योतक है कि हम एक नवीन गृह में जा रहे हैं। यदि दीक्षा मन्दिर के अन्दर दी जाती है तो नवीन मण्डप नहीं बनाना पड़ता।

अब दीक्षा के बाद देव-पूजन से प्रधान सम्बन्ध होगा। पहले काम प्रधान होता था पूजा गौण। अब क्रम उलट गया। यदि हमारे देव पूजन का समय है और उस समय कोई लाख करोड़ का भी काम आयेगा तो हम पहले पूजन करेंगे। अन्य सब कार्य गौण हो गये।

इस क्रियावती दीक्षा के बाद क्रम परिवर्तित हो गया। इसी के प्रतीक रूप से मण्डप में प्रवेश किया।

विस्तृत दीक्षा संस्कार तीन दिन या सात दिन तक होता है। दिव्य विघ्नों की अस्त्र आदि के प्रयोग से निवृत्ति होती है। देवता इन्द्रिय हैं। इन्द्रियां ही तत् तत् देवता से अधिष्ठित होकर क्रिया करती हैं। दिव्य-विघ्न-निवृत्ति के बाद भूत-विघ्न-निवृत्ति होती है। अन्य प्राणी भूत हैं। फिर पञ्चमहाभूतों से विघ्न-निवृत्ति करके सर्वतोभद्र चक्र लेकर जिस देवता का मन्त्र लेना है उसकी कलाओं को लेकर पूजन होता है। आदित्य १२ कला वाला है। ज्येष्ठ में उसकी रौद्री शक्ति रहती है और वही सूर्य माघ में सौम्य बन जाता है। इस प्रकार सशक्तिक कलाओं सहित इष्ट का आवाहन और पूजन होता है। यही पूजन का क्रम है। बाह्य, फिर आभ्यन्तर, फिर अत्यन्त आभ्यन्तर स्वरूप से पूजा होती है। दक्षिण भारतवर्ष में मन्दिरों का यदि गर्भ गृह देखना चाहो तो कपूर की आरती करनी पड़ती है तभी वहां प्रकाश सम्भव है। भारतीय शिल्पशास्त्र का यह रहस्य है कि गर्भगृह को अत्यन्त आभ्यन्तर स्वरूप बनाते थे। वैसे ही मनुष्य का शरीर इतना बड़ा है पर परमात्मा के रहने का स्थान अंगुष्ठ मात्र है। वह अंगुष्ठ मात्र हृदयाकाश के अन्दर छिपा हुआ है। ठीक इसी के प्रतीक रूप से मन्दिर तो इतना बड़ा बनता है पर गर्भ गुहा छोटी बनायी जाती है। मन्दिर की प्रत्येक दीवारों में मूर्तियां बनी होती है। जिस व्यक्ति को शास्त्र का ज्ञान है वह देख सकता है कि देवता की जितनी बहिःकलायें हैं वे सब बाहर बनी हुई हैं, जितनी अन्तःकलायें होती हैं वे उन दीवालों के अन्दर होती हैं और आभ्यन्तर कलायें अन्तस्तम होती हैं। उत्तर भारत में तो अब शिल्प शास्त्री ही नहीं रहे और न मन्दिरों का इस प्रकार निर्माण ही होता है। मनुष्य मन्दिर में बाहर से अन्दर जाता है, तो पहले बाह्य कला का पूजन करता है फिर आभ्यन्तर कला का, फिर अन्तस्तम इष्ट का पूजन होता है।

पूजा के बाद शिष्य को वेदी पर बैठा कर उसका अभिषेक करते हैं। उसको स्नान कराने के बाद नव वस्त्र धारण कराया गया था,

अब वह मन्त्र स्नान कर रहा है। दैहिक मल हटाने के बाद भूत मल हटाया जा रहा है। प्रत्येक भूत की शुद्धि के बाद न्यास होता है। न्यास का छोटा रूप सभी पूजनों में देखने को मिलता है। अंगुष्ठाभ्यां नमः, तर्जनीभ्यां नमः इत्यादि। जब आप सामान्य पूजन करते हैं तो हृदय, हाथ, पैर, नाभि, नेत्र-त्रय और सिर का प्रयोग करते हैं अतः उतना ही न्यास कर लिया जाता है। यहां सारा जीवन बदलना है अतः बड़े विस्तार से 'नितरां आसः' धरोहर को छोड़ना होता है। जब मनुष्य अपना सब कुछ परमेश्वर के लिये छोड़ता है तो उसे कहते हैं संन्यास।

शरीर के अंग प्रत्यंग को न्यास करके भगवान् के पास रख देता है कि हे परमेश्वर! तुम इन्हें चलाना। पहले गुरु न्यास कर देता है बाद में संक्षिप्त न्यास तो शिष्य प्रतिदिन करता है। और इष्ट के विशेष दिन पूर्ण न्यास करता है। जिस प्रकार अन्यत्र सभी जगह अभ्यास करना पड़ता है वैसे सम्यक् न्यास (संन्यास) में भी अभ्यास करना है। न्यास द्वारा सब चीजों को परमेश्वर के अर्पण करता है। प्रत्येक अंग का सम्बन्ध किसी देव विशेष से है। अतः उसके अनुग्रह में उस अंग को रखा जाता है। फिर गुरु मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त जितने चक्र हैं उन्हें बताता है। स्थापन का अर्थ है चक्र का भान कराना। ये चक्र सूक्ष्म देह में हैं। चक्षु रूपी गोलक चक्षुरिन्द्रिय नहीं है। चक्षुरिन्द्रिय नष्ट हो गई तो भी गोलक बना रहेगा। स्थान तो चक्रों का स्थूल देह में है पर वे हैं यथार्थ में सूक्ष्म देह में। अतः स्नायु के समूह को चक्र मत मानना। स्नायु का आधिक्य केवल संस्थान हैं, उनके अन्दर चक्र हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय हमें नहीं दीख सकती पर गोलक दीखता है।

मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त चक्रों का ज्ञान करने के बाद शिष्य पुनः स्नान करता है। अब वह नवीन व्यक्ति बन गया। गुरु उसके सहस्रार के ऊपर उस मंत्र को १०८ बार जपता है और भावनां करता है 'मे समः'।

शतश्लोकी में भाष्यकार भगवान् कहते हैं 'दृष्टान्तो नैव दृष्टः त्रिभुवनजठरे सद्गुरोः ज्ञानदातुः'। सद्गुरु का दृष्टान्त तीन लोकों में क्यों नहीं मिलता? यदि पारस मणि को कहो तो वह लोहे को सोना तो बना देगा पर लोहे को पारस नहीं बनाता। गुरु अपने शिष्य को अपने ही समान बना देता है। अपनी सारी शक्तियों को उसे प्रदान कर उसे गुरु ही बना देता है। 'स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमः'। अतः गुरु अलौकिक है, क्यों कि प्रकृति के गुणों में अपनी साम्यता नहीं लाई जा सकती।

फिर गुरुपूजन के बाद गुरु कहता है 'वत्स मुक्तोऽसि'। सदाचारी रहते हुए उस स्वरूप में स्थित हो जा। इस क्रियावती दीक्षा का सद्यः फल है।

*　　*　　*　　*

इस प्रकार संस्कारों में दीक्षा-संस्कार परमेश्वर को केन्द्रित करके नवीन जीवन प्रारम्भ करता है। द्विजता के बाद आगम शास्त्र में त्रिजता का प्रतिपादन भी हुआ है। इस तीसरे जन्म के द्वारा जीव ने जो नया रूप अपनाया उससे प्रवृत्ति कम और निवृत्ति की अधिकता होने लगती है।

इस संस्कार के पक जाने पर जो अगला संस्कार आता है उसको वानप्रस्थ आश्रम कहते हैं। वानप्रस्थ का समय निरूपण करते हुए भिन्न-भिन्न स्मृतियों ने कई नियम बताये हैं। कहीं बाल सफेद होने पर, कहीं ५० वर्ष पर, कहीं इन्द्रियों के क्षीण होने पर, कहीं पुत्र का पुत्र उत्पन्न होने पर वानप्रस्थ का समय कहा गया है। शास्त्रकारों ने सोचा कि क्या ये सारे नियम होने चाहिये या किसी एक के होने पर ही वानप्रस्थ का समय है? तो धर्मशास्त्रकारों ने कहा कि इसकी अमुक नियमबद्धता न लेकर केवल उनका तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये।

इस तात्पर्य को आजकल के युग में समझना अधिक आवश्यक है। समाज का प्रवाह चलता रहता है। जब तक वह बहता रहता है तभी तक वह समाज 'सम्यक् अञ्चति गच्छति इति समाजः' है।

समाज एक स्थिर चीज नहीं जिसे हम बांध लें। व्यक्ति पर भी यह नियम घटता है। यदि व्यक्ति में भी प्रवाह नहीं आता तो वह नष्ट होने लगता है। रोज नया भोजन खाकर नया रक्त बनता है। आप प्रतिदिन शरीर का नव निर्माण कर रहे हैं। शरीर भी प्रवाह रूप से नित्य है तद् अंश रूप से नहीं।

समाज में भी नयी धारायें आती हैं और उनको आत्मसात् करते हुए वह नया रहता है। यदि उसकी प्रगति को रोकेंगे तो वह समाज नष्ट होगा। सम्यक् शब्द केवल इसलिये दिया कि जो केवल बहता रहता है वह भी नष्ट हो जाता है। जो केवल दूसरी संस्कृति के प्रभाव में बहेगा वह स्वयं नष्ट हो जायेगा। दूसरी संस्कृति को आत्मसात् करके प्रवाहित होना ही स्वस्थता का लक्षण है। यथा कोई व्यक्ति दाल, चावल, घी, मलाई को पेट में डाल कर आत्मसात् करता है, उनको अपना स्वरूप बनाता है। इसी प्रकार नवीन समाजों की संस्कृति के तत्वों को आत्मसात् करके हमें अपने स्थिर सिद्धान्तों में उन्हें प्रवाह रूप से ग्रहण करना पड़ेगा। अतः किसी युग का कोई धर्म आज अधर्म भी बन सकता है।

युवावस्था में व्यक्ति जितना हजम कर सकता है उतना वृद्धावस्था में नहीं कर सकता। २५ वर्ष और ५० वर्ष के लोगों में भी एक संघर्ष चलता रहता है। २५ वर्ष पूर्व जब समाज में प्रवेश किया तो उस समय सामने जो समस्यायें थीं उनको हल करके उपादेय पदार्थों का उपार्जन किया। अब जब वह ५० वर्ष का हुआ तो परिस्थिति बदल गई, उपाय बदल गये, पर उसकी अपनी परिवर्तनशीलता स्थिर हो गई। समाज तो प्रवाह है उसमें नयी समस्यायें आ गयीं जिनका समन्वय करने की उसमें सामर्थ्य नहीं। इस झगड़े को कैसे मिटाया जाय ?

कविकुलगुरु कालिदास ने लिखा 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं'। हमारी नयी रचना को भी देखो केवल पुरानी ही पुस्तक मत बांचो। नये युग को देखकर उनकी समस्याओं का स्वयं अनुभव करके उनका

हल निकालना है। इसमें वानप्रस्थ होने के कारण झगड़े घटते हैं। सास-बहू का झगड़ा व्यक्तियों का झगड़ा नहीं है। सास की समस्यायें बहू नहीं समझ सकती। पिता-पुत्र का झगड़ा भी ऐसा ही है। पुत्र के सामने जो समस्यायें हैं उन्हें पिता समझ ही नहीं पाता है। दोनों में से एक अपने मन को मार लेता है। पिता कहता है कि हमको दो रोटी खानी हैं और मन मार कर रहता है। उसके अन्तस्तल की वेदना को देखो। वानप्रस्थाश्रम इस समस्या का वैदिक हल है। न घरों में लड़ाई होगी न समाज में। प्राचीन लोग कहते हैं नया समाज बिगड़ रहा है। नये लोग कहते हैं वह तो पुराण पन्थी हैं, उन्हें पता ही नहीं कि समाज कहां पहुंच गया।

आज वानप्रस्थाश्रम क्यों नहीं है? जो व्यक्ति दीक्षा द्वारा परमेश्वर को ही केन्द्र बनायेगा वही वानप्रस्थी होगा। जो जगत् को ही केन्द्र बनायेगा वह जगत् को अपने हाथ से कैसे जाने देगा? आज लोग ५८ साल काम करने के बाद भी नौकरी पर कायम रहना चाहते हैं। इतने साल काम करने के बाद भी अलं बुद्धि नहीं आयी। तुमने २३ साल की उम्र में नौकरी शुरू की थी। आज तक कुछ हाथ नहीं आया तो आगे क्या हाथ आयेगा? इस गड़बड़ी का मूल कारण है कि पहले ब्रह्मचर्याश्रम ही ठीक नहीं रहा। फिर गृहस्थाश्रम ठीक नहीं रहा। फिर दीक्षा हुई नहीं। तो अब वानप्रस्थ की रुचि कैसे होगी। वानप्रस्थियों की समस्यायें सब की एक सी होंगी। उन सबकी परमार्थ विषयक बुद्धि होगी, इसलिये झगड़े नहीं होंगे।

इस आश्रम को वैखानस भी कहते हैं। 'ये नखाः ते वैखानसाः' कह कर श्रुति ने नखों से वैखानस की उत्पत्ति कही। ऋग्वेद के एक सूत्र में मंत्र द्रष्टा ९९ वैखानस ऋषि आये हैं। छान्दोग्य में आश्रम व्यवस्था का सुस्पष्ट वर्णन है। वैखानस शब्द मंत्रानुक्रमणिका का है। छान्दोग्य में इसे तप शब्द से कहा गया है। पुराणों में इसीलिये इन्हें तापस कहते हैं। ब्रह्मसूत्र भाष्य के तीसरे अध्याय के चौथे पाद

में भाष्यकार संन्यासी और वानप्रस्थ का भेद एक शब्द से बताते हैं। 'तपश्च असाधारणधर्मो वानप्रस्थानां काय-क्लेश-प्रधानत्वात्' विशेष धर्म वानप्रस्थ का शरीर के ऊपर नियन्त्रण प्राप्त करने वाला चान्द्रायण इत्यादि है। 'भिक्षोस्तु धर्मः इन्द्रिय-संयमादि लक्षणः'। वानप्रस्थ में स्थूल देह के नियन्त्रण पर जोर है। भिक्षु का धर्म इन्द्रिय संयमादि लक्षण सूक्ष्म देह के नियन्त्रण पर जोर देना है। वानप्रस्थ में अपत्नीक को भी अधिकार है और सपत्नीक को भी। जिसकी पत्नी जीवित है वह पत्नी को लेकर वन में जाये और गृह्य अग्नि को साथ लेकर जायें। अग्नि सगुण परमेश्वर का प्रतीक है। वानप्रस्थ में सगुण की उपासना परित्यक्त नहीं है। वन में होने वाले फल मूल की ही उसमें आहुति दी जाती है। वानप्रस्थ लोग चाहे भिक्षा से निर्वाह करें चाहे वन्य फलों से। इनका निर्देश करने वाला शास्त्र वैखानस शास्त्र है। जो कुछ एक साल में संग्रह हो उसे आश्विन मास में बांट दें, फिर स्थानान्तर गमन करें। इससे संग्रह की वृद्धि चली गई। आश्विन मास में पितृ पक्ष आता है। पितरों के निमित्त सब कुछ देकर चले जाओ। जो पका करके खाते हैं उन वानप्रस्थों को पचमानता कहते हैं। जो पकाते नहीं केवल स्वभाव से प्राप्त फल मूलों को खाकर रहते हैं उन्हें अपचमानता कहते हैं। वे सायं प्रातः आहुति करते हैं। मनु ने लिखा 'सायं प्रातश्च जुहुयात् त्रिकालः स्नानमाचरेत्'। शक्ति के अनुरूप जो त्रिकाल स्नान नहीं कर सकता है उसके लिये दो बार ही काफी है। मृगचर्मादि या वन में होने वाले वस्त्र जैसे पदार्थों को तथा जटा, दाढ़ी, लोम इत्यादि को जो तपस्वी के लक्षण हैं धारण करे। जटाभिस्तापसः। जटा उसका विशेष धर्म है। वानप्रस्थ में विशेष करके आरण्यकों का विचार करने का विधान है।

ब्रह्मचर्याश्रम में वेद का मंत्र-भाग प्रधान है, गृहस्थ में ब्राह्मण-भाग, वानप्रस्थ में आरण्यक और संन्यास में उपनिषद-भाग का विशेष अध्ययन किया जाता है। जिन कर्मकाण्डों को अब तक बाहर करता

चला आया है उन्हीं को आरण्यक में शरीर को वेदी बना कर काम, क्रोध आदि की आहुति डालना आदि रूप में विस्तार से बतलाया गया है। बृहदारण्यक बतलाता है कि अश्वमेध यज्ञ को अपने शरीर पर कैसे घटाओ। इसी प्रकार छान्दोग्य में अग्निहोत्र की व्याख्या की गई है। इस प्रकार का विषय विभाग स्वाभाविक है। आरण्यकों का विशेष विचार करना वानप्रस्थ का प्रधान धर्म है। इसीलिये कालिदास ने वानप्रस्थाश्रम को व्यापार-रोधी आश्रम बताया है। शकुन्तला को देख कर दुष्यन्त कहता है 'वैखानसं हि अनपाव्रतं व्यापाररोधी' कण्व के आश्रम में वैखानस ऋषि को ऐसी लड़की से क्या मतलब ? वानप्रस्थ लोग आरण्यकों पर विचार करके अधीति, बोध, आचरण, प्रचार सब कुछ करते थे। वानप्रस्थाश्रम में ऋषि पत्नी भी साथ हुई तो क्या हर्ज। गृहस्थाश्रम से आगे वह साथ साथ चली। स्वभावत: तो प्रवृत्ति होगी अत: वानप्रस्थ में वह प्रवृत्ति व्यापार रोधी बनेगी। इस प्रकार प्रवृत्ति घटेगी।

आज आप ऋषीकेश में बैठे हैं तो चिट्ठी आती है कि लड़का बीमार है। मन में संकल्प उठा कि अमुक डाक्टर को दिखाते। पर दूरी के कारण व्यापार रोध हो गया। सोचा जैसा वहां लोग कर रहे हैं वही ठीक है। तो चुप होकर बैठ गये। दूर होने पर व्यापार का रोध हो जाता है। वानप्रस्थ में मन के अन्दर वृत्तियां तो बनेंगी पर उनके प्रकट होने का स्थल नहीं है। इसलिये मरने लगेंगी।

मन की वृत्तियों को आगे बढ़ाओ तो बढ़ती हैं। रोकने से खतम होने लगती हैं। अत: वृत्ति वानप्रस्थ में उठकर दबती जाती हैं। वे वृत्तियां धीरे धीरे नष्ट हो जाती हैं। घर में वृत्तियों का रोध होता नहीं। गृहस्थ में वृत्ति को खुल कर खेलने देना चाहिये। पर आजकल होता इसका उलटा है। जवानी में घर की चिन्ता उतनी नहीं करता जितनी कि बुढ़ापे में। अपने लड़के को गोद में उठाया नहीं और अब पोते को गोद से उतारता ही नहीं।

शैशवेभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।।

इस श्लोक में कालिदास ने आश्रमों का निरूपण किया । मुनि वृत्ति का अर्थ है मौन लेना । मन ने खुलकर संसार को यौवन में देख लिया। अब समझ गया कि इसमें कुछ नहीं रखा है। 'सोऽहं आजन्मशुद्धानाम्' के प्रयोग से पता चलता है कि उनके विपत्र शास्त्रीय होने के कारण शुद्ध थे । उनको नियन्त्रित भोग ने पता चला कि इसमें शान्ति नहीं। वार्धक्ये मुनि वृत्तीनां मन को शान्त किया । अन्त में योगाभ्यास करके शरीर को शान्त किया ।

श्रमण श्रामणक रूपी अग्नि का आधान करता है। 'श्रामणकेन अग्निं आधाय' वशिष्ठ धर्म सूत्र कहता है कि श्रमण अग्नि को आधान करने के कारण श्रमण कहा गया । जैनियों ने इस शब्द को पकड़ लिया । इसमें ब्रह्मचर्य का नियम लेना पड़ता है। आजकल वानप्रस्थ लुप्तप्राय सा होगया है । कहीं कहीं तो ऐसी मान्यता है कि वानप्रस्थ कलियुग में वर्ज्य है। पर श्रुति सार्वकालिक और सार्वभौम है। अतः वानप्रस्थाश्रम के लोप के कारण हमारी संस्कृति में अवरुद्धता आगई है ।

गत १००० वर्ष से हमारे ऊपर परिवर्तन लादा जा रहा है। परिस्थिति वश हमें दब कर रहना पड़ा । विचार करके उपादेय को ग्रहण करें और हेय को छोड़ दें ऐसा नहीं हुआ । आज हमारे समाज के प्रत्येक व्यक्ति में व्यावहारिकता और सिद्धान्त का संघर्ष है । यदि हम जिन्हें आदर्श मानते हैं वे कर्म वानप्रस्थ के करने के होते हैं और व्यवहार उन कर्मों का कर रहे हैं जो गृहस्थ के करने के होते हैं तो काल में होने वाली बुराई आ जाती हैं, अच्छाई नहीं । हमने मुस्लिम सभ्यता को आत्मसात् नहीं किया। वह हम पर लादी गई थी । जब वह दो पीढ़ी तक चलती रही तो रूढ़ि बन गई । हम पाश्चात्य संस्कृति को भी आत्मसात् नहीं कर पाये । वह हम पर लादी गई । नतीजा क्या हुआ ? आजतक यह विचार नहीं हुआ कि हमारे लिये क्या हेय

है और क्या उपादेय। पर युग और समय किसी के लिये नहीं रुकता। जो भी चीजें हम पर लादी गई वे सब परम्परा से चालू हो गई। इसलिये दुर्गुणों का व्यवहार तो चालू हो गया पर संस्कृति के अच्छे अंग सब आज नष्टप्राय हैं। हमारे जीवन में द्वैध आया हुआ है। हम मानते कुछ हैं, करते कुछ और हैं।

जब हम मानते थे 'स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धि विन्दन्ति मानवा: (गी० १८·४६) तो इससे हम द्वैध नहीं लाते थे। अपने कर्म को ही हम उपासना बना लेते थे। पर दूसरी संस्कृति को आत्मसात् करने की हमारी शक्ति जब तक वापस नहीं आयेगी तब तक हमारे समाज में गति नहीं आयेगी। आज यदि वानप्रस्थ आश्रम नहीं है तो केवल पैन्शन लेकर ही आदमी घर से जा सकता है। उसी से निर्वाह करते हुए व्यापार रोध करे। निवृत्ति के रस को चखे तो सही। इससे समाज का भी कल्याण होगा और द्वैध का भी अन्त होगा।

*　　*　　*　　*

अध्यात्म शास्त्र में जो साधक के लिये कर्तव्य हैं वही सिद्धावस्था में स्वरूप बन जाता है। अत: स्वरूपलक्षण से भी साधन का निर्देश होता है। जो अन्त:करण स्वरूप से पदार्थोन्मुख है उसे धीरे धीरे क्रमिक विकास से आगे चढ़ाते हुए परमेश्वर तक पहुंचाना है। चूंकि प्रवृत्ति स्वभाव है अत: उसे हटाने के लिये निवृत्ति का उपदेश हुआ, यद्यपि स्वरूप में न प्रवृत्ति है न निवृत्ति। उसका यथार्थ लक्षण न भावात्मक रूप से हो सकता है, न अभावात्मक रूप से। इसीलिये शास्त्र दोनों को एक साथ रखता है। 'अनेजदेकं मनसो जवीय:' वह हिलता नहीं पर सबसे तेज चलता है। इस प्रकार वेद भाव और अभाव रूपों को साथ साथ रखता था। परवर्ती काल में कुछ लोगों ने उसके भावात्मक अंगों पर जोर दिया और कुछ ने अभावात्मक पर जोर दिया। वास्तव में वह न भाव रूप है, न अभाव रूप। वह भाव और अभाव का अधिष्ठान है। 'मम तत्त्वं न जानन्ति भावाभावविवर्जितम्'। भाव दृष्टि से प्रवृत्ति होती है और अभाव दृष्टि से निवृत्ति।

वस्तुतः उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों नहीं। जितने भी संस्कार होते हैं उनमें संन्यास सर्वथा निवृत्ति परायण है।

संस्कारों द्वारा स्वाभाविकी प्रवृत्ति को रोक कर शास्त्र ने शास्त्रीय प्रवृत्ति करायी। विवाह पर्यन्त कर्म होते तो मानव मात्र में हैं, पर इन संस्कारों को शास्त्रीय क्रिया से नहीं करने के कारण अन्य लोगों की प्रवृत्ति अपनी इच्छा से होती है, अतः कामज सन्तान उत्पन्न होती है। वैदिक संस्कार गर्भाधान से विवाह पर्यन्त सभी प्रवृत्ति प्रधान संस्कार नियन्त्रण के साथ किये जाने के कारण मनमानी प्रवृत्ति का निरोध करने के लिये हैं। अतः धर्मज सन्तान होती है, धीरे-धीरे निवृत्ति बढ़ाकर अन्तिम संस्कार संन्यास सर्वथा निवृति का संस्कार है।

प्रश्न उठता है कि यदि परमात्म तत्व प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से परे है तो सारे संस्कारों में निवृत्ति पर जोर क्यों? इसका कारण केवल प्रवृत्ति का रोध करना है। सर्वत्र ही श्रुति का तात्पर्य नियमन करने में हैं। स्वभाव से धूप चढ़ते तक सोते रहना प्रवृत्ति है। शास्त्र ने 'ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय धर्म अर्थ च चिन्तयेत्' से इस प्रवृत्ति का निरोध किया। उठने के बाद चाय पीना प्रवृत्ति है। अतः नियम बनाया कि उठने के बाद शौच, स्नानादि कर ले, जप ध्यान पूजादि करे तब खाने की सोचे। चूंकि प्रवृत्ति स्वभावतः बद्ध जीव को प्राप्त है, उसके लिये विधान अनावश्यक है। ऊपर की टंकी से नीचे पानी को लाने के लिये मशीन लगाने की जरूरत नहीं है। पानी स्वभावतः पाइप से नीचे आ जायेगा। यदि नीचे की टंकी से पानी को ऊपर पहुंचाना है तो बिना प्रयत्न के पहुँचने का नहीं, चाहे नौकर रखो जो पानी ऊपर ले जाये, या बिजली की मोटर को लगाओ। अतः प्रवृत्ति तो स्वयं होगी, पर उसके नियमन के लिये संस्कार की आवश्यकता है।

अविद्या या काम स्वरूप का अज्ञान है। स्वरूप के अज्ञान से ही कामना उत्पन्न होगी। स्व स्वरूप में स्थित है तो कामना

नहीं होगी। 'जाया में स्यात् पुत्रं मे स्यात् वित्तं मे स्यात् एतावत् हि काम'। अप्राप्त पदार्थ प्राप्त हो जाय यही कामना है। पदार्थ अप्राप्त तभी है जब स्वरूप की विस्मृति है। पदार्थ की अप्राप्ति तब होगी जब अपनी व्यापकता को भूलोगे। अतः भगवान् शंकर भगवत्पादों ने कहा 'आत्मकामस्तु आप्तकामः'। जहां जहां परिच्छिन्न भावना है वहीं वहीं कामना रहेगी। जितनी व्यापकता बढ़ेगी उतनी कामना कम होगी। आपके पड़ौसी की एक दूकान है तो आपकी कामना है कि उसका माल न बिके, सारे ग्राहक आपके पास आ जायें। मान लीजिये कि आपने उस दूकान को खरीद लिया और अपने लड़के को उसमें बैठा दिया। अब वह दूकान अपनी ही है, यह भावना हो गई तो दोनों दूकानों में व्यापकता हो गई। अतः दृष्टि बदल गई।

'किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरं अनुसंज्वरेत्?' सर्वव्यापक दृष्टि वाला किस चीज की कामना करे? 'शिवः कर्ता, शिवो भोक्ता, शिवादन्यं न किञ्चन।' सब कर्म शिव के हैं, सभी भोग (सुख-दुःख का अन्यतम अनुभव) वही अनुभव स्वरूप आत्मा कर रहा है। भोग उसका ज्ञान है जिससे सारा संसार प्रतीत हो रहा है। 'शिवादन्यं न किञ्चन।' सर्वत्र जो सत्ता दे रहा है वह मैं हूं तो वह किस की इच्छा करे। कौन सी कामना की पूर्ति के लिये वह चेष्टा करे? क्या ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा क्षण या कण है जहां शिव नहीं? यदि कोई राजा है तो सारा राज्य उसका है, तो वह क्या कभी राज्य की चोरी कर सकता है? आज क्यों राज्य में चोरी है? कोई राजा नहीं है इसीलिये। किसी के मन में यह भावना नहीं कि सारा राज्य मेरा है। सभी अपना व्यक्तिगत धन संचय करना चाहते हैं कि क्या पता कल कौन राजा होगा।

'इदं मे स्यात्' यह मेरा हो जाय,' ऐसी भावना कैसे शरीर को होगी? जिसका किसी एक स्थूल-सूक्ष्म देह में अभिमान हो वही प्रवृत्ति करेगा। देह में अपनी भावना यह परिच्छिन्न दृष्टि

है। अज्ञान से कामना और कामना से प्रवृत्ति होती है। इसका विलोम क्रम साधना का है। अविद्या, काम और कर्म इसका विपरीत क्रम साधक के लिये है। पहले कर्म में से काम का अंश निकाला। परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये कर्म किया, अपने मन की इच्छा पूर्ति के लिये नहीं। यह हुआ कर्म का निरोध। आगे कामना का निरोध करने के लिये दीक्षा हुई। और वानप्रस्थ आश्रम में कामना भी न करो केवल परमेश्वर को कामना का केन्द्र बनाओ। पहले कर्मों का केन्द्र परमेश्वर था तो केवल कर्मों को परमेश्वर की तरफ लगाया। बाद में कामना को भी परमेश्वर की तरफ लगा दिया।

अब अविद्या को हटाना है। अविद्या को हटाने के लिये प्रधान प्रयत्न संन्यास संस्कार है। प्राचीन संस्कार से कामना होती है। अब तक उसको रोकता तो है पर प्रयत्न द्वारा। संन्यास आश्रम का द्विधाविधान बृहदारण्यक की श्रुति करती है। एक तो ज्ञान के लिये एवं दूसरा ज्ञान के अनन्तर। अतः विविदिषा संन्यास और विद्वत् संन्यास दो प्रकार का संन्यास है। इसमें कामनाओं का परित्याग करके 'व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति'। संन्यास करे कामनाओं के परित्याग के बाद। किस लिये? अविद्या की निवृत्ति के लिये।

शमादि के द्वारा ब्रह्म-संस्थता होती है। अतः निरन्तर शमादि एवं ब्रह्म में रहने का अभ्यास करे। इस अभ्यास में प्रधान कर्म ब्रह्म-संस्थत्व है। यदि विक्षेप से प्रवृत्ति बहि-र्मुखी हुई तो उसके निरोध के लिये शमादि का अभ्यास कहा गया। इस ब्रह्म-संस्थता में धृति की बड़ी आवश्यकता है। अधीर पुरुष कभी भी अविद्या को नष्ट नहीं कर सकता। अधीरता का कारण रजोगुण है। आत्म-बुद्धि शुद्ध सत्त्व से होती है। गीता ने कहा 'त्रैगुण्यविषया वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन, निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्'। आत्मवान् निर्योगक्षेम बने। जिसने योगक्षेम की चिन्ता को छोड़ दिया वही ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त कर सकेगा। अप्राप्त पदार्थ के प्राप्ति की कामना को छोड़कर, प्राप्त पदार्थ के संरक्षण की

कामना भी छोड़ी। यह मेरा है और मेरा ही बना रहे, ऐसी कामना कब छूटेगी? जब नित्यसत्त्वस्थ बनोगे तब। रजोगुण तमोगुण रहित जो सत्त्व है उसमें जब स्थित होओगे। नित्यसत्त्वस्थ का अर्थ है शुद्धसत्त्वस्थ।

यही सांख्यशास्त्र के साथ वेदान्त का भेद है कि वेदान्त शुद्ध-सत्त्व को स्वीकार करता है। सांख्य के अनुसार तीनों गुण सत्त्व, रज और तम सदा साथ रहेंगे। अतः प्रश्न उठता है कि नित्य सत्त्व की प्राप्ति कैसे हो? निर्द्वन्द्वः बन कर। निर्द्वन्द्वः का अर्थ है कि सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि से इष्ट और अनिष्ट की भावना को हटाना। संसार में जो कुछ मिलता है द्वन्द्व है। यथा अन्धकार-प्रकाश। प्रकाश के आते ही अंधेरा कहां चला गया? कहीं गया नहीं। अपने प्रबल प्रति-द्वन्द्वी के कारण दब गया। जहां प्रकाश कम हुआ कि फिर स्फुट हो गया। सर्दी हीटर के लगाने से प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के कारण दब गई। बिजली बन्द हुई तो फिर उद्बुद्ध हो गई। सुख दुःख भी ऐसे ही हैं। दुःख रूपी प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के कारण सुखरूपता दब जाती है। और प्रतिद्वन्द्वी के हटते ही फिर प्रगट हो जाती है।

अब तक की साधना में प्रवृत्ति को निवृत्ति ने दबाया। प्रवृत्ति कहीं गई नहीं। यदि साधन कमजोर होगा तो प्रवृत्ति प्रकट हो जायेगी। इसलिये जब तक प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों का कारण अविद्या समूल नष्ट नहीं होगी तब तक निर्द्वन्द्व नहीं हो सकते। सारे द्वन्द्वों से रहित होने के लिये बड़ी धृति की अपेक्षा है।

धृति क्रम से आती है। सर्दी के बाद गर्मी आयेगी तो कोई आश्चर्य नहीं। जन्म-मृत्यु का क्रम है तो आश्चर्य क्यों? लोग समझते हैं कि वे पैदा तो हुए हैं लेकिन मरेंगे नहीं। 'अहन्यहनि भूतानि गच्छ-न्ति यममन्दिरे। शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्।' (म० भा०) किसी भी दिन निगम बोध घाट का श्मशान खाली नहीं रहता। फिर भी बचे हुए लोग चाहते हैं कि हम न मरें। हमारे धैर्य का हिलना ही इसका कारण है। जगत् को द्वन्द्व समझो। धैर्य

के साधन में ही मन का नियन्त्रण है। बाहर के सुख दुःख दो तीन बार आयेंगे, पुत्र की उत्पत्ति-मृत्यु भी दो चार बार होगी, पर मन तो प्रतिक्षण द्वन्द्व को उत्पन्न करता है। जिस क्षण एक जगह संकल्प से लगाया कि उसी क्षण विकल्प उत्पन्न करेगा। संकल्प-विकल्पात्मको हि मनः। संकल्प विकल्प छूटे तो वह मन नहीं रहा। एक ही निश्चय तो बुद्धि का लक्षण है। यदि मन को कहीं लगाने का प्रश्न उठेगा तो फौरन सोचोगे कि इसे भटकने दो। इसे रोकने में बड़े धैर्य की आवश्यकता है। जो इसे रोकेगा वही निर्द्वन्द्व होगा। यह धैर्य केवल विचार से प्राप्त होगा। साधक को मन चाहे जितने रंग दिखाये पर वह अधैर्य न दिखाये। आत्मवान् बनने के लिये धृति आवश्यक है। इसी के लिये अन्तिम संस्कार संन्यास है।

* * * *

श्रुति परब्रह्म परमात्म तत्त्व का स्वरूप अन्तःप्रज्ञा और बहिःप्रज्ञा से रहित बता रही है। इन्द्रियों का विषय-प्रवेश बहिःप्रज्ञा है और मन का विलास अन्तःप्रज्ञा है। अन्तःप्रज्ञा और बहिःप्रज्ञा से रहित होने के साधन पर विचार करते हुए अन्तिम संस्कार संन्यास पर समस्त संस्कारों की परिसमाप्ति बताई। क्योंकि समस्त संस्कारों की परिसमाप्ति निवृत्ति में है। अन्य संस्कारों का तात्पर्य अशास्त्रीय प्रवृत्ति से हटा कर शास्त्रीय प्रवृत्ति कराना है और शास्त्रीय प्रवृत्ति से भी सर्वथा निवृत्ति में ही संस्कारों का अन्तिम तात्पर्य है। सर्वथा निवृत्ति का प्रयोजन ब्रह्म-संस्थता में है।

संन्यास में विषयों की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध होता है। जैसे जैसे साधक की प्रवृत्ति ऊर्ध्व, ऊर्ध्वतर होती चलती है वैसे वैसे संन्यास के ४ या ६ भेद हो जाते हैं। जिसी दिन वैराग्य प्राप्त हो उसी दिन प्रव्रज्या का अधिकार माना गया है, उससे पूर्व नहीं। 'यद् अहरेव विरजेत् तद् अहरेव प्रव्रजेत्।' वैराग्य वह वैराग्य नहीं जो क्षण में उत्पन्न होता है और क्षण में नष्ट होता है। 'वैराग्यं न तु रागाभावं किन्तु भाववृत्तिविशेषम्' कह कर आचार्य अनुभूतिस्वरूप बताते हैं कि राग का अभाव वैराग्य नहीं है परन्तु वह एक भाववृत्ति विशेष

है जो राग को नष्ट करने की सामर्थ्य रखती है । राग के उत्पन्न होते ही उसको नष्ट करने की सामर्थ्य है तो वैराग्य है ।

यह वैराग्य विचार से उत्पन्न होता है । श्रुति ने कहा है कि ब्राह्मण को वैराग्य उत्पन्न करना चाहिये 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात् ।' यह वैराग्य उत्पन्न कैसे किया जाय ? संसार के जितने भोग पदार्थ हैं उनकी परीक्षा करके । परीक्षा का अर्थ है विचार । 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्ति अकृतः कृतेन ।' 'नास्ति अकृतः कृतेन' कह कर श्रुति ने व्याप्ति समझाई कि जिसको एक दिन प्राप्त किया वह अवश्य नष्ट होगी । कोई वस्तु यदि आप को दो दिन के लिये उधार दी गई और आप उसे अपनी समझ कर बैठ गये तो रोना पड़ेगा । जीव की यही हालत है । भगवान् इसे जो जो चीज उपयोग करने के लिये देते हैं उन उनका यह अधिकारी बन जाता है । जब भगवान् उन चीजों को वापस मांगने लगते हैं तो रोने लगता है । श्रुति कह रही है कि जो वस्तु कर्म चितान् हैं, कर्म से सञ्चित हैं, उनकी बार बार परीक्षा करो । जब इस प्रकार वैराग्य उत्पन्न हो गया तभी संन्यास का अधिकार मिलता है । जिस प्रकार वमन किये हुए पदार्थ के प्रति घृणा उत्पन्न होती है वैसी ही घृणा जब संसार के प्रति उत्पन्न हुई तभी वैराग्य हुआ । तब संन्यास ले सकता है । अन्यथा पतितो भवेत् ।

संन्यास विशेष लिंग धारण से भी होता है और अलिङ्ग, जिसमें संन्यास के चिह्न धारण नहीं होते, भी होता है । श्रुति ने यह नहीं कहा कि प्रव्रज्या लिंग पूर्वक ले या अलिंग ले । सुरेश्वराचार्य ने कर्माधिकार विच्छेदी शब्द का प्रयोग ज्ञान के लिये किया है । जब ज्ञान से कर्माधिकार का अन्त हो गया तो व्युत्थान (संन्यास) में अधिकार का नियम कैसे बनेगा ? क्यों कि 'मैं संन्यास लेता हूं' यह भी कर्तृत्वाभिमान है । कर्तृत्वाभिमान खतम होने से अलिंग संन्यास का अधिकारी शास्त्र ने सभी को बताया है । महाभारत में कथा आयी है कि जब जंगल में युधिष्ठिर को विदुर का शव मिला तो आकाशवाणी ने कहा

'यतिधर्ममवाप्तोऽसौ' यह विदुर यती है । 'भो भो राजन् न दग्धव्यं एतद् विदुरसंज्ञकं' विदुर नाम के इस शरीर को मत जलाना । यह व्यक्ति यति धर्म को प्राप्त कर गया इसके लिये सोच मत करो । इसीलिये आचार्य नीलकण्ठ ने अपनी टीका में लिखा कि 'शूद्रयोनौ जातानामपि यतिधर्ममस्ति इति दर्शितम् ।' ब्रह्मसंस्था प्राप्त करके उस के कर्म के अधिकार का विच्छेद हो गया । प्रायः शास्त्र मोक्ष में सब का अधिकार निरूपण करते हुए भी उपाय भेदों को स्वीकार करता है । अत: सर्व कर्म संन्यास पूर्वक ज्ञान का अधिकार सब को है क्यों कि वैराग्य का अधिकार सब को है ।

'यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं संन्यसेत्' जिसके जिह्वा, उपस्थ और उदर शुद्ध हैं वह संन्यास ले सकता है । कब ले ? 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (यजुर्वेद) यह मुख्य विकल्प है । गृहाद्वा, वनाद्वा में यदि मुख्य विकल्प संभव न हो तो गृहस्थ आश्रम या वानप्रस्थ आश्रम से भी संन्यास लेने का नियम कर दिया । गृहस्थाश्रम में हो चाहे वानप्रस्थ में जिस समय वैराग्य आ गया उसी समय संन्यास आश्रम में जा सकता है ।

जिह्वा का नियन्त्रण रसनेन्द्रिय का नियन्त्रण है । जिह्वा के वशीभूत होकर मनुष्य अन्न खाने में गड़बड़ करता है । 'जितं सर्वं जिते रसे ।' उपस्थ के नियन्त्रण का अर्थ है काम वासना को जीतना । उदर की शुद्धि का तात्पर्य है शारीरिक आवश्यकताओं के अधीन न रहना । देह का अध्यास तो अभी है परन्तु साधक उसके अधीन नहीं है ।

* * * *

भगवती श्रुति परमात्म तत्त्व को अन्तः प्रज्ञा और बहिः प्रज्ञा का अविषय बतलाने के बाद उसे उभयतः प्रज्ञ नहीं बताती है । उभयतः प्रज्ञा उपासना का विषय है । उपासना के दो स्वरूप हैं । एक अन्तः उपासना दूसरा बहिः उपासना । ये भेद देह को लेकर नहीं हैं । ये भेद अहं और इदं को लेकर हैं । शास्त्र दृष्ट्या अहं को लेकर उससे

अभिन्न उपासना अन्तरुपासना है। इदं प्रत्यय को लेकर, उपास्य उपासक भेद को लेकर उससे अभिन्न उपासना बहिरुपासना है। पहली उपासना अद्वैत दृष्टि से है, दूसरी द्वैत दृष्टि से। यदि द्वैत है नहीं तो उपासना कैसी ? उपासना में द्वैत जरूरी है। अतः अब उपासना तत्त्व पर कुछ विचार करेंगे।

पुराणों में देवासुर संग्राम की कथा आती है। देवता सदा परमेश्वर के सहारे जीतते हैं। उनकी शक्ति परमेश्वर की शक्ति के आश्रित है। देवता जब अपने स्वरूप को भूलते हैं तो असुर उनको जीतते हैं। केनोपनिषद् की कथा है कि भगवान् महादेव यक्ष स्वरूप से बैठे थे। देवता सोचने लगे यह कौन है। अग्नि को बुलाकर कहा कि पता लगाओ यह कौन है। अग्नि को अग्रगामी होने के कारण ही अग्नि कहा जाता है। 'अग्निर्वै जातवेदाः।' थोड़ी सी अग्नि की तारीफ कर दी कि अरे ! तू तो सब कुछ जानता है। अतः अग्नि वहां पहुंचा। पर यक्ष के सामने जाकर घबरा गया। यक्ष ने पूछा तू कौन है ? मैं अग्नि हूं, जिसको जातवेद की उपाधि प्राप्त है। तू करता क्या है ? मैं सब कुछ जला सकता हूं। यक्ष ने एक तिनका सामने रखा और कहा इसे जला। उस तिनके को देख कर अग्नि की बड़ी बेइज्जती हुई। वह उसे जला न पाया। अग्नि ने वापस आकर यह नहीं कहा कि मेरी क्या गति हुई। केवल इतना कहा कि मैं उसे जान न पाया। अब देवताओं ने वायु को भेजा। उसके सामने भी वही तिनका रखा। पर वह उसे उड़ा न सका। वायु भी इतना कह कर बैठ गया कि मुझे पता न लगा। अब इन्द्र को भेजा गया। इन्द्र को गर्व है कि वह सब देवताओं से बड़ा है क्योंकि वह उनका राजा है। उसके जाते ही यक्ष गायब हो गया, सामने दीखा भी नहीं। वह श्रद्धा से, एकाग्रता से विचार करने लगा। तब वहीं पर उमा हैमवती (ब्रह्म-विद्या) प्रकट हुई। उसने उमा से पूछा भगवती तुम बता सकती हो वह कौन था ? उमा ने कहा अरे इन्द्र ! वह परब्रह्म परमेश्वर था जिसकी कृपा से तुमने असुरों को जीता। सारी शक्तियां

उसमें होने पर भी जब देव समुदाय शक्तिहीन हो गया था तो उसमें देवत्व शक्ति पुनः कैसे वापस आयी ? शक्ति की उपासना करने से। शक्ति की उपासना कैसे करें ?

दुर्गा-सप्तशती के एक मंत्र 'सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे सर्वार्थ-साधिके शरण्येत्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोस्तुते' के द्वारा शक्ति की उपासना का रहस्य बताया गया है जिसमें प्रवेश आवश्यक है ।

* * * *

भगवती श्रुति नोभयतःप्रज्ञं से अन्तरालावस्था बतला रही है जो कि मध्यमावस्था है। जागृत् का लक्षण है इन्द्रियों से बाह्य विषयों का सेवन । स्वप्नावस्था है बाह्य पदार्थों के बिना ही इन्द्रियों से भोग । नोभयतःप्रज्ञं में दोनों अवस्थायें हैं । बाह्य पूजा में परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान है। जब ध्यान पक जाता है तो सगुण साकार परमेश्वर के रूप का दर्शन होता है। उस रूप का दर्शन केवल मानस कल्पना नहीं है। उस दर्शन को मन बिना आंख के करता है। वह सूक्ष्म पदार्थ जिसका दर्शन हो रहा है वह परमेश्वर की ही सत्ता है। उस भगवान् का साक्षात्कार हो रहा है, यह जागृत् का लक्षण है। पर इन्द्रियों के बगैर हो रहा है अतः स्वप्न का लक्षण भी है। अतः यह अवस्था उभयतः प्रज्ञ की अवस्था है। इस प्रकार सगुण दर्शन तुरीय नहीं है। अन्तःप्रज्ञ में केवल मनोराज्य था। बहिष्प्रज्ञ (जागृत् काल) में, जो स्वप्न की अपेक्षा श्रेष्ठ है, कर्म का विस्तार हुआ। सूक्ष्म साम्राज्य उपासना का साम्राज्य है। यह स्थूल साम्राज्य से श्रेष्ठतर है। उपासना का साम्राज्य व्यावहारिक साम्राज्य के बराबर या उससे भी बड़ा है। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म परमात्म तत्त्व के अधिक समीप है। कई लोग तो उस सूक्ष्म साम्राज्य को ही परमेश्वर मान लेते हैं। अतः श्रुति ने उसे न प्रज्ञानघनं कहा।

उभयतः प्रज्ञं उपासना का साम्राज्य है। इसमें बिना इन्द्रियों के, पवित्र अन्तःकरण द्वारा, मन द्वारा, ग्रहण है। लोक में देखा गया है कि सारी इन्द्रियों की शक्ति बराबर नहीं होती। किसी की नेत्र की शक्ति तीव्र होती है तो किसी की कान की शक्ति। किसी की

घ्राणेन्द्रिय तेज होती है तो किसी की चखने की शक्ति तेज है । जैसा ज्ञानेन्द्रियों में है वैसा ही कर्मेन्द्रियों में भी है । कोई ढाई मन का बोझा तो उठा सकता है, पर तेज दौड़ नहीं सकता, किसी की वागिन्द्रिय तेज होती है तो किसी की पाचन इन्द्रिय तेज होती है । इन्द्रियों की शक्ति कुछ जन्म से तीव्र होती हैं कुछ अभ्यास से । जवाहरात का काम करते करते नग को देखते ही पहचानना अभ्यास की शक्ति है । एक सात वर्ष का लड़का सुन्दर वायलिन बजाता था, यह उसके पूर्व जन्म के अभ्यास का फल है । किसी के अन्दर जन्म जात कवित्व शक्ति होती है । कलकत्ते में एक हिन्दी के विद्वान् थे जो छन्द पढ़ाते थे । छन्दों के सम्पूर्ण दोषों का ज्ञान तो उन्हें था, पर स्वयं दोष रहित छन्द बनाने की सामर्थ्य उनमें नहीं थी ।

ऐसे ही मानस शक्ति में भी भेद है । कई लोग कम उमर में सूक्ष्म पदार्थों का दर्शन कर सकते हैं । कई में यह शक्ति उपासना से आती है । चूंकि हमें किसी चीज का दर्शन नहीं होता, इसलिये वह है ही नहीं कहना गलत है । 'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना', इस कथन में कल्पना शब्द का अर्थ ठीक प्रकार से न समझना बड़ी गड़बड़ पैदा करता है । पारमार्थिक दृष्टि से जैसे जगत् कल्पित है वैसे ही रूप भी कल्पित है। पर व्यावहारिक दृष्टि से जैसे स्थूल जगत् की कल्पना में कर्मफलों की सिद्धि कारण है अर्थात् जीवों के कर्मफलों को भुगताने के लिये स्थूल जगत् की कल्पना है, वैसे ही उपासना साम्राज्य में फल देने के लिये सूक्ष्म जगत् की कल्पना भी सत्य है । उपासकों की कार्य सिद्धि उसी में है । संस्कृत में क्लृप् धातु का अर्थ है बनाना । कल्पना का अर्थ बनाना है । तक्षकः दण्डं कल्पयति । यहां लकड़ी में डंडा पहले से विद्यमान है, वह केवल उद्‌बुद्ध या प्रकट होता है। जैसे मिट्टी में घड़ा पहले से है, केवल उद्‌बुद्ध होता है । दार्शनिक दृष्टि से क्लृप् धातु को बनाना इसलिये माना कि व्यवहार में हम सत्-कार्य-वादी हैं । अतः 'ब्रह्मणो रूपकल्पना' का अर्थ यह नहीं है कि कल्पना तुम्हारी है, बल्कि ब्रह्म ने स्वयं रूप धारण किया ।

उपासना के साम्राज्य में भी ब्रह्म अपनी माया के द्वारा ही रूपों को धारण करता है। जगत् बनाने में माया के द्वारा कर्मों से रूप धारण करता है। पर उपासना के साम्राज्य में केवल इच्छा-शक्ति के द्वारा रूप धारण करके उन्हें उपासकों को दिखा देता है।

जिस शक्ति को बढ़ाना होता है उसका प्रयोग करना आवश्यक है। सभी योगाभ्यास में मन का अभ्यास है। ध्यान आदि अभ्यास सब मन की कसरतें हैं। जैसे जैसे मन इन कसरतों को करता है मन की शक्ति बढ़ती है। ध्यान करते समय पता चला कि अमुक आदमी मर गया। घंटे भर बाद तार आगया कि वह मर गया है। सिद्ध है मन की यह शक्ति अभ्यास से बढ़ी। भविष्य जानने की शक्ति, दूसरे के मन के विचार जानने की शक्ति आदि अभ्यास के फल हैं। ध्यानादि के द्वारा शक्ति बढ़ती है। धीरे धीरे देवताओं आदि के दर्शन होते हैं। अतः मन के द्वारा बिना इन्द्रियों की सहायता के जहां सत्य पदार्थों का दर्शन होता है उसे उभयतः प्रज्ञा कहा। यह शक्ति उपासना द्वारा मन में आती है। वह हमारी मानस कल्पना नहीं। साधन साम्राज्य की यही विशेषता है। ब्रह्मानन्द स्वामी जी कलकत्ते में थे। नाव में चलते हुए भगवती ने उनको दर्शन दिये और कहा कि यहां मेरी स्थापना करना। उन्होंने जैसी मूर्ति देखी वैसी स्थापित कर दी। उस समय विवेकानन्द न्यू-यार्क में थे। उन्हें भी ऐसी ही प्रेरणा हुई। उसी तारीख को उन्होंने पत्र लिखा। सूक्ष्म मूर्ति का दर्शन उसी समय उन्हें भी वैसा ही हुआ था। काल व देश का व्यवधान सूक्ष्म पदार्थों में नहीं होता। अनेक स्थलों पर भिन्न-भिन्न लोगों को एकसा दर्शन होता भी देखा गया है। इस सब में मानस शक्ति की अपेक्षा है। ध्यानादि से यह शक्ति बढ़ती है।

*　　*　　*　　*

उपास्य तत्त्व केवल माया से बनता है। जहां किसी दूसरे प्रकार का ज्ञान या वृत्ति बीच में न आये उसे उपासना कहेंगे। जिसकी

उपासना हो रही है उसी के सजातीय ध्यान और चिन्तन चलते रहें। परब्रह्म की शक्तियां अनन्त हैं। ऋग्वेद ने कहा है 'इन्द्रो मायाभिः' इन्द्र अर्थात् परमात्मा अपनी मायाओं से--पुरु रूप अर्थात् अनेक रूप बन गया। यहां 'मायाभिः' बहुवचन प्रयोग अनेक शक्तियों को बतलाने के लिये है। अन्यथा श्रुति 'मायया' कहती। इसी प्रकार यजुर्वेद उसकी शक्तियों को अनन्त प्रकार की बतलाने के लिये 'परास्य शक्तिः विविधा एव' कहता है। इन अनन्त शक्तियों में से किसी एक को उपास्य बना कर उपासना होती है। यदि यह पूछा जाय कि सभी शक्तियों की उपासना क्यों न की जाय तो उत्तर है कि ऐसा करना असम्भव है। अनन्त शक्तियों को अन्तःकरण युगपत् ग्रहण नहीं कर सकता। एक ही का ग्रहण कर सकता है। अतः आचार्य पुष्पदन्त ने कहा कि 'महिम्नः पारं ते परमविदुषो' परम विद्वान् भी आपकी अनन्त शक्ति को देख नहीं सकते। व्यक्ति माया से छूटकर परमेश्वर को तो प्राप्त कर सकता है, पर माया का 'इदमित्थम्' नहीं कहा जा सकता। माया अनन्त है। परमात्मा का एक गुण लेकर ही उपासना शुरू होती है। कभी विष्णु का ध्यान कर लिया, कभी सरस्वती का, कभी शिव का इस प्रकार मन को चित्रशाला बनाकर काम नहीं चलता। साधना में परमेश्वर के एक रूप को ही स्थिर करना पड़ता है। उपासना में ऐसी बात नहीं होती कि जो भी रूप शिव का हो वही रूप ठीक हो। परमेश्वर के सभी रूप उपास्य हैं। पर सभी रूप परमेश्वर के होते हुए भी व्यवहार या उपासना किसी एक रूप को पकड़ कर ही सम्भव है।

यह ब्रह्माण्ड परमेश्वर का है, किसी देवता का नहीं। सकाम कर्म का फल देने का अधिकार देवता को मिला हुआ है। आजकल सकाम कर्म में लोग देवता के साथ सौदा करते हैं। हे परमेश्वर! मुझे पास करदो तो लड्डू चढ़ायेंगे। जैसे राजा की सरकार होते हुए भी आयकर ग्राहक राजा का अधिकारी है, अतः आप उससे कहते हैं कि मैं तुझे ५ रु० दूंगा तू मेरे ५०० रु० बचा दे। इसी

प्रकार हम देवता से कहते हैं कि हनुमानजी मैं ५ रु० के लड्डू चढ़ाऊंगा मुझे पास कर दो। ऐसी ही जबर्दस्ती करके दशरथ जैसे महाप्रतापी राजा ने सकाम कर्म यज्ञ के फलस्वरूप राम जैसे पुत्र को पाया, पर पुत्र सुख नहीं पाया। बचपन में ही राम तीर्थ-यात्रा को चले गये। वापस आये तो बैठे ही रहते थे और पीले पड़ने लगे। दशरथ चिन्तामग्न थे कि इनको क्या होगया। वशिष्ठ जी ने राम को ज्ञान कराया, और स्वस्थ किया तो विश्वामित्र उन्हें लेकर चले गये। जिस समय विवाह हुआ उनकी आयु सोलह वर्ष से कम ही थी। विवाह होकर घर आये तो थोड़े ही दिनों में वनवास हो गया। अतः सकाम कर्म का इतना बड़ा फल हुआ कि राम जैसा पुत्र तो पा सके पर उसका सुख भोग दशरथ न कर सके। परमात्मा के राज्य में अनधिकार चेष्टा करने से पदार्थ तो प्राप्त हो सकता है पर सुख नहीं। इसीलिये वास्तविक उपास्य देवता नहीं केवल उमामहेश्वर हैं। जिस प्रकार मूर्ति में शिव बुद्धि की जाती है उसी प्रकार देवता में भी शिवधी से उपासना कर सकते हैं। अतः वेद अनेकदेववादी होनें पर भी एकेश्वरवादी है।

परमेश्वर सब में विद्यमान है तथापि उसका एक ही उपास्य रूप लेकर उपासना करनी पड़ती है। चित्त को चित्रशाला न बनाकर एक ही रूप का ध्यान करना पड़ता है। आप कहेंगे कि हम हिन्दू तो कई देवताओं की पूजा करते हैं। उपास्य तत्त्व और देवताओं में बहुत भेद है। सब देवताओं में उपास्य तत्त्व ही तद्रूप से है। नवरात्रि में शक्ति को शिव ही समझकर आभ्यन्तर ध्यान करना पड़ता है। ध्यान के अन्दर अपने इष्ट ही का चिन्तन करना है। तभी चित्त में स्वरूप दृढ़ हो जायेगा।

प्रश्न उठता है कि कब तक उपासना करें? 'सम्पन्नदेवतात्मत्वं उपासनमुदीरितम्'। जब चित्त वृत्ति ऐसी बन जाय कि ध्याता और ध्येय में अभेद हो जाय तो उपासना सिद्ध है। ध्येय और ध्याता जब तक एकाकार नहीं होजाते तभी तक उपासना की अवधि है। यथा तुम्हें यह शरीर ३० वर्ष पहले मिला। रात दिन चिन्तन करते-करते

इसके साथ तादात्म्य हो गया है और यह दृढ़ निश्चय हो गया है कि मैं शरीर ही हूं। अब हजारों शास्त्र कहते हैं कि तुम ब्रह्म हो, फिर भी तुम कहते हो 'हूं तो मैं शरीर ही।' प्रत्यक्ष सिद्ध भेद जब इतना ही बाधित हो जाय तभी उपासना सफल है।

बिना किसी दूसरी वृत्ति के आये निरन्तर एकाकार वृत्ति ही उपासना है। इसके दो भेद हैं। बाह्य और आभ्यन्तर। उपासना का शाब्दिक अर्थ है समीप जाकर बैठना। बुद्धि के द्वारा देवता के पास जाते हैं। 'उपसंगम्य बुध्या यद् आसनं देवतात्मना' समीप जाकर किस रूप से बैठो? देवता रूप बन कर ही बैठो। आभ्यन्तर उपासना अभेद चिन्तन है। परमेश्वर एवं शक्ति के साथ अभेद चिन्तन भी होता है। यथा परमेश्वर की ज्ञान शक्ति है व मैं ही ज्ञान शक्ति वाला हूं, यह अभेद चिन्तन है। मैं ही ज्ञाता परमेश्वर हूं। परमेश्वर ही नित्य रूप है। मैं नित्य रूप हूं समझना उसका अपने से अभेदानुसंधान है। परमेश्वर आनन्द रूप है, इस आनन्द-शक्ति के साथ अभेदानुसंधान करना है। सर्वज्ञता का अपने अन्दर चिन्तन करना अर्थात् जिस प्रकार परमेश्वर सर्वज्ञ है वैसे मैं सर्वज्ञ हूं, यह सर्वज्ञता का अनुसंधान है। परमेश्वर की शक्तियां केवल इच्छा, ज्ञान, क्रिया ही नहीं हैं। शक्तियां अनन्त हैं। परमेश्वर में नित्य तृप्ति है। तैत्तिरीय उपनिषद् में अकामता को ही उसकी तृप्ति कहा है। वह अकाम है तो मैं भी अकाम हूं, यह तृप्ति का अनुसंधान है। परमेश्वर की तृप्ति किसी विषय को लेकर नहीं। कामना के अभाव से नित्य तृप्ति है। कामना चित्त का धर्म है, उसका आश्रय है अन्तःकरण। मैं उससे भिन्न हूं, यह तृप्ति की उपासना है।

'उपसंगम्य बुध्या यद् आसनं देवतात्मना' में देवतात्मना का अर्थ देव शक्ति रूपेण है। शुद्ध ज्ञान या शुद्ध आनन्द उपासना का विषय नहीं। उपास्य तत्त्व मायिक होता है। माया शिव की शक्ति है। देव रूप बन कर देवता की शक्ति से अभेद सम्बन्ध हो जाने से चित्त जो तुम्हें बन्धन में डाले है, हट जायेगा। जब तक तुम उपासक हो तब तक चित्त स्थिति है। अष्टमी की रात्रि को बलिदान का यही रहस्य है।

बलिदान चित्त का होता है, बकरे या भैंसे का नहीं. । चित्त, अहंकृति का तीक्ष्ण बोध रूपी परशु से बलिदान करो । एक झटके में कट गया तो देवी का भोग लग गया । मुसलमान मानते हैं कि ज्ञान धीरे-धीरे होगा । अतः वे धीरे धीरे हलाल करते हैं । अन्तःकरण अशुद्ध है इसे वे भी मानते हैं । पर पांच पांच बार नमाज पढ़ते-पढ़ते धीरे धीरे हलाल करते करते काम बन जायेगा, ऐसी उनकी मान्यता है ।

हम मानते हैं कि शुद्ध अन्तःकरण में जब ज्ञान आयेगा तो यह अज्ञान रूपी अन्तःकरण का पशु एक ही झटके में मर जायेगा । अन्तःकरण रूपी पशु को काटना है । इसके मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार चार पैर हैं । इस चौपाये पशु की बलि देनी है। तीक्ष्ण बोध रूपी खड्ग से चित् चण्डी को यह बलि चढ़ाई जा रही है । चण्डी का अर्थ है जो सबको दबादे । यहां चित् ही चण्डी है । ब्रह्म ज्ञान के उत्पन्न होते ही वह समूल अविद्या को दबा देता है । इस अन्तःकरण की बलि के द्वारा ही चित् चण्डी के चरण कमल का पूजन है । चैतन्य वहीं लीन हो जायेगा यही उसका प्रसाद है ।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस बलि से सारी सिद्धि एक साथ प्राप्त होती हैं । पर यह बलि आठ दिन उपासना करने के बाद ही दी जाती है । आठ दिन इस कारण कि सारी की सारी अपरा प्रकृति 'भूमिर् आपोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च अहंकार इतीयं मे भिन्नाः प्रकृतिरष्टधा' (गी० ७·४) आठ प्रकार की है । इसी प्रकार व्यष्टि में मूलाधार पृथ्वी है, स्वाधिष्ठान जल है, तथा मणिपूर इत्यादि क्रमशः सात से परे जो आठवां चक्र है वह समष्टि सम्बन्धी है । आठ रात्रियां जब बीत गईं तो अष्टमी के अगले दिन नवमी आती है । नव ब्रह्म का प्रतीक है । ९ कभी घटता बढ़ता नहीं । ९ को चाहे जिस संख्या से गुणा करो गुणनफल की इकाई दहाई वाली संख्याओं का योग फिर ९ ही हो जाता है । इसी कारण वह ब्रह्म का प्रतीक है । रात्रि के समय (अन्धकार या अज्ञान ही रात्रि है) उस चित् चण्डी को

अपना अन्तःकरण चढ़ाया तब उपासना का फल सम्पन्न देवतात्मत्व हो गया। इस ऐक्य सम्बन्ध की प्राप्ति के लिये अन्तः उपासना आवश्यक है।

पर यह सत्य है कि दीर्घकाल तक बहिः उपासना करने वाला ही अन्तःउपासना कर सकता है। बाहर के आश्रय में चिन्तन को बहिः उपासना कहते हैं। ये भेद देह को लेकर नहीं, अहं और इदं प्रत्यय को लेकर हैं। उपास्य उपासक भेद को लेकर बहिर्उपासना है। शास्त्र दृष्ट्या अहं को लेकर उससे अभिन्न उपासना अन्तर्उपासना है। अन्तर्-उपासना अद्वैत दृष्टि से है। बहिर्उपासना द्वैत दृष्टि है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि मुझे आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चार प्रकार के लोग भजते हैं। पर ज्ञानी तो भेद दृष्ट्या उपासना नहीं कर सकता, वह अभेद दृष्ट्या उपासक है। ज्ञानी उपासक वह है दृष्टि को समझता है पर उसमें स्थिर नहीं हुआ। स्व स्वरूप में जो अभेद स्थित को तो उपासना की आवश्यकता ही नहीं। जहां अभेदानुसंधान है अन्तर्उपासना है, और जहां भेदानुसंधान है बहिर्उपासना है। अन्तर्उपासना परमेश्वर की एक शक्ति को लेकर बन सकती है। पर बहिर्उपासना में स्वरूपगत भेद भी हैं। सम्पद्, अध्यास, विशिष्ट क्रिया, और कर्माङ्ग इन चार रूपों वाली बहिर्उपासना होती है।

सम्पत् रूप उपासना में सर्वत्र किसी आलम्बन को लेकर उपासना है। बृहदारण्यकोपनिषत् में एक ध्यान बतलाया है कि मन ही समग्र देव रूप है। अनन्तं वै मनः। मन के अन्दर जैसे अनन्त वृत्तियां हैं वैसे ही परमेश्वर भी अनन्त वृत्ति का बनता है। यहां अनन्तता साम्य बन गया। अनन्ता विश्वेदेवाः। मन ही ब्रह्म रूप है, ऐसी उपासना सम्पत् उपासना है।

अध्यास रूप उपासना को छान्दोग्य उपनिषद् में 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' कह कर बतलाया है। यह उपासना सम्पत् उपासना से मिलती जुलती है। सम्पत् उपासना और अध्यास उपासनायें आजकल भी प्रचलित हैं। आलम्बन को छोड़ कर जिसका ध्यान किया जाय

उसकी प्रधानता सम्पत् उपासना में है। पर अध्यास उपासना में आलम्बन की प्रधानता है। सामने विष्णु की मूर्ति है तो यदि चिन्तन इस प्रकार करो कि जैसे यह मूर्ति कृष्ण वर्ण की है वैसे ही विष्णु भी कृष्ण वर्ण हैं तो सगुण परमात्मा का ध्यान मूर्ति में होने के कारण यह अध्यास रूप उपासना है। यदि मूर्ति के कृष्ण वर्ण से सम्पूर्ण वर्णों का अभाव समझा तो यह सम्पत् उपासना हो गई। सम्पत् आरोप्य प्रधान है और अध्यास आलम्बन प्रधान है। प्रायः मनुष्य इसे न समझने के कारण ही मूर्तिपूजा पर आक्षेप करते हैं।

यदि कमल से आपको एक शब्द का ध्यान आता है तो इसमें आलम्बन की प्रधानता है। और यदि कमल से आपको ध्यान आया कि क का अर्थ है जल, उस जल का मल है फूल, अतः कमल माने गोल-गोल फूल तो यह सम्पत् ध्यान हो गया। शिवलिङ्ग गोल हैं। जैसे गोल पदार्थ का आदि और अन्त नहीं होता ऐसे शिव अनादि और अनन्त हैं, यह सोचना सम्पत् उपासना है। यदि शिव लिङ्ग में मूर्ति का ही चिन्तन हो रहा है तो अध्यास उपासना है। कृष्ण के त्रिभंगी चित्र को देखा। एक अखण्ड तीन जगह पर मुड़े हैं, इसी प्रकार वह परमात्मा सत्त्व, रज, और तम इन तीन गुणों में मुड़ा हुआ दीख रहा है, यह सम्पत् उपासना है। और यदि केवल तीन जगह पर मुड़े हुए कृष्ण का ही ध्यान हो रहा है तो यह आलम्बन प्रधान उपासना है। सूर्य की स्वयं ज्योतिष्मत्ता को देख रहे हो तो सम्पत् उपासना है, सूर्य में सर्वज्योति का अध्यास किया तो अध्यास उपासना हो गई। आजकल अधिकांशतः अध्यासोपासना चलती है। मध्यकाल में सन्तों ने अध्यास उपासना का यह कह कर खंडन किया कि प्रतीकोपासना में लोग यह नहीं सोचते कि उपास्य किसका प्रतीक है। इस लिये उन्होंने नये प्रतीक चलाये। बाद में उन प्रतीकों में भी यही कमी आगई कि लोग यह भूल गये कि वे किस के प्रतीक हैं और केवल प्रतीक बचे रह गये।

धर्म के स्वरूप बदलने का मूल यही है। मंत्र चलता रहता है और अर्थ चिन्तन छूट जाता है। बहुत बार मनुष्य समझ लेता

है कि अर्थ के वगैर भी मंत्र चलता रहे तो काम चल गया। वह समझने लगता है कि स्वतः मन्त्र जप अच्छा है । घंटा दो घंटा जब जप करने बैठते हो तो अर्थ चिन्तन छूट जाता है । मन्दिर के पुजारी के लिये बहुधा मूर्ति केवल श्रृङ्गार करके दिखाने की ही वस्तु रह जाती है । समाज के जीवन में भी यही देखने में आता है कि प्रतीक को भूल कर उपासना का हृदय नष्ट हो जाता है और केवल बाहर का रूप रह जाता है । अध्यास उपासना सम्पत् उपासना के लिये है, और सम्पत् उपासना अन्तर्उपासना में ले जाती है। परमेश्वर की प्राप्ति अध्यास उपासना नहीं कर सकती । उसे सम्पत् में जाना पड़ेगा । यथा पुस्तक में क, ख, ग, घ नहीं पढ़े जाते, पुस्तक पढ़ी जाती है । पर बारह खड़ी सीख कर पुस्तक बांचना ही आ सकता है अर्थ ग्रह नहीं । अर्थ समझने के लिये ७० वर्ष के हो जाओगे तो भी कम है । पर बारहखड़ी के वगैर तो पढ़ भी नहीं सकते । पहले चक्र को जानेगा तब उसमें संसार की भावना करेगा। शंख, चक्र, गदा, पद्म जब जानेगा तब उनके अर्थ जानने की चेष्टा करेगा। प्रतीकोपासना में प्रतीक जिसका है उसकी विस्मृति है अध्यास। सम्पत् का अर्थ है जो ठीक तरह ले जाय और अध्यास का अर्थ है विस्मृति । संसार चक्र को हमने भगवान् के हाथ में गोल चक्र मान लिया । यह हुआ संसार का चक्र में अध्यास। फिर जब चक्र को संसार जान कर उपासना की तो वह संपत् अर्थात् ठीक तरह ले जाने वाला हो गया । जिसका प्रतीक है उसका चिन्तन तब तक नहीं होगा जब तक प्रतीक रूपी आलम्बन नहीं होगा । आलम्बन का अर्थ है आधार । कान और आंख दो प्रबल इन्द्रियां हैं । अतः आधार भी या तो शब्द वाला है या आकार वाला । इनमें मंत्र तो शब्द रूप है। यथा 'रामाय नमः' यह अध्यास उपासना है। रामाय अर्थात् सब प्राणियों में प्रतीत होने वाले परब्रह्म के प्रति नमः हम अपने अहंकार का त्याग करते हैं यह सोचना सम्पत् उपासना है । इसी प्रकार प्रणव में जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति में रहने वाले का ध्यान है तो

सम्पत् उपासना है। शब्द और आकार के आधार को लेकर जिसमें स्मरण हो वह सम्पत् है।

तीसरी प्रकार की बाह्य उपासना क्रिया-योग-विशिष्ट है। विशिष्ट क्रिया, जैसे वायु प्रलय काल में सब चीजों को अपने में लीन करता है, यह वायु की क्रिया है। उसी प्रकार सुषुप्ति में प्राण लीन होता है। इन दो की समता को सोचना क्रिया-योग-विशिष्टता है। आंख की ज्योति की क्रिया को देखना, इसी प्रकार सूर्य की ज्योति की क्रिया को देखना, फिर इन दोनों की समता का ध्यान करना क्रियायोग विशिष्टता है।

चौथी प्रकार की बाह्य उपासना कर्माङ्ग उपासना है। यथा शिव पूजन में स्वस्ति वाचन के समय ध्यान मंत्र को पढ़ा और आगे को बढ़ गये। पूजा कर्म के अंग रूप से उपासना हो गई। अध्यास और सम्पत् रूप से उपासना तो नहीं हो पाई, केवल आधे मिनट के लिये भगवान् का ध्यान किया और आगे चले। या एक श्रौत दृष्टान्त लीजिये आज्यावेक्षण का। घृताहुति डालने के पहले जब पत्नी आज्यावेक्षण करे तभी श्रौत कर्म सम्पन्न होगा। यहां कर्म प्रधान है, प्रतीक प्रधान नहीं। यह बात दूसरी है कि आजकल लोग बिना पत्नी के कन्या दान तक कर देते हैं।

यह क्रम है कि प्रतीकोपासना से सुमति आती है। अच्छी बुद्धि यही है कि शुरू में ही मनुष्य को स्मृति आ जाय और अभदानुसंधान की इच्छा करे।

* * * *

नानात्व का आधार सृष्टि है। सृष्टि एकत्व का बहुभवन है। जब तक यह एक के अन्दर अनेकता का प्रस्फुरण है उसके अन्दर भेदाभाव नहीं हो पाता। सदेव सोम्य इदमग्रे आसीत् एकमेवाद्वितीयम्। आदि में उसमें भेदाभाव था। एकोऽहं बहु स्यां प्रजायें, इस संकल्प के मूल में भेद या नानात्व है। इसलिये सृष्टि काल में नानात्व है। भेद

की गन्ध भी जहां नहीं वह सृष्टि के प्राक् काल में था । सृष्टि में नानात्व की पूर्णता है। भेद इतना है कि संसार में कोई दो पदार्थ सर्वथा एक से नहीं हैं एवं एक पदार्थ भी सर्वदा एक सा नहीं रहता । सृष्टि काल में अभेद की गन्ध भी नहीं रहती । कोई भी दो पदार्थ या दो क्षण एक जैसे नहीं होते। संसार में पांच अरब आदमी हैं। उनके चेहरे अलग अलग हैं। कोई भी दो व्यक्ति एक से नहीं हैं। आज से चालीस वर्ष पूर्व और चालीस साल बाद के लोग भी एक दूसरे से अलग-अलग तरह के रहेंगे। एक ही उद्योग की बनी हुई दो घड़ियां एक सी नहीं चलतीं। वे सर्वथा एक जैसी हो नहीं सकती। इस भेद की पूर्णता के कारण अभेद्द दर्शन कठिन होता है। आकाश और वायु में अभेद दर्शन कैसे हो? वायु और अग्नि में क्या समानता है ? सृष्टि के प्राक् काल में जैसे अभेद पूर्ण था, अब सृष्टि के बाद भेद पूर्ण है।

अन्तःकरण सूक्ष्म जगत् है। दो अन्तःकरण एक जैसे नहीं होते। अन्तःकरणों के अन्दर अनन्त भेद हैं। साधक को सारे अन्तःकरणों की निवृत्ति कर के सृष्टि के प्राक् काल में जैसा अभेद था वहां पहुंचना है। जब अन्तःकरण अनन्त भेद वाले हुए तो उनकी निवृत्ति के साधन भी अनन्त प्रक्रिया वाले हैं। साधन साम्राज्य में आज सबसे बड़ी विकृति अन्तःकरणों के भेद न देखना है। यदि सभी कालेज के लड़के कहें कि हम सब एम० ए० में बैठेंगे और हम सबको एम० ए० में भर्ती कर लें तो बड़ी अव्यवस्था होगी। आज सभी उच्चतम साधन करना चाहते हैं और प्रत्येक व्यक्ति कहता है 'मैं इन्सान नहीं हूं क्या?' मिडिल कक्षा से धीरे-धीरे दस साल में एम० ए० में पहुंचा जाता है। जो मिडिल न पढ़के सीधे एम० ए० क्लास में बैठेगा वह १२ तो क्या ५० साल में भी पास नहीं होगा। उत्तमतम साधन करने वाला तभी सृष्टि के प्राक् काल का अभेद प्राप्त करेगा जब क्रम समुच्चय और सह समुच्चय को समझेगा।

क्रम समुच्चय कहता है कि एक साधन समाप्त कर दूसरे में लग जाओ। स्मृति ने क्रम समुच्चय बतलाया। आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारण मुच्यते। योगारूढ़स्य तस्यैव (साधकस्यैव) शमः कारणमुच्यते। शमः सन्यासः। इस प्रकार क्रम समुच्चय बतलाया। एक की सिद्धि करे तब आगे चले। आज लोग चाहते हैं कि प्रवृत्ति भी करें और निवृत्ति भी करें। वे दोनों में सहसमुच्चय चाहते हैं। ध्यान के समय अद्वैत भावना भी करें और व्यवहार में द्वैत भावना भी करें। नतीजा है कि ध्यान के समय अद्वैत को व्यवहार का द्वैत कचोटता है। व्यवहार में इसलिये सुख नहीं मिलता कि परमार्थ काटता है। यहां पर भी भेद की इतनी ही पूर्णता है, इसे भूलने से ऐसा होता है। शास्त्र ने क्रम समुच्चय बताया। उसे भूलकर हम सह समुच्चय में चले गये।

साधना में क्रम समुच्चय होता है। मानव जन्म की प्राप्ति परम शिव को प्राप्त करने के लिये है। मनुष्य ही नहीं; समष्टि की सृष्टि और गति केवल शिव तत्व में स्थित होने के लिये ही है। सारा संसार किस ओर गतिमान् है? वह भाग रहा है निष्क्रियता की तरफ। मनुष्य उठकर भागता है किस लिये? थक कर सो जाने के लिये। सोकर ही ताजा होता है। दिनभर की गति रात में सोने के लिये है। जल गतिमान होता है क्यों? ऐसी जगह पहुंच जाने के लिये जहां उसे फिर नीचे न जाना पड़े। लकड़ी जलती है क्यों? जलकर ऐसी हो जाय कि फिर जलना न पड़े। गति का पर्यवसान अगति है। सारी क्रियाओं का उद्देश्य निष्क्रियता है। आधुनिक विज्ञान (Law of Thermodynamics) की दृष्टि से भी सारी शक्ति पहले एक जगह केन्द्रित होकर वितरित होती है कि सर्वत्र समान स्तर की हो जाय। मन इतनी दौड़धूप क्यों करता है? ऐसे स्थल पर पहुंचने को जहां दौड़ धूप मिट जाय। उत्पत्ति है अजता के लिये। निष्कलं, निष्क्रियं, शान्तं दग्धेन्धनं इवानलम्। अग्नि जब सारी लकड़ी को जला कर शान्त होती है वैसी शान्ति आप को चाहिये। जलती लकड़ी पर पानी डालो तो भी आग शान्त हो जायगी। पर श्रुति उस शान्ति

को नहीं चाहती । क्यों कि थोड़ी देर वाद फिर उस लकड़ी को सुखाकर दियासलाई दिखाओ तो वह फिर जल उठेगी । अग्नि अव्यक्त रूप से लकड़ी में लीन है । समय आने पर व्यक्त हो जायेगी । जब जलकर राख होगई तो राख फिर नहीं जल सकती । इसी लिये दग्धेन्धन-मिवानलम् कहा । प्रलय काल में सृष्टि शान्त होती है फिर एकोऽहं बहुस्यां बनने के लिये ।

शास्त्रों ने उपासनाक्रम वृत्ति को दबाने के लिये नहीं बताया। यह रोध (repression) नहीं है । चेतन को यदि दवा दो तो वह अचेतन में जा कर व्यक्त होने के लिये प्रयत्न करता है। वासनायें फिर उद्‌वुद्ध होना चाहती हैं । यह द्वन्द्व ही मानस रोगों का कारण है । जहाँ वासना समाप्त नहीं हुई, व्यक्त को अव्यक्त करके कोई लाभ नहीं । अव्यक्त को व्यक्त करके समाप्त करना है । अव्यक्त को व्यक्त करना उपासना साम्राज्य का कार्य है । लकड़ी की अव्यक्त अग्नि को व्यक्त करके शान्त करना है । प्रकट करना ही समाप्त करने का ढंग है । जब तक जलाओगे नहीं अग्नि वाहर नहीं निकलेगी । अविद्या, काम की ग्रन्थियां, जब तक प्रकट हो कर नष्ट नहीं हो जायेंगी तब तक काम नहीं बनेगा । कामना को प्रकट करना है । कहां ? संसार में नहीं । अगर एक कामना प्रकट करने के लिये संसार की तरफ जाओगे तो चक्र चल जायेगा और वह दूसरी अनेक कामना पैदा करेगा ।

राजा ययाति ने हजार साल तक संसार को भोगा पर शान्ति नहीं मिली । इन्द्र से जवानी को फिर से प्राप्त करने का उपाय पूछा । उसने कहा कि तू अपने लड़के की जवानी मांग ले । स्वार्थ की हद है लड़के को बुढ़ापा देना । वेशर्मी की हद है पुत्र से जवानी अपने भोग के लिये मांगना । पर पुरु योग्य पुत्र था उसने अपनी जवानी दे दी । पर वह समय भी निकल गया; फिर बुढ़ापा आ गया । ययाति ने तो केवल दो जवानी भोगीं पर आपने तो अनादि काल से अनन्त वार जवानी भोग ली । पर ययाति ने नतीजा निकाला

'न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।' (म० भा० १·८५·१२) यह अनुभव है कि काम का उपभोग करने से वह शान्त नहीं होता बल्कि घी से सींचे हुए आग की लपट की तरह बढ़ता है ।

यदि कामनाओं के भोग से भी शान्ति नहीं और उनको दबाने से भी शान्ति नहीं तो क्या करें ? भोग भी न करो और उन्हें प्रकट भी करो । कैसे ? उपासना से । परमेश्वर की तरफ कामनाओं को व्यक्त करोगे तो वे तुम्हारी कामनाओं को समाप्त कर देंगे । जिस तरह पारस पत्थर को लोहे के सामने लाओगे तो वह लोहे को सोना बना देता है वैसे ही काम से, क्रोध से, भय से, स्नेह से किसी भी प्रकार परमेश्वर की तरफ अपने को ले जाने से शिवभाव पाया जाता है । मन इतनी दौड़ धूप कर रहा है शान्ति के लिये । उसे पता नहीं किस दौड़ धूप से शान्ति मिलेगी । सभी शान्ति चाहते हैं पर मन शान्त नहीं होता । जो मन शान्ति चाह रहा है उसे तरीके का पता नहीं ।

उपासना का तात्पर्य अनन्त वासनाओं को परमेश्वर से सम्बन्धित करना है । अनन्त प्रकार से उपासनायें सम्भव हैं । वृत्तियां अनन्त हैं । अतः प्रकट करने के तरीके भी अनन्त हैं । जब तक समस्त कामनाओं को दग्ध नहीं कर देते तब तक उपासना कर्तव्य है ।

* * * *

भगवती श्रुति परब्रह्म परमात्म तत्व को सारे जीवों की गति बताती है । सारा विश्व उसी की तरफ जा रहा है । स्वभावतः कारण की तरफ गति होती है । अचेतन और चेतन दोनों की गति उसकी तरफ है । संसार में यदि कोई नास्तिक भी है तो वह भी उसका चिन्तन करता है । आस्तिक उसकी सिद्धि के लिये, भोगी उसके द्वारा भोग प्राप्त करने को, ज्ञानी उसे जानने को और उपासक उसकी प्राप्ति के लिये ईश्वर का चिन्तन करता है । परमेश्वर कल्प वृक्ष है । उसके पास जो जिस दृष्टि से जाता है चिन्तन करने वाला वैसा ही बन जाता है । ईश्वर नहीं है, इस प्रकार

चिन्तन करने वाला स्वयं भी असत् रूप बन जाता है। उसके सामने जैसा चिन्तन करो वैसा चिन्तन सफल होता है। कामात्, क्रोधात्, भयात्, लोभात् कोई भी विकार हो, उसकी तरफ लगा दो। जिस विकार को लेकर परमेश्वर के पास चलोगे वह विकार तो समाप्त हो जायेगा पर आनन्द नहीं मिलेगा। अतः आनन्द को सिद्ध करने के लिये वेदान्ती उसको परम प्रेमास्पद सिद्ध करते हैं। वेदान्त ऐसा क्यों करता है ?

बृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी को उपदेश करते हुए कहा गया 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'। फिर 'विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म' सिद्ध किया गया। क्यों कि आनन्द और प्रेम का घनिष्ट सम्बन्ध है। लोक में भी जिसके घर प्रेम है वहां बड़ा आनन्द है। जहाँ प्रेम नहीं वहाँ अगर जाना पड़ा तो बबाल होता है। जो भोजन प्रियकर है उसे देखते ही आनन्द आता है। अप्रिय भोजन के सामने आते ही भृकुटी टेढ़ी होती है। पर 'अन्नं ब्रह्मेति' जानने वाला सभी भोजनों का आनन्द ले पायेगा। आनन्द का सम्बन्ध प्रेम से है, पदार्थ से नहीं। एक बार पूर्णिमा के दिन ताजमहल देखने को गये तो ख्याल आया कि यदि मन्दिर देखने जाते तो अच्छा होता, क्या कब्र देखने आये हैं ? यह ध्यान आते ही ताजमहल अरुचिकर हो गया।

परमेश्वर का धर्म है कि जिस वृत्ति से उसके सामने जाओ उस वृत्ति को शुद्ध करना एवं जिस उद्देश्य को लेकर जायेंगे वह पूर्ण भी होगा। यदि परमेश्वर के लिये प्रेम है तो आनन्द का उद्बोध होगा। यदि शिशुपाल इत्यादि की तरह द्वेष वृत्ति से जाओगे तो सद्गति तो मिलेगी पर जीवन में आनन्द नहीं मिलेगा। कंस को सद्गति तो मिली पर उसे कृष्ण को देख कर भी आनन्द नहीं मिला। अतः परमेश्वर के पास जिस वासना को ले कर जाओगे वह वासना शुद्ध हो जायगी और साथ में प्रेम बढ़ाते जाओगे तो आनन्द बढ़ेगा। प्रश्न उठता है कि यदि परमेश्वर से प्रेम करोगे तो क्रोध और द्वेष कैसे बनेंगे। अपनी पत्नी पर प्रेम है इसी लिये गुस्सा भी उस पर अधिक

आता है। उसी प्रेम के अंकुर से क्रोध उत्पन्न हुआ। बच्चे को जब डांटते हो तो भी उसका बीज प्रेम है। लड़का यदि डांट खाता है तो भी पिता के हृदय में प्रेम के कारण। एक विक्रेता के हाथ में बोतल थी। अकस्मात वह गिरा तो मालिक पूछता है, अरे! बोतल तो नहीं टूटी? मालिक का प्रेम बोतल से है, विक्रेता से नहीं यह स्पष्ट है।

यदि प्रेम बीज से उपासना है तो विकार तो नष्ट होंगे ही आनन्द भी मिलेगा। अतः उपासना के सभी शास्त्रकारों ने प्रेम को उपासना के बीज रूप से निर्देश किया है।

यद्यपि सभी लोग परमेश्वर की तरफ दौड़ रहे हैं, पर जान कर नहीं। जब प्रेम का आश्रय परमात्मा को समझेंगे तो वह जीवन केन्द्र बन जायेगा। यथा धन कमाने वाला निरन्तर धन का ही चिन्तन करता है। विद्या से प्रेम करने वाला विद्यार्थी कभी विद्या को छोड़ नहीं सकता। जीवन केन्द्र का निरन्तर चिन्तन नहीं छूट सकता। परमेश्वर के प्रति प्रेम कैसे हो? यथा धन कमाने वाला दो काम करता है। जो जो धन प्राप्ति के साधन नहीं हैं उन्हें छोड़ता है और जो जो धन प्राप्ति के साधन हैं उनमें अपने को लगाता है। वैसे ही विद्यार्थी विद्या प्राप्ति के असाधन छोड़ता है एवं साधनों को करता है। परमेश्वर का स्मरण तथा उसकी प्राप्ति के साधन में लगना और उनके प्रतिबन्धक को छोड़ना प्रेम साधन है।

उपासना उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रकार की है। उत्तम उपासक सर्वथा परमेश्वर में अपनी सारी इच्छाओं को लीन करता है। ऐसे उपासक के लिये भगवान् ने प्रतिज्ञा की है कि उसका 'योगक्षेमं वहाम्यहम्।' भगवान् की यह प्रतिज्ञा 'अनन्यांश्चिन्तयन्तो मां' के लिये है। भगवान् कहते हैं कि जो ध्यान भाव को भी छोड़ कर केवल ध्येय स्वरूप में सर्वथा स्थित रहते हैं वे नित्य मेरे अन्दर लगे हुए हैं। उनका योग-क्षेम मैं वहन करता हूं। वैसे तो भगवान् सामान्यतः सभी का योग-क्षेम चलाते हैं। पर जो अपना चिन्तन करता है

भगवान् उसके द्वारा प्रवृत्ति कराके ही उसके योग-क्षेम का निर्वाह करते हैं। बड़े लड़कों को पिता जिस प्रकार भोजन कराता है छोटे लड़के को उस प्रकार नहीं कराता। छोटे के मुंह में चम्मच भर के दूध डालता है। अपने मन को सर्वथा भगवान् की ओर कर देने से स्वयं अपने योग क्षेम की चिन्ता नहीं करनी पड़ती है। जब तक अपने योग क्षेम का चिन्तन स्वयं करना है तब तक अपनी प्रवृत्ति से ही चलना पड़ेगा। जब अमुक चीज प्राप्तव्य है, यह प्रवृत्ति छूट कर परमेश्वर ही एकमात्र प्राप्तव्य रहता है तो भगवान स्वयं योग क्षेम का वहन करते हैं। एक पढ़ने वाला कुशाग्र लड़का पढ़ता ही रहता है तो माता पिता उसके कपड़े खाने की चिन्ता करते हैं। दूसरा लड़का जो उठाने पर भी पढ़ने को नहीं उठता, कलेवे के बगैर पाठशाला जाता ही नहीं, चिन्ता तो उसकी भी मां बाप करते हैं पर सर्वदा नहीं।

उपासक परमेश्वर का निरन्तर स्मरण करे। उसको प्रेम का आस्पदं बनाये। उसके चिन्तन में बाधक वृत्तियों का त्याग करे। तब उपास्य तत्त्व की प्राप्ति सहज होगी।

* * * *

सभी लोग यद्यपि परमेश्वर की तरफ जा रहे हैं, परन्तु जो जान कर जाता है उसका फल और है और जो बगैर जाने हुए जाता है उसका फल और है। उपासना का लक्षण है 'उपासनं च यथा शास्त्रं तुल्य-प्रत्यय-संततिः'। तनोति इति ततिः, सम्यक् तनोति इति सन्ततिः, अतः सन्तति का अर्थ हुआ विस्तार। यथा पिता का विस्तार पुत्र द्वारा होता है। तुल्य प्रत्यय सन्तति का अर्थ हुआ जिस ध्येय की उपासना हो रही है उसका विस्तार करें। ध्येयाकार वृत्ति इतनी बढ़ जाय कि और कोई चिन्तन बीच में न हो। कोई विपरीत वासना वहां न आये। ध्येयाकार वृत्ति जब ऐसी बनेगी तभी उपासना पूर्ण होगी। एक क्षण वृत्ति बनी और दूसरे क्षण बदल गई तबतक सिद्ध नहीं। संतति प्रवाह का अर्थ है कि पिता भी पूर्ण है पुत्र भी पूर्ण है, फिर भी संतति रूप से प्रवाह विस्तार है। अतः तुल्य प्रत्यय सन्तति में असंकीर्णता

नहीं रहती । असंकीर्णं च अतत् प्रत्ययः । ध्यान स्थल में साधक को चाहिये कि आत्म वृत्ति को पूर्ण बनावे । कोमल ज्ञान और दृढ़ ज्ञान में यही भेद है कि ज्ञान के बीच-बीच में भिन्न वृत्ति का आना ही कोमलता है। यदि ज्ञान को अन्य अतत् प्रत्यय बीच-बीच में संकीर्ण करता है तो उसकी संतति का पता कैसे चलता है ? यथा किसी को दो दिन तक सिर में दर्द रहा तो तुल्य प्रत्यय संतति है सिर दर्द की अनुभूति । उसी प्रकार शास्त्र के अनुसार तुल्य प्रत्यय सन्तति ही उपासना है ।

श्रुतियों ने उपासनाओं का वर्णन कई प्रकार से किया है । यथा शास्त्रं का अर्थ है जैसा श्रुतियों ने कहा है ठीक वैसा ध्यान । यथा शालिग्राम में विष्णु का ध्यान यथा शास्त्र है । परन्तु आजकल लोग यथा शास्त्र उपायों को न मान कर जिस किसी भी उपाय को ग्रहण कर लेते हैं । उसका दुष्परिणाम होता है । जैसा पदार्थ होगा वैसा ही उसका प्रभाव मन पर संस्कार रूप से पड़ेगा ।

सात्विक लोग देवताओं का यज्ञ करते हैं और भूत प्रेत की उपासना तमोगुणी लोग करते हैं । यजन्ते सात्विका: देवान् यक्षरक्षांसि राजसा: इत्यादि से गीता में भगवान् ने सात्विक, राजसिक और तामसिक उपासनायें अलग-अलग बतलाईं । प्रश्न उठता है कि शास्त्र में केवल सत्त्व गुण वाली ही उपासनायें क्यों नहीं बतलाईं । इसका कारण यह है कि जो घोर तमोगुणी है वह सात्विक और राजस उपासना नहीं कर सकता । कलकत्ते के कालीघाट में बकरों को काटा जाता है । सात्विक संस्कार वाले लोग वहां जाने से भी घबराते हैं । यद्यपि वहां बलि देने वाले लोग तमोगुणी हैं पर उनकी उपासना को अशास्त्रीय या गलत नहीं कहा जा सकता । कुल्लू में कुछ लोग शिव मंदिर में भी बलि देते हैं । तमोगुणी की मदिरा, मांस आदि में प्रवृत्ति स्वत: है अत: उसे शास्त्र ने तमोगुणी उपासना बतलायी । धीरे-धीरे वह रजोगुणी बनेगा ।

भगवती यद्यपि स्वरूप से तीनों गुणों से रहित है तथापि हम अपनी वासना के अनुरूप उसमें गुणों की कल्पना करते हैं। शास्त्रों में जो तीनों प्रकार की उपासनाओं को संस्कार भेद से बताया, उसका तात्पर्य उन संस्कारों को परमेश्वर के अर्पण करने में है। स्वाभाविकी प्रवृत्ति का उपासना से परिवर्तन ही सुधार है। बुराई को हटाकर केवल अच्छाई रहने देना ही सुधार है। हम एक चीज को नष्ट करके कोई नयी चीज नहीं बनाते। वेद की दृष्टि मतवाद की नहीं है जिसमें यह आग्रह हो कि हमारा ही मत ठीक है। वेदों ने इसी कारण सभी प्रकार के याग बतलाये। सोमयाग में बलिदान का नाम भी नहीं और अध्यात्म यज्ञ में केवल मानसी पूजा है। पूजाओं में प्रथम प्रतिमा पूजा है, जप स्तोत्र मध्यम पूजा हैं तथा केवल मानसी पूजा उससे भी उत्तम है। अहंकार को प्रतीक मानकर 'सोऽहं' की भावना सर्वोत्तम पूजा है। इसी प्रकार अपने व्यापक रूप को जानना उत्तम, ध्यान मध्यम, शास्त्र चिन्तन अधम, और तीर्थ निकृष्ट माने गये हैं। इन सभी में पुनः उपास्य भेद से सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के अनुसार उपासना का भेद है।

इसी प्रकार जिस करण (साधन) से पूजा होती है उसके भेद से भी उपासना का भेद होता है। उपासक, उपास्य, उपासना के साधन इन तीनों से ही उपासना में भेद है।

* * * *

जहां भगवती श्रुति परमात्म तत्व का स्वरूप बतलाते हुए साधन का निर्देश करती है वहां प्रश्न उठ सकता है कि स्वरूप यदि ज्ञान से अभिन्न है तो साधन रूप से अज्ञान को कल्पना बनती नहीं। पर साधन साम्राज्य में अज्ञान और मल को स्वीकार करना पड़ता है। यद्यपि आत्मा की प्रकाश स्वरूपता होने के कारण उसमें अन्धकार की सम्भावना नहीं, फिर भी अघटितघटनापटीयसी, जो कभी घटा नहीं उसे घटाने में कुशल, आवरण न करते हुए भी आवरण रूपी प्रतीत होने वाली माया शक्ति के द्वारा, एक अखण्ड अद्वैत

तत्त्व में अनेकता प्रतीत होती है। यह शक्ति ब्रह्म की होते हुए भी स्वयं अपने आश्रय ब्रह्म को ही ढकती है। इस प्रकार शुद्ध चिन्मात्र के अन्दर अज्ञान की आश्रयता न बनने पर भी माननी है। माया चिन्मात्र आश्रय में उसी को विषय करती हुई रहती है। उसी को आश्रय करके उसी को ढकती है। जैसे तालाब के अन्दर सेवार तालाब के जल से ही उत्पन्न होकर उसी को ढकती है। सेवार ज़ल के ही आश्रित है। जल के सम्बन्ध रहने तक काई रहती है और जल सूख जाय, जल का सम्बन्ध सर्वथा नष्ट हो जाय, तो काई भी सूख जाती है। एक दृष्टि से काई जल स्वरूप ही है। यथा घट मिट्टी रूप ही है। पर जल स्वरूप होते हुए भी काई जल से भिन्न है। जल तरल होता है वह ठोस है, जल बिना आकार का होता है, काई में आकार और रूप दोनों हैं। जल द्रव पदार्थ है। उससे काई रूपी पदार्थ भिन्न होते हुए भी अभिन्न है।

माया भी ब्रह्म से अभिन्न है, क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त उसकी सत्ता सिद्ध होती नहीं। जब तक इस माया विशिष्ट का स्वरूप न समझा जाय तब तक वह उपासना का विषय बनता नहीं। क्यों कि शास्त्र ने शुद्ध चेतन के ज्ञान से मोक्ष बतलाया। जब तक माया विशिष्ट को नहीं समझा माया रहित समझ में कैसे आवे।

प्रज्ञावानपि पण्डितोऽपि चतुरोत्यन्त सूक्ष्मार्थदृक्
व्यालीढ़स्तमसा न वेत्ति बहुधा सम्बोधितोऽपि स्फुटम्।

एक व्यक्ति चतुर भी है, आत्म तत्त्व के विषय में उसने श्रवण मनन भी किया, वैदिक वाक्य सुन कर श्रुति में लगाई हुई युक्तियों को भी समझा। एषो अणुरात्मा आदि वाक्य सुन कर उसका मन सूक्ष्म बात समझने वाला हो भी गया, फिर भी साफ-साफ श्रुति का कथन बार-बार किया हुआ कि 'जीव! तूही ब्रह्म है' समझ में नहीं आया। इस का कारण क्या है? व्यालीढ़स्तमसा न वेत्ति। लिह का अर्थ होता है चाटना। माया ने ज्यों ही उसे चाट लिया तो उसका ज्ञान वहीं समाप्त हो गया। माया ब्रह्म के आश्रित होते हुए

भी ब्रह्म-विषयक ज्ञान को ही चाट गई। ऐसा क्यों होता है? स्वयं साधक अपने अज्ञान के द्वारा ही उसे चाटता है। इसीलिये कहा 'भ्रान्त्यारोपितमेव'।

सूर्य प्रकाश स्वरूप है। उल्लू को उसमें अन्धकार दीखता है। वह अन्धकार उल्लू में कल्पित है। और अपनी भ्रान्ति से बने हुए अन्धकार से सूर्य को चाटता है। क्या उल्लू के नेत्र में देखने की शक्ति नहीं है? वह रात को तो खूब देखता है। अतः एक दृष्टि से सूर्य का प्रकाश ही उल्लू को अन्धा बना रहा है और दूसरी तरफ उस अन्धकार का कारण नेत्र का दोष है। वही सूर्य का प्रकाश हमारे नेत्र को रोशनी देता है। जीव भी ब्रह्म को देखना चाहता है। पर उसे द्वैत दीखता है। अखण्ड उसे खण्ड दीखता है। परब्रह्म परमात्मा की शक्ति के द्वारा ही यह जीव अन्धा बन रहा है। अतः इसे दुरन्ततम कहा। उल्लू को जितना अधिक धूप में ले जाओ उसे उतना ही अंधेरा अधिक दीखता है। चित्त को जितना ध्यान में लगाओ उतना ही वह संसार की ओर अधिक दौड़ता है। साधारण पुरुष की क्या गणना जब महर्षियों का भी व्युत्थान काल में यह हाल होता है।

अज्ञान के स्वरूप को समझना उसकी निवृत्ति के लिये बहुत आवश्यक है। जीव तीन प्रकार के अज्ञान वाला होता है। किसी में तो अभावना होती है कि ब्रह्म है ही नहीं। किसी में विपरीत भावना होती है कि ब्रह्म है पर गोलोक में या सातवें आसमान में। यदि ऐसा हो तो ब्रह्म पद का अर्थ ही असिद्ध हो जाय तीसरा दोष असम्भावना का है। सब ब्रह्म कैसे है? हमारी मान्यता है कि यह संसार है। यह मान्यता हटना नहीं चाहती। संसार कुछ तो है चाहे उसे प्रकृति कहो चाहे अनात्मा कहो। उपासना का सारा प्रकरण इस माया के अन्दर से सत्यता की बुद्धि हटाने के लिये है। माया कुछ है नहीं। भ्रान्ति द्वारा आरोपित माया अपनी भी कल्पना कराती है और अपने आश्रय की भी कल्पना कराती है। अज्ञान अपने आप को कल्पित करता है। चूंकि

वह कल्पना है अतः उसे हटाना अत्यन्त कठिन है। यदि माया सच्ची होती तो उसे काटना सरल होता। प्रपञ्चो यदि वर्तेत निवर्तेत न संशयः।

* * * *

संसार के पदार्थों की तरफ निरन्तर प्रवृत्ति कराने वाली इस शक्ति का नाम विक्षेप शक्ति है। विक्षेपशक्तिः क्षपयति अजस्रम्। इससे निवृत्ति का उपाय क्या है? जिस तत्व को सुना उसके ऊपर मन को एकाग्र करना है। श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः। श्रुति के वाक्यों से श्रवण किया। उसका मनन भी किया। फिर भी स्थिति नहीं हो पाती। इसका कारण विक्षेप है। चित्त का विक्षेप कैसे हटेगा? जगत् की प्रतीति कराने वाली विश्वमाया की निवृत्ति कैसे होगी? तत्वभावात्। परब्रह्म परमात्मा से एकता की स्थिति से ही यह सम्भव है, अतः साधन रूप से बताया कि ध्यान से ही चित्त का विक्षेप हटेगा।

ध्यान केवल सोपाधिक का ही हो सकता है, निरुपाधिक का तो केवल ज्ञान सम्भव है, ध्यान नहीं। ज्ञानोत्पत्ति के पहले निरुपाधिक का ध्यान संभव इस कारण नहीं है कि जिसे जाना नहीं उसका चिन्तन कैसे होगा? ज्ञान हो गया तो ध्यान की सम्भावना ही नहीं रही, क्योंकि ज्ञान के होते ही अज्ञान की निवृत्ति हो जायेगी। अतः ध्यान, जो अज्ञानावस्था में होता है, ज्ञानोत्पत्ति के बाद भी सम्भव नहीं। यथा सूर्य के प्रकाशित होते ही अन्धकार की निवृत्ति हो गई। जब वह निवृत्त हो गया तो कर्तव्य की क्या अपेक्षा?

अतः सोपाधिक सगुण ब्रह्म का रूप ही चित्त की एकाग्रता के लिये ध्येय है। ध्येय सदा सोपाधिक ही रहेगा। शास्त्र को सुन कर उस ध्येय पदार्थ का परोक्ष ज्ञान होता है। फिर उसका साक्षात्कार होता है। यह ध्यान सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का होता है। यजन्ते सात्त्विकाः देवान्। देव का अर्थ है देवत्त्व गुण से सम्पन्न। यथा घटत्व गुण जिसमें हो वह घट कहलाता है। इसी प्रकार देवत्व

गुण जिसमें हो वह देव कहलाता है। यहां श्रीकृष्ण एक सूक्ष्म बात कह रहे हैं। देवता का पूजन कौन कर सकता है? देवो भूत्वा देवं यजेत्। पहले देवता बनो तब देवता का पूजन करो। पर शास्त्र ने 'यक्षं भूत्वा यक्षं भजेत्' नहीं कहा। देव पूजन का अधिकार देव बन कर ही होता है इसी कारण न्यास किया जाता है। अंगन्यास, करन्यास, महान्यास इत्यादि न्यास भेद हैं। बृहन्यास में एक एक अंग को देवतामय बनाया जाता है और तत् तत् अभिमानी देवताओं का अपने अन्दर स्थापन किया जाता है। फिर यह समझा जाता है कि देवता सामने भी स्थित है। पूजन समाप्त होने पर देवता का मूर्ति में से पुनः अपने अन्तःकरण में स्थापन करना पड़ता है। यह सब शतपथ ब्राह्मण की श्रुति 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' का बाह्य रूप है। श्रुति ने 'भूत्वा' शब्द पर जोर दिया। देवता का चिन्तन करके देवता का पूजन करे, ऐसा नहीं कहा; अपने को देवता मान कर पूजन करे भी नहीं कहा। जब तक हम देवता बनते नहीं तब तक सात्विक पूजा का अधिकार ही नहीं है। जब देवता के गुणों को अपने अन्दर लाओगे तभी देवता के पूजन के अधिकारी बनोगे।

आगे दैवी सम्पत् को बताते हुए भगवान् ने गीता में दैवी गुणों को बताया। भगवान् ने 'यजन्ते सात्विकाः देवान्' कहकर सत्व गुण सम्पन्न शब्द से देवत्व गुण वालों का निर्देश किया। सत्व प्रधान ही देव हुआ करते हैं। हम देव पूजन करते समय यह भूल जाते हैं कि हम देव पूजन के अधिकारी नहीं हैं। आज हम पदार्थों के बाह्य रूप को अधिक महत्व देने लगे हैं। अर्चक के कपड़ा, स्नान, स्पर्श का विचार अधिक करते हैं। वह सत्य बोलता है या नहीं, इसका कम। चूंकि आभ्यन्तर आचरण में भूल करने वाले को हम क्षमा करते हैं अतः हम आभ्यन्तर जगत् में पीछे सरकते हैं। जितना विचार हम शौच के बाद मिट्टी से कितनी बार हाथ धोना चाहिये इसका करते हैं उतना विचार हम झूठे व्यक्ति के हाथ का भोजन न करने के लिये नहीं करते।

देव मन्दिर में जाते समय कपड़े धुले हुए होने चाहिये, पर क्या हम कभी मन की शुद्धि के विषय में भी सोचते हैं ? सात्विक शब्द के प्रयोग से श्रीकृष्ण आभ्यन्तर देव रूप पर जोर दे रहे हैं। देव ध्येय या उपास्य तत्व तभी बनेगा जब हम सात्विक बनें। सात्विक शब्द की व्याख्या करते समय भगवान् ने अभय पर जोर दिया है। यद्यपि पुराणों में देव (सत्व) को रज और तम (राक्षस) से अभिभूत दिखलाया गया है, पर श्रुति में अभय से समग्र दैवी गुणों की उपलक्षणा की गई है। अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि। संसार का भय, धन हानि का भय, शरीर की हानि का भय, स्वास्थ्य की हानि का भय, ये सब हमें आगे नहीं बढ़ने देते। यदि किसी से पूछते हैं कि सत्संग में बहुत दिनों से नहीं आ रहे हो क्या बात है, तो उत्तर मिलता है स्वास्थ्य खराब है। यदि पूछो कि दूकान तो दो घंटे के लिये जाते हो तो उत्तर मिलता है दूकान गये बगैर चलता नहीं। इसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि सत्संग के बगैर काम चल सकता है। सत्संग में मिलने वाले परमेश्वर ज्ञान की कीमत एक घंटे की कमाई से भी कम है। मनुष्य कीमतों को पहचानता नहीं। उसे जहां भय नहीं करना चाहिये वहां भय करता है, और जहां भय होना चाहिये वहां भय नहीं करता।

परमेश्वर का मार्ग लड्डू पूरी खाने का मार्ग नहीं। 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत् कवयोवदन्ति।' (कठ० १.३.१४) कवि शब्द का अर्थ इस श्रुति में क्रान्तदर्शी ऋषि और परमेश्वर दोनों हैं। परमेश्वर का मार्ग दुर्गम है। छुरे की धार के ऊपर चलने के समान कठिन। छुरे की धार भी बड़ी मोटी होती है। मनसैवानुद्रष्टव्यं। परमेश्वर के मार्ग में चलना तो मन से है। मन की अपेक्षा तलवार की धार तो बहुत मोटी है। श्रुति कहती है कि मन का तेज तलवार की धार पर चलना कठिन नहीं है। अत्यन्त तेज छुरे की धार भी यद्यपि है तो भी मन तो उस पर चल ही सकता है। फिर भी हमको

भय लगता है कि यदि मन को उस पथ पर चला देंगे तो संसार, स्वास्थ्य, धन, सब नष्ट हो जायेगा ।

दुर्गं पथः से श्रुति बहुत कुछ कह रही है । पथ उसे कहते हैं कि जिस पर आदमी चल सके । जिस पर चला जा सके वह तो चलने लायक है । अनेकों उस रास्ते पर चले गये । 'नमः पथिभ्यः' कहकर श्रुति उस रास्ते पर चलने वाले को नमस्कार करती है, 'नमः पथिकृद्भ्यः' कह कर जिसने चलने लायक रास्ता बनाया उसको नमस्कार किया । दुर्गं पथः में फिर श्रुति ने पथ को दुर्ग क्यों कहा ? भय के कारण ही वह दुर्ग प्रतीत होता है । इस भय की निवृत्ति कैसे हो ? इसी भय की निवृत्ति के लिये भगवान् ने कहा कि मृत्यु का भय भी वास्तव में भय नहीं, क्यों कि मर कर पुनः जन्म लेते हो । पुराने कपड़े को छोड़ कर नवीन वस्त्र धारण करने की तरह मरने के बाद जन्म लेना निश्चित है । तो क्या पुराने कपड़े को छोड़ते समय रोते हो ? एक देह छोड़ कर नया देह मिलेगा । गीता में भगवान् के इन सब कथनों का विनियोग अर्जुन को अभय बनाने में है । भगवान् गौड़पादाचार्यों ने भी वीतरागभयक्रोधैः में राग और भय को छोड़ने के लिये कहा । राग वह सड़न है जिसके रहते हुए जीव भगवान् की ओर कदम भी नहीं उठाता । उठाने पर भय के कारण आगे नहीं बढ़ता ।

परमेश्वर तथा उस के मार्ग में अनन्त सुख है । यो वै भूमा तत्सुखं । कर्म मार्ग में जितना कर्म करो उतना ही फल मिलेगा । जब बार बार इस कर्म के मार्ग में चलता है तो 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान् नास्त्यकृतः कृतेन ।' नौकरी करके बिड़ला नहीं बन सकते । बिड़ला की तरह बनने के लिये तो व्यापार ही करना पड़ेगा । अतः प्रार्थना है कि भगवन् मुझे कर्म की नौकरी से छुड़ाकर अब व्यापार में लगाओ । यह भगवान् के मार्ग में चलने

की हिम्मत 'अभयं' का प्रथम लक्षण है। जब यह अभय पैदा होगा तभी हम सात्विक पूजा के अधिकारी बनेंगे।

*　　*　　*　　*　　*

उपासना का अर्थ है समीप बैठना। किसी भी बड़े आदमी के पास कैसे लोग बैठते हैं ? जो लोग उसके जैसे होते हैं। समान प्रवृत्ति वाले लोगों के अन्दर ही स्वभावत: एक प्रकार का आकर्षण होता है। विभिन्न प्रकृति के लोगों में वह आकर्षण नहीं होता। लोक में भी जल तेल से नहीं मिलता। समान प्रकृति के लोगों का ही मेल होता है। यथा जल में जल डालते ही वह मिल जाता है। दूध और पानी को तो नीर क्षीर विवेक वाला हंस अलग कर भी सकता है, नमक और चीनी मिला दो तो भी चींटी उसमें से चीनी को अलग कर सकती है पर यदि चीनी में चीनी मिला दो तो कोई उसे अलग नहीं कर सकता। पदार्थ की समानता से भेद का पता नहीं चलता। इसी प्रकार यदि हमें परमेश्वर के समीप बैठना है तो समीप बैठने लायक बनना पड़ेगा।

ईसाई लोग कहते हैं कि ईसा मसीह पर जो विश्वास करेंगे सब स्वर्ग में जायेंगे। यहां भी कई मतवादी कहते हैं कि यदि यह मंत्र तुमने सुन लिया तो सीधे वैकुण्ठ चले जाओगे। स्वर्ग में यदि राग द्वेष युक्त स्वभाव वाले पहुंच जायेंगे तो वे स्वर्ग को नरक बना देंगे और यदि नरक में शुभ प्रकृति के लोग जायेंगे तो नरक भी स्वर्ग बन जायेगा। सरकार ने कई अच्छे अच्छे मकान बनाकर हरिजनों को दिये। पर वे मकान साल भर में ही बिगड़ कर फिर गन्दे हो गये। अच्छे मकान देने के पहले सरकार ने उन्हें अच्छे मकानों में रहना नहीं सिखाया था। हम सभी अच्छी से अच्छी वस्तु का प्रयोग करना न जानने से उसे बिगाड़ देते हैं। पहले चीज का उपयोग करना सीखो तब चीज मिलती है। ठीक इसी प्रकार यदि हम परमेश्वर के पास राग द्वेष से भरे विचारों से जायेंगे तो परमेश्वर के पास रहने वाले के दोष का आक्षेप परमेश्वर पर भी जायेगा। हमें सुख शान्ति

तो नहीं ही मिलेगी । अतः उपासना का अर्थ है परमेश्वर के पास बैठने की योग्यता अपने में लाना ।

उपासना का अर्थ है समीप बैठना । तो प्रश्न उठता है कि हम परमेश्वर के कितने समीप बैठना चाहते हैं । विग्रहयोरभेदः । जब आप अपने किसी मित्र से मिलते हैं तो गले मिलते हैं । सालोक्य सामीप्य, सायुज्य और सार्ष्टि यह चार प्रकार की मुक्ति बताई हैं । कोई परमेश्वर के लोक में गया, कोई परमेश्वर के समीप गया, कोई उससे मिल गया । मुक्ति में ये सब भेद क्यों ? यथा तेल और पानी मिल नहीं सकते । हमारे अन्दर परमेश्वर के जितने गुणों का अधिक आधान होगा, उतना ही हम परमेश्वर के समीप आयेंगे ।

पर राजस और तामस उपासनाओं में यह आवश्यक नहीं होता । चिलम पीने वाले के पास बैठने के लिये केवल चिलम पीने की योग्यता अपेक्षित है । शराब पीने का यदि शौक है तो यह नहीं देखेगा कि जिसके साथ बैठ कर खा पी रहे हैं वह कैसा है । होटल में खाने का शौक है तो यह नहीं देखेगा कि साथ में कौन बैठा है । पर जहां रजोगुण तमोगुण प्रधान नहीं होंगे, जहां सूक्ष्म विचार होगा, यथा जहां कवि लोग बैठे हुए कविता का विचार कर रहे हैं, वहां योग्यता की परीक्षा अत्यधिक हो जायेगी ।

दैवी गुणों को अपने अन्दर लाना है तभी परमेश्वर के समीप बैठने के अधिकारी बनेंगे । अतः उन गुणों को अपने अन्दर लाना ही उपासना बन गई । यही कारण है कि पाश्चात्य देशों के लोग शास्त्र को न मानते हुए भी धर्म से अर्थ और काम प्राप्त करते हैं । 'धर्माद् अर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ।' से वेदव्यास एवं 'अभ्युदयार्थोऽपि यो धर्मः ईश्वरार्पणबुध्या निःश्रेयसे भवति ।' से शंकर भगवत्पाद धर्म को अर्थ व काम के द्वारा लौकिक उन्नति का साधन बताते हैं । यहां अपि शब्द ध्यान देने लायक है । हम परमेश्वर को अर्पण करके यदि धर्मानुष्ठान करते हैं तो वह मोक्ष तक ले जायेगा । इसमें श्रौत प्रमाण है । श्रुति ने अनेक कर्मों

के फल बताये । 'तमेतं ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन' के द्वारा श्रुति ने यज्ञ दान मात्र का विनियोग ज्ञान में कर दिया । अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ब्रह्म जिज्ञासा पर्यन्त ले जाना कर्म का विनियोग है । काम्येऽपि शुद्धिः अस्ति एव । फिर कारण क्या है कि हम धर्म का पालन करते हुए भी पाश्चात्यों से पिछड़े हुए हैं ? वे हमारे ढंग से उपासना न करते हुए भी दैवी गुणों का आपादन करने में निरन्तर प्रयत्नशील हैं । वहां दूकान में चीज का दाम लिखा हुआ है । पैसा डालो और चीज को ले जाओ । हमारे देश में वैद्यनाथ फार्मेसी वालों ने भी एक वार यही प्रयोग किया तो १९०० रु० की दवा उठ गई और कुल साढ़े सात रुपये आये ।

सनातन धर्म तो अनादि धर्म है । वेद मानव मात्र के लिये है । वह देवताओं के लिये भी है । वेद में तीनों लोकों का पालन करने वाले सिद्धान्त हैं । 'सत्यं वद' यह श्रुति कहती है । यदि अमेरिका में रहने वाला भी श्रुति के इस नियम का पालन करेगा तो सत्य बोलने से उसे भी पुण्य मिलेगा । जो कोई भी वेद के जितने नियमों का पालन करेगा वह उससे लाभ उठायेगा । अर्थ और काम की अधिकता के साथ पाश्चात्य देशों में अधिक सुख शान्ति क्यों नहीं है ? क्योंकि वे धर्म के दूसरे अंगों का पालन नहीं करते । धनादि पदार्थ तो उन्हें मिलते हैं पर दुःख बना रहता है । हम धर्म के अन्य अनेक अंगों का पालन करते हैं अतः इतने दुःख रहते हुए भी शान्ति बनी रहती है । मानस और आध्यात्मिक जगत् के नियमों का फल सर्वथा भोगना पड़ेगा । वैदिक धर्म उन नियमों को बताता है ।

पूर्व मीमांसा के अनुसार वेद नियोक्ता है । चोदनालक्षणार्थो धर्मः । पर भाष्यकार कहते हैं कि शास्त्र तो ज्ञापक है कारक नहीं । हाथ पकड़ कर न तो शास्त्र तुमसे सत्य बुलवायेगा न डंडा मार कर शास्त्र का अध्ययन करवायेगा । मुझे शास्त्र का पता नहीं था कहने से काम नहीं चलेगा । यद्यपि लड़के को पता नहीं है कि बिजली के तार को छूने से झटका लगेगा, पर क्या बिजली अपना

धर्म छोड़ देगी ? शास्त्र केवल बतला देता है फिर यह तुम पर है कि तुम चाहे उससे लाभ उठाओ या न उठाओ। शास्त्र में तो म्लेच्छ और गणिकाओं के धर्म तक का निरूपण है।

अतः प्रत्येक कार्य धर्म की भावना से करे। वाणी बोले तो सत्य बोले। नहीं बोले यह उत्तम पक्ष है। परमेश्वर के सिवाय और कोई चीज अपने मुख से निकाले ही नहीं। तत् चिंतनं तत् कथनं। पर उतने से सन्तुष्ट न रह सके तो सत्य बोले। विविक्त सेवी रहे यह उत्तम पक्ष है। यदि विविक्त सेवी न रह सके तो भक्तों के साथ ही रहे। कान कुछ भी न सुने तो यह शुभ है। यदि सुने तो भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम, कान से केवल अच्छी बात सुने। परमात्मा के विषय में कथा वार्ता सुने, शास्त्र का श्रवण करे। धर्म को ही परमेश्वर मान कर प्रवृत्ति करे। जिस काल में जिस करण की प्रवृत्ति हो उसके अनुसार उसी धर्म को उस समय प्रधान मान ले। यथा वाणी में प्रवृत्ति हुई तो सत्य को धर्म मान लिया, व्यवहार में प्रवृत्ति हुई तो अहिंसा का ही व्यवहार किया। ऐसे व्यक्ति के पास परमेश्वर आते हैं। परमेश्वर परीक्षा करके आते हैं। वे कष्ट का रूप धार परीक्षा लेते हैं। बहुत बार साधक घबराता है कि परीक्षा बहुत कड़ी हो रही है। वस्तुतः परमेश्वर यह देखना चाहते हैं कि साधक में उनकी कामना है या नहीं, जब परमेश्वर जान जाता है कि यह मेरे को ही चाहता है तो फिर हटता नहीं।

यत्रैव यत्रैव मनोस्मदीयं तत्रैव तत्रैव तव स्वरूपम्
यत्रैव यत्रैव शिरोस्मदीयं तत्रैव तत्रैव पदद्वयं ते।।

इस बुद्धि में नित्य परमेश्वर रहता है। यह श्रेष्ठ उप + आसना है। परमेश्वर स्वयं आकर ऐसा बैठ गया कि हटता ही नहीं। यह उपासना दैवी सम्पत्तियों को अपने अन्दर लाने से होती है।

* * * *

जिस प्रकार सात्विक उपासना करने वाले के लिये शास्त्र ने अभय प्रथम धर्म बतलाया उसी प्रकार सत्व शुद्धि भी आवश्यक है। यहां सत्व

का अर्थ अन्तःकरण है। आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः। अन्तःकरण की शुद्धि का उपाय बताया आहार की शुद्धि। इस तत्व को हम आज भूलते चले जा रहे हैं। प्रायः आहार का अर्थ लोग लेते हैं जो पेट में डाला जाता है। पर भाष्यकार सारे विषयों को आहार मानते हैं। कान का आहार शब्द है; नासिका का आहार गन्ध है। अतः आहार शुद्धि याने ग्राह्य विषयों की शुद्धि से अन्तःकरण शुद्ध होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में अन्न के तीन विभाग किये गये हैं। उसका स्थूल अंश तो विष्ठा बनता है, सूक्ष्म से रुधिर इत्यादि बनता है और सूक्ष्मतम अंश से मन बनता है। यथा एक ही दूध से मलाई, मक्खन और छाछ तीन भाग बनते हैं। ऐसे ही खाये हुए अन्न के भी तीन होते हैं।

अद्यते भुज्यते इति अन्नं। अन्न का अर्थ यदि विषय मानो तो अत्यन्त मोटा हिस्सा मल बनेगा। विषय में तमोगुणांश का आधिक्य स्थूलता है। सत्वगुण को हल्का बताया गया है। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श में सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण तीनों का ग्रहण होता है। वेदान्त जीवन्मुक्ति की अवस्था में शुद्ध सत्व को भी स्वीकारता है। 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो' कह कर गीता में उसका निरूपण हुआ है। पर यह विषय दूसरा है। यहां विचार है ज्ञान पूर्व काल का न कि ज्ञानोत्तर काल का। ज्ञान पूर्व काल में जहां प्रकृति रहेगी वहां तीनों गुण रहेंगे। इन्द्रियां जब कभी पदार्थ को ग्रहण करेंगी वे तीनों एक साथ आयेंगे। अत्यन्त तमोगुणी अंश अन्तःकरण में मल की मात्रा बढ़ायेगा। रजोगुण का अधिक आपादन चञ्चलता ला देगा। यदि सत्वगुण ही को इन्द्रियां अधिक ग्रहण करेंगी तो सत्व गुण आयेगा। रजोगुण से विक्षेप और तमोगुण से भार या मल आयेगा।

अतः साधक को पदार्थों से दूर रहने को कहा जाता है। एकान्त देश का सेवन करने को कहा। पदार्थों में तमोगुण अधिक होता है। क्योंकि पञ्चमहाभूतों के सत्त्व गुण से ज्ञानेन्द्रियां और तमोगुण से दृश्यमान जगत् बना। अतः जितना पदार्थों का अधिक ग्रहण होगा

उतना मल बढ़ेगा। फिर उस मल को धोने के लिये प्रवृत्ति करनी पड़ेगी। पहले कीचड़ लगाओ फिर उसे धोओ इससे तो अच्छा यही है कि कीचड़ से अलग रहो।

विविक्त सेवी लघ्वाशी बनो। थोड़ा खाओ, एकान्त का सेवन करो। थोड़ा खाओ का अर्थ है कि जितना व्यवहार अत्यन्त आवश्यक है उतना ही व्यवहार करो। शारीरं केवलं कर्म, केवल शरीर निर्वाह मात्र के लिये जितना कर्म आवश्यक है उतना ही करो। केवल शरीर से किया हुआ कर्म यहां विवक्षित नहीं है। अन्तःकरण के बगैर शरीर कर्म कर नहीं सकता। जब 'नाप्नोति किल्बिषम्' कहा तो पुण्य कर्म तो नहीं कहा। अतः इसका अर्थ केवल शरीर निर्वाह मात्र के लिये कर्म है।

भगवान् बुद्ध ने नियम किया था कि उतना ही सामान रखो जितना सिर पर उठा कर लेजा सको तो लोगों के सर की गठरी बढ़ने लगी। सब अभ्यास का खेल है। संग्रह बुद्धि बढ़ने के कारण बोझ उठाने का अभ्यास हो गया। तब भगवान् बुद्ध ने कहा यह तो बड़ी गड़बड़ हो गई। माघ पूर्णिमा के दिन भगवान् बुद्ध ने तीन चीवर ओढ़े और देखा कि शीतनिवृत्त्यर्थ पर्याप्त हैं। सब से कहा तीन से अधिक चीवर मत रखना। वय, देश, अवस्था, पात्र आदि के भेद उनकी दृष्टि में नहीं आये। पर गीता में लघ्वाशी से भगवान् ने ऐसा कोई नियम नहीं किया। केवल इतना इंगित कर दिया कि जितना कम कर सको उतना विषयों को कम करो। यदि शारीरं केवलं कर्म का अर्थ केवल शरीर निर्वाह मात्र है तो गृहस्थाश्रमी कहेंगे कि बच्चों का पेट कैसे भरेगा। भागवतकार ने लिखा है जितने से अपना पेट भरता है उतना ही अपना है बाकी चोरी है। यदि अधिक को दानादि के द्वारा निकाल दो तो बचेगा ही नहीं। मनोरञ्जनी टीका में भागवत के कथन जितना अपना जठर है का अर्थ किया कि शास्त्र अनुकूल जो अपनी आवश्यकता है। पत्नी का भरण पोषण शास्त्र ने कहा है। अतः बच्चों का पिता शब्द से,

और पत्नी का पति शब्द से आकलन करके कहा कि जब तक वे जीवित रहें 'जठरं' से उसका भरण पोषण इंगित हो गया। इसी प्रकार शारीरं केवलं कर्म से समस्त शास्त्र विहित धर्म के अनुसार परिवार का भरण पोषण आ गया।

अतः लघ्वाशी का अर्थ हुआ विषयों का कम सेवन करना। पदार्थों में भी किसी में तमोगुणांश अधिक है किसी में कम। उड़द और चावल में उड़द से चावल कम तमोगुणी है। जिन विषयों में सत्व अंश अधिक है उनका अधिक सेवन करे। तब सत्व संशुद्धि होगी। जिसका अन्तःकरण अधिक शुद्ध नहीं वह तो उपासना का अधिकारी ही नहीं। अतः खाने पीने में भी सात्विक आहार खाने से भगवान् की उपासना होती है। लहसुन प्याज खाना भी तमः प्रधानता के कारण ही छोड़ा जाता है। परमेश्वर के पास तभी बैठ सकोगे जब मल विक्षेप को छोड़ोगे।

सत्व शुद्धि आहार शुद्धि से होगी अतः आहार शुद्धि भी उपासना है।

*   *   *

उपासना जिस तत्त्व की प्राप्ति के लिये की जाती है उसे श्रुति 'एकात्मप्रत्ययसारं' पद से बतला रही है। एकात्मप्रत्ययसारं से तो श्रुति ने विधि द्वारा उस तत्त्व को बतलाया और अद्वैत पद में विधि और निषेध दोनों है। यथा मन्द अंधकार में सांप दीखता है। 'यह सांप नहीं है' भान निषेध वाक्य से हुआ पर हृदय में 'यह है' ऐसी विधि भी बैठी हुई है। वह पर ब्रह्म परमात्म तत्त्व द्वैत नहीं है कहना निषेध वाक्य है। पर 'अद्वैत' उसके स्वरूप को बतलाता है। अद्वैतवाद ही दार्शनिक दृष्ट्या वेदान्त है। अन्यवाद वेद से विलक्षण मत हैं।

वैसे तो वेदान्त सूत्रों पर जो भी टीका लिखते हैं सब अपने को वेदान्ती मानते हैं। पर उपनिषदों का समन्वय केवल अद्वैत वेदान्त में है। आचार्य शंकर के अलावा अन्य किसी ने उपनिषदों के भाष्य नहीं लिखे। क्योंकि यदि उपनिषदों का समन्वय करना पड़ता तो केवल

अद्वैत तत्व रह जाता । स्वयं श्रुति इसे 'अद्वैत' कह रही है। यथा जो व्यक्ति मन्दान्धकार में कह रहा है कि 'यह सांप नहीं है' वह जो व्यक्ति सांप देख रहा है उसकी दृष्टि को भी समझ रहा है और जो रस्सी है उसे भी समझ रहा है ।

यदि 'अद्वैत' संज्ञा न देकर उसका नाम 'एकात्मवाद' रखा जाता तो द्वैती कहता कि व्यावहारिक दृष्टि से जो द्वैत दीख रहा है उसका क्या करोगे ? अतः इसका उत्तर है कि हम एकात्मवादी नहीं हैं। अद्वैतवादी का किसी से विरोध नहीं होता । हम किसी का खण्डन नहीं करते । वेदान्त की यह विलक्षण प्रक्रिया है। वेदान्ती के सामने यदि परिणाम वादी आता है तो वेदान्ती आरम्भवाद को लेकर परिणाम वाद में जो दोष आते हैं उन्हें बोल देता है । अगर सामने का वादी नैयायिक है तो सांख्य की प्रक्रिया से उसके दोष बताता है और सांख्य वादी को न्याय की प्रक्रिया से दोष दिखलाता है ।

प्रश्न उठता है कि फिर वेदान्ती की क्या मान्यता है। उसका मान्य पक्ष ऐसा है जिसका न नैय्यायिक विरोध कर सकता न सांख्य । कार्य सत् है कि असत् ? इसमें दोनों वादी एक दूसरे का खण्डन करते हैं। अतः वेदान्ती सत् और असत् दोनों से विलक्षण कार्य का स्वरूप मानता है। इसीलिये वेदान्ती सिवाय तत्त्व के और किसी में आग्रह वाला नहीं । वह तत्त्व पारमार्थिक दृष्टि से तो अखण्ड चित् घन है पर जब व्यवहार करते हो तो मायाविशिष्ट है । अन्य वादी सदा द्वैत मानते हैं। मोक्ष में भी द्वैत, गोलोक, साकेत में भी द्वैत; कृष्ण के जितने समीप राधा बैठेगी उतने समीप तुमको बैठने को नहीं मिलेगा । कई लोग परमार्थ काल में अद्वैत भी मानते हैं और व्यवहार काल में द्वैत भी मानते हैं । अतः साधारणतया जिसे मोक्ष मानते हैं वह व्यवहार है, मोक्ष नहीं ।

अविवादं निबोध्यतां । जिस विषय में विवाद नहीं उसे जानो। निर्विवाद तत्त्व का ज्ञान वेदान्त की विशेषता है दूसरे वादी उपनिषदों

के व्यावहारिक द्वैत के अंश को लेकर बोलते हैं, पारमार्थिक अद्वैत को बोलते नहीं। उपनिषदों के अलावा अद्वैत और कहीं भी धर्म ग्रन्थों में नहीं है। यहाँ श्रुति 'प्रपञ्चोपशमं' कहती है। इसका अर्थ क्या हुआ? द्वैतवादी कहता है कि प्रपञ्च का अर्थ थोड़े से संसार को लगालो। इसी प्रकार सांख्यवादी श्रुति के 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां' में तीन गुण देखता है। यह नहीं कहता कि तेज, अप, पृथ्वी को लोहित, शुक्ल, कृष्ण कहा। वह श्रुति का अर्थ श्रुति से नहीं लगाता। पहले तय कर लेता है कि हमें अमुक बात सिद्ध करनी है, फिर उसका समर्थन श्रुति में ढूंढता है। हमारा सिद्धान्त श्रुति को देखना है कि उसमें क्या कहा गया है। हमारा सिद्धान्त युक्ति प्रधान नहीं श्रुति प्रधान है। कुछ लोग श्रुति से सिद्ध वस्तु का युक्ति से विरोध करते हैं। वे युक्ति ही युक्ति मानते हैं। उन्हें नास्तिक कहते हैं। दूसरे युक्तिवादी आस्तिक हैं जो युक्ति का समर्थन श्रुति से भी करते हैं। यदि उनके अनुकूल श्रुति हुई तो ठीक अन्यथा चुप रहे।

पर वेदान्ती केवल श्रुति देखकर निर्णय करता है कि श्रुति का तात्पर्य क्या है? श्रुति से तत्व का निर्णय करके उस निर्णीत तत्व का मंडन फिर युक्ति से भी कर सकते हैं। भाष्यकार कहते हैं कि तर्क के जाल में मत पड़ो। ब्रह्मसूत्र ने कहा 'तर्का-प्रतिष्ठानात्'। तर्क तो वकीलों की चीज है। युक्ति से तो चोर को साहूकार सिद्ध किया जा सकता है। अतः वेदान्ती अपने जीवन में बहुत बड़ा स्थान श्रद्धा को देता है। वेदान्त वाक्य ठीक ही कहते हैं। हो सकेगा तो उसके लिये युक्ति भी निकाल लेंगे, पर यदि युक्ति से जवाब नहीं दे सकते तो भी श्रुति को ही ठीक मानेंगे।

श्रुतिगतः तर्कः अनुसंधीयतां। श्रुति का मत अद्वैत है। तर्क से अनेक प्रक्रियायें उसकी सिद्धि के लिये निकालीं। उन प्रक्रियाओं से घबराना नहीं चाहिये। कोई भागत्याग लक्षणा कहता है, कोई उभय पद में भाग त्याग करता है, कोई कुछ मानता है, कोई कुछ। पर यदि सच्ची बात माननी है तो ब्रह्म को मानो बाकी तो सब खटकन्ने हैं। यथा

संस्कृत भाषा को कई लिपियों में लिखा जाता है, पर उसका अर्थ एक है। केवल लिपि का भेद है। ऐसे ही समझना केवल ब्रह्म को है। अतः अनात्मा को बटोर कर फिर उसका निषेध करना है। यया यया भवेत् पुंसः व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि सा सैव प्रक्रिया प्रोक्ता साध्वी सा च व्यवस्थितिः। न प्रतिविम्ववाद को मानो न अन्य वादों को। वे सब तो केवल मनोरञ्जन के लिये हैं। जैसे माला फेरने के लिये कई मंत्र बताये जाते हैं। पर सारे मंत्रों का विनियोग आपको पुण्य कर्म में लगाने में है। जैसे जप के अनेक मंत्र होते हैं वैसे वेदान्त की अनेक प्रक्रियायें हैं। उनमें मनोरञ्जन करते करते अद्वैत में स्थिति हो जाती है। इसी लिये इतना जोर दे रहे हैं कि अविवाद तत्व में स्थिर करना श्रुति के बल से है।

आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र भामती के कल्पतरु परिमल में कहते हैं कि सारे साधनों का समन्वय तुझ में है। 'त्वं वेदान्तैः विविधमहिमा गीयसे' यहां 'तेरा' शब्द ईश्वर और जीव दोनों में लगाना। वेदान्त तुमको जगाते हैं। पर ऐसा कथन सुरेश्वराचार्यों को जंचा नहीं। उन्होंने लिखा 'सुप्तं राजेव वन्दिभिः।' चारण लोग जब राजा को भैरवी राग गा गा कर जगाते हैं उस समय यह नहीं कहते कि अरे सवेरा हुआ उठो, वल्कि उस गीत में राजा की तारीफ करते हैं। ऐसे जब ब्रह्म की महिमा वेदान्त गाते हैं तो ब्रह्म उठ जाते हैं। ब्राह्मण बड़े बड़े कर्म करते हैं तेरे लिये। जैसे नौकर राजा के दर्पण को साफ रखते हैं कि वह अपना चेहरा देख कर खुश होवे ऐसे ब्राह्मण के अन्तःकरण में तुम [illegible]ना चेहरा देख देख कर खुश हो सको। अन्तः ग्रन्थि को प्रविलय करके योगी लोग उसका चिन्तन करते हैं। जुड़े हुए नकशे को बिखेर कर जैसे छोटे बच्चे उसे फिर से जोड़ते हैं, ऐसे उसने अपने को बिखेरा तो योगी उसे जोड़ते रहते हैं। वह ब्रह्म तुम हो। यह सारा संसार तुम्हारे लिये है। जो कुछ प्रिय है वह आत्मा के लिये ही प्रिय है। सारे वेदान्तों का पर्यवसान तुम में है।

ध्यान रखना कि अन्य सब शास्त्र विचार करते हैं दूसरों का वेदान्त विचार करता है तुम्हारा। इसीलिये वेदान्त शास्त्र में झगड़ा नहीं है। अनुमोदामहे वयम्। बच्चों के खेल से जैसे आप प्रसन्न होते हैं ऐसे सांख्य, न्याय आदि की युक्तियां सुन सुन कर हम प्रसन्न होते हैं।

* * * *

परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करके श्रुति उसके साधन का वर्णन करती है। उसको अन्तः प्रज्ञा और बहिः प्रज्ञा रहित, जागरण और स्वप्न की अन्तरालावस्था से भी भिन्न बताया। जागरण और स्वप्नावस्था की अन्तरालावस्था उपासना की है। इसी को श्रुति ने उभयतः प्रज्ञ कहा। उसके सगुण रूप का साक्षात्कार भी इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता। इसी कारण भगवान् ने अर्जुन को दिव्य चक्षु दिये और तब विराट् रूप का प्रदर्शन किया। जहां केवल मन की वासना से निर्मित पदार्थ होते हैं उसे स्वप्न कहते हैं। इन्द्रियों से ग्रहण न हो सकने के कारण वह स्वप्न की तरह हुआ। पर सत्य होने के कारण जागृत की तरह भी हुआ। अतः उभयतः प्रज्ञ कहा।

इस उभयतः प्रज्ञ उपास्य तत्व में, जैसा कि पहले बता आये हैं, उपासक की स्थिति के अनुसार भेद हो जाता है। सात्विक उपासना पर ऊपर कुछ विचार कर चुके हैं। 'अभयं सत्वसंशुद्धिः ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः' पर विचार करते हुए अभय और सत्व शुद्धि की आवश्यकता बता चुके हैं। अब ज्ञान-योग-व्यवस्थिति पर कुछ विचार करेंगे। योग शब्द का अर्थ क्या है? युजि समाधौ धातु है। अतः पतञ्जलि ने योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः के अलावा योग का कोई दूसरा अर्थ नहीं दिया। पर योग का वास्तविक अर्थ है ज्ञान के द्वारा समाधि में व्यवस्थिति। समाधि दो प्रकार की है। जड़ और चेतन। प्राणायाम, प्रत्याहार इत्यादि जड़ समाधि के साधन हैं। ज्ञान के द्वारा समाधि में ज्ञान का अर्थ अपरोक्ष ज्ञान नहीं है। क्यों कि अपरोक्ष ज्ञान

से तो ज्ञान समकाल ही मुक्ति होती है। अतः ज्ञान का अर्थ यहां पर परोक्ष ज्ञान है।

प्रायः भाष्यकार शंकर भगवत्पाद साक्षात्कार के अर्थ में विज्ञान शब्द का प्रयोग करते हैं। गीता में भी ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजं में ज्ञान और विज्ञान को अलग-अलग कहा। उपनिषदों में भी अनेक स्थलों में अनुभव पूर्वक ज्ञान को विज्ञान कहा गया है। अतः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः से परोक्ष ज्ञान को लेना चाहिये। ज्ञान के द्वारा योग में व्यवस्थिति भी सात्विक उपासना है। यदि ज्ञान का अर्थ यहां अपरोक्ष ज्ञान लोगे तो फिर यह दैवी सम्पत्ति नहीं रहेगा। तब तो ज्ञानी निस्त्रैगुण्य हो जायेगा।

भेद दृष्टि नैसर्गिक या स्वाभाविक है। बिना विचार के व्यवहार स्वाभाविक है, विचार करोगे तो व्यवहार नहीं चलेगा। यथा माँ बच्चे को पालती है तो यह नैसर्गिक व्यवहार है.। बच्चे को पालने के लिये मोह की अपेक्षा है। मोह माने अविचार। अतः माँ हिसाब नहीं लगाती कि मैं इस बच्चे को पालती हूं तो यह बड़ा होकर मुझे कुछ देगा। ऐसा विचार करेगी तो बच्चे को स्वयं न पाल कर धाय या नर्स को दे देगी। विचार व्यवहार को रोकता है। इस नैसर्गिक भेद बुद्धि का कारण अविद्या बताया गया तो उसका अर्थ केवल यह हुआ कि तुम्हारे अन्दर अभेद बुद्धि की अविद्या है। सारी भेद बुद्धियों का संग्रह करके उसका एक नाम अविद्या रख दिया गया। अविद्या का कारण कोई नहीं बताता, वह अनादि है। यथा अग्नि में गर्मी अनादि काल से है। सारे अनर्थों का कारण यह भेद बुद्धि है। जब तक यह नहीं हटेगी तब तक दैवी सम्पत स्वभाव नहीं बनेगी। इस भेद बुद्धि को परोक्ष ज्ञान दूर नहीं करता। दूर तो यह अपरोक्ष ज्ञान से ही होगा।

उपनिषद् में प्रयुक्त षद्लृ धातु का अर्थ ढीला करना भी होता है। पहले भेद-बुद्धि को शिथिल किया। उपनिषदों से ढीला करना

और अवसादन करना दोनों बनते हैं। यथा नारियल का पानी शुरू शुरू में शुद्ध जल जैसा होता है, आधे पके की स्थिति में दूधिया पानी और कोमल गरी निकलती है और पूरा पक जाने पर उसमें गरी ही गरी रह जाती है। यही तीन स्थिति यहां भी हैं। पहली स्थिति में संसार के पानी में ब्रह्म रूपी नारियल का कोई ढंग नहीं दीखता है। उपनिषद् पढ़ कर भी शुरू शुरू में स्पष्ट अभेद बुद्धि नहीं बनती। बार बार विचार करने से संसार रूपी पानी, और मलाई की तरह ब्रह्म रूपी गरी दोनों दीखते हैं। विचार करते समय संसार भी दीखता है और अभेद बुद्धि रूपी गरी भी नजर आती है। पर अभी वह गरी कच्ची है। अन्ततोगत्वा जब उपक्रम, उपसंहार इत्यादि के द्वारा उपनिषदों का तात्पर्य निर्णय करता है तो अभेद बुद्धि की ठोस गरी की तरह केवल विज्ञान आनन्द घन ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाता है। क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनम् इदं जगत् ? क्व गतं ? रस्सी का सांप कहां चला गया ? यहां क्व आक्षेपार्थक है। गम् धातु का अर्थ ज्ञान भी है। क्व गतं का अर्थ 'किस अधिष्ठान में ज्ञान हुआ ?' ऐसा भी होता है। 'केन वा नीतं' में पुनः आक्षेप है। है कौन जो इसे ले जायेगा ? इससे दूसरे चेतन के अभाव का प्रतिपादन हुआ। केन वा नीतं का अर्थ 'केन वा आनीतं' भी है। किस निमित्त से वह आया था ? कोई न तो उसे लाया था, न ले गया। रज्जु में सर्प को दिखाने वाला कौन ? कोई बनाता ही नहीं न संस्कार न वासना। संसार में संस्कार वासना के लिये अन्तःकरण की आवश्यकता है। जब अविद्या ही नष्ट हो गई तो अविद्या में रहने वाले संस्कार भी कहां रहे ? यदि कहो कि ज्ञान के बाद प्रारब्ध शेष रहता है तो 'बालानां अवबोधार्थं प्रारब्धम्' प्रारब्ध शब्द तो केवल बच्चों को समझाने के लिये है। भाष्यकार के अनुयायी अविद्या, विक्षेप शक्ति, गन्धच्छाया, लेश, मात्र इत्यादि कई शब्दों का प्रयोग प्रारब्ध को समझाने के लिये करते हैं। पर यदि अविद्या के कार्य प्रारब्ध का अनुभव हो रहा है तो लहसुन खाने के बाद बदबू

मुंह से आ रही है। जगत् का अनुभव जगत रूप से होना ही नहीं है। यदि जगत् रूप से कुछ अनुभव है तो यथा कथं चित् उसकी सत्ता मानने के लिये प्रारब्ध, वासना इत्यादि शब्द हैं।

यह संसार कहां लीन हुआ ? चीज किसमें लीन होती है ? अपने कारण में। इस जगत् का कारण कौन ? ब्रह्म ? पर श्रुति कहती है 'तस्य कार्यं न विद्यते' ब्रह्म का कार्य तो जगत् है नहीं। तो जगत् का कारण माया को मान लो। जो स्वयं ही नहीं है (मा या) वह कारण कैसे बनेगी ? यदि कहो कि श्रुति तो जगत् का कारण ब्रह्म को बताती है तो जगत् की प्रतीति जब तक है तब तक चित्त को दूसरे कारण से हटा कर ब्रह्म रूपी कारण में एकाग्र करने के लिये श्रुति जगत् का कारण ब्रह्म को बताती है। अतः समन्वय है कि इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपं बभूव। ब्रह्म मायाओं से जगत् बन गया। मायाभिः वास्तव में बना नहीं।

एष सर्वेश्वरः, एष सर्वान्तर्यामी, एष योनिः सर्वस्य बताकर अदृष्ट, अग्राह्य, अव्यवहार्य कहकर कारण रूप को भी श्रुति ने बाधित कर दिया। अतः जगत् बिना कारण हो गया। जिस प्रकार 'मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखर एष वन्ध्यासुतो याति शशशृंगधनुर्धरः' यह बांझ का बेटा मिरगी के पानी से नहाकर आकाश कुसुम को सिर में सजा खरगोश के सींग के कमान से शिकार के लिये जा रहा है इत्यादि वाक्यों से कल्पना सी बन जाती है कि कोई जा रहा है, वैसे ही अध्यास से जगत् की कल्पना है।

'इदं जगद् आत्मनि लीनं' परोक्ष ज्ञान है। 'इदं जगत् कुत्र लीनं ?' जगत् कहां गया ? था ही नहीं तो जायगा कहां। अधुनैव मया दृष्टं। दृश्य सिद्ध होता ही नहीं तो दर्शन सिद्ध कैसे होगा ? अतः 'अधुनैव मया दृष्टम्' तो साधना काल में है और समाधिकाल में वही 'अधुनैव मया अदृष्टम्' है। नास्ति का अनुभव

सब क्षणों में है । आसीत् की तो केवल स्मृति है, भविष्यति की केवल कल्पना है ।

अतः उपनिषद् को समझने से विशरण, गति, अवसादन तीनों होते हैं । विशरण का अर्थ संसार धी को शिथिल करना है । सत्संग से भेद धी शिथिल होती है। फिर रस और स्वाद आता नहीं। सारी आसुरी सम्पत्ति का मूल यही भेद बुद्धि है । कोई अपने से झूठ नहीं बोलता, न कोई अपने को स्वयं थप्पड़ मारता है । सारी भेद बुद्धि व्यवहार में है। वही अनर्थ का हेतु है । संस्कार और वासनायें भेद को लेकर चलती हैं । अभेद बुद्धि संस्कार और वासना दोनों को उड़ा देती हैं । इस भेद धी को हटा कर अभेद धी में स्थिति ही ज्ञान-योग-व्यवस्थितिः. है ।

* * * *

सात्विक उपासना के विषय में भेद ईश और अनीश को लेकर भी हो जाता है । सामान्यतः इन्द्रिय की ईश और शरीर की अनीश रूपता है । पर कभी शरीर भी ईश बन जाता है। भगवान् ने गीता में 'इन्द्रियाणां मनश्चाऽहं' कह कर के मन को इन्द्रियों का ईश कहा। विभूतियों के विषय में भेद शासक और श्रेष्ठ को ले कर होता है। यथा 'नक्षत्राणां अह शशी' में भगवान् ने नक्षत्रों का मालिक चन्द्रमा है कह कर शासक विभूति कही। चन्द्रमा स्वयं नक्षत्र नहीं है । पर 'सेनानीनां अहं स्कन्दः' में श्रेष्ठ विभूति है । इसी प्रकार 'स्रोतसां अस्मि जाह्नवी' में नदियों......जाह्नवी को कहा । 'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' में मन इन्द्रियों के अधिपति रूप से है । 'भूतानां अस्मि चेतना' में चेतना को सारे प्राणियों के शासक रूप में कहा गया है। अतः मन शासक या ईश है और इन्द्रियां अनीश हैं ।

जब बुरी गन्ध आती है तो मन कहता है भाग चलो यहां से। रसगुल्ले को देख कर लार टपकती है । यहां इन्द्रिय मन की शासक

बनीं । इसी प्रकार अध्यात्म जगत् में इन्द्रिय और मन को लेकर ईश अनीश का भेद बनता है। मन की अपेक्षा बुद्धि शासक है। अपने शरीर को नुकसान पहुंचाने वाली जीभ है। इस में कर्मेन्द्रिय वाक् और ज्ञानेन्द्रिय रसना का सम्मिश्रण है। यद्यपि ये दो इन्द्रियां साथ साथ रहती हैं पर दोनों ऐसी हैं कि नुकसान करके स्वयं बच जाती हैं। यदि आप हाथ से किसी को थप्पड़ मारो तो वह हाथ को पकड़ कर मरोड़ देगा। चोरी कर के भागो तो पुलिस पैर में गोली मारती है। पर गाली जीभ देती है तो जीभ को कोई नहीं मारता। जूते सर पर पड़ते हैं। खाने के लिये जीभ तड़पाती है, फल पेट को भोगना पड़ता है। इसी लिये जिह्वा पर वश पाना सबसे अधिक महत्व का है। यदि वाणी पर नियन्त्रण कर लिया तो बाकी सब नियन्त्रण हो जायगा। 'यतवाक्कायमानसः' में सबसे पहले वाक् को बतलाया। शास्त्र ने यह नहीं कहा कि जो मन में आया वह झट से बोल दो।

'योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्‌निरोधः' योग का प्रथम द्वार वाणी का नियन्त्रण है। भगवान पतञ्जलि ने अहिंसा को प्रथम माना, क्यों कि अष्टांग योग में यम को प्रथम कहा और यम का प्रथम अंग अहिंसा को बतलाया। मनु ने सब से अधिक जोर धृति पर दिया। धर्म के दश लक्षणों में उन्होंने सर्व प्रथम धृति कही। श्रुतियों ने सब से अधिक जोर सत्य पर दिया है। 'सत्येन लभ्यः तपसा', 'सत्यमेव जयते नानृतं' इस प्रकार श्रुति ने सत्य पर जोर दिया। पर सत्य का तात्पर्य गूढ़ था। सत्य का अर्थ है जो सबके लिये हितकर है। भगवान् भाष्यकार ने सत्य का कई अंगों में निरूपण किया है। महाभारत में भी कहा है। 'सत्यं लोकहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्'। अतः 'योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्‌निरोधः', जो वाणी पर निरोध नहीं रख सकता वह सत्य नहीं बोल सकता; यथार्थ बोलने वाला हो सकता है ऐसा शांकर मत ही वेदानुकूल है।

निरोध का अर्थ है नितरां रोधः पूरी तरह से रोकना। यदि बिना बोले काम चल सके तो कभी वाणी से बोलो मत। आजकल बोलना सभ्यसूची (Fashion) है। शान्ति से दो आदमी चुपचाप बैठे रहें यह आजकल हो नहीं सकता। सूर्यास्त को चुपचाप बैठ कर दो मित्र देख नहीं सकते। आजकल संस्कृति के ऊपर पहला फावड़ा अखबार ने चलाया, उसे आधा खतम किया चलचित्र ने, और तीन चौथाई खतम किया रेडियो और ट्रान्सिस्टर ने। अब तो लोग कीर्तन भी करते हैं तो बाइस्कोप की ट्यून में। गौतम ने एक निर्बाध नियम बताया था कि 'एकं ज्ञानं अपरज्ञानस्मारकम्'। यदि सिनेमा की ट्यून (Tune) सुनोगे तो सिनेमा की याद नहीं आये, ऐसा हो नहीं सकता। धर्म कार्य में भी सिनेमा को भुलाना नहीं चाहते हैं। एकान्तशीलता को ट्रान्सिस्टर कम कर रहा है। पति पत्नी तक में एकान्त सेवन कम हो गया।

हम लोगों की वाणी का निरोध कम होता जा रहा है। हम बिना बोले शान्ति से रह नहीं सकते। शान्ति से बैठने का अभ्यास करना चाहिये। एक बार देश के एक बड़े नेता के मरने पर उनकी शोक सभा में तीन मिनट तक शान्ति रखवाई गई तो लोग कहने लगे कि समय बहुत लम्बा था। हम नित्य कथा करने के पूर्व शान्ति पाठ करते हैं जो केवल दो मिनट का होता है तो लोग उसी में शान्ति से नहीं बैठ सकते। पर यदि कहीं पर जोर से कीर्तन हो रहा हो तो लोगों का मन लग जाता है। अतः भाष्यकार ने वाणी के निरोध को योग का प्रथम द्वार कहा। वाणी है तो अनीश पर आज बन गई है ईश। अतः नियम बनाना चाहिये कि यदि बिना बोले काम चल सके तो नहीं बोलना। यदि दो वाक्य बोलने से काम चल सकता है तो चार वाक्य मत बोलो। शब्दों को तोलो, यदि चार शब्दों से काम चल जाय तो आठ शब्द मत बोलो और चार अक्षर के शब्द सें काम चल जाय तो आठ अक्षर का शब्द न बोलो। इसका यह फल होगा कि बुद्धि का शासन इन्द्रियों पर बढ़ता ही चलेगा।

हमने इन्द्रियों को अनादि काल से छूट दे रखी है। अब उन्होंने हम पर अधिकार जमा लिया। यदि बीच-बीच में उन पर अपना अधिकार जमाते रहोगे तो तुम्हारा नियन्त्रण बढ़ता चलेगा। शरीर का शासन इन्द्रियां करती हैं, इन्द्रियों का मन, और मन का बुद्धि। मन है लगाम और बुद्धि है सारथी। तुमने सारथी को सुला दिया है, और मन को अधिकार दे रखा है कि वह जो कुछ चाहे करे। अतः मामला उलटा हो गया।

अपने अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने प्रजातंत्र को निकृष्ट कोटि का राज्य माना है। इसका तात्पर्य था कि प्रजातंत्र का कोई अधिपति नहीं होता। मालिक न होने से मुनीम को भय नहीं होता वैसे ही प्रजातंत्र में मन्त्री को भय नहीं होता। भारतीय गणतंत्र में मुनीम ही मुनीम हैं, मालिक नदारद। आजकल मंत्री लोग चोर नहीं हैं। चोरी तो तब होती जब राज्य किसी की सम्पत्ति होता। जो किसी की चीज नहीं उसे वे अपने घर में रख रहे हैं तो चोरी कहां हुई ?

जीव रूपी राजा ने मन आदि मंत्रियों को राज्य दे रखा है। इन मंत्रियों ने जीव को नजरबन्द कर रखा है। यद्यपि हम अपनी सत्ता ब्रह्म से ले रहे हैं पर मन इत्यादि ने ब्रह्म को कैद में डाल रखा है। वह पुर्यष्टक में कैद है। पुर्यष्टक क्या है ? पंचमहाभूत, कर्मेन्द्रियां, प्राण, ज्ञानेन्द्रियां, अन्तःकरण, अविद्या, काम, कर्म, यही सब माया के फन्दे हैं जिनमें ब्रह्म पड़ा हुआ है। यह ब्रह्म रूपी जीव इस पुर्यष्टक में बैठा हुआ महान् दुःख भोग रहा है। अन्त में स्वरूप ज्ञान आता है। विद्याविद्ये प्रभोः शक्ती भानोश्च्छाया प्रभोपमे। जैसे छाया और प्रकाश दोनों सूर्य की शक्ति हैं, वैसे ही ज्ञान व अज्ञान दोनों ईश्वर की ही शक्ति हैं। वेद का चरम सिद्धान्त आत्म ज्ञान है। वेद जीव को समझाता है। पर वह सुनता ही नहीं। मन इन्द्रियों को खींचकर दूसरी तरफ लगा देता है।

साधक को चाहिये कि मन में और इन्द्रियों में झगड़ा करा दे। मन यदि बोलना चाहे तो जीभ से कहे चुप बैठ। यदि मन ने

कहा गाना सुनना है तो कान से कहो क्यों परेशानी मोल लेते हो। मन और इन्द्रियों में इस प्रकार झगड़ा करा कर दोनों को निकाल बाहर करना है। जो असली ईश है वह इस समय अनीश बना हुआ है। उसे पुनः अपना राज्य इन मंत्रियों से वापस दिलाना है। अतः वाणी का नियन्त्रण, शब्दों को तोलना, तुम्हें शासक बनाने की प्रथम सीढ़ी है।

* * * *

यदि अभेद दृष्टि बन जायेगी तो त्रिशूल की मार से बच जाओगे। अतः जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों का विचार करो। स्वप्न में सूक्ष्म देह प्रधान है, सुषुप्ति में कारण देह प्रधान है, और जागृत में स्थूल देह प्रधान है। इन तीनों में जो स्फुटता है उसमें संवित् या ज्ञान अपनी जंभाई लेता है, अपने को फैलाता है। संवित् का यह विजृम्भण केवल तुम्हारे अन्दर ही नहीं बल्कि विष्णु से लेकर चींटी पर्यन्त वही संवित् अपने को फैलाये हुए है। जगत् के साक्षी रूप से संवित् रहता है। जिस प्रकार लोक में साक्षी के बगैर सामान्य बात भी सिद्ध नहीं होती ठीक उसी प्रकार सारे जगत् की सिद्धि करने वाली साक्षी संवित् है। यदि विष्णु की सिद्धि होनी है तो उसी साक्षी से होगी और चींटी की भी सिद्धि उसी साक्षी से होगी। सारे पदार्थों की परिसमाप्ति उसी साक्षी रूप परमेश्वर में है। जब तक साक्षी प्रवृत्त नहीं होता तभी तक परिश्रम या हिलना डुलना है। यथा अंधेरे में घड़ा नहीं दीख रहा है तो तेल डालकर लालटेन जलाते हो, चश्मा पहनकर देखते हो। परिश्रम तभी तक था जब तक घट का स्फुट ज्ञान नहीं हो गया। ज्ञान से परिश्रम का अन्त हो गया। सारी प्रवृत्ति परमेश्वर में समाप्त हो जाती हैं। सारी प्रवृत्तियां परमेश्वर में पहुँचने तक हैं। जहां साक्षी में स्थित हुआ चेतन विश्राम घाट पर पहुँच गया।

आज हमने इतने संस्कार बना रखे हैं कि एक को जानते न जानते दूसरे को जानना चाहते हैं। पर प्रत्येक ज्ञान की प्राप्ति में

विश्रान्ति का अनुभव अवश्य होता है। उसमें स्थिति न रखने से आनन्द का उल्लास नहीं हो पाता। साक्षी से भिन्न किसी प्रकार भी आनंद नहीं है। यथा तीनों शूल त्रिशूल के एक ही दंडे में हैं। साक्षी भाव को छोड़ने पर अनेकता है, और साक्षीभाव को पकड़ने पर एकता है। एकता को पकड़ने से त्रिशूल भेदेगा नहीं। अनेकता को पकड़ने से त्रिशूल की मार खानी पड़ेगी। हम इस अनेकता को छोड़ते क्यों नहीं हैं? क्यों कि भ्रान्ति से उसको छोड़ने में भय मान रखा है। यदि सारा संसार मिथ्या है तो आत्म ज्ञान प्राप्त करने पर रहेगा क्या? इस प्रश्न में जगत् सत्यत्व की बुद्धि ही प्रतिबन्धिका है। संसार को सत्य मान कर ही हम संसार को नहीं छोड़ पाते। यहां कुछ है, यह जब तक भाव है, तब तक इसको नहीं छोड़ सकते। पर संसार में सत्य ही कुछ है नहीं।

भेद धी का आधार भी विचार से अभेद धी ही है। जिस मैंने स्वप्न देखा था वही मैं जागृत का अनुभव कर रहा हूं। जिस मैंने कल ५०० रु० कमाया था वही मैं आज घी खाऊंगा। यहां 'मैं' के विषय में अभेद बुद्धि है। इस समय भी हमारा सभी काम अभेद बुद्धि से चल रहा है। भेद बुद्धि के मान लेने मात्र से अनर्थ हो रहा है। अनर्थ का कारण छुडाकर अभेद धी अनर्थ से बचायेगी। सीपी में चांदी-दीख रही है तो क्या वह चांदी उसके पास जाने से कहीं चली जायेगी? जिस प्रकार सीप के अन्दर दिखने वाली चांदी को सीप बुद्धि द्वारा निवृत्त किया उसी प्रकार अभेद दृष्टि से भेद धी को रोको। सर्प के रूप में दीखनेवाली रस्सी से जो अनर्थ है उसे अधिष्ठान रूप रस्सी को देखकर दूर करते हो। ऐसे ही संसार में अभेद धी से प्रवृत्ति करने से अनर्थ बुद्धि हट जाती है। तब साक्षी में विश्रान्ति हो जाती है।

तुम्हें ५०० रु० मिले। यदि तुमने जेब में रख लिये तो विश्रान्ति हो गई। पर यदि कहीं तुम्हारे मन में आ गया कि पीछे चोर लगे हुए हैं तो रुपये को अपना समझ कर भी विश्रान्ति

नहीं मिलेगी। इसी प्रकार अभेद ज्ञान तो सर्वदा ही रहा, पर विश्रान्ति न होने के कारण वह फिर फिर हाथ से निकल जाता है। प्राप्त होने पर भी नहीं प्राप्त होने की भावना है। ज्ञान की प्राप्ति होने पर भी ज्ञान को चुराने वाले चोरों को सोचने से दूसरा बवंडर आ जाता है। लये संबोधयेत् चित्तं, विक्षिप्तं शमयेत् पुनः सकषायं विजानीयात, समं प्राप्तं न चालयेत्। समावस्था को प्राप्त होकर फिर उसे भेद दृष्टि से न चलाये। सारी विश्रान्ति को प्राप्त करके भी फिर विषमता में जाता है। समता तो इस काल में भी प्राप्त है, पर विषमता को बनाते चले जा रहे हैं। अतः समता हाथ में रहती हुई भी भागती सी दीखती है।

इस जीव के त्रिशूल क्या हैं? अन्तःस्थ गुणों से स्वाभाविक प्रवृत्ति होना ही जीवता है। जो शरीरत्रय की तरफ दृष्टि करे, उन में अहंता करे वही जीव है। वस्तुतः शरीर त्रय की प्राप्ति तो उसे तीन काल में हो नहीं सकती। उनमें अहन्ता की दृष्टि करना ऐसा ही है जैसा कि कुन्ती के पुत्र कर्ण ने अपने को सूत पुत्र शूद्र मान लिया था। इसी प्रकार ब्रह्म का देहत्रय में आत्माभिमान करना ही जीवत्व है। देह त्रय यदि प्राप्त होता तो उसे हटाने के लिये बड़े प्रयास की आवश्यकता पड़ती। पर उनकी प्राप्ति तो हुई ही नहीं है। हो सकती भी नहीं। ब्रह्म को परिच्छिन्न बनाने वाली कोई चीज हो नहीं सकती। केवल भ्रम से मैं परिच्छिन्न हूं, ऐसा मान रखा है।

हजार हजार के नोटों को इकट्ठा करके एक पेटी में ५०,००० रु० बन्द करके अपने को हजार पति मानते हो। ज्यों ही सरकार ने उन नोटों को अमान्य (demonatisation) करके उनका चलना बन्द कर दिया, तो कहते हो मैं लुट गया। पूछो किसने लूटा? सरकार ने लूट लिया। सरकार तो तुम्हारे घर नहीं आयी। तो जिन नोटों की कीमत कल तक थी वह नहीं रही। पर क्या सरकार पदार्थ की सच्ची कीमत घटाने की सामर्थ्य वाली है? यदि सरकार यह कानून बनादे कि पानी से प्यास नहीं बुझेगी तो क्या पानी से प्यास बुझना बन्द हो

जायेगा ? पानी की कीमत कभी नहीं घटेगी । वह सदा प्यास बुझायेगा । पर उन नोटों में सच्ची कीमत थी ही नहीं । तुमने मान रखी थी । वैसे ही यदि जीव को वास्तविक शरीर की प्राप्ति होती तो उसे हटाने में दिक्कत थी । पर यहां तो हमने केवल मान रखा है कि सर्वव्यापक ब्रह्म देह में बंध गया । यथा १००० रु० को नोट में मान रखा था । देहत्रय में मूल्यता मान रखी है । अभी मानता है कि देहत्रय से ही मेरी सत्ता है । पूछता है कि शरीर नहीं रहेगा तो क्या रहेगा ? तुम रहोगे । शरीर को मूल्य तुमने दे रखा है । जिस शरीर की इतनी बड़ी कीमत है वही शरीर जब तुम से रहित हो जाता है तो घर में रखने के योग्य नहीं रहता । उस शरीर से तुम्हें कीमत नहीं मिलती, तुम उसे कीमत देते हो ।

अज्ञान रूपी लोहे से बना हुआ यह संसार का त्रिशूल बड़ा तीक्ष्ण है । यदि इसमें सत्य दृष्टि न रखी तो फिर यह किसको कष्ट देगा । शरीर मैं हूं, यह मान लिया । अतः शरीर के कष्ट से दुःखी होना पड़ता है । नोटों की कीमत मान ली, अतः उनकी मूल्यहीनता से दुःखी हो गया ।

इस गुणत्रय के त्रिशूल को लांघ जाना है । त्रिशूल को लांघने में सफल तभी होगा जब डंडे को पकड़ लेगा । तोप का गोला दो मील आगे गिरता है । यदि तुम दो मील के अन्दर डेढ़ मील पर आजाओ तो बच जाओगे । यदि तोप से दूर भागोगे तो तोप वाला भी भाग कर आसकता है । पर यदि तुम उसकी तरफ चले गये तो वह तोप तुम्हारा कुछ न बिगाड़ सकेगी । हम संसार में युद्ध से दूर भागना चाहते हैं तो दूसरे कष्ट आजाते हैं । कष्टों से दूर न भागना । गोले अनेक हैं पर तोप एक है । यदि तोप की तरफ बढ़ गये तो कोई कष्ट नहीं । यदि साक्षी की तरफ चले गये तो कष्ट कुछ नहीं बिगाड़ सकते । भागने तक कष्ट हैं ।

मान लो शरीर में फोड़ा हो गया । उसकी पीड़ा मेरे ज्ञान के आश्रित है । पीड़ा का अनुभव इस लिये हो रहा है कि मैंने उसे

सत्ता दे रखी है । मेरी सत्ता से अनुप्राणित फोड़ा मेरे को क्या कष्ट देगा ? मैं उसका ज्ञाता हूं । मेरे बगैर फोड़े की कोई सिद्धि नहीं । कष्ट की सिद्धि तो शरीर के साक्षी से हैं । असली भी फोड़ा साक्षी की सत्ता से ही पीड़ा दे सकता है । यथा बच्चा माँ की गोद में लेटा माँ को ही लात मार रहा है ।

अतः कहा कि समभाव को प्राप्त करके फिर हिले डुले नहीं । हम इस ज्ञान की कीमत को नहीं समझते इस लिये चिल्लाते हैं । गुरु आत्मा रूपी हीरा सब को देता है । पर यदि वह ज्ञान साधारण व्यक्ति को मिला तो वह उसे भी घड़े और कपड़े के ज्ञान की तरह समझता है । 'न इह नाना अस्ति किंचन' पर बुद्धिमान व्यक्ति समझता है कि यह हीरा धारण करने के लिये दिया गया है । समं प्राप्य क्षणमात्रमपि न विचालयेत् । जब गुरु ने इस ज्ञान को दिया तो सारे व्यवहारों में होने वाले दुःख का निवारण करने के लिये दिया । अतः साक्षी रूप बन कर आत्म ज्ञान रूपी हीरक से कभी अलग मत हो ओ ।

* * * *

इस प्रकार सात्विक उपासना करके दैवी सम्पत्ति को अपने अन्दर लाना है । जो इसमें असमर्थ हैं उनके लिये क्रिया प्रधान उपासना है । दैवी उपाय में मन की शुद्धि प्रधान थी । स्वयं देव बनना सात्विक उपासना है । दैवी गुणों को अपने में लाना यह उत्तम सात्विक उपासना है । राजस उपासना में क्रिया की प्रधानता है ।

यह दूसरी उपासना परमेश्वर के प्रतीक रूप में किसी देवता ब्रह्मा, विष्णु आदि की उपासना है । अपने में शुद्धदेव का ध्यान करना यह पहली उपासना थी । वह किसी प्रतीक की नहीं थी । मूर्ति में देवता को देखना यह दूसरी उपासना हुई । शिला में मूर्ति पहले से है । शिल्पकार उसे प्रकट करता है । ऐसे ही अपने अन्दर की आसुरी सम्पत्ति को तराश देने से सात्विक दैवी सम्पत्ति प्रकट हो जाती है । विक्षेप वाले चित्त में रजोगुण के कारण 'अभयं सत्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' बन नहीं

पाते। अतः राजस विक्षेप को हटाने के लिये किसी देवता को प्रतीक बना कर उसकी उपासना है।

भगवान् का चतुर्भुज रूप एक प्रतीक है। आज कल लोग भगवान् के काल्पनिक चित्र बनाकर चलचित्र के अभिनेताओं के जैसे रूपों को तिथिपत्रक में से देख देखकर उसी का ध्यान करते हैं। इससे फायदा नहीं होता। महान् रजोगुणी, तमोगुणी भावों वाले चित्रों की उपासना करने से तुम में भी वैसे ही भाव उत्पन्न होंगे। चलचित्र के गाने की तर्ज में यदि भजन गाया जायगा तो सत्वगुण न बढ़ कर रजोगुण पैदा होगा। जब मनुष्य कहते हैं कि परमेश्वर के जैसी मर्जी आये वैसे रूप का ध्यान करो तो शास्त्र के नियम भुला दिये जाते हैं। भगवान् के जैसे रूप का ध्यान करोगे वैसे ही बनोगे। यदि रूप राजस और तामस होंगे तो तुम भी राजस और तामस ही बनोगे।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इत्यादि शासक रूप से परमेश्वर के रूप हैं। इन प्रतीकों के देवता नित्य और नैमित्तिक होते हैं। नित्य देवताओं का पद नित्य है। इन्द्र, वरुण, ब्रह्मा, रुद्र आदि ये पद हैं। इनमें नये-नये अधिकारी आते जाते हैं। पुराणों में बतलाया है कि अगले कल्प में कौन ब्रह्मा बनेंगे, कौन इन्द्र बनेंगे। पुराणों में देवताओं को कभी ब्रह्मज्ञानी बतलाया कभी अज्ञानी। जैसे किसी समय आपके राष्ट्रपति हिन्दू हो सकते हैं किसी समय मुसलमान। ऐसे देव पद में भी भिन्न-भिन्न लोग आते रहते हैं। जब तक वे उस पद में रहते हैं उनमें परमेश्वर की विशेष शक्ति होती है। तपस्या या उपासना से उन्होंने उस शक्ति का विकास कर लिया है। जब तक वे उस पद पर रहेंगे वह शक्ति भी उनमें रहेगी। ऐसे ही पूजा के लिये स्थापित परमेश्वर की मूर्ति में मंत्र और यज्ञ के द्वारा विशेष शक्ति का विकास होता है। जब तक वह मूर्ति रहेगी उसकी पूजा इत्यादि के द्वारा उस शक्ति का विकास होता ही रहेगा। जब उस पद से हट गये, खंडित हो गये, प्राण शक्ति का उपसंहार हो गया, तो उसे गंगाजी में बहा देते हैं। यथा

दुर्गा पूजा के अवसर पर दुर्गा की मूर्ति बना कर उसकी पूजा की, फिर उसे प्रवाहित कर दिया। मनुष्य में भी इन शक्तियों का विकास होता है। कालान्तर में जब वह शक्ति खतम होगई तो फिर वैसा ही सामान्य होजाता है। यथा परशुराम में जब ईश्वर की शक्ति थी तो २१ बार क्षत्रियों का नाश कर दिया। जब परमेश्वर की वह शक्ति उनमें नहीं रही तो एक साधारण बात में मुंह की खानी पड़ी। ऐसे ही महाभारत के युद्ध में श्रीकृष्ण को इतने दिव्यास्त्र लगे पर कुछ नहीं हुआ। जब भूतल पर उनका काम समाप्त हो गया तो शक्ति सिकोड़ ली गई। तब व्याध का एक बाण जीवन को समाप्त करने को काफी था। भगवान राम सारे समुद्र को पुल बनाकर लांघ गये। प्रारब्ध कार्य की समाप्ति के बाद सरयू में डुबकी लगाते ही उनकी मृत्यु हो गई। ठीक इसी प्रकार देवता की उपास्यता तभी तक रहती है जब तक उसमें परमेश्वर की शक्ति का विकास है।

पौराणिक कथा है कि एक बार इन्द्र अपने आसन पर बैठा था। भृगु पृथ्वी में यज्ञ करा रहे थे। देवता मंत्र के अधीन होते हैं। भृगुजी के आवाहन करने पर इन्द्र को पृथ्वी में आना पड़ा। जब यज्ञ भक्षण करके लौट रहे थे तो एक चींटा उनके कपड़े पर चढ़ गया। अपने सिंहासन पर जाकर इन्द्र बैठे तो उन्होंने देखा कि मर्त्यलोक का चींटा मेरे आसन पर आ गया। वह चींटा देवलोक पहुंचा तो देशकाल के प्रभाव से उसका सत्त्वगुण बढ़ गया। अतः इन्द्र के मन की बात वह फौरन समझ गया। वह चींटा हंस पड़ा। इन्द्र ने पूछा कि क्यों हंस रहा है तो कहने लगा कि तुझे देख कर हंस रहा हूं। तू यद्यपि इन्द्र पद पर पहुंच गया है परन्तु अभी तक तुझे विचार नहीं आया। अरे देवराज इन्द्र! जिस सिंहासन पर तू चढ़ा है उस पर मैं सात बार बैठ चुका हूं। तू क्या इसका अभिमान करता है। मुझ में पारमेश्वरी शक्ति आयी तो मैंने भी उसे अपनी शक्ति समझ लिया था। तू भी वही दुहरा रहा है। इस जगदम्बा के विधान पर मुझे हंसी आ गई।

शक्ति के रूपों को चण्डी पाठ में गिना कर तीन-तीन बार प्रत्येक के अन्त में 'नमस्तस्यै' कहा गया है। इसका तात्पर्य यही है कि स्थूल जगत्, सूक्ष्म सृष्टि एवं अज्ञान रूप कारण में जो भी क्रिया हो रही है वह सब माँ से ही है। मैं काली की शक्ति से चल रहा हूं, मेरा कुछ भी नहीं है। आजकल लोग चण्डीयाग में आहुति देकर उठते हैं तो समझते हैं कि उन्होंने भगवती के ऊपर बड़ी कृपा कर दी है। आपको पूजा रोज रोज इसीलिये करनी पड़ती है, कि एक बार भी पूजा ठीक से नहीं करते।

युधिष्ठिर ने चार अक्षर का एक पाठ सुना 'सत्यंवद'। इन चार अक्षरों को सीखने में उसे तीन दिन लग गये। तीसरे दिन गुरु जी ने पूछा कि पाठ सीखने में इतनी देर क्यों लग रही है। विद्वानों का कहना है कि यदि तीसरा दिन भी उसे पाठ सीखने के लिये पूरा मिल जाता तो वह फिर 'अश्वत्थामा हतः' न कहता। 'या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः' इस मंत्र से पूजा यदि एक बार भी ठीक से हो जाय तो उसके बाद दूसरी बार पूजा की आवश्यकता नहीं होती। यदि वेदान्त का श्रवण सकृत् भी ठीक हो जाय तो फिर कभी सुनने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

अतः इन्द्र से उस चींटे ने कहा कि मेरे अन्दर विचार जागृत नहीं हुआ इस कारण मैं चींटा बना हूं। हम शक्ति को अपनी मान बैठे हैं अतः स्वरूप से गिर जाते हैं। चाहे आप राजा हों चाहे भिखारी, शक्ति सब परमेश्वर की है। मदनमोहन मालवीय जी में भीख मांगने की पारमेश्वरी शक्ति थी। जिसकी शक्ति से इन्द्र इन्द्र बना है उसकी तरफ दृष्टि की जाय तो फिर जन्म न लेना पड़े। इन्द्र का अभिमान उस चींटे की बात सुन कर भंग हो गया था।

अतः नित्य देवों के पद नित्य हैं व्यक्ति नित्य नहीं। पारमेश्वरी शक्ति से उस पद को चला कर कई व्यक्ति उस शक्ति के खतम होते ही उस पद से गिर गये। यथा पंखा बिजली से चला, जब बटन का खटका बन्द कर दिया तो बिजली वापस बिजलीघर चली गई। वही

जीव पारमेश्वरी शक्ति के विकास से इन्द्र बना। शक्ति संकोच से वही जीव चींटा बन कर घूमता रहा, फिर कोई पूछने वाला नहीं। पारमेश्वरी शक्ति का विकास सात्विक मूर्ति का ध्यान करके होता है। रजोगुणी, तमोगुणी उपासना से रजोगुणी और तमोगुणी बनोगे। अतः देवता की उपासना करो तो नित्य देवताओं की यथा विष्णु, शिव की उपासना करो।

*　　*　　*　　*

नैमित्तिक देवता का स्वरूप निमित्त पर्यन्त चलता है। जब तक कुल रहता है कुल देवता रहते हैं। ग्राम के निमित्त से ग्राम देवता हैं। जब तक स्थान रहता है स्थान देवता होते हैं। राजस उपासना में रजोगुण की प्रधानता है। रजो रागात्मकं विद्धि। काम क्रोध को उत्पन्न करने वाला रजोगुण है। काम या आसक्ति की प्रधानता में फलकामना की प्रधानता होती है। जहां फलकामना की प्रधानता है वहां सात्विक उपासना बनती ही नहीं। जहां परमेश्वर से भिन्न किसी भी पदार्थ को प्राप्त करने की कामना है वहां सत्व बनता नहीं। यदि परमेश्वर साधन है संसार की कामना की पूर्ति के लिये तो वह साध्य बनता नहीं। आप्तकामस्तु आप्तकामः। आप्तकाम तभी बनता है जब अन्य कामना समाप्त हो चुकीं।

रागात्मिका उपासना में बाह्य क्रिया पर जोर है क्योंकि बाह्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये क्रिया आवश्यक है। परमशिव की उपासना केवल भाव से हो सकती है। संसार के पदार्थों के लिये भाव काफी नहीं, वहां बाह्य क्रिया आवश्यक है। जिसे संसार के पदार्थों की कामना है उसे अति दीर्घ काल तक पुण्यादि में प्रवृत्त होकर तब विचार द्वारा वैराग्य करना पड़ेगा। चूंकि शास्त्र ज्ञापक है वह सकाम व्यक्ति के लिये रजोगुणी उपासना बताता है। कुछ लोग पूछते हैं कि बिना राग के संसार का काम कैसे चलेगा? यदि डाक्टर को पैसा पहुंचना है तो बीमार बनना पड़ेगा। लेकिन ऐसा तो नहीं कहते हो कि ताकि

डाक्टर भूखा न मरे इसलिये बीमार पड़ना चाहिये। तो संसार को चलाने के लिये क्यों राग रूपी बीमारी में फंसते हो ?

विषयान् विषवत् त्यज। विष तो एक बार मारता है विषय बार-बार मारते हैं। उन्हें सुख का हेतु समझ एक विषय मिला तो दूसरे की तरफ दौड़ता है फिर तीसरे की ओर। थोड़ी देर बाद फिर जैसे का तैसा। विषयों में जो सत्य भावना से प्रवृत्ति करेगा वह रजोगुण प्रधान होगा। देवताओं की उपासना में शास्त्र ने प्रत्येक देवता की उपासना के भिन्न-भिन्न फल बतलाये हैं। इस का कारण है कि सकाम व्यक्ति उन फलों की प्राप्ति के लिये ही प्रवृत्ति करता है। यदि फल की प्राप्ति न हो तो उपासना में प्रवृत्ति ही नहीं करेगा। आध्यात्मिक क्षेत्र में मन और बुद्धि की परिस्थिति को देखकर अधिकार बनता है। अक्सर यह देखा जाता है कि साधक जो साधन करना चाहिये उसे करता नहीं। और जिस साधन से फल नहीं होता उसे करता है। परिस्थिति यह है कि दाल भात रुचता नहीं और हलुवा पूरी पचती नहीं। साधन के क्षेत्र में सत्वगुणी उपासना तब कर सकते हो जब रजोगुणी कामना को छोड़ दो। यदि कामना छूटती नहीं तो सकाम कर्म के नियम का पालन करो। ध्यान की प्रक्रिया सीखे वगैर ध्यान करना, जप करना सीखे बगैर जप करना आज कल का फैशन है। यह ऐसा ही है जैसा कि तैरना सीखे वगैर पानी में कूदना।

जीव संसार समुद्र में कूद जाता है, पर तैरना नहीं जानता। जैसे समुद्र में कूदा हुआ व्यक्ति खारे पानी को पीता रहता है विषय रूपी जहर को वह संसार में पीता रहता है। संसार समुद्र में तैरने की प्रक्रिया विषय रूपी जल से अपने को बचाना है। संसार समुद्र में तैरना चाहते हो तो पानी पियो मत, जल में केवल हाथ पैर मारो। उपासना करते हुए विषयों से व्यवहार करें पर विषयों को अपने अन्दर न लें। व्यवहार तो विषयों से करें पर अन्दर परमेश्वर को लें। जिस चीज की कामना होती है वही अपने अन्दर जाती है। आप यदि परदेश चले गये तो अपने लड़के की याद आती है। आपको अपने नौकर के लड़के

की याद नहीं आती क्यों कि नौकर के लड़के के प्रति आपका राग नहीं है ।

इस राग रूपी पदार्थ का त्याग जब तक नहीं करेगा तब तक आगे नहीं बढ़ेगा । अतः गीता में राजस उपासना के दो नाम दिये । यक्ष-रक्षांसि राजसाः । यक्ष की विशेषता है धन इकट्ठा करना । यहां कामना को ही यक्ष कहा । राक्षस से क्रोध को बताया है । अतः काम और क्रोध से उपासना में प्रवृत्त होना राजस उपासना है । मुझे नौकरी मिले, यह काम है । मेरा दुश्मन हार जाय, यह क्रोध है । अपने लिये वस्तुएं चाहने वाला, राजस उपासना में काम से प्रवृत्त होता है । इसी कारण परीक्षा के समय मन्दिरों में विद्यार्थियों की भीड़ होती है । परीक्षा के आगे पीछे विद्यार्थी मन्दिरों में कम जाते हैं । यदि कामना के वश न होकर परमेश्वर की दृष्टि से मन्दिर जाया करते तो नित्य जाते ।

राजस उपासना के बाद भूत प्रेतों की उपासना को भगवान् ने तामस उपासना बतलाया है । इस पर आगे प्रकाश डाला जायगा ।

* * *

सात्विक राजस और तामस उपासना का भेद यह है कि सात्विक उपासना मानस उपासना द्वारा अपने में दैवी सम्पत् लाना है । सात्विक उपासना में अन्तःकरण में उन वृत्तियों की प्रधानता है जिसमें परमेश्वर का प्रादुर्भाव हो । राजस उपासनाओं में बाह्य उपासनाओं पर जोर दिया गया है । क्योंकि अभी तक अन्तःकरण में कामनाओं के कारण पूरी शुद्धता नहीं आयी । इस राजस उपासना को साधारण व्यक्ति भी कर सकता है । तमोगुणी उपासना भूत प्रेत की उपासना है । देवताओं आदि की उपासना में बाह्य आचार और शुद्धि की आवश्यकता पड़ती है । बाह्य स्थान और कर्म के अंग भूत सभी द्रव्य शुद्ध होने चाहियें । तमोगुणी लोग बाह्य शुद्धि भी रखने में असमर्थ होते हैं । सात्विक उपासक मन तक को शुद्ध रखते हैं । मन में भाव ठीक होगा तो बाह्य आचरण भी ठीक रहेगा । भगवान् को सड़ा गला फल कब

चढ़ता है, जब भगवान् को पत्थर मानता है । प्रेम यदि हो तो वह स्वभाव से प्रकट होगा । जहां आन्तरिक प्रेम होता है तदनुरूप व्यवहार बन जाता है । अन्त:करण की शुद्धि होने पर बाह्य शुद्धि भी नैसर्गिक है ।

तमोगुणी व्यक्ति में न अन्दर की शुद्धि है, न बाहर की । अतः तमोगुणी उपासना का विषय भूत प्रेत होते हैं । भूत प्रेत स्वयं मलिन रहते हैं । वे अभी जीव भाव से अविशिष्ट ही शक्ति सम्पन्न हैं । देवोपासना का रहस्य पारमेश्वरी शक्ति सम्पन्नता है, पर भूत प्रेतों की उपासना पारमेश्वरी उपासना नहीं है । अत: जो केवल कामनाओं की पूर्ति के लिये सिद्धि को चाहते हैं वे खान-पान भी शुद्ध नहीं रख पाते एवं मांस मदिरा भक्षण करते हैं । जो व्यक्ति देवताओं से केवल अपना काम निकालना चाहता है वह इसी लोक को सत्य समझता है । वह आगे के लोक को कुछ नहीं मानता । यहां यदि बलि चढ़ाने से स्वादिष्ट भोजन और सिद्धि भी मिल जाये तो कोई हर्ज नहीं । अपने दम्भ को प्रकट करने के लिये वह कहता है 'यक्ष्ये दास्यामि' मैं यज्ञ करुंगा, मैं दान करूंगा । ये यज्ञ आन्तरिक शुद्धि की दृष्टि से नहीं होते । रावण और हिरण्यकशिपु ने क्या कम तपस्या की थी ? पर इह लोक में सफलता प्राप्त करने को ही की थी । उनकी दृष्टि में परलोक की, परमेश्वर की कीमत ही नहीं थी । जहां भी उपासना इस दृष्टि से होगी कि इह लोक के पदार्थ ही मिलें वहां तमोगुण प्रधान होगा । परलोक की दृष्टि न होनें के कारण न तो अन्तः करण की शुद्धि का ध्यान रहेगा, न बाह्य शुद्धि का ध्यान रहेगा, न देश काल का ध्यान रहेगा । आजकल भयंकर स्थिति है । लोग मल-त्यागादि करके भी स्नान नहीं करते । भूतों की उपासना करने वाले लोग पहले श्मशानादि में जाकर उपासना करते थे । अब तो लोग घरों में ही रह कर तामसिक उपासना करते हैं । तमोगुण का विकास तेजी से हो रहा है । इसका कारण होटल इत्यादि का भोजन भी है । 'सत्यं वद' तो भविष्य में केवल तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा हुआ

मिला करेगा। आजकल हम उस जमाने से आगे बढ़ गये हैं और कहते हैं 'झूठ बोलने में हर्जा क्या ?' ऐसे ही कई लोग कहते हैं 'हत्या करने में हर्जा क्या ? हत्या करके हम पशुओं को पशु योनि से छुड़ा देते हैं।' यदि यह दलील मान ली जाये तो मानना पड़ेगा कि चीन वाले भी हम पर आक्रमण करके हम को मनुष्य योनि से छुड़ा रहे हैं। वेद ने भ्रूण हत्या को पाप माना। आज हम अण्डा खाते हैं और कहते हैं 'अण्डा खाने में हर्जा क्या ?' ऐसे व्यक्तियों की पूजा तामसी ही होती है।

यदि सात्विक लोग प्रतिमा स्थापन करके सात्विक देवता की पूजा करें, और प्रतिमा में सत्व वृत्ति का आकर्षण भी हो, तो भी यदि वहां तामसिक वृत्ति के लोग पूजा में प्रवृत्त हो जायें तो देवता चले जाते हैं और वहां भूत प्रेतों का निवास हो जाता है। कोई भी मूर्ति बनाओ पर यदि उपासना क्रम में गड़बड़ी हुई तो वहां भूत प्रेत का निवास हो जाता है। यथा मकान कितना ही सुन्दर बनाओ पर यदि उसके चारों तरफ गन्दी नाली होगी तो उसमें ब्राह्मण नहीं चाण्डाल ही रह सकेगा। भूत और प्रेतों की उपासना को भी शास्त्रों में बताया जरूर है पर तमोगुणी रूप से बताया है। यदि रजोगुणी व्यक्ति तमोगुणी उपासना में प्रवृत्त होगा तो उसे भी तमोगुण आ घेरता है। पर जो पहले ही तमोगुणी है वह यदि तमोगुणी उपासना में प्रवृत्त होगा तो अपने से बृहत्तर शक्ति की भावना से उसमें शुद्धि आ जाती है। धीरे-धीरे उपासना से वह तमोगुणी से बदलकर रजोगुणी बन जायेगा। पर यदि रजोगुणी व्यक्ति तमोगुणी उपासना में प्रवृत्त होगा तो काम, क्रोध, और स्वार्थ के कारण। अतः विचारशील व्यक्ति तमोगुणी उपासना से सदा दूर रहता है। क्योंकि मनुष्य छोटे से छोटा काम करता है तो भी उसका उसकी वृत्ति पर प्रभाव पड़ता है। उपासना का सम्बन्ध अन्तःकरण से होंने के कारण उसका सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की ह्रासवृद्धि पर प्रभाव पड़ता है।

कई मनुष्य ऐसे होते हैं जो सर्दी में हफ्ते में एक बार ही स्नान करते हैं। पर दूसरों को दिन में दो बार स्नान करके भी शरीर गन्दा लगता है। तमोगुणी यदि स्नान नहीं करता तो उसे अपने शरीर में बदबू नहीं लगती। जो सत्वगुणी होता है उसे सारे गन्दे आचरणों में गन्दगी लगती है। तमोगुणी को मिर्च चाहिये तब भोजन अच्छा लगता है, सत्त्वगुणी को मसाला मिर्च अच्छा नहीं लगता। यह सब सहज प्रवृत्ति-निवृत्ति है। शास्त्रों में केवल यह बताया कि तमोगुणी प्रकृति वाला तमोगुणी उपासना करें। पर रजोगुणी को उसमें प्रवृत्त न होना चाहिये।

एक बंगाली जमींदार बड़े ठाठ से दुर्गा पूजा करवाते थे। कुछ सालों में उन्होंने पूजा बन्द कर दी। उनसे पूछा गया कि अब आपने पूजा क्यों बन्द कर दी तो उत्तर मिला कि अब उनके दांत हिलने लग गये थे, बकरे का प्रसाद खाया नहीं जाता था। शास्त्र ने तो केवल यह कहा कि यदि तुझ से मांस खाये बगैर रहा नहीं जाता तो मांस का भी प्रसाद लगा कर ही खा। पर लोगों ने इसे मांस खाने की विधि मान लिया। यह विधान केवल तमोगुणी के लिये था।

इस प्रकार उपास्य भेद उपासना में सात्त्विक, राजस और तामस साधक की दृष्टि से है। सात्विक उपासना के लिये आन्तरिक शुद्धि, राजस के लिये बाह्य शुद्धि और तामस के लिये अशुद्ध अवस्था में भी उच्चतर शक्ति पर विश्वास करके चलना आवश्यक है।

* * * *

भगवती श्रुति परब्रह्म परमात्म तत्व को साध्य एवं उसका साधन निर्देश कर पुनः उसे ही उपास्य भेद से रहित और उपासक भेद से रहित भी बताती है। 'नोभयतः प्रज्ञं' से यह निर्देश है। वह सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं है। स्थूल रूप से, विराट रूप से, तो उसका भान सहज उपलब्ध है। संसार में प्रवृत्ति द्वारा जीव का भोग परिपाक ही इस विराट् रूप धारण करने का प्रयोजन है। माया विशिष्ट तत्व, जिसकी उपासना की जाती है, अभिन्ननिमित्तोपादान रूप से है। 'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं विभाति' में

विभाति से बतलाया कि वह ब्रह्म कि रूप है। सूक्ष्मतरं विभाति, विशेष रूप से उसका भान है। मायाविशिष्ट तत्त्व अति सूक्ष्म है। उसको जानने के लिये ध्यान योग की आवश्यकता होती है। चूंकि मायाविशिष्ट रूप भी सावच्छिन्न रूप है, अतः माया के आच्छादन के कारण शिव का पूरा पूरा भान इससे भी नहीं हो सकता। विशिष्ट का अर्थ है व्यावृत्त, अलग अलग करना। यदि आप से कोई कहे कि लाल कपड़ा लाओ, तो इसका अर्थ हुआ काला, हरा या सफेद मत लाना। विशेषण अन्य पदार्थों से संज्ञा को अलग करता है। यथा 'ब्राह्मण भोजन करने आवें' इसका अर्थ हुआ कि क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र न आवें। विशेषण का उपयोग ही व्यावृत्ति में, दूसरों से अलग करने में होता है। अतः मायावच्छिन्न कह कर उसे दूसरों से अलग किया। यद्यपि यह सूक्ष्म तत्त्व है पर अभी कारण कार्य भाव बना हुआ है। माया कारण है, विच्छिन्नता कार्य है।

परमात्मा का सूक्ष्मतम भाव शिवतत्त्व है जिसमें कारण-कार्य-भाव नहीं है। दोनों ही उस तुरीय के अन्दर विद्यमान नहीं हैं। अतः कार्य कारण रहित को भगवान् गौड़पादाचार्य ने सूक्ष्मतम भाव कहा। सूक्ष्म भाव भी बहुत कम लोगों की समझ में आता है। जगत् के कारण रूप से तो उसे बहुत से लोग समझ जाते हैं। परन्तु जब यह कहा जाता है कि यह सब परमेश्वर ही परमेश्वर है, न उसे किसी ने बदला, न अपने को उसने जगत् रूप बनाया, तो यह कथन समझ में नहीं आता।

यदि गहना नाम की कोई चीज उत्पन्न हुई तो सोने से अलग होनी चाहिये। हम अपना सोना रख लेते हैं और तुम अपना गहना ले जाओ। ऐसा नहीं कर सकते। अभिन्न निमित्तोपादान जहाँ होता है वहां तो कार्य कारण भाव सर्वथा नहीं होता। 'आदो अन्ते च यत् नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा' जो आदि और अन्त में नहीं रहता वह वर्तमान में भी नहीं है। रस्सी में सांप पहले नहीं था, प्रकाश आने के बाद नहीं रहा तो यदि वर्तमान में दीख रहा है तब भी नहीं है।

इसी प्रकार यह सारा जगत् पहले था नहीं, आगे भी नहीं रहेगा। कुछ घंटे पूर्व ही यह संसार नहीं था जब आप घोर सुषुप्ति में पड़े हुए थे। क्या उस समय जगत् था ? आदि काल याने थोड़े घंटे पहले, यत् नास्ति, जो नहीं था एवं एक बजे भोजन करके लेट जाओगे तो फिर अन्ते नहीं रहेगा। इस काल में तुम्हारे पास पांच लाख रुपये हैं पर पांच घंटे पहले स्वप्न काल में नहीं थे। अतः जिस काल में तुम समझ रहे हो रुपये थे, उस काल में भी नहीं थे।

पदार्थ मात्र प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगी है। पदार्थ पैदा नहीं हुआ तो प्राक्अभाव है। यभी सभी पदार्थ का प्राक्अभाव है तो वर्तमान में भी वे अभाव रूप से हैं। एक अभाव नैय्यायिक और मानते हैं। अन्योन्याभाव। घट में पट नहीं और पट में घट नहीं। आदि में प्रागभाव और अन्त में प्रध्वंसाभाव रहेगा तो बीच में अन्योन्याभाव है। यदि एक घड़े में घड़े का भाव स्वीकार करते हो तो करोड़ों घड़ों का उसमें अभाव मानते हो। यदि करोड़ों टन बालू में एक तिल पड़ा हुआ मिल भी जाय तो क्या उसमें से तेल निकल सकता है ? एक तिल की क्या गिनती ? अनन्तभूत में तथा अनन्तभविष्य में यदि पदार्थों का अभाव ही है तो केवल वर्तमान में भाव तो उस तिल जैसा भी नहीं है। संसार में भाव पदार्थ की सिद्धि कैसे करोगे ? अविद्यमान पदार्थ ही विद्यमान रूप से प्रतीत हो रहे हैं। यदि प्रतीति ही अविद्यमान पदार्थों की है तो कार्य कारण भाव कहां पर सिद्ध होगा। कार्य ही नहीं है तो कारण को कहां ढूंढ़ा जाय। तुरीय में कार्य और कारण भाव दोनों नहीं हैं। यही है अति सूक्ष्म शिव भाव।

इस सूक्ष्म शिव भाव की प्राप्ति कैसे हो ? 'येन केनापि रूपेण यद् यद् भाति न भाति च' जो वस्तु जिस किसी रूप से भी भान हो रही है और जिसका भान नहीं भी हो रहा है वहां वस्तुतः परम शिव का ही भान हो रहा है। यथा लोक में जहां भी कोट, पैन्ट, टोपी, धोती दीख रही है वहां वस्तुतः कपड़े का ही भान हो रहा है, 'पट एव

अनुभासते'। उसी प्रकार अभाव रूप से भी उसी परमशिव का ही भान हो रहा है। यहां बैठे हुए भी न्यूयार्क के होटल का भान न होना अभाव का भान है। न भाति से भी शिव ही का भानं है।

अन्तःकरण में प्रतिक्षण स्पन्दन हो रहा है। यदि स्पन्दन तीव्र हो तो डाक्टर कहते हैं कि दिल धड़कने की बीमारी हो गई और यदि स्पन्दन रुका तो यमयात्रा के पथिक बन गये। यह स्पन्दन ही शिव का भान है। हृदय के अन्दर स्पन्दन होता है, हृदय तो कहीं आता जाता नहीं। जब मोटर में बैठ कर कोई आता है तो कहता है बड़ी दूर से आये। दो सीढ़ी मात्र उतरकर घर से मोटर में बैठे थे। आप तो बैठे रहे केवल मोटर चलकर यहां आई, पर मोटर की गति से अपनी गति मानकर कहते हो कि बड़ी दूर से आये। इसी प्रकार दौड़ धूप तो कर रहा है आपका शरीर और मन पर आप कहते हैं 'मैं दौड़ धूप कर रहा हूं'।

हृदय तो केवल स्पन्दन कर रहा है। वह स्थित है, चल नहीं सकता। स्पन्दन को ही सम्यक् अवस्थितं कहा गया है। 'तत्र चित्तं समाधाय' से बताया गया है कि उस हृदय के स्पन्दन में चित्त को लगाओ। उसी में चित्त को समाहित करना है। आध्यात्मिक लिङ्ग का पूजन ही वास्तविक पूजन है। सारा जड़ और चेतन जहां लीन हो उसे लिङ्ग कहते हैं। सारे जड़ और चेतन की अन्तिम अवस्था क्या है? वह तुम्हारे अन्दर ही लीन होता है। जब तक संसार तुम्हारे अन्दर लीन नहीं होगा वह चलता फिरता ही दीखेगा। जब हमने उसे जान लिया तो 'विश्राम्येत् परमेश्वरे' विश्रान्ति हो गई।

जैसा ज्ञान में होता है वैसा ही क्रिया में भी होता है। मान लो बाजार में माल आया है और हमको खरीदना है। बड़ी दौड़ धूप उसी के लिये हो रही है। जाकर चेक दे माल को बस में चढ़ा कर ला अपने गोदाम में रख दिया तो माल अपना हो गया। क्रिया खतम हो गई।

ज्ञान के लिये प्रयत्न कब तक है ? जब तक पदार्थ मुझ में लीन नहीं हुए तब तक । मन बुद्धि ये सब पदार्थ हैं । इनको चैन नहीं है । मन, बुद्धि और पदार्थों का रूप एक सा होने के कारण ये बगैर पदार्थों की ओर दौड़े रह नहीं सकते । वे तो दौड़ेंगे ही । आंख तेज से बनी है, वह रूप की तरफ दौड़ेगी, और संसार को लाकर तुम्हें देगी । अब बाहर जिसको चराचर कहते हो वह भी तो बहिर्लिङ्ग शिव रूप है । बाहर भी शिव रूप है, अन्दर भी शिव रूप है। अन्दर वह शिव मालिक रूप से है, बाहर नौकर रूप से । यदि अन्दर मालिक रूप से हो तो बाहर के पदार्थों की तरफ क्यों दौड़ता ? अन्दर के मालिक में ही चित्त को समाहित न करना ही इसका हेतु है। यही साक्षी भाव में स्थिति है ।

'अयं हृदि स्थितः साक्षी' हृदय का स्पन्दन ही साक्षी भाव है । यथा समुद्र में लहरें उठती हैं । यदि सात मील गहरे समुद्र में एक फर्लांग लहर उठी तो आधे मील गहराई में स्पन्दन हुआ । इस स्पन्दन का साढ़े छः मीलों वाला गहरा समुद्र साक्षी है । कूटस्थ, प्रशान्त साक्षी में ही स्पन्दन है ।

* * * *

यद्यपि उपास्य तत्व एक ही है पर उपासना में कई प्रकार के भेद हो जाते हैं । उपासक के अन्तःकरण की वृत्ति को लेकर सात्विक, राजस और तामस तीन भेद हो गये । फिर उपासक की दृष्टि को लेकर शिव प्रधान, जीव प्रधान और उभय प्रधान भेद हो जाते हैं । फिर उनमें भी सूक्ष्म और सूक्ष्मतर दो भेद हैं । इस प्रकार उपासना में १८ भेद बने ।

मानसिक उपासनाओं के कई भेद हो गये । पर तीन प्रकार के भेदों से अनुस्यूत होने के कारण उसे त्रेता कहा गया है । जब कलियुग था तो जीव आत्म तत्व से विमुख था । जब द्वापर हुआ तो बहिः उपासना की प्रधानता हुई । पर बाह्य उपासना तो नाम मात्र की उपासना है । अतः द्वापर से आगे त्रेता में पंहुचे तो उपासना के

अन्दर भेदों का विस्तार हुआ। अब सत्ययुग की दृष्टि को लेकर श्रुति ने कहा 'न उभयतः प्रज्ञः'। उपासना, उपासक और उपास्य का भेद सत्ययुग में नहीं रहता। यह अभेद ही परमार्थ उपासना है तथापि स्थूलारुन्धती न्याय से सभी उपासना कही जाती हैं।

वशिष्ठ के पास अरुन्धती नाम का एक तारा होता है। पहले नभ-मंडल में सप्तर्षि मण्डल को दिखा वशिष्ठ को दिखाया जाता है। उसके अति सन्निकट अरुन्धती को दिखाना तभी बनता है यद्यपि वह अरुन्धती दर्शन ही उद्देश्य है। यह अरुन्धती न्याय है। इन अठारह प्रकार की उपासनाओं में सूक्ष्म और सूक्ष्मतर के बाद सूक्ष्मतम को दिखाना है। उपासना के बाद जिसका चित्त सर्वथा वासनाहीन हो गया है उसे ही सूक्ष्मतम तत्व दीखता है।

'निष्कामाः यतयः' सारी कामनाओं से रहित तो सुषुप्ति में भी हो जाता है। अतः यतयः कह कर यह बताया कि बड़े प्रयत्न से जिसने कामनायें दूर कीं। कामनाओं को प्रयत्न से निकालना एक बात है, और उन्हें ऊपर से ढकना दूसरी बात है। जैसे सिर दर्द को ऐस्पिरीन खाकर ढकते हो तो चार घंटे के बाद वह फिर खड़ा हो जाता है। ठीक इसी तरह सुषुप्ति में हमारी वासनायें ढक जाती हैं। किससे ? अज्ञान से ढक जाती हैं, और फिर जागने पर खड़ी हो जाती हैं। ठीक इलाज कराके जैसे बीमारी दूर होती है वैसे ही यति यत्न से वासना को दूर करता है। कामनाओं का बीज अशान्ति है। शम कहते हैं मन के विषयों की तरफ न जाने को। शान्ति नाम है मन का विषयों से हट जाने का। यहां हटने का अर्थ दूर हो जाना नहीं है। हटने और दूर होने में क्या फरक है ? यथा लड़का दूसरे शहर जा मां से दूर हो जाता है पर हटता नहीं। शान्त का अर्थ है मन का विषय में रुचि न लेना। रुचि संस्कृत में प्रकाश को कहते हैं। प्रकाश जिधर भी होता है मन उधर प्रवृत्त होता है। दीप्ति या प्रकाश वाली चीज पर झट नजर जाती है। वस्तुतः प्रकाश क्या है ? हम पदार्थों को स्वयं सत्ता और प्रकाश वाला मानते हैं इसी लिये उनकी ओर मन दौड़ता है। जब यह ज्ञान हो

गया कि पदार्थों में अपनी सत्ता नहीं, हम उसे सत्ता देते हैं, तो मन कभी भी उधर न दौड़ेगा । यथा आपको कभी अपने मुनीम से स्पर्धा नहीं होती कि मुनीम की नौकरी मुझे स्वयं मिल जाय । जिसको तुमने सत्ता दी है उस पद की कामना तुमको नहीं होती ।

श्रुति कहती है कि तू तो जगत् का अधिष्ठाता है । पदार्थ को सत्ता तू देता है । अतः उसकी कामना क्यों करता है ? अतः 'निष्कामाः यतयः शान्ताः' कहा । शान्त होना ही प्रयत्न है । शान्त का अर्थ है विषयों से मन का हट जाना । सारे विषयों से मन को हटा कर 'जानन्ति तं यथा कथितं आत्म तत्त्वम्' उस बताये हुए आत्म तत्त्व को जानते हैं । विना विषयों से मन को हटाये हुए उसको जानना सम्भव नहीं ।

वस्तुतः उपास्य तत्त्व प्राप्य तत्त्व होता है । वह परमात्म तत्त्व प्राप्य नहीं अतः उपास्य भी नहीं है । यथा अपने पास बैठना सम्भव नहीं है । अपने में ही बैठा जाता है । पास कैसे बैठ सकोगे ? देवो भूत्वा देवं यजेत्, जब बताया था तो सात्विक उपासना में प्राप्य तत्त्व और उपासक में भेद था । पर अब पता चला कि प्राप्य तत्त्व है ही नहीं तो उपास्य तत्त्व बनता ही नहीं ।

अठारह प्रकार की उपासनाओं का फल सम्प्रज्ञात समाधि है । सम्यक् प्रकर्षेण ज्ञातम् इति सम्प्रज्ञातम् । जिसको सामान्य और विशेष रूप से जान लिया, ध्यान के द्वारा वह प्रकर्षेण ज्ञात हो गया अर्थात् जब उसे दृढ़ रूप से जान लिया तो सम्प्रज्ञात हो गया ।

अब सम्प्रज्ञात के बाद असम्प्रज्ञात समाधि आती है । सम्प्रज्ञात को गोली बना कर पानी में फेंक दो असम्प्रज्ञात हो गया । यदि कोई कहे कि मेरा दीवाला निकालो तो उससे पूछा जाता है कि तेरे पास कितना धन है । यदि वह कहता है कि कुछ नही तो क्या दीवाला निकालें ?

लोग कहते हैं हमने सर्वस्व भगवान् को दे दिया । यदि पूछते हैं कि तुम्हारे पास था क्या ? तो कहते हैं हजार रुपये थे । प्रश्न है कि

वे हजार रुपये क्या तुम्हारे थे भी कभी ? वे भी तो भगवान् के ही थे। जो आत्मा तुम्हारी है ही नहीं उसका समर्पण क्या करोगे ? आत्म समर्पण तो वे कर सकते हैं जिनकी आत्मा मन के अधीन नहीं है। अभी तो आत्मा तुम्हारी है ही नहीं। आत्मा है मन की ओर संकल्प करके कह दिया कि भगवन् लो मैंने आत्म समर्पण कर दिया। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, कामनायें, अविद्या अभी मालिक बने बैठे हैं। आत्मा को सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा पहले उनसे छुड़ा तो लो। यह जान लो कि यह आत्मा इनका गुलाम नहीं है। सम्प्रज्ञात तब होगा जब आत्मा को इनके मालिक रूप से जानो। त्रिपुटी तो सम्प्रज्ञात में रही, पर ज्ञाता का मालिक कोई नहीं रहा। तब श्रुति कहती है 'नोभयतः प्रज्ञं'। ज्ञाता और ज्ञेय के भाव का परित्याग करो। सम्प्रज्ञात के बाद असम्प्रज्ञात, उभयतः प्रज्ञ के बाद न उभयतः प्रज्ञ, यह क्रम है।

आप कहेंगे कि इतनी मेहनत करके तो आत्मा को सारे बन्धनों से छुड़ाया फिर कहते हो उसे भी छोड़ दो, तो हमारे हाथ क्या लगा ? इसका उत्तर परमगुरु गौड़पादाचार्य देते हैं 'न निरोधः'; चित्त वृत्तियों की विक्षिप्तावस्था हुई होती तो उसका निरोध भी होता। यदि गहना बना होता तो उसको दूर करते। यहां तो सोना ही सोना रहा। उसी सोने को सांचों में एक तरफ ज्यादा दबा दिया और दूसरी तरफ कम दबा दिया तो गहना बन गया। चित्त वृत्ति आज तक बनी होती तो उसका निरोध होता। प्रपञ्चो यदि वर्तेत निवर्तेत न संशयः।

न निरोधो, न चोत्पत्तिः। न तो निरोध न उत्पत्ति। उत् का अर्थ है ऊपर से, और पत् का अर्थ है गिरना। उत्पत्ति का अर्थ हुआ अपने स्वरूप से च्युत होना। पहले च्युतभाव की सिद्धि हो तो अच्युतभाव की भी सिद्धि हो। जब कहते हो कि लड़का १३ अप्रैल को उत्पन्न हुआ तो प्रश्न उठेगा कहीं से गिरा क्या ? अपरिच्छिन्न आत्मा को शरीर में कैदी बना लिया, स्वरूप से गिरा दिया, तो उत्पन्न हो गया। अतः अपने स्वरूप से जो कभी गिरा ही नहीं उसे गौडपादाचार्य ने 'न निरोधो न चोत्पत्तिः' से कहा। वह गिरे कहां ? क्या

उससे नीचा कोई स्वरूप है जिसे वह प्राप्त करता है ? स्वरूप च्युति कभी हुई ही नहीं । अतः कहा 'न बद्धः' ।

अहं के साथ इदं भाव को लाकर अपने को परिच्छिन्नवत् समझना बन्धन है । परिच्छिन्न नहीं, परिच्छिन्न की तरह । अपने ही घर में जब माली लॉन तय्यार कर देता है तो उसमें बैडमिन्टन खेलने को दो खम्भे गाड कर, उनमें जाली लटकाकर, तीन साथियों को बुलाकर कहते हो इधर का हिस्सा तेरा और उधर का हिस्सा मेरा। यदि खेलते हुए उसकी तरफ चले गये तो वह कहता है मेरी तरफ क्यों आते हो ? जैसे केवल खेल के समय ही वह तरफ उसकी है, ऐसे ही वह अहं और इदं भाव को लेकर परिच्छिन्नवत् मालूम पड़ता है। चूंकि इदं के बगैर उसे अपना प्रतिबिम्ब दीखता नहीं इस लिये उसने प्रतिबिम्ब देखने को इदं को खड़ा कर लिया ।

जीभ के स्वाद को जीभ नहीं ले सकती । अतः भेद की दृष्टि से रसगुल्ला खड़ा किया कि जीभ से रसगुल्ला अलग है । यदि जीभ में ऐसी मशीन लगा दो जिससे बराबर चीनी टपकती रहे तो क्या मिठास का स्वाद आयेगा ? जब तक मिठास को दूर करके फिर न मिलाओ तब तक मीठे का मजा नहीं । चूंकि अहं इदं भाव के विमर्श बिना स्वप्रतिबिम्ब का दर्शन नहीं होता इस कारण यह विमर्श है। उन को सदा सत्ता मैं देता हूं । मैं तो कभी परिच्छिन्न हुआ ही नहीं ।

अतः 'न साधकः' । साधना से तो किसी चीज को प्राप्त करना होता है। पर दूसरी चीज कोई है ही नहीं । कौन सी ऐसी चीज है जो आपके ज्ञान के घेरे से बाहर हो ? कोई बद्ध ही नहीं तो मुमुक्षु कहां से आयेगा ?

अविद्या से कौन छूटना चाहता है ? गीता के शांकर भाष्य के तेरहवें अध्याय में यह प्रश्न उठाया गया है कि अविद्या का आश्रय कहां है। भाष्यकार उत्तर देते हैं कि यदि तुझे अविद्या दीख रही है तो उसका आश्रय भी दीख रहा होगा । यदि अविद्या आज तक बनी हो

तो उससे छूटने का उपाय भी दीख जाय । अतः 'न मुमुक्षुः' । एक राजा एक दिन मुआयना करने के लिये जेल में गया । उसके जेल में आने के बाद प्रवेश द्वार बन्द कर दिया गया तो एक कैदी कहने लगा आज बेचारा राजा जेल में बन्द हो गया है, न जाने कब छूटेगा !

शिव तो स्वेच्छया अविद्या का मजा देखने को आया । अब यदि पूछो वह कब छूटेगा तो यह प्रश्न बनता ही नहीं । परतंत्र बन्धन में छूटने का प्रश्न संभव है स्वतंत्र बन्धन में नहीं । सांख्यवादियों ने कहा कि प्रकृति ने पुरुष को बांध रखा है । तो उनके प्रभाव में आकर कभी कभी वेदान्ती भी कह उठते हैं कि माया ने ब्रह्म को बांध लिया । पर वेद में बांधने वाली माया कहीं दीखती ही नहीं । स अकामयत् । अपनी इच्छा से शिव आया, अब जाने की आज्ञा उसे कौन दे ? अतः उभयतः प्रज्ञ से बतलाया कि उपासना छूटने के लिये नहीं करता । १८ प्रकार की उपासना छूटने के लिये नहीं । वह तो सदा छूटा हुआ है । उपासना चखने के लिये है । यथा राजा जेल में जाकर चखता है कि कैदी का खाना कैसा है ।

सम्प्रज्ञात तो वह मजा चखने के लिये बना था, असम्प्रज्ञात बना नहीं । असम्प्रज्ञात तो वह हमेशा से था ।

* * * *

अन्तः प्रज्ञा द्वारा वासना निवृत्ति, बहिःप्रज्ञा द्वारा विशेष शक्ति का आधान, उभय प्रज्ञ के द्वारा उपासना का निर्देश करके श्रुति बता रही है कि जिस प्रकार किसान खेती करने के लिये पहले खेत के रोड़े इत्यादि निकालता है, फिर खाद पानी इत्यादि डालता है, और तब खेत में बीज डालता है, उसी प्रकार यदि परमात्मतत्त्व को जानना है तो अपने में जो वासना रूपी खराबी आई है उसे निकाल दो, जिस खाद आदि की अपेक्षा है उसे संस्कार द्वारा डालो और तब उपासना का बीज डालो ।

अब श्रुति उस तुरीय तत्व को बतलाती हुई बहिष्प्रज्ञ के द्वारा जागृत के अभिमानी विश्व का निषेध कर रही है, और उभय प्रज्ञ

के द्वारा उसे त्रिपुटी रहित बता रही है । उसके बाद श्रुति कहती है 'न प्रज्ञानघनं' । इसके द्वारा सुषुप्ति के अभिमानी का निषेध किया गया है । प्रज्ञान का अर्थ जीव है, और सुषुप्ति में जीवसत्ता घनीभूत होकर रहती है इसी कारण उसे प्रज्ञान घन कहा । जैसे मेंढक के अंडे पहले से ही मौजूद रहते हैं । बरसात में पानी के गिरते ही वे टर्र टर्र करने लगते हैं । वैसे ही सुषुप्ति काल में प्रज्ञान घन मौजूद तो है पर टर्र-टर्र नहीं करता है, जागते ही बरसात के मेंढक की तरह फिर टर्र-टर्र करने लगेगा ।

भगवान् गौड़पादाचार्य ने अपनी माण्डूक्य कारिका के छठे मंत्र में 'एष योनिः सर्वस्य' की व्याख्या में कहा है कि सुषुप्ति को इस प्रकार बतलाने का उद्देश्य क्या है ? समष्टि जगत् का कारण माया विशिष्ट चेतन है । सम्प्रदायविद्वरिष्ठ गौड़पाद पूछते हैं कि श्रुति का छठा मंत्र लिखा ही क्यों गया । उत्तर हैं कि अजातेः उपलम्भात् समाचारात् जातिस्तु दर्शितम् । सृष्टि की उत्पत्ति किसी कारण से हुई ही नहीं, यदि ऐसा किसी से कहो तो वे सुन कर घबराते हैं । उपलम्भात् हमको इतना बड़ा संसार दीख रहा है फिर उत्पन्न नहीं हुआ कैसे स्वीकारें ? आप कहते हैं संसार है ही नहीं फिर समाचारात् वर्णाश्रम धर्म का पालन करने को क्यों कहा जाता है । अतः आचार्य कहते हैं कि जगत् की उत्पत्ति सर्वेश्वर से दर्शाई गई ।

जो हीन दृष्टि वाला होता है वह कहता है जगत् है । मध्यम दृष्टि वाला कहता है कि जगत् की व्यावहारिक सत्ता है । उत्तम दृष्टि वाला कहता है कि जगत् की केवल प्रातिभासिक सत्ता है । विचारशील तो जगत् ईश्वर से प्रातिभासिक भी उत्पन्न हुआ है ऐसा भी कहने में दोष ही देखते हैं पर यह स्वल्प दोष है । दूसरी कल्पनाओं में से हट कर यदि ब्रह्म को कारण मान कर चिन्तन करेंगे तो कारणत्व की भावना रूपी दोष धीरे धीरे हट जायेगा । अतः श्रुति ने केवल इस दृष्टि को रख कर छठा मंत्र बताया । संसार हुआ ही नहीं यह सुनकर

जिनको भय लगता है ब्रह्म कारणत्व का चिन्तन करते-करते उनकी दोष निवृत्ति हो जाय ।

यह जगत् एक बड़ा भारी चित्र है । पर यह चित्र ही निरुपादान है । बिना उपादान के जो चीज बनी वह कुछ हुआ नहीं करती। यथा आप आम का चित्र बनाओ तो फल खा नहीं सकते । चित्र बनाने को तो कमसे कम कागज की आवश्यकता पड़ती हैं । पर यह जगत् चित्र 'अभित्तौ' वगैर किसी कागज के बना है । 'स्वेच्छया स्वभित्तौ कल्पितम्' । यथा पीलिया रोग वाले को पदार्थों में पीला रंग नहीं पोतना पड़ता । वह सभी वस्तुओं को पीला देखता है क्यों कि 'स्वभित्तौ' अपनी आंख में पीला है । ऐसे ही 'निरुपादान एव तन्वते' इस जगत् चित्र का विस्तार वगैर किसी उपादान के अपने ही आप है । एक ऐसा विचित्र चित्र यह जगत् है कि जिसका न उपादान है. न भित्ति है. फिर भी फैलता ही जारहा है । समष्टि और व्यष्टि के नाथ जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति में कलानाथ भगवान शंकर ही हैं । यहां अधिष्ठान कारणता नहीं है । अधिष्ठान कारणतावाद तभी तक चल सकता है जब तक माण्डूक्य उपनिषद के छठे मंत्र तक नहीं पहुँचे । न वहां परिणाम वाद है, न विवर्तवाद । जो कृपण बुद्धि वाला होता है वही परिणाम-को देखता है । यथा महा कंजूस व्यक्ति के घी में मक्खी पड़ गई तो वह उसे दबाकर निकालता है । उसी प्रकार कारण रूप परमात्मा में कार्य रूपी जगत् मक्खी बन कर पड़ गया है तो भी कृपण धी उस मक्खी को छोड़ना नहीं चाहता । यदि किसी प्रकार आसक्ति का यह घनान्धकार दूर भी हुआ तो विवर्तवाद को देखता है । अधिष्ठान कारणतावाद में परमेश्वर की रक्षा तो होगई पर संसार का मिथ्यात्व होगया । पर मिथ्यात्व भी तो द्वैत है । अतः विवर्तवाद तक उसे लेजाया जाता है जो अजाति से भय खाता है ।

वास्तव में न वहां परिणामवाद है, न विवर्तवाद, वह तो निष्कारण है, सारे कारणों से रहित है । यदि कहो कि लहर का कारण

समुद्र है तो इसका उत्तर है कि लहर समुद्र ही है। कारण भाव को कहां से पकड़ोगे। घड़े में मिट्टी का कार्य कारण भाव कैसे माना। कहीं मिट्टी डले के रूप में मिलती है, कहीं सकोरे और घड़े के रूप में। यदि समुद्र को लहर का कारण मानते हो तो लहर को समुद्र का कारण क्यों नहीं मान सकते? लहरें ही मिलकर तो समुद्र बनता है। यदि कहो कि समुद्र में ज्यादा तादाद है और लहर में कम तो ब्रह्म में ज्यादा और कम कहाँ से लाओगे कि वह कार्य और कारण बन सके? जीव की उत्पत्ति किसी कारण से सम्भव नहीं। जैसे बालू का मकान आंधी के बाद बालू ही बालू रहा वैसे ही सदा ब्रह्म ही ब्रह्म रहता है।

अतः जगत् मिथ्यात्व का प्रतिपादन तो केवल जगत् सत्यवादी के लिये किया गया। जगत् मिथ्या नहीं, वह सत् रूप है, ब्रह्म रूप है। यथा मिट्टी से उत्पन्न सभी वस्तु मिट्टी रूप हैं। चूंकि उत्पत्ति की तुम कल्पना करते हो अतः हम भी मिथ्यात्व बताते हैं। वास्तव में उत्पत्ति कभी हुई ही नहीं।

*   *   *   *

अब श्रुति कहती है 'न प्रज्ञं'। प्रकर्षेण ज्ञानं प्रज्ञं। प्रकर्ष से ज्ञान का अभाव सुषुप्ति में है। जागरण और स्वप्न तो ज्ञान की अवस्थायें हैं। अन्यथा गृह्णतः स्वप्नः। जहां अन्यथा ग्रहण है वहां स्वप्न और जागृत की अवस्थायें होंगी। पर तुरीय में विशेष-ज्ञान नहीं है। इसका अर्थ केवल यह है कि सब विशेष ज्ञान 'इदं' रूप से होता है। ज्ञानी का सम्पूर्ण ज्ञान अहं रूप से होता है। यथा जब भोजन करने के बाद भोजन थाली से पेट में पहुंच गया तो अब वह अहं रूप हो गया, इदं रूप नहीं रहा। उसे 'यह' भोजन नहीं कह सकते, अब तो वह मैं हो गया। ठीक वैसे ही 'अहं ब्रह्म' इस रूप से ज्ञान हो गया कि मैं ही ब्रह्म हूं, तो सर्वत्र अहं की ही प्रतीति है। अब इदं की प्रतीति नहीं रही। 'मयि एव सकलं जातं, मयि सर्वं प्रतिष्ठितं, मयि सर्वं लयं याति' उसे पदार्थों का इदं

रूप से ज्ञान नहीं रहा। इसी को विमर्श कहते हैं। अब अहं, इदं का विमर्श खतम हो गया। अब केवल अहं ही अहं रहा। इस प्रकार श्रुति ने 'न प्रज्ञं' के द्वारा जागृत् स्वप्न का निषेध किया।

*　　　*　　　*　　　*

'न अप्रज्ञं' के द्वारा प्रातिभासिक का निषेध किया जा रहा है। क्यों कि यह सब तुरीय का वर्णन है अतः परमगुरु कारिकाकार ने यहां सर्वत्र 'न प्रज्ञं' 'न अप्रज्ञं' में 'अहं' को मान लिया है। तो अर्थ हुआ 'अहं न प्रज्ञं, अहं न अप्रज्ञं'।

फिर श्रुति कहती है 'अदृश्यं अव्यवहार्यं' अदृश्य का अर्थ है दृश्य भाव की रहितता। क्योंकि वहां द्रष्टा भाव नहीं है इसलिये दृश्य-भाव की रहितता स्वयं हो गई। अव्यवहार्य का अर्थ है जो व्यवहार का विषय नहीं। जाति, गुण, क्रिया, शब्द इन सबसे व्यवहार होता है। यथा मनुष्यों को ही मतदान का अधिकार है, पशुओं को नहीं। यह जातिगत व्यवहार है। पंडित ही के पास जाकर पढ़ते हो यह गुण गत व्यवहार है। चलती हुई मोटर में ही बैठते हो यह क्रियागत व्यवहार है। अंग्रेजी में बोलते हो यह शब्द का व्यवहार है। उसे अव्यवहार्य इसलिये कहा कि वह इन चारों से सम्बन्धित नहीं। तदनन्तर श्रुति उसे अग्राह्यं कहती है। ग्रहण वृत्ति से होता है। ढोल में फूंक मारते चलो तो बड़ा होते होते अन्त में फट जाता है। ऐसे ही मन की वृत्ति बड़ी बड़ी बनाते जाते हो। मन फैलने लगता है। जब ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा उसमें: तना बड़ा ब्रह्म समाने लगता है तो बेचारा मन रहता ही नहीं। आप तो मन को ब्रह्म बनाने चले थे मन बेचारा फूट जाता है। इसीलिये उसे अग्राह्य कहा।

फिर उसे श्रुति ने अलक्षणं कहा। ब्रह्म का लक्षण क्या हो सकता है? यदि कहो कि 'तत्त्वमस्यादिभिर्वाक्यैः उपलक्ष्यते' तो 'उपचारा दयं वादः'। यह तो सब वेदों की प्रशंसा है कि तत्त्वमस्यादि वाक्यों को सुनकर ब्रह्मज्ञान होता है। वस्तुतः ज्ञान नित्य है। 'एकं ब्रह्मा-

स्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित्' । हमारा एक ही ब्रह्म रूपी अस्त्र ऐसा है कि जिसे फेंक कर हम सब वादियों को मारते हैं । पुराणों का ब्रह्मास्त्र यही है । ब्रह्म को जगत् का कारण मानने से वादी सब खतम हो गये । फिर बूमरैंग की तरह हमारा ब्रह्म हमारे पास वापस आ गया । युद्ध के खेल में हम खेल करते हैं । अन्य लोगों के लिये वह युद्ध है । ब्रह्मास्त्र को लेकर हम किसी से हारते नहीं । पर हम उसे वास्तविक जगत् का कारण या अस्त्र नहीं मानते । कारण कौन है ? हमने उत्तर दिया, ब्रह्म । यदि हम से पूछो ब्रह्म कौन ? तो हम कहेंगे जो कारण नहीं है । क्योंकि वह अव्यपदेश्यं आत्मघन रूपी है । शान्तं शिवं अद्वैतं है । तो फिर क्या वही चतुर्थ है जिसे श्रुति 'चतुर्थं मन्यन्ते' कह रही है । यहां भी प्रश्न उठेगा 'चतुर्थ मन्यन्ते कैः ?' उसको तुरीय कौन मानते हैं ? कई लोग उसे चतुर्थ मानते हैं । अतः इस प्रश्न का उत्तर है 'साधकोत्तमैः' । पर हम नहीं मानते । यदि तुम उसे चतुर्थ नहीं मानते तो उसे क्या मानते हो ? यहां हम श्रुति का प्रतिपादन करके केवल यह कहते हैं कि 'इति शुश्रुम धीराणां ये नः तद् विचचक्षिरे' जिन्होंने हमको ब्रह्म के विषय में सुनाया था उन्होंने हम से ऐसा कहा था । हमारी अपनी मान्यता चतुर्थ भी नहीं है ।

केवल द्वैत का निषेध करने को हमने अद्वैत का प्रतिपादन किया वस्तुतः हम अद्वैत को सिद्ध नहीं करते ।

*　　*　　*　　*

माण्डूक्योपनिषद के प्रथम मंत्र की प्रतिज्ञा थी कि 'ओमिति उपव्याख्यास्यामः' हम ओंकार की व्याख्या करेंगे । लेकिन इतना बड़ा व्याख्यान हो गया ब्रह्म का । अब आगे जागृत्, स्वप्न और सुषुप्ति के अधिष्ठाता की व्याख्या होगी । ऐसा श्रुति ने क्यों किया ?

क्यों कि अब श्रुति बतला रही है कि यही आत्मा अक्षर को अधिकृत करके रहता है । 'सोऽयं आत्मा अध्यक्षरं' । अतः ॐ तो हो गया अभिधान और आत्मा हो गया अभिधेय । अतः आत्मा को बत-

लाने से ॐ की व्याख्या भी हो गई । किसी चीज का वर्णन करने के दो प्रकार हैं, शब्दाडम्बर और अर्थाडम्बर । अर्थाडम्बर में अभिधेय पर जोर होता है ।

शब्दाडम्बर प्रधान ज्ञान का जीवन है । हम बोलते कुछ हैं और करते कुछ हैं । अधिक बोलने वाले का जीवन अपने कथन से भिन्न हो जाता है । यथा बहुत रुपये वाले का रुपया व्यापार के काम आता है, उसके घर के काम में नहीं आता । यहां पर अभिधेय के रूप का अर्थप्रधान आडम्बर करके श्रुति ने कहा कि ओंकार के अन्दर ही आत्मा अधिष्ठित है अतः वह ओंकार के अन्दर ही विज्ञेय है ।

ओंकार की एक एक मात्रा के अन्दर उसका एक एक पाद अधिष्ठित है । ओंकार के चार पाद हैं । जो आत्मा के पाद हैं वही यहां मात्रा के पाद हैं । इसीलिये 'पादाः मात्राः' कहा गया है । उसी को दृढ़ करने के लिये कहा कि मात्रा ही पाद हैं । यथा भारतीय ही ब्राह्मण हैं ऐसा तो कहा जासकता है पर ब्राह्मण ही भारतीय हैं, ऐसा नहीं कह सकते क्यों कि कई अब्राह्मण भी भारतीय हो सकते हैं । पर चूंकि यहां मात्रा और पाद में अभेद है अतः मात्रा को पाद और पाद को मात्रा बताया । पर जब मात्राओं को बताया तो अकार, उकार और मकार, केवल तीन मात्राओं का ही नाम लिया । चतुर्थ मात्रा अकार, उकार और मकार में भी है यथा तुरीय जागृत स्वप्न और सुषुप्ति में भी है । अतः चतुर्थ मात्रा का वर्णन अभी श्रुति ने नहीं किया । चूंकि शुरू में प्रतिज्ञा की थी ओंकार को बताने की और उपनिषद के सात मन्त्रों में बताने लगे आत्मा को, इसलिये अष्टम मंत्र में कह दिया कि ओंकार और आत्मा एक ही है ।

अ जागरित स्थान है । इसे वैश्वानर कहते हैं जिसकी व्युत्पत्ति है कि जहां पर इन्द्रियों द्वारा ग्रहण हो । जो द्रष्टा है वही व्यष्टि दृष्ट्या विश्व है, और समष्टि दृष्ट्या वैश्वानर है । 'आप्तेरादिमत्वात्' व्याप्त होने के कारण । अकार को व्यापक मानते हैं । यथा क के अन्दर अ व्यापक है । यदि क में व्यापक का अभाव बतलाना है तो

उसको नीचे हलन्त बनाकर क् लिखते हैं। क में अन्य स्वर बनाने में उसके ऊपर, नीचे, दायें, बायें ओ, उ, आ, इ, इत्यादि के निशान लगाने पड़ते हैं। पर अकार के लिये कुछ नया निशान नहीं बनाना पड़ता। हमारी वर्णमाला में अकार व्याप्त है। जैसे वह व्याप्त है वैसे जागृत स्थान भी व्याप्त है। जैसे अकार वर्णमाला में पहला है वैसे ही जागृत स्थान भी पहला है।

जब आत्मा को जगत् का कारण बताया था तो 'एष सर्वेश्वरः एष योनिः सर्वस्य' कहा था। व्यष्टि जगत् में जिसे प्राज्ञ कहा उसे समष्टि जगत् में ईश्वर कहा। वहां सुषुप्ति का वर्णन इस प्रकार हुआ था जिस प्रकार अब आठवें मन्त्र में जागृत का वर्णन हो रहा है। क्योंकि श्रुति को दोनों की कारणता का प्रतिपादन करके यह बताना इष्ट है दोनों ही कारण नहीं हैं। यदि जागृत अंकुर है तो सुषुप्ति बीज है। बीज में सब लीन हैं और जागृत में सब स्फुट हैं। तो अब बीज को कारण कहोगे अथवा अंकुर को ?

आचार्य गौड़पाद ने कहा कि वास्तविक कार्य-कारण भाव तो है ही नहीं। कार्य या तो होगा, या नहीं होगा। 'भूतं न जायते किंचित्' जो वस्तु बन गई अब उसके विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह पैदा हो रही है। 'अभूतं नैव जायते' जो वस्तु पैदा हुई ही नहीं उसे भी पैदा हो रहा है ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः उत्पन्न होने वाली चीज भूत भी नहीं है, अभूत भी नहीं है। इस विषय में बड़ा भारी विवाद है जो सब विवाद केवल अजाति की स्थापना के लिये है। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि कोई चीज उत्पन्न हुई ही नहीं।

साधारण लोग जगत् को बीजांकुर की तरह मानते हैं। जगत् पुराने कर्मों से बना। वे कहां से आये ? पहले के संस्कारों से। संस्कार किससे बना ? कर्म से। तो इनमें कौन कार्य है और कौन कारण ? अतः बीज और अंकुर की तरह कार्य कारण भाव मान लो। यदि बीजांकुर का कार्य-कारण भाव कभी सिद्ध हुआ होता तभी तो

उसका दृष्टान्त देते । अतः अभी तो दृष्टान्त ही नहीं बना । यदि कोई कहे कि बालू में जल होता है जैसे आकाश में जल होता है तो जब आकाश में ही जल नहीं होता तो दृष्टान्त नहीं बना । इसी प्रकार अभी बीज अंकुर में भी कार्य कारण भाव सिद्ध नहीं हुआ। वह साध्य समान ही है अतः साध्य सम हेतु कभी भी किसी की सिद्धि नहीं कर सकता । इस बीजांकुराख्य दृष्टान्त को साधक के मन से हटाना है । जागृत को सुषुप्ति के लिये कारण मानोगे कि सुषुप्ति को जागृत् के प्रति ? राम किसका बेटा ? दशरथ का । पर यदि राम जगत्पिता हैं तो क्या वे दशरथ के पिता नहीं हुए ? अतः राम कभी पैदा ही नहीं हुए । इसी प्रकार अ को 'आदिमत्वात् प्रथमा मात्रा' कहा कि वह सबसे पहली होने के कारण प्रथम मात्रा है । जो इस तत्व को समझता है उसकी सारी कामनाओं की पूर्ति हो जाती है । कामनायें कार्य कारण-भाव को लेकर हैं । विचारशीलों की दृष्टि में कार्य कारण भाव होता ही नहीं । धर्म का फल सुख माना गया है । अतः धर्मात्मा को दुःखी देखकर कहते हो कि वह दुःखी क्यों है ? वास्तव में कार्य कारण भाव है ही नहीं । भगवान के यहां कार्य कारण भाव विचित्र है । थोड़े से फूल और थोड़ी सी दूब के द्वारा शिव का पूजन होता है । तो फल भी सस्ता मिलना चाहिये था । पर मोक्ष रूपी साम्राज्य लक्ष्मी उससे मिलती है । अर्क द्रोण के कुसुम इतने सस्ते, पर स्मर-हर पर उन्हें चढ़ा दिया तो सारी कामना का अन्त हो जाता है क्यों कि स्मर की कामना है और हर उन्हें हर लेते हैं । अतः हर कार्य में कार्य कारण भाव बनता नहीं । मां यदि लड़के को पालते समय खर्च का बिल लेकर बैठती तो कभी पालती नहीं । यदि शिव हिसाब करने लगें तो कभी मोक्ष सम्भव नहीं होता ।

जीव सदा कामनाओं की पूर्ति में लगा हुआ है । 'आप्नोति सदा कामान नैव प्राप्नोति' पर वे कामनायें कभी पूर्ण नहीं हुईं । चित्त ही संसार है । पदार्थ चित्त में ही आते हैं । बौद्ध मानता है कि मन की वृत्ति ही संसार है । वेदान्ती चित्त के स्पन्दन को जगत् मानता है ।

सांख्यवादी या जगत् कारणवादी मन के ऊपर जगत् की छाप मानते हैं। पर यहां श्रुति बता रही है 'तस्मात् न जायते चित्तम्' चित्त किसी से उत्पन्न नहीं होता। चित्त का कारण कहोगे किसे ? अभी तक तो चित्त के द्वारा देखे जाने वाले संसार की ही सिद्धि नहीं हुई। जो लोग चित्त और चित्त के दृश्य की सिद्धि को मानते हैं वे आकाश में भागी हुई भैंस के चरण चिह्नों को देख रहे हैं।

महान् पापी का भी कभी न कभी मोक्ष होता है। कोई कहता है पाप से वैराग्य हो गया, कोई कहता है सत्संग से वैराग्य हो गया ! ये सब कारण बनते नहीं। कारण से कार्य उत्पन्न होता नहीं, क्योंकि वैसे ही कारण दूसरी जगह पर हैं पर कार्य उत्पन्न नहीं होता। दोनों की उत्पत्ति बनती नहीं। यहां अकस्मात् स्पन्दन है। कार्य कारण भाव न होने से ही कामना की पूर्ति होती है। यदि पूर्व जन्म की कल्पना करो तो वह स्वयं ही सिद्ध नहीं है।

*　　*　　*　　*

इस प्रकार श्रुति जागृत का आकार के साथ ऐक्य प्रतिपादन कर चुकी। उसने अभिधेय प्रधानत्वेन तथा अभिधान प्रधानत्वेन प्रतिपादन किया। ओंकार को अभिधान बताया। सनातन धर्म में ॐ को ही उत्तम प्रतिपादक माना गया है। जाबालोपनिषद् में इसी को तारक मंत्र बताया है। काशी में भगवान शंकर इसी मंत्र से मोक्ष देते हैं। तार का अर्थ है प्लुत उच्चारण। तीन मात्रा के ओंकार को तार या प्लुत कहते हैं। तारक का दूसरा अर्थ है तारने वाला। 'ह्रस्वो दहति पापानि' ह्रस्व मात्रा से पाप नष्ट होते हैं। दीर्घ (दो मात्रा) ज्ञान को देता है। प्रथम मात्रा से पाप नष्ट हुए तो दूसरी से ज्ञान सन्तति मिली। प्लुत या तार उच्चारण सद्यः जीवन्मुक्ति देता है। यही ग्यारहवें मंत्र में फल बतलाया। प्लुत को इसी लिये तारक मंत्र कहा।

वेदान्त साधना में ओंकार का प्रधान रूप से जप होता है। तेजोबिन्दु उपनिषद् में कहा है कि १२००० प्रणव का जप १२ महीने

में परब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार कराता है। आत्म ज्ञान का उत्तम मार्ग यही है। 'ओंकार इति ब्रह्मणो नेदिष्ठो नाम' कहकर भगवत्पाद ने भी ओंकार को ब्रह्म का सर्वोत्तम प्रतीक माना है। यह परमेश्वर के ज्ञान या मोक्ष का साधन है, भोग प्राप्ति का नहीं। जो और कुछ नहीं चाहता केवल मोक्ष चाहता है उसके लिये ओंकार के जप का विधान है। जो मोक्ष भी चाहता है उसे ओंकार के साथ कुछ और जपना पड़ता है।

अ और उ में उ की प्रधानता है। उकारो द्वितीया मात्रा। उकार को स्वप्न के साथ एकीभूत करने का कारण श्रुति बताती है द्वितीया मात्रा उत्कर्षात्। लोग जागृत को उत्कृष्ट मानते हैं और स्वप्न को निकृष्ट। यदि आपसे पूछें कि ५०० रु० जागृत में लोगे कि स्वप्न में तो आप जागृत में मांगेंगे। पर यहां जागृत की अपेक्षा स्वप्न को श्रेष्ठ माना गया है। उत्कर्ष वहां माना जाता है जहां तुम्हारा अधिकार निर्बाध है। यथा चपरासी दफ्तर में गुलाम है पर घर में मालिक है। ऐसे ही जागृत में तुम गुलाम हो पर स्वप्न में खुद मालिक हो।

चिदाकाश, चित्ताकाश और भूताकाश ये तीन प्रकार के आकाश एक की अपेक्षा एक श्रेष्ठ हैं जिनमें चिदाकाश श्रेष्ठतम हैं। आकाश क्या है ? अब तक आकाश को अवकाश स्वरूप बताया था। पर अवकाश ही कहना था तो आकाश क्यों कहा ? आ समन्तात् काशयति प्रकाशयति इति आकाशः। जो सूर्य के प्रकाश [illegible] यहां तक पहुंचाये वह आकाश। बृहदारण्यक में आकाश की उपासना [illegible] फल परमेश्वर की प्राप्ति है।

चिदाकाश में चिन्मात्र प्रकाश देता है। चित्ताकाश में चिन्मात्र वासना के साथ प्रकाश देता है। भूताकाश में चिन्मात्र वासनाओं और इन्द्रियों से युक्त होकर प्रकाश देता है। अतः वासनाओं से प्रकाशित चित्ताकाश है। इन्द्रियां और आगईं तो भूताकाश है। इन्द्रियों में अन्तःकरण भी आगया। अन्तः और बहिः दोनों इन्द्रियों से चीज छन के आती है। जितनी ही चीज छन के आती है उतनी ही उसकी तेजी कम होती है। अतः स्वप्न उत्कृष्ट हो गया जागृत

से क्यों कि जागृत में वासना और इन्द्रियां दोनों हैं। हमको गुलामी अच्छी लगती है, इसी कारण जागृत अच्छा लगता है। स्वप्न का जागृत से उत्कर्ष है क्यों कि वहां इन्द्रियों की गुलामी नहीं।

यदि आप कभी विचार करें कि गुलामी आंपको कितनी प्रिय है तो आपको आश्चर्य होगा। स्थिति यहां तक आगई है कि आप अपने आप विचार तक करना पसन्द नहीं करते, यदि किसी विषय पर विचार करने को कहो तो आप झट से कहते हैं समझ में नहीं आता क्या करें? पर दूसरों के नारे (Slogan) को झट से पकड़ लेते हैं। अभी यदि कोई कहे कि शिष्यावली में नाम लिखा कर राम नाम का दस बार उच्चारण करने वाला मुक्त हो जायगा तो आप फौरन अपना नाम भी लिखा देंगे। पर विचार नहीं करते कि राम नाम उच्चारण का कृतक फल होगा कि अकृतक। विचार करके जो निर्णय किया वह तुम्हारा विचार है। हमारा विचार यदि तुम्हारे पास लिफाफे में पड़ा रहा तो तुम्हारे काम आने का नहीं। लोग आजकल विटामिन सी की गोलियां चाहते हैं नींबू नहीं। मनुष्य आजकल अपने पेट की भी यही हालत करता है। उससे काम लेना नहीं चाहता। विचार करना आजकल बन्द हो गया है। राजनीति में भी लोग अपने अपने दल की चूड़ी (record player of the party) बन गये हैं। सब की बुद्धि गिरवी पड़ी हुई है। सब चाहते हैं कि कोई हमें बतादे कि हमें क्या करना है।

भूताकाश में पूरी गुलामी है। चित्ताकाश में तुम स्वतंत्र हो। चित्ताकाश में तुम्हें किताब स्वयं बनानी पड़ेगी। भूताकाश में किताब छपी छपाई है। फिर भी चित्ताकाश में चिदाकाश से अपकर्ष की प्रतीति क्यों? परम शिव को जीव भाव की प्राप्ति क्यों? उसके अन्दर परिच्छिन्नं भाव का उत्पन्न हो जाना ही कारण है। शिव को इच्छा हुई कि अपनी परिच्छिन्नता देखें। एक क्षण के लिये वह परिच्छिन्न बनता है। उसका एक क्षण आपको कल्प लगते हैं। अपनी लीला को स्वप्न में देखो। पाँच मिनट के लिये सोते हो तो हिमालय पहाड़ बना

कर उस पर चढ़ते हो । जैसे वहां स्वप्न में समझते हों कि अनादि काल से मैं जीव चला आरहा हूं और इस गौरीशंकर पर्वत पर चढ़ रहा हूं वैसे ही 'न कश्चित् जायते जीवः' कोई जीव रूप से कभी उत्पन्न नहीं होता है । केवल अनुभव करने के क्षण भर को अपरिच्छिन्न पूर्ण शिव देखना चाहता है कि परिच्छिन्नता में कैसा लगता है । चित्ताकाश में यह प्रतीति स्फुट है ।

मनुष्य आधि व्याधि से ग्रस्त है । 'आधिस्तु मानसी व्यथा' आधि मन का रोग है और व्याधि शरीर का । आजकल मनोवैज्ञानिक आधि को ही सब रोगों का मूल कारण मानते हैं । रोग की उत्पत्ति के पूर्व हाथ की रेखायें टूटने लगती हैं । यदि नाक में बहुत खुजली हो तो समझना कि बीमारी आने वाली है । विशेषेण आधि को ही व्याधि कहते हैं । आधि ही व्याधि बनती है । रोग आने से पहले दुःस्वप्न आते हैं । मानस जगत् पहले काम करता है और शरीर में परिणाम बाद में आता है । स्थूल शरीर में परिवर्तन के पहले स्नायु संस्थान में परिवर्तन आता है ।

लोग पूछते हैं कि बीमारी में उपासना से क्या होगा ? प्रारब्ध का भोग यदि अपरिवर्तित ही होता तो सारे शास्त्रीय उपाय व्यर्थ होते । यदि प्रारब्ध से ही बीमारी अच्छी होती तो डाक्टर के पास क्यों जाते हो ? लोगों का बिजली के पंखे और डाक्टर पर तो विश्वास है पर वायु मंत्र पर नहीं । मंत्रों से आधि दूर होती है व्याधि नहीं । यदि निमित्त दूर हो गया तो उसका प्रभाव भी दूर हो जायेगा । मन शान्त हो तो प्राणों में शान्ति आयेगी । स्नायु संस्थान में शान्ति आयेगी तो शरीर में भी शान्ति आयेगी ।

योग प्रवृत्ति से लघुत्व और आरोग्य आता है । आरोग्य योग की प्रथम प्रवृत्ति है । आज व्याधि को दूर करने के लिये सारे वैज्ञानिक प्रवृत्त हैं । यहां पर तैजस् की उत्कर्षता यही है कि चित्ताकाश में सारी आधि हैं । आधि को जड़ से दूर करोगे तो व्याधि स्वयं दूर हो जावेगी ।

स्वप्न के द्वारा ही हमें जागृत् की चाबी मिलती है। यदि स्वप्न नहीं होता तो जागृत् के मिथ्यात्व का पता ही नहीं चलता। स्वप्न को देखो तो जागृत की पोल खुलती है। जागृत् के रहस्य की कुञ्जी स्वप्न है।

उभयत्वात्। स्वप्न में सुषुप्ति और जागृत् दोनों का अंश है। निद्रा दोष की समानता सुषुप्ति से है और विषय दर्शन की समानता जागृत से है। जो स्वप्न को इस प्रकार समझता है उसे ज्ञान संतति होती है। भूताकाश में ज्ञान की उत्पत्ति होती है ज्ञान का प्रवाह नहीं होता। भूताकाश से विवेक होता है कि पञ्च कोशों से अतिरिक्त मैं हूं पर ऐक्य ज्ञान नहीं होता। स्वप्न में निश्चित पता है कि मैं पञ्च कोशों का उत्पन्न करने वाला हूं। अतः वह समान भाव को प्राप्त कर लेता है। भूताकाश और चित्ताकाश में समानता आ जाती है। जो इसको जान ले उसके कुल में फिर कोई ऐसा पैदा नहीं होता जो ब्रह्म ज्ञानी न हो।

यहां कुल एक पारिभाषिक शब्द है। शंकर को अकुल या नकुल कहते हैं। भगवान् शंकर से भिन्न जो भी हैं वे कुल वाले हैं। इस कुल में जो आता है वह ओंकार की द्वितीय मात्रा में पहुंच गया अतः वह ब्रह्मवित् होता है। इसके कुल में कोई अब्रह्मज्ञानी नहीं होता।

* * * *

तृतीय मात्रा ॐ की बताते हुए कहा कि प्राज्ञ सुषुप्ति का स्थान है। इसका मकार से अभेद है। क्या यहां पर तीसरी मात्रा को मकार कहना ठीक है? ओंकार में तो मकार अनुस्वार हो गया है। मोनुस्वारः। तो यहां उसे मकार न कहकर अनुस्वार क्यों नहीं कहा? ओं में बिन्दी लगाते हैं तो वह मकार नहीं है पर मकार जैसा प्रतीत होता है। ठीक ऐसे ही सुषुप्ति कोई अवस्था नहीं है। अव का अर्थ है नीचे और स्था, तिष्ठति के अर्थ में प्रयुक्त है। सुषुप्ति अवस्था नहीं है क्योंकि वह सब अवस्थाओं का मूल है। पर चूंकि जागृत और स्वप्न को अवस्था कहते हैं इस कारण इसे भी अवस्था कह दिया।

सुषुप्ति के बिना जागृत और स्वप्न दोनों नहीं रहते हैं । पर यह अकेली रहती है । मिते: अपीते र्वा । मिति का अर्थ है कि इसके अन्दर से खींच खींच कर लाता है । यह खान अक्षय है । जागृत और स्वप्न में जा कर थकता है तो यहीं से फिर फिर शक्ति लाता है। सुषुप्ति में सब कुछ लय हो जाता है । वहां सत् के साथ सम्बन्ध करके उस सत् में से जागृत् और स्वप्न देखने की ताकत निकाल लाता है ।

प्रश्न उठता है कि क्या सुषुप्ति में ब्रह्म के पास गया और क्या उसके पास से ताक़त लाया ? तो असीम ब्रह्म के पास जाकर ससीम जागृत और स्वप्न को देखने की ही शक्ति लेकर क्यों आया, अपरिमेय शक्ति क्यों नहीं ले आया ? यही विडम्बना है। यथा भगवान् शंकर ने एक अगात्र बुढ़िया लकड़हारिन पर कृपा की और उससे कहा वर मांग तो उसने वर मांगा कि मुझे १६ बरस की बना दो। उधर से एक नौजवान राजकुमार निकला तो उसने १६ वर्ष की सुन्दर युवती को बुड्ढे लकड़हारे के साथ देखा तो उसे उठाकर ले भागा। इधर भगवान् ने लकड़हारे पर भी कृपा की और उससे कहा तू वर मांग । तो वह कहने लगा 'भगवन् ! मेरी पत्नी को सूअर बना दो' । अन्त में भगवान् ने लकड़हारे की इच्छा पूर्ण करने के बाद उनके लड़के को दर्शन दिया तो लड़के ने वर मांगा कि भगवन् ! मेरी मां जैसी पहले थी वैसी ही हो जाय ! भगवान् ने तीनों को दर्शन दिया वर भी दिये पर उनका भाग्य नहीं पलटा और वे जैसे के तैसे ही रहे ।

इसी प्रकार भगवान् नित्य प्रति सुषुप्ति में तुमको अपने में लीन करते हैं। पर उनसे तुमको वर मांगना नहीं आता। जिस जागृत और स्वप्न के लिये तुम शक्ति मांग लाते हो वह उन लकड़हारों जैसा वर है। मिनोतीह वा इदं सर्वं । जो इसे जानता है वह सुषुप्ति में से सब कुछ खींचकर ले आता है। वह एक ब्रह्म ही रहता है।

* * * *

इन जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति से तीनों अवस्थाओं से और कार्य कारण रूप से विलक्षण स्वरूप का प्रतिपादन श्रुति तुरीय पद से करती है । नान्तः प्रज्ञं से श्रुति ने कहा था कि वह इन्द्रियों से विषयों के अवलोकन के समान नहीं है । जागृत में इन्द्रिय विषयों को देखती हैं । स्वप्न में मन देखता है । पदार्थ को अनुभव करने के लिये जागृत में मन का इन्द्रियों द्वारा बाहर जाकर वृत्ति रूप बनना आवश्यक है । मन आंख रूपी इन्द्रिय के द्वारा घड़े रूपी विषय में जाकर उसका ज्ञान करता है ।

बौद्धों का सिद्धान्त है कि केवल मन ही एक पदार्थ है । यह सिद्धान्त स्वप्न के लिये सही हो सकता है । जागृत के लिये नहीं । वैदिक सिद्धान्त में जागृत और स्वप्न दोनों मिथ्या हैं, पर दोनों एक से नहीं हैं । यथा नाटक सिनेमा जैसा है, पर सिनेमा नहीं । सिनेमा में जीवित पात्र नहीं होते, केवल छाया का दर्शन है । उसी तरह जागृत में हम जिन पदार्थों को देखते हैं वे नाटक की तरह के पदार्थ हैं । स्वप्न में केवल उन पदार्थों की छाया है । जागृत में आप अपने जीवित पिता को देखते हैं, स्वप्न में मरे को भी देख सकते हैं ।

मन का नियन्त्रण तथा वासनाओं की विजय साधना का क्रम है । यदि एक कमरे को साफ करके, बन्द करके काशी चले जाओ, और महीने भर बाद आओ तो देखोगे कि खिड़की से कबूतर आकर उसको गन्दा कर गये हैं । कमरे में पूरी सफाई करने के बाद भी यदि खिड़की खुली रह गई तो गन्दगी संभव हो जायेगी । हमारे शरीर में इन्द्रियां खिड़की हैं । यदि उनसे विषयों का ग्रहण करते रहोगे तो लाख सफाई अन्दर से करने पर भी नयी वासनायें आजायेंगी ।

प्रत्याहारस्तु इन्द्रियाणां चलानां प्रतिरोधनम् । स्वभाव से इन्द्रियां चलती रहती हैं । इन्द्रियों का अवरोधन प्रत्याहार है । शब्द सुनते ही कान उधर पंहुच गया, यह स्वभाव है । उसको इधर-उधर न

पंहुचने देना प्रत्याहार है। प्रत्याहार द्वारा साफ किया हुआ मन साफ रहता है। यदि हम प्रत्याहार ही करते रहेंगे तो जीवन व्यवहार कैसे होगा ? जीवन के रहते हुए ही ज्ञान की सम्भावना वैदिक सिद्धान्त है। शरीर इन्द्रियों के जीवन निर्वाह रूपी कर्म द्वारा ही बना रहेगा। अब समस्या यह है कि यदि इन्द्रियों से व्यवहार करो तो अन्दर कूड़ा आयेगा, और यदि व्यवहार न करो तो जीवन नहीं चलेगा। अतः जो घर में रोज करते हो अर्थात् मकान की सफाई वही करना होगा। यदि आकाश साफ होता है तो खिड़की खोलो; यदि वारिश, या आंधी आये तो खिड़की वन्द करो। जब विषयों का आक्रमण आंधी की तरह आये तो खिड़की को बन्द करो। जिस समय विषयों में राग कम है तो घर में, दूकान में, या दफ्तर में ही खिड़की को थोड़ा-थोड़ा खोल कर रखो। जितना व्यवहार इष्ट है उतना करो अधिक नहीं। सामाजिक जीवन में आजकल व्यवहार की अधिकता की बीमारी है। अखबारों का साम्राज्य, गरमागरम बहस, सारे विश्व के झंझट आपके सामने हैं। यदि आपके बहनोई कांग्रेसी हैं तो साले जनसंघी, मिलते ही झगड़ा शुरू हो जाता है। यदि व्यवहार ऐसी हालत में बढ़ेगा नहीं तो और क्या होगा ? अतः व्यवहार के समय जो खिड़की खोलो उसकी सफाई के लिये धारणा, ध्यान आदि करो। जब धूल नहीं धूप आ रही है तो पूरी खिड़की खोलो। अतः शास्त्र चिन्तन और पूजन पूरी खिड़की खोल कर करो। लोग इसके ठीक विपरीत व्यवहार करते हैं। कनाट प्लेस में तो पूरी तरह आंख खोल कर चलते हैं पर सत्संग में आंख बन्द होने लगती हैं।

अतः साधना के क्रम में मन का सर्वथा निषेध नहीं है। अभ्यास करते करते एक स्थिति ऐसी भी आती है कि खिड़की खुली रहने पर भी कचरा नहीं आने पाता। जैसे वातानुकूल कमरे में हवा तो आती है पर धूल नहीं आती। अपना मन रेल में वातानुकूल कक्ष

की तरह बनाओ तो न कोयला घुसेगा, न धुंआं एवं न आवाज आयेगी, पर ताजी हवा मिलती रहेगी ।

मन की ऐसी स्थिति को, जब केवल शुभ या शिव वृत्ति ही रह जाय, शाम्भवी मुद्रा कहते हैं । 'अन्तर्दृष्टि: बहिर्लक्ष्यं निमेषोन्मेष-वर्जितं सा भवेत् शाम्भवी मुद्रा' । बाहर के जगत् को देखते हुए भी नहीं देखता है क्योंकि अन्तर्लक्ष्यं उसका लक्ष्य तो अन्त: स्थित परमात्म तत्व है । यदि इन्द्रियों से व्यवहार करता भी है तो चित्त लीन हुआ सा रहता है लीन धी: । चित्त का काम संस्कार का ग्रहण करना है । पर वह 'लीनधीरपि जागर्ति' हमेशा सतर्क रहता है कि व्यवहार में विषयों के संस्कार चित्त पर न पड़ें । यथा कैमरा के अन्दर से फिल्म हटा लो तो तस्वीर नहीं खिचेगी । मन तक विषयों का प्रवेश तो हो पर वासना का ग्रहण न हो । उसकी दृष्टि कैसी होती है । ऐसी दृष्टि जिसका तारा निश्चल हो । निश्चल का अर्थ क्रिया रहित होना नहीं है । पूर्व वासनाओं से अनुविद्ध होने से चंचलता आती है । जिसने पहले रसगुल्ला खाया है उसके ही मुंह में रसगुल्ला देख कर पानी आयेगा । जिसे विषय की पूर्व वासना नहीं उसे नया पदार्थ चंचल नहीं करता । एक स्वामी जी की शास्त्र विषयक वासना इतनी दृढ़ थी कि नई पुस्तक देखते ही झपटते थे । ऐसे ही स्त्री नई साड़ी को देख कर चञ्चल हो उठती है । पर निर्वासन मन वाला व्यक्ति जब संसार के विषयों को देखता है तो चञ्चल नहीं होता । यथा महात्मा को नाइलीन की साड़ी आकर्षित नहीं करती । जब सारे पूर्व संस्कार धुल चुके व सभी काल में निश्चलता रहे तब उत्तम कोटि का शिवयोग है । जब तक साधक है कुछ काल तक मन को रोक ले पर सर्वथा चंचलता नहीं नष्ट होती । सिद्ध में चंचलता का सर्वथा अभाव होगा । ध्यान से देखने पर फरक का पता चलता है । सिद्ध को समझने के लिये भी उच्च कोटि का साधक चाहिये । परमेश्वर को विषय करने वाला प्रेम तो उसमें होता है, पर स्नेह नहीं होता । वह कठोर नहीं, समान है । उच्च कोटि का साधक हीं इसे समझता है ।

सर्वथा चाञ्चल्य रहित होकर जो देखते हुए भी नहीं देखती वही शाम्भवी मुद्रा है 'सर्वथा चाञ्चल्यरहित: पश्यन् अपि न पश्यति, मुद्रा इयं किल शाम्भवी'। इसको शाम्भवी मुद्रा इस कारण कहते हैं कि इससे शं अथवा आत्मकल्याण दृढ़ हो जाता है। इसी मुद्रा को भगवती समझना चाहिये। इसे भगवती इस कारण कहा है कि शाम्भवी मुद्रा साधक के लिये प्राप्तव्य है। इसे गुरु के प्रसाद से प्राप्तव्य माना गया है। प्रसाद या कृपा द्वारा प्राप्तव्य इसे इस लिये माना कि यह सिद्धावस्था है, अतः कर्म से प्राप्तव्य नहीं। यदि इसे कर्म से प्राप्तव्य मानोगे तो नष्ट भी हो जायेगी। अत: सिद्धि को कृपा से ही प्राप्तव्य माना। यथा सूर्य की कृपा से ही सूर्य का प्रकाश मिलता है। खिड़की खोलना तो केवल साधन मात्र है। ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त करना साधना का फल है। पर सिद्धि कृपा से ही प्राप्तव्य है।

'शून्याशून्यविलक्षणम्' वह शून्य और अशून्य दोनों अवस्थाओं से विलक्षण है। कोई दृश्य पदार्थ वहां नहीं है। वहां कुछ है नहीं फिर वह पदार्थ अशून्य से भी विलक्षण है। उसे जानने के लिये पहले इन्द्रियों का निरोध किया। यह प्रतिरोध इस लिये कि हम जब जैसा चाहें उतना ही विषयों का ग्रहण हो सके। इसे ही साधना कहते हैं।

आध्यात्मिक जगत् में दैवी आसुरी सम्पत्ति का युद्ध बराबर चल रहा है। विचार से पता चलता है कि हम कैसे जीतेंगे। इन्द्रियां जिस पक्ष की तरफ मिल जायेंगी वही जीत जायेगा।

* * * *

तुरीय की प्राप्ति का उपाय क्या है? वासनारूपी विषयोच्छिष्ट का नाश। विषयग्रहण के समय उससे प्रभावित न होने से ही यह संभव है। इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण काल में भी उनसे प्रभावित न होना क्यों आवश्यक है? क्यों कि विषय बहुत शीघ्र मनुष्य को जर्जरित कर देते हैं। यथा पर्वत शृङ्गों पर वायु

के निरन्तर तेजी से चलते रहने से वृक्ष शीघ्र जीर्ण होते हैं। इसी प्रकार मन यदि अपने वेग से चलता रहे तो वह जर्जरित होकर इतना शक्तिहीन हो जाता है कि परमात्म तत्व को प्राप्त करने की शक्ति खो देता है। अतः अन्तर्दृष्टि बहिर्लक्ष्य को साधन बताया। इसे कैसे किया जाय ?

मन में एक विलक्षण शक्ति है कि एक साथ कई कार्य कर सकता है। उसकी इस शक्ति को अभ्यास से बढ़ाया जा सकता है। यथा कोई व्यक्ति मोटर चलाते हुए पास में बैठे हुए व्यक्ति से तरह-तरह की बातें भी करता जाता है और मोटर चलाने पर भी ध्यान रखता है। शतावधानी भी सुने जाते हैं। अनुभव के अन्दर जो काल आता है उसमें युगपत् मन की दो जगह प्रतीति हो रही हैं। प्रत्येक ज्ञान में ही मन के दो तीन रूप बन ही जाते हैं। पीला घड़ा देखना एक ऐसी क्रिया है कि इसमें रंग का ज्ञान, घड़े का ज्ञान और मैं देख रहा हूं यह ज्ञान युगपत् हो रहा है। यदि इसके विपरीत करो तो ज्ञान नहीं होगा। एक साथ वाक्य बोलने से जो ज्ञान होता है उसमें यद्यपि शब्द अलग अलग हैं पर उन्हें एक साथ सुनते हैं तो अर्थ बोध होता है। मन इकट्ठे ही उस सारे वाक्य का अर्थ ग्रहण करता है। सारे वाक्य के अन्दर भिन्न-भिन्न पदार्थ होने पर भी उन के द्वारा मन युगपत् ज्ञान ही करता है। ठीक इसी प्रकार यहां भी युगपत् अनुभूति अभ्यास के कारण होती है। शिशुकक्षा का बच्चा एक एक अक्षर को अलग अलग बांच कर अभ्यास करता है, पर बहुत से लोग एक उपच्छेद या एक पृष्ठ को युगपत् बांचते हैं। इसी प्रकार से यहां भी होता है। प्रत्यगात्मा की तरफ लक्ष्य और बाहर के विषय को अन्दर जाने से रोकना इसका अभ्यास अलग-अलग करना पड़ता है। जिस काल में प्रत्यगात्मा का अन्दर ग्रहण करेगा उस समय बाहर नहीं देख पायेगा। बाहर के विषयों को देखने का अभ्यास तो पहले से ही पक्का है। उसे सीखना नहीं है। केवल प्रत्यगात्मा को देखने का ही अभ्यास करना है। जैसे बात करना तो पहले से आता ही है, केवल

मोटर चलाने का पूर्ण अभ्यास कर लो तो मोटर चलाते हुए बात कर सकोगे। प्रारंभ से ही अभ्यास ऐसा हो जाय कि व्यवहार करते हुए वृत्ति एकाग्र रहे यह असम्भव है। अतः अन्तर्लक्ष्य का तात्पर्य अभ्यास या प्रयत्न के द्वारा उसे दृढ़ करना है। अपने अन्दर लक्ष्य में चित्त को एकाग्र करने के लिये शास्त्र ने कई उपाय बतलाये हैं। नाड़ी में चित्त का निरोध, प्राणायाम द्वारा चित्त का निरोध आदि। ऐसा हम मानते हैं कि सारा शरीर हमारा है। लेकिन क्या कभी आपने विचार किया कि आप कितने थोड़े से हिस्से के मालिक हैं। ये इन्द्रियें अपना काम ठीक ठीक करें इसमें भी आप स्वतंत्र नहीं हैं। पेट या यकृत को आप हुक्म नहीं दे सकते। हृदय पर आप शासन नहीं कर सकते। नख से आप कह नहीं सकते कि तुम बढ़ना बन्द कर दो। शरीर के एक छोटे से भाग पर ही हमारा अधिकार है। ठीक यही हालत हमारे मन की भी है। मनोविज्ञान के अन्वेषकों ने पता लगाया है कि मन के बहुत बड़े भाग पर हमारा अधिकार नहीं है। वासनायें न मालूम कहां से आती हैं और हमें बहा ले जाती हैं। जब मन पर हमारा अधिकार ही नहीं है तो उसका निरोध कैसे करें ?

आज कल लोग कह देते हैं कि मन को लगाना है। चाहे जैसे लगावें, बैठ कर या लेटकर। पर शरीर में दो प्रकार का नाड़ी संस्थान है। यदि हम इन पर अधिकार नहीं कर पाते तो हम उन्हें संचालित नहीं कर सकते। इन्हें क्रियास्थान एवं ज्ञप्तिस्थान (Afferent, Efferent) कहा जाता है। प्राण का निरोध हमें ज्ञान-क्रिया में स्वतंत्र करता है। प्राण वायु समस्त नाड़ी संस्थानों में जाकर अपना प्रभाव डालती है। प्राणायाम को इसी लिये करते हैं। सभी नियमन का तात्पर्य अपने शरीर और मन का शासक बनने में है। विचार के द्वारा, चिन्तन के द्वारा, मनन के द्वारा हम समझ तो जाते हैं, पर समझी हुई बात व्यवहार में नहीं आ पाती। जैसा अर्जुन ने गीता में कहा कि मानो कोई जबर्दस्ती हम को प्रवृत्त करा रहा है। यह प्रत्येक साधक का

अनुभव है। जब वेदान्त की कथा सुनते हो तो क्रोध व्यर्थ लगता है। फिर थोड़ी देर बाद क्रोध प्रकट हो जाता है।

शराबी क्यों लड़खड़ाता है ? उसका अपने ऊपर नियंत्रण नहीं है। ऐसे ही हम व्यवहार में लड़खड़ाते हैं। क्यों ? कामादि विकारों के कारण। हम बार बार विचार करते हैं कि शरीर और मन पर नियन्त्रण करेंगे। पर नियन्त्रण का मार्ग साधना का मार्ग है। उस पर धीरे धीरे चलना पड़ता है। यथा बारहखड़ी लिखने में बच्चे को बहुत समय लगता है। प्रत्येक अक्षर उसको अलग अलग समझाना पड़ता है। शास्त्र ने तो केवल सामान्य रूप से निर्देश कर दिया कि यदि मन संसार के भोगों की तरफ जाने लगे तो विचार से रोके। पर विचार कैसे हो ? विषयों के विकार ज्ञान से विचार आसान हो जाता है। प्रत्येक विषय के विकार को पहले अलग अलग जानना पड़ेगा। इसी प्रकार प्राणायाम में वायु का निरोध है जिसे चक्रों में करना पड़ता है। मन की प्रत्येक वासना को एक एक करके सुखाना पड़ता है, जैसे समुद्र को बूंद बूंद सुखाया जाय।

शास्त्रों में अविद्या शब्द कर्म मार्ग के लिये बताया गया है। अन्तःकरण में पापों का समूह है, जिसे मल दोष कहते हैं। उसकी निवृत्ति के लिये भाव रूप क्रिया की अपेक्षा है। आत्म तत्व की प्राप्ति तो ज्ञान से होगी पर मल को दूर करने का भी तो उपाय करना पड़ेगा। परमेश्वर का वास्तविक प्रेम तब तक उत्पन्न नहीं होगा जब तक मल रूपी दोष न हटेगा। ज्ञान का साधक समझता है कि ज्ञान के उत्पन्न होते ही सारे दोष अपने आप दूर हो जायेंगे। पर ज्ञान उत्पन्न होगा कैसे ? शास्त्रों को सुन कर और पढ़ कर एक वृत्ति का आभास उत्पन्न होता है। उससे ज्ञान की प्रतीति तो बनी, पर 'असतो निवृत्तिः' यदि नहीं हुई; काम क्रोधादि यदि अपने अन्दर रहे, तो ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ ही समझो।

ज्ञान की अग्नि उत्पन्न हो कैसे ? यदि लकड़ी ने आग पकड़ ली तो लकड़ी के ऊपर रखे बटलोई के पानी को भी उड़ा

देगी। पर यदि वह लकड़ी ही स्वयं गीली है तो आग पकड़ेगी ही नहीं। ज्ञानाग्नि सभी कर्मनाश में समर्थ है पर यदि पाप कर्म का मल हृदय में है तो ज्ञान उत्पन्न होगा ही नहीं। यद्यपि अविद्या और कर्म से बन्धन है तथापि 'अविद्याप्युपकाराय नृणां जायते विषवत्' जैसे जहर रोग को दूर कर देता है वैसे ही अविद्या रूपी जहर मल को काटने के लिये आवश्यक है। यदि अच्छी चीज को भी गलत तरीके से करो तो वह खराब हो जाती है। ज्ञान भी यदि ठीक समय पर न हो तो बन्धन का हेतु हो जायेगा। यथा संग्रहणी का रोगी यदि घी पीले तो ताकतवर होने के बजाय मौत के घाट उतरेगा। अगर विद्या का गलत प्रकार से अनुष्ठान करोगे तो बन्धन होगा।

पहले शास्त्र का श्रवण करने से तब रुचि उत्पन्न होगी। परमेश्वर की तरफ रुचि उत्पन्न होते ही कई लोग कर्मों का त्याग कर देते हैं। जब तक मल दोष दूर नहीं होगा तब तक 'तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि' की ही दशा रहेगी। कर्म में लगे रहना पड़ेगा। ज्ञान और ध्यान श्रेष्ठ हैं पर उनके लिये जब अधिकारी बनो तभी। मल दोष दूर कर ज्ञान ध्यान के अधिकारी बनोगे। तब तक कर्म करना है जब तक अन्तःकरण में तीव्र शक्ति नहीं आ जाती। अन्तर्लक्ष्य प्राप्तव्य है सही पर यह शक्ति मन को शोध कर ही मिलती है।

जब मन वासनाओं से आवृत रहता है तो अन्तःकरण पाप के मल से उसी तरह आच्छादित रहता है जिस प्रकार दर्पण मल से आच्छादित रहता है। पाप का मूलस्रोत इन्द्रिय हैं। इन्द्रियों द्वारा जब चित्त विषयों में न लगा रहे तभी उस परमशिव तत्व की प्राप्ति होती है। अतः अन्तर्दृष्टिर्बहिर्लक्ष्य की क्रिया बतलाई। अन्तःकरण के संस्कारों के द्वारा ही अन्तःकरण में शक्ति आती है। संस्कृत अन्तःकरण के लिये ही यज्ञोपवीतादि सारे संस्कार हैं। आज इन संस्कारों के न होने के कारण जीवन दुःखमय हो गया है। परमात्मा ने संसार का निर्माण जीव को दुःखी बनाने के लिये किया हो यह

सम्भव नहीं । लड़के को पिता पाठशाला इसलिये नहीं भेजता कि वह वहां जाकर निष्फल हो जाय । लड़का कह सकता है कि न तुम मुझे पाठशाला भेजते न मैं निष्फल होकर दुःखी होता । पिता कहेगा 'बेटा! भेजा विद्याध्ययन के लिये था, पर तूने वहां जाकर विपरीत अभ्यास किया' । जीव में आणवदोष आना ही उसका फेल होना है । ईक्षण इस लिये नहीं किया था कि वह संस्कार हीन होकर सृष्टि में फंसे । सृष्टि के द्वारा संस्कार मय होकर वह अपने स्वरूप को पहचाने इस लिये संसार है । जब जीव शास्त्र विरुद्ध क्रियाओं में लग गया तो आणव के ऊपर मल दोष भी छा गया । आज हमने संसार को दुःख का जाल मान लिया है । संसार में हम चिन्तित बने रहते हैं । मकान, दूकान, नौकरी, वेतन बढ़ने आदि की चिन्ता से सभी चिन्ता ग्रस्त हैं । शिव ने संसार को निश्चिन्त रहने का साधन बनाया था । हम यहां आकर चिन्ता करने लगे । इससे अधिक निश्चिन्त बनने में प्रमाण क्या कि बच्चा उत्पन्न होने के पहले ही मां के स्तनों में दूध का निर्माण कर दिया । शिव ने प्रारब्ध का नियम ही ऐसा बनाया कि प्रारब्ध के रहते हुए हम कभी मर नहीं सकते । यदि कोई तपस्या करने लगा तो इन्द्र घबरा उठता है । इसका मतलब यह है कि साधक की साधना से मन रूपी इन्द्र को तकलीफ होती है । इन्द्र को पता तो है कि १०० वर्ष तक मैं इन्द्रासन पर आसीन रहूंगा । फिर वह दूसरे को तपस्या करते देख क्यों चिन्तित होता है ? ठीक जैसे तुम्हें पता है कि जब तक प्रारब्ध है योग क्षेम बने रहेंगे फिर क्यों चिन्ता करते हो ?

संसार क्रिया का स्थल है, चिन्ता का नहीं । परमशिव ने इसे निश्चिन्त होकर क्रिया करने का स्थल बनाया था । शिव के नियम हमारी सरकार के जैसे नियम नहीं हैं जो क्षण क्षण में परिवर्तित हों । क्षण क्षण में पैदा होने वाले नियम ही चिन्ता पैदा करते हैं । इन नियमों को मनुष्य बनाता है । परमेश्वर का नियम परिवर्तित नहीं होता । पहले सत्य बोलने से पुण्य होता था तो आज

भी होगा। धर्माधर्म के नियम जैसे पूर्व काल में थे वैसे आज भी हैं। फिर भी हमने संसार को चिन्ता का स्थल बना लिया। हम संसार में एक उद्देश्य को लेकर आये थे। उस उद्देश्य को भूल कर अन्य चिन्ताओं में मग्न हो गये। गर्भोपनिषद में कहा है कि जीव जन्म लेने के पूर्व परमेश्वर से यही कहता है कि यदि मैं योनि से छूटा तो सदाशिव की शरण लूंगा और जन्म मरण के बन्धन को काटूंगा।

अन्तःकरण के संस्कार से ही बार बार स्मरण आता है कि जीवन का उद्देश्य क्या है ?

*　　　*　　　*　　　*

विषयों के जाल में फंस कर यह जीव शिव होते हुए भी अपनी शक्तियां खो देता है। जब शिकारी लोग हाथी को पकड़ना चाहते हैं तो जमीन में लम्बा, चौड़ा व गहरा गड्ढा खोद कर उसको लट्ठों से ढक कर उस पर हरी घास बिछा देते हैं। हाथी को पता नहीं चलता कि यह जमीन नहीं है। वह ज्यों ही उन पतले बांसों पर चलता है तो वे टूट जाते हैं और वह गड्ढे में गिर कर तड़फड़ाता है। बाहर निकलने की चेष्टा करता है पर निकल नहीं पाता। दस पन्द्रह रोज में जब वह तड़फड़ाना बन्द कर देता है तो उसको खींच-कर बाहर निकाल लेते हैं। इसी प्रकार अशुभ कर्मों से गड्ढा खुदता है। जब जीव धर्माधर्म का निर्णय अपने मन से करना चाहता है तो धोका खाता है। चूंकि लोग शास्त्र प्रमाण को ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये धर्माधर्म का निर्णय होता ही नहीं। मनुष्य स्वाद की खातिर मांस खाना ग्रहण करता है। ईसाई पूजा के बाद शराब का चरणामृत देते हैं। हमारे शास्त्र ने ब्रह्महत्या और सुरापान को महापातक माना है। पर दूसरे उसे पाप नहीं मानते। अतः स्वबुद्धि से धर्मनिर्णय असंभव है। आजकल लोग कहते हैं कि शराब फलों से बनती है, इसे पीने में क्या दोष है ? धर्म और अधर्म प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय नहीं हैं। इसमें केवल शब्द प्रमाण है। वेद को शब्द कहते हैं।

जब हाथी की तरह जीव अधर्म करके गड्ढे में गिरा और उसे पाप का फल दुःख मिला तो छटपटाया। पर अब अपनी बुद्धि से बाहर निकलने का मार्ग नहीं मिलता। इसी शताब्दी में दो विश्व युद्ध हो चुके हैं। सन् १६१४ की अपेक्षा सन् १६३८ में संसार का दुःख घटने की बजाय बढ़ गया था। आज हमारे दुःख में और भी अभिवृद्धि हो गई है। हम सब चाहते हैं कि दुःख घटें। पर वह बढ़ता जाता है। अधर्म की न्यूनता से ही दुःख न्यून हो सकता है। पर धर्माधर्म का निर्णय न हो सकने के कारण अधर्म घटता ही नहीं। यथा गड्ढे में गिरा हुआ हाथी स्व-बुद्धि से बाहर नहीं निकल सकता।

पाप के दो फल होते हैं, एक तो अविवेक की वृद्धि और दूसरा दुःख की वृद्धि। जब मनुष्य पहली बार चोरी करता है तो विवेक जाग उठता है। वह कहता है कि यह बुरा कर्म है। फिर फिर पाप करने से विवेक घटता जाता है। अन्त में पाप ही स्वभाव बन जाता है। व्यापारी लोग पहले लुके छिपे काला बाजारी करते थे। अब उनका अभ्यास इतना दृढ़ हो गया है कि दिन दहाड़े खुले आम चोर बाजारी करते हैं। जिस प्रकार हाथी को गड्ढे से बाहर निकालने के लिये बाहर से प्रयत्न करना पड़ता है, उसी प्रकार जीव को उबारने के लिये संस्कार रूपी रस्सी है। अर्थ की प्राप्ति बिना यद्यपि विवेक के भी हो सकती हैं, लेकिन ऐसे अर्थ की प्राप्ति सुखकर नहीं होगी। आज संसार में सुख के साधन बढ़ रहे हैं। आज कल दफ्तरों में मुंशी के कमरे पुराने जमाने के बादशाहों के कमरों से अधिक बढ़िया हैं। नल, शौचागार, बिजली का पंखा आदि सुविधायें पुराने जमाने के राजा को उपलब्ध नहीं थी। पर इन सुख के साधनों के बढ़ने पर भी दुःख की अभिवृद्धि हो रही है। शास्त्र ने कहा है कि सुख का कारण बाह्य श्री नहीं है। 'धनाद् धर्मं ततः सुखम्' जो धन धर्म में लगेगा वही सुख का कारण होगा। और धन धर्म में तभी लगेगा जब उसे पात्रत्व के बाद कमाया जायेगा। यदि बुद्धि के अन्दर पात्रता नहीं होगी तो धन धर्म में नहीं लगेगा। यदि धनी व्यक्ति घोर तमोगुणी है तो उसके धन से उसी का नाश होगा।

आज कल २००० रु० वेतन पाने वाला व्यक्ति भी कहता है कि तनखा तो २४ तारीख ही को खतम हो जाती है धर्म में कहां से लगायें। धर्म प्रवृत्ति कहां से हो ? कमाने के बाद धन स्वयं तो धर्म में प्रवृत्ति कर नहीं सकता। पर यदि कमाने वाले में पहले पात्रता आगई होती तो धन का विनियोग धर्म में होता।

इस पात्रता के लिये ही संस्कार हैं। हमारे पात्र सब फूटे पड़े हुए हैं। उन बर्तनों में धन, पुत्र, जो भी डालो वह हमारे काम के नहीं रहते। हमारे अन्दर विषय प्रवेश तो होता है पर सुखाभास भी नहीं हो पाता तो तृप्ति या सन्तोष का अनुभव कहां से हो ? अभी पात्रता जो नहीं आई। धन की जो अत्यन्त दुर्गति मानी गई है वह आज सामान्य विषय है। चोरी से घूस लेकर चोर बाजार में सौदा खरीदता है, तो चोरी का पैसा चोरी से गया। सरकार को धन चाहिये अतः वह कर लगाती है। इस साल नहीं दोगे तो सरकार अगले साल कर बढ़ायगी। यदि सरकारी निरीक्षक मिल से घूस लेगा तो मिल वाला कपड़े के दाम बढ़ा कर लेगा। इन सब का कारण संस्कार का अभाव है। दुष्कर्म से प्राप्त धन धर्म में नहीं लगता। विनय से पात्रता आती है। मैं सब कुछ करने में, सब कुछ जानने में समर्थ नहीं हूं, यह विनय है। आज हमारे जीवन से विनय का स्वरूप ही उठ गया। विद्यार्थी यह मानने को तय्यार नहीं कि अध्यापक अच्छा पढ़ाता है। अध्यापक यह मानने को तय्यार नहीं कि विद्यार्थी अपने प्रयास से सफल हुआ। आज युग अहंमन्यता प्रधान है। राजनीतिज्ञ कहता है 'मैं तुम्हारा जीवन स्तर बढ़ाऊंगा'। उससे पूछो कि तुम हमारा स्तर कहां से बढ़ाओगे, पहले अपना ही स्तर बढ़ालो। हमारे यहां विनय के केन्द्र माता पिता थे। आज बच्चा पाठशाला में पढ़ता है कि हमारे पूर्वज जंगलियों की तरह नंगे रहते थे। इससे हम विनय भंग करने की शिक्षा देते हैं। शिक्षा का अर्थ है ठीक रास्ते पर लगाना। आज अधिक किताबों को बांचना शिक्षा माना जाता है। तुम्हारी माता को दादीसास यदि दस गालियां देती थी तो वह सर

नीचा करके सुनती थी । तुम आज बी० ए० पास करके आयीं । सास ने अगर इतना भी कह दिया कि दाल देख कर बनाया करो तो कहती हो कि इसके साथ हमारी निभेगी नहीं । जितनी ही अहंमन्यता बढ़ेगी उतनी ही पात्रता दूर जायेगी । विनय का साधन क्या ? विद्या ददाति विनयं । विद् का अर्थ है जानना । अकबर और जहांगीर की तारीख रट लेना विद्या नहीं है । विद्या वह है जो मनुष्य को आत्म तत्व के ज्ञान की ओर प्रवृत्त करे । जो इन्द्रियों को शान्त करे उसका नाम ज्ञान है । 'सा विद्या या विमुक्तये' । मुक्ति की शिक्षा आज किस पाठशाला में मिलती है ? मदनमोहन मालवीय जी गीता हिन्दू विश्वविद्यालय में स्वयं पढ़ाते थे तो भी पचास साठ विद्यार्थी मुश्किल से आकर बैठते थे । उनके मरने के बाद तो वह कक्षा भी बन्द हो गयी है । मोक्ष का अर्थ है दुःख से निवृत्ति । दुःख का कारण इन्द्रियों का विषयों की ओर दौड़ना है । उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, आदि संस्कारों द्वारा विद्यार्थी विद्या पाता है । फिर गृहस्थ में आने के पूर्व अग्न्याधान करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है । विवाहो न विलासार्थं । धर्म अर्थ और काम बगैर विवाह के सम्पन्न नहीं होते अतः विवाह किया जाता है । पर मोक्ष के मार्ग में अकेले भी चल सकता है । अन्ततोगत्वा तो अकेले चलना ही पड़ेगा ।

*　　　　*　　　　*　　　　*

विवाह इत्यादि सभी कर्म वैदिक दृष्टि से परमेश्वर प्रीति के लिये किये जाते हैं । यज्ञ में आहुति देते समय 'इदं न मम' कह कर उसके ऊपर से अपना अधिकार हटाया जाता है । गीता में योगिराज कृष्ण ने भी कहा है 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दन्ति मानवाः' सब कर्मों को जब उसी की अर्चना में लगा दिया जाता है तो परमेश्वर ही जीवन का एक मात्र केन्द्र बन जाता है । जीवन का केन्द्र परमेश्वर को बना कर जब प्रवृत्ति होगी तभी परमेश्वर की प्राप्ति होगी ।

आज हमारे जीवन में विशृङ्खलता अधिकाधिक होती चली जा रही है क्यों कि जीवन के केन्द्र विभिन्न हो गये हैं । धीरे धीरे धन

परमेश्वर का स्थान लेना चाहता है, पर ले नहीं पा रहा है। यदि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के केन्द्र अलग अलग होंगे तो समाज विशृङ्खलित हो जायेगा। वेदों ने व्यक्ति और समाज दोनों का केन्द्र परमेश्वर को बनाया।

भाष्यकार शंकर कहते हैं सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं। यह सारा संसार हमको आनन्द देने के लिये है। केनोपनिषद् में परब्रह्म परमात्मा को वन कहा गया है। भाष्यकार इसे वननीयं कहते हैं। नन्दनवन में तो कल्पवृक्ष होता है। संसार में कल्प वृक्ष कहाँ ? यहां सारे पदार्थ कल्पद्रुम हैं सर्वेऽपि कल्पद्रुमा:। कल्प का अर्थ है निर्माण। यह सारा संसार तुम अपने मन के अनुसार ही बनाते जाते हो। शरीर में जो फोड़ा होता है वह दीखता तो बाहर है पर होता है अन्दर की खून खराबी के कारण। बाहर शरीर में बुखार है पर चिकित्सक कहेगा कि वह मुक्ताणु के कारण है। बाहर का इलाज करने से, केवल नहलाने इत्यादि से, बुखार ठीक नहीं होगा। अन्दर दवाई लेनी होगी। ऐसे ही फोड़े को ठीक करने के लिये अन्दर पेनिसलीन का इन्जेक्शन लिया जाता है!

इसी प्रकार जब बाहर संसार में गलती दिखाई दे तो समझो कि अन्दर रोग आ गया। बाहर के संसार को जितना ही बदलने की चेष्टायें करते हो उतना ही संस्कार और वासनायें दृढ़ होती जाती हैं। अत: आभ्यन्तर जगत् को बदलो। इस समय भी संसार में तुम्हारी कामनायें ही पूर्ण हो रही हैं। पर आज खराब कामनायें पूर्ण हो रही हैं। फिर आभ्यन्तर जगत् को बदलने के बाद अच्छी कामनायें पूर्ण होंगी।

कल्पवृक्ष की कहानी प्रसिद्ध है। एक आदमी जंगल में जा रहा था। एक पेड़ के नीचे थक कर बैठ गया। सोचने लगा कि यदि बिस्तर होता तो बड़ा आराम होता। फौरन बिस्तर लग गया। बिस्तर के लगने के बाद सोचने लगा कि भूख लगी है। यदि भोजन भी मिलता तो बढ़िया होता। वह मिला। भोजन खाकर नींद आने

लगी। सोचने लगा कि यदि यहां शेर आ जायेगा तो मुझे खा जायेगा। फौरन शेर आ गया और उसे खा गया।

स्पष्ट है कि कल्पवृक्ष के नीचे बैठ कर भी उस मनुष्य को ठीक संकल्प करना नहीं आया। हम सब लोग कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हुए भी दुःखी हो रहे हैं। ठीक संकल्प नहीं करने के कारण दुःख भोग रहे हैं। वैदिक दृष्टि संसार को बदलने की नहीं है। अपने स्वरूप को बदलने की है।

विवाह इत्यादि संस्कार काम जय करने के लिये हैं, कामुक बनने को नहीं। काम की विजय कैसे सम्भव है, इस विषय में भगवान शंकर का उत्कृष्ट उदाहरण हमारे सामने है। भगवान् शंकर हिमालय में तपस्या कर रहे थे। पार्वती भी समीप में ही तपस्या करने लगीं। हिमालय पार्वती को अपने साथ लेकर शिवजी के पास गये कि यह आपकी सेवा करती रहेगी। शंकर ने आज्ञा दे दी। धीरे धीरे कुछ वर्ष व्यतीत हुए। पार्वती में यौवन आया। दृष्टि में परिवर्तन हुआ। इसी समय देवताओं को तारक राक्षस को मारने के लिये शिव-पुत्र की आवश्यकता थी। अतः शिव को विवाह में प्रवृत्त करने के लिये कामदेव से कहा कि तुम इस काम को करो। इन्द्र ने ढाढस भी दिया कि पार्वती तुम्हारी सहायता करेंगी। महादेवी की सौन्दर्य घनमूर्ति को साधन बना कर तुम अपना कार्य करना। कामदेव ने अपने अस्त्रों का प्रयोग किया। पार्वती वहीं खड़ी थीं। भगवान् के मन में रजोगुण का उद्रेक हुआ। विचार किया कि इसका क्या कारण है। मेरा अन्तर्जगत् तो वासना रहित है। समझ में आया आभ्यन्तर जगत् के वासना निर्मूल होने के कारण यह स्पष्ट है कि कहीं बाहर से आक्रमण हुआ है। समाधि से शिवजी व्युत्थान की अवस्था में आये। कामदेव भूल गये थे कि वे जीव के सामने नहीं जा रहे हैं। ईश्वर में काम तथा क्रोध एक साथ रहते हैं। जीव में काम रहेगा तो उस समय क्रोध नहीं रहेगा। शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये। विघ्न होने पर भी दक्षिण चक्षु से अभी समाधि की खुमारी नहीं गई

थी। जगत् का भान ठीक ठीक नहीं हो पा रहा था। ध्यान की खुमारी अभी टूटी नहीं थी। पर विक्षेप हो गया था। चक्षुर्योग-समाधिना मुकुलितं। नेत्र कमल अभी खुला नहीं है। यह शान्त रस है। समाधि काल की शान्ति अवस्थान कर रही है। द्वितीय बांयी चक्षु पार्वती के विशिष्ट अवयव संस्थान को देखते हुए 'शृङ्गारभारालसत्' है। यह रजोगुण है। 'अन्यद्दूरनिरस्तचापमदनक्रोधानलाद्दीपितं' तृतीय नेत्र ने देखा कि कामदेव ने बाण मारा है। जब तक वह नेत्र खुले खुले कामदेव घबरा गया। उसने अपना धनुष फेंक दिया। अब शिव की आंख क्रोधानल से दीपित है। उस आंख में तमोगुण आ गया। दक्षिण चक्षु में जिस समय सत्व गुण है, वाम चक्षु में उसी काल रजोगुण है और तीसरे नेत्र में उसी समय तमोगुण है। महेश्वर में तीनों गुण एक साथ रहते हुए भी शिव तीनों के अधिपति हैं। जीव में एक साथ तीनों का अतिरेक नहीं हो सकता। जीव में जो भी गुण आता है वह जीव को दबा कर रखता है। परमशिव अधिपति बने रहते हैं। काम जल गया। रति विलाप करने लगी। पार्वती के हाथ से वरपुष्प माला गिर पड़ी। सौन्दर्य का दर्प नष्ट हो गया। अपने लावण्य के दर्प के नष्ट होते ही वह माला फेंक कर चली गई।

शिव को सौन्दर्य और काम से प्राप्त नहीं किया जा सकता। वे तप से पाये जाते हैं। अतः तप प्रभाव से बाद में पार्वती ने शिव को पाया। जिसे बाह्य कामना से प्राप्त नहीं कर सकी उसे आन्तरिक तप से प्राप्त किया। कामदेव अनङ्ग (अंग रहित) बना। तब उत्पन्न हुए स्वामी कार्तिकेय।

हम काम से प्रवृत्त हैं। जब तक हम इसे दहन नहीं करेंगे हमारा विवाह आदर्श अर्थात् शिव विवाह नहीं कहला सकता। काम दहन के बाद होता है शिव विवाह। ब्रह्मचर्य काम दहन का काल है।

* * * *

हम लोग रोज प्रार्थना करते हैं 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः,

भद्रं पश्येम अक्षभिः यजत्राः, स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवाँ संस्तनूभिः' हम आनन्दवाद को मानते हैं। संसार दुःख का स्थल नहीं है। इस ब्रह्म रूप जगत् से हम भय कैसे खायें। भय तो दूसरे से होता है। यहां द्वितीय है ही नहीं।

स्थिर अंगों से हम क्या करें? परमेश्वर की तुष्टि। संसार में रहो तो इसके अधिपति बन कर रहो। भगवान् शंकर ने विवाह किया काम दहन के बाद। मन को विजय करना सीखो ब्रह्मचर्य आश्रम में तब गृहस्थ को स्वर्ग बना सकोगे। कटहल काटते समय पहले हाथों में तेल लगा लेने से वह हाथ में चिपकता नहीं। पहले ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्म ज्ञान का तेल चुपड़ लो। बचपन में अगर यह तेल चुपड़ लोगे तो गृहस्थ स्वर्ग बन जायेगा। यह वैदिक दृष्टि कैसे बनेगी? इन्द्रियां देवताओं की प्रतीक हैं। इन्द्रियों के द्वारा कामना उत्पन्न होती है। उन्होंने कामना को प्रेरित किया। कामना को भस्म किया जाता है अग्नि से। अग्नि विराट् है। विराट् पुरुष पूजन ही पञ्च महायज्ञ हैं।* मनुष्य, पशुपक्षी, देवता, ऋषि, पितर सबका पूजन विराट् पुरुष का पूजन है। विराट् की दृष्टि रखने वाले के ऊपर काम का प्रभाव नहीं होता। काम का प्रभाव केवल परिच्छिन्न संकुचित दृष्टि वाले के ऊपर होता है। यदि आप के पास दो दूकानें हैं और एक दूकान का जमा खर्च अलग और दूसरी का अलग है तो आप कभी यह इच्छा नहीं करते कि एक का दीवाला निकल जाय। आप दोनों की तरक्की चाहते हैं। इसी प्रकार जब मैं ही प्राणी मात्र के अन्दर विद्यमान हूं तो ये सब अलग-अलग दूकानें मेरी ही हैं।

इस विराट् उपासना के लिये गृहस्थाश्रम है।

* * * *

आत्मा की दृष्टि से तो न बन्धन है, न मोक्ष है, न साधक है।

---

*यज्ञों के विषय में विशेष जानकारी लेखक की अंग्रेजी पुस्तक 'Jiwan yajna' से की जा सकती है।

फिर यह सब बन्धन, मोक्ष और साधना किस की दृष्टि में हैं ? यह सब मन का ही खेल है। मन का अर्थ है 'मैं नहीं'। जो मेरे से भिन्न प्रतीत हो रहा है उसका अनुभव होना बन्धन है। जो 'मैं नहीं' उसकी प्रतीति न होना मोक्ष है। यदि मन में चञ्चलता का स्वरूप या स्वभाव हो तो मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। गीता में श्रीकृष्ण से अर्जुन ने कहा 'चञ्चलं हि मनः' तो भगवान् ने भी उत्तर दिया 'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्'। श्रीकृष्ण मन को अनिग्राह्य नहीं कहते। अभ्यास और वैराग्य से उसका निग्रह हो सकता है 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'। पतञ्जलि महर्षि ने भी अपने योग सूत्रों में 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' कहा।

अभ्यास को पहले और वैराग्य को बाद में क्यों रखा ? इस में सारी वर्णाश्रम व्यवस्था का आधार छिपा है। पहले जिसने अभ्यास किया है वही बाद में वैराग्य प्राप्त करता है। शुद्धान्तःकरण में ही वैराग्य आता है। 'पुनरावृत्तिः अभ्यासः' बार-बार जो किया जाता है वह अभ्यास है। विषय से बार बार निवृत्ति कैसे हो ? यथा भारत में कई रोग हमको नहीं होते पर अंग्रेज को हमारे सम्पर्क में आते ही वे रोग होने लगते हैं। बार बार उन रोग के कीटाणुओं से बचपन से सम्पर्क में आने के कारण हममें उन रोगों के विरोधी कीटाणु बन जाते हैं। इसी सिद्धान्त के आधार पर टीका लगाया जाता है। बाद में उस रोग के अधिक कीटाणु आते हैं तो शरीर लड़ाई के लिये तैयार रहता है। ठीक इसी प्रकार जो व्यक्ति इन्द्रिय और विषयों के साथ शास्त्रीय अभ्यास करता है वह बाद में उन विषयों के सामने आने पर घबराता नहीं है। यथा गांव वाले को पहले पहल शहर में नींद नहीं आती। वहां हर समय हल्ला होता रहता है। पर शहर वाले को मोटर की आवाज में भी सोने का अभ्यास है। चीनी सिपाही कोरिया वगैरह में युद्ध का अभ्यास करते रहे। भारतीय सेना का चीन के भारत पर आक्रमण करते समय पहाड़ों में लड़ाई करने का अभ्यास १५ वर्षों से छूटा हुआ था तो चीनी

आक्रमण को न रोक सके। अतः इन्द्रियों का अभ्यास द्वारा नियन्त्रण कर लो तो अशास्त्रीय प्रवृत्ति न होने पायेगी। विषयों से बचकर रहने की प्रवृत्ति पर्याप्त नहीं। अपने अन्दर ऐसी शक्ति लाओ कि विषयों के सामने आने पर भी तुम विचलित न हो पाओ।

* * * *

वैदिक धर्म में सोपान क्रम है। यदि साधक एक एक सीढ़ी चढ़ कर चलता है तो अन्त तक पहुंच जाता है। सीढ़ी नीची होंगी तो चढ़ने में कष्ट नहीं होगा। इसीलिये वेद ने अनेक सीढ़ियों का निर्माण किया जिससे धीरे धीरे सब पहुंच जायें। पर यदि शरीर में बल हो, जल्दी चढ़ने की इच्छा हो और पैर लम्बे हों तो एक व्यक्ति चार-चार सीढ़ियां भी लांघ सकता है। कमजोर साधक छोटी सीढ़ी से भी चढ़ सकेगा। यदि बीमार व्यक्ति से प्रातः स्नान करके ही ध्यान में बैठने के लिये कहा जाय तो उसे बुखार आने लगेगा। पर दौड़ सकने वाले १६ साल के बच्चे को रेंगना शोभा नहीं देता। जो प्रातःकाल ३½ बजे उठकर स्नान करके ध्यान करने में समर्थ है वह यदि ६ बजे तक सोता ही रहे तो गलत है। पर यदि कोई बीमार बुड्ढा रजाई लपेट कर ही ध्यान करे तो प्रसन्नता होगी। ध्यानादिक की सामर्थ्य होते हुए भी जिम्मेदारी से घबराना नहीं चाहिये। जिम्मेदारी नहीं होती तो शायद पड़े पड़े सोते ही रहते। घर की जिम्मेदारी यदि सिर पर है तो दूकान आठ बजे खोलनी ही है। इस जिम्मेदारी को उसे निभाना ही है। प्रतिरोध से शक्ति का प्रस्फुटन अधिक होता है। क्रिया के ऊपर प्रतिक्रिया निर्भर करती है। गेंद को जितनी जोर से मारोगे उतनी जोर से उछलेगी, सिर्फ दीवार पुख्ता होनी चाहिये। जितनी रुकावट ज्यादा होगी उतना प्रयत्न बढ़ जाता है।

काशी में संकट मोचन का मन्दिर है। वहां पर मनौती मानने से लड़के पास हो जाया करते हैं। परीक्षा के एक महीने पहले विद्यार्थी वहां इतनी भीड़ करते हैं कि रास्ता मिलना कठिन होता है। सभी प्रार्थना करते हैं कि हनुमान जी मुझे पास करा दो तो रोज दर्शन करूंगा।

यद्यपि परीक्षा रूपी प्रतिबंधक बैठा हुआ है तो भी उनके पास दर्शन का समय निकल आता है। फिर जब परीक्षा खतम हुई तो मन्दिर जाने की फुर्सत ही नहीं रहती। ऐसे ही बीमार आदमी ध्यान अधिक करता है। स्वस्थ व्यक्ति को ध्यान करने की फुर्सत ही नहीं। साधक ऋषीकेश कभी छुट्टी लेकर चला गया तो सारा दिन भजन करने के लिये पड़ा हुआ है ऐसा समझ कर देर से उठता है। कर्तव्य कर्म से जो घबराता है वह साधना करने में सफल नहीं होता। कर्तव्य की सीढ़ी पर धीरे धीरे चलने वाला यात्री अन्तिम लक्ष्य तक पहुंच जाता है। बुड्ढा यात्री सवेरे से ही उठ कर चलने लगता है। जवान देर से उठता है और मार्ग देर से तय करता है। अतः शास्त्रों ने सब को धीरे धीरे चलने का मार्ग दिखाया ताकि कम इच्छा वाला भी, थोड़ा ही सही, बढ़ता चले। सबसे अधिक खराबी इच्छा की कमी से है। रोग से पीड़ित तो दया का पात्र है। छोटे पैर वाले में सामर्थ्य की कमी है। पर यदि ताकत भी है और चल भी सकता है, फिर भी धीरे धीरे चलता है तो वह रोष का पात्र बनता है। कर्तव्य बोझ से दबे हुए को देख कर दया आती है कि पहले ही प्रयत्न कर लिया होता तो कितना अच्छा होता।

शास्त्र ने सोलह संस्कारों की व्यवस्था की है।* इन सोलह संस्कारों में कुछ प्रवृत्ति प्रधान हैं, कुछ निवृत्ति प्रधान। गर्भाधान से लेकर निष्क्रमण तक संस्कार प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में सम हैं। उपनयन से विवाह तक निवृत्ति की परम्परा है। विवाह के बाद प्रवृत्ति की परम्परा है। पर विवाह के बाद चार संस्कार निवृत्ति प्रधान हैं। गर्भाधान से नामकरण तक माता पिता में कर्तृत्व हैं। उसके बाद कर्ता का सहयोग अपेक्षित है। उपनयन में कर्ता का सहयोग काफी है। विवाह में माता पिता गौण और कर्ता प्रधान है। विवाह के बाद चार संस्कारों में कर्ता ही उन्हें करता है। शास्त्र उन संस्कारों में कर्ता को लेकर ही प्रवृत्त होता है।

---

*विशेष विवरण के लिये 'संस्कार मयूख' द्रष्टव्य है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

विवाह के बाद का संस्कार है दीक्षा। जब शास्त्रानुसार कर्म करते रहते हैं तो विषय प्रवृत्ति घटती जाती है। अगर विषय प्रवृत्ति बढ़ गई तो समझना चाहिये कि रोग बढ़ गया। यदि विषयों की प्रवृत्ति बढ़ रही है तो समझना चाहिये कि गृहस्थाश्रम का पालन ठीक नहीं हो रहा है। क्रिया हो सकती है। पर प्रवृत्ति वृद्धि का अर्थ है रस। यदि विषयों में रस घटता जा रहा है तो नित्य, नैमित्तिक अनुष्ठान अपना फल दे रहे हैं।

मन कभी खाली नहीं बैठता। बिना कुछ किये हुए कोई बैठ नहीं सकता 'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठति अकर्मकृत्' 'कार्यंते ह्यवशः कर्म' कर्म सब कर रहे हैं। क्रिया सफल है कि निष्फल केवल यही जानना है। संस्कृत विदेशों में लोग समय के फल को देखते हैं कि एक घंटा काम करके हाथ क्या आया। वे व्यक्ति यदि अन्य कुछ भी काम नहीं है तो अपने बगीचे में फूल लगाते हैं। भारत में लोग चार घंटे हमारे साथ रहकर भी सत्संग से कुछ लेकर नहीं जाते! यही फरक है हमारी और विदेशी की दृष्टि में। सफल और निष्फल प्रवृत्ति ही इस भेद का आधार है।

विषयन्यूनता की कमी को पूरी करेगी मुमुक्षा। मोक्ष की इच्छा यदि उस कमी को पूरी नहीं करती तो वैराग्य शुष्क है। वैराग्य के दो अर्थ हैं। एक तो राग के विपरीत भाव को वैराग्य कहते हैं। यह तो विषयों के प्रति हुआ। दूसरा विशेष रूप से रक्त को भी विरक्त कहेंगे। 'परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोपरमात्मनि'। वैराग्य का यही अर्थ पूर्ण है। परमात्मा में आसक्ति से नहीं घबराना चाहिये। सब चीजों से आसक्ति छोड़ने से परमात्मा में आसक्ति बढ़ा दो। यदि वैराग्य तमोगुण मूलक है तो परमेश्वर की तरफ प्रयत्न करने के लिये भी प्रबल प्रयत्न की कमी रहती है।

शास्त्र विहित कर्म करने वाले गृहस्थ की मुमुक्षा बढ़ेगी। उसे केवल मार्ग दशन के लिये दीक्षा की आवश्यकता है। दीक्षा का अधिकारी मुमुक्षा के बाद है। यदि यज्ञ, दान, तप सब परमेश्वरार्पण बुद्धि

से किया जाय तो श्रुति कहती है कि परमेश्वर विविदिषा देगा। यदि परमेश्वर ने आप में अपने को जानने की इच्छा पैदा की तो यह काफी नहीं है। उसका फ़ज़ जानने की सारी सामग्री भी इकट्ठा करना है, ऐसा आचार्य पद्मपाद कहते हैं। यथा माता छोटे बच्चे को दूध पिलाने की घड़ी देखती रहती है, पर बड़े बच्चे से कहती है कि तुझे भूख लगी है तो रोटी खाले।

दीक्षा का आधार है शिष्य द्वारा आत्म समर्पण, और गुरु का काम है आत्म निक्षेप। मैं का अर्थ साधारणतया लोग देह, प्राण, मन आदि समझते हैं। इन सब को छोड़ना शिष्य का काम है। उसमें आत्म निक्षेप करना गुरु का काम है। दीक्षा का अधिकारी कौन है? जो नित्यानुष्ठान से अन्तःकरण को शुद्ध कर चुका है और सदाशिव की शरण लेना चाहता है। जब विविदिषा उत्पन्न हो चुकी हो तभी दीक्षा मिलती है।

* * * *

शास्त्र के अनुकूल आचरण करने से धीरे धीरे प्रवृत्ति से उपराम होने लगता है। साधारणतः मोक्ष सभी चाहते हैं पर मुमुक्षा उस उपराम के बाद ही जागृत होती है। बन्धन में छटपटाना एक बात है उसका प्रिय न लगना सर्वथा दूसरी। कुछ लोग जेल में जाकर भी आराम से रहते हैं। संसार रूपी जेल में भी दो प्रकार के व्यक्ति हैं। एक यहां से जाते हैं तो 'पुनरागमनाय च' फिर वापस इसी जेल में आने के लिये। गीता ने ऐसे ही लोगों के लिये कहा 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च'। दूसरी कोटि के लोग परिश्रम करने को तय्यार हैं कि गर्भ यातना में फिर न पड़ें। साधारण व्यक्ति तो परमेश्वर की ओर इतनी भी प्रवृत्ति नहीं करता जितनी दूकान या नौकरी की ओर करता है। लोग १०२ डिग्री बुखार में भी दूकान पर पहुंचते हैं और घर में बीमार पत्नी को छोड़ कर भी नौकरी पर जाते हैं। १०२ डिग्री बुखार में ध्यान करने कोई नहीं बैठता। अतः साधना में जितना कष्ट या बलिदान

चाहिये उसे सहने के लिये कोई तय्यार नहीं होता। जेलर लोग बताते हैं कि जिन का चोरी करना स्वभाव हो गया है वे जेल से छूटना नहीं चाहते। पर जो पहले पहल जेल में आते हैं वे जेल से छूटना चाहते हैं। इसी प्रकार जिनकी दीर्घ काल तक अनुष्ठान करने से संसार की वासनायें दृढ़ नहीं हैं वे संसार से छूटना चाहते हैं। मनुष्य जन्म में सभी लोग एक से नहीं आते। ईसाई धर्म ने सारे मनुष्यों को एक जैसा माना है। हमारे संविधान में भी मान लिया गया है कि सारे मनुष्य एक से हैं। पर यह केवल अन्धविश्वास है कि सारे मनुष्य एक से हैं। निरन्तर देखते हैं कि हरेक आदमी दूसरे से भिन्न है। कुछ लोग आपत्ति करेंगे कि हमारे यहां भी तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहा है। ब्रह्म रूप से वास्तव में एकता होने पर भी उपाधि सबकी अलग अलग हैं। संचित संस्कार या वासनायें भी अलग अलग हैं। जैसे सब गहने स्वर्ण रूप से एक से हैं, पर करधनी कमर में ही पहनी जायेगी और नथ नाक में। वैसे ही सब मनुष्यों की योग्यतायें भिन्न भिन्न हैं। उपाधि से ही सब व्यवहार है। सब मनुष्य एक से हैं, इस प्रकार की मान्यता ईसाई धर्म में मनुष्य पहली ही बार पैदा हुआ है ऐसा मानने से है। पर हमारी मान्यता संस्कार और पुनर्जन्म की है। मनुष्य यहां भिन्न भिन्न जगहों से पहुंचता है। कोई स्वर्ग से, कोई नरक से, कोई पशु योनि से और कोई ब्रह्म लोक से। अतः पूर्व अनुष्ठान से जिस जिस ने अपनी वासनाओं को धो दिया है और अब यहां आया है उसकी तड़फड़ाहट है कि मुक्त हो जाय। पर कई लोग ऐसे भी हैं जो समझते हैं कि संसार ऐसा होस्टल है जहां बोर्डिङ्ग और लोजिंग, खाना और रहना, मुफ्त का है। हिन्दी के एक लेखक हैं जो ब्रह्म को अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानते हैं। वे कहते हैं कि ब्रह्म तो कहीं चला न जायगा, पर भोग तो आज भोग लें। अतः मुमुक्षा का उदय होने पर ही दीक्षा संस्कार का अधिकार प्राप्त होता है।

मुमुक्षु दो प्रकार के होते हैं। एक निर्बीज और दूसरे सबीज।

'मुमुक्षुर्द्विविध: प्रोक्तो निर्बीजो बीजवान् पुन:' निर्बीज तो वह हैं जिसकी संसार वासना का बीज हट चुका है। सबीज या बीजवान् वह है कि जिसे मोक्ष की इच्छा भी है एवं उसके लिये प्रयत्न भी करता है पर संसार वासना का बीज भी पड़ा है। यथा घास साफ कर दी गई और पानी बरसने पर फिर नहीं उगी तो वह सफाई निर्बीज मानी जायेगी। पर पानी बरसने पर फिर निकल आती है तो सबीज सफाई मानी जायेगी। मोक्ष की इच्छा निर्बीज और सबीज दोनों में है। अत: दीक्षा के लिये अधिकार तो शास्त्रों ने दोनों का मान लिया।

पर दीक्षा में थोड़ा सा फरक गुरु करता है। क्यों कि दीक्षा के बाद विशेष शक्ति आते ही यदि वासना का बीज है तो वह फिरसे संसार में प्रवृत्ति करने लगता है। निर्बीज दीक्षा से गुरु जिसमें मोक्ष रूपी फल उत्पन्न न हो सके ऐसे बाल, वृद्ध, स्त्री, रोगी या भोगभुक् लोगों को, ताकि बाद में दिक्कत न आये, पहले तय्यार करता है। बाल का अर्थ यहां बालक नहीं है। धीरे धीरे अनुभव से धर्म में प्रौढ़ता आती है। जिसने साधनों का ठीक ठीक पालन किया वह प्रौढ़ है जहां बुड्ढों को बच्चों जैसा व्यवहार करते देखा जाता है वहां दाढ़ी सफेद होने पर भी मन बुड्ढा नहीं मान सकते। हम प्रौढ़ता का नकाब लगाकर भी अभी प्रौढ़ नहीं हैं। यहां पर भी बाल और बालिश (बाल के जैसा) निर्बीज दीक्षा के अधिकारी हैं क्यों कि इनका पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता।

स्वामी विवेकानन्द को अपने गुरु से विशेष शक्ति मिली तो एक बार उन्होंने स्वामी अभेदानन्द से कहा कि तुम हमारे शरीर को छूकर बैठो, फिर हम समाधि में बैठेंगे। फिर तुम बताना कि क्या हुआ। अभेदानन्द ने वैसा ही किया और उनकी भी समाधि लग गई। दूसरी सुबह रामकृष्ण परमहंस उनसे बोले कि मैंने तुझे प्रौढ़ समझा था, पर तू रहा निरा बच्चे का बच्चा। शक्ति का प्रयोग कहां करना चाहिये अभी तूने यह सीखा ही नहीं। उसे खर्च करने लगा। यह है

बालिश अवस्था । आध्यात्मिक शक्तियों का संचय करते करते जो भावना आती है वह है प्रौढ़ता ।

वृद्ध के लिये दीक्षा निर्वीर्य इसलिये है कि उसके शरीर आदि सामर्थ्य हीन हो जाते हैं, मन आदि भी कमजोर हो जाते हैं । स्त्री के अन्दर स्वतंत्रता की कमी है। वह पूर्ण रूप से साधना में नहीं लग सकती । प्रायः स्त्री का जीवन परतंत्र है, अतः वह उस साधन को पूर्णरूप से प्रस्फुटित नहीं कर सकती । अतः उसकी दीक्षा भी निर्वीर्य हो जाती है। भोगभुक् के अन्दर भी वह दीक्षा निर्वीर्य फल रहित हो जाती है । जो इच्छा पूर्वक भोगों में लगता है वह तो इसका अधिकारी ही नहीं, पर जो अनिच्छा होते हुए भी भोगों को भोगने को बाध्य होता है वह भी भोग भुक् है। यथा राष्ट्रपति स्वयं कानून नहीं बनाने पर भी दूसरों के बनाये कानूनों पर स्वाक्षर करते हैं तो वे भोग-भुक् हुए । बीमार को भी दीक्षा दे दो तो वह निर्वीर्य है। उसको विशिष्ट नियमों से रहित ही दीक्षा दी जाती है ।

निर्वीर्य साधक संसार पर निर्भर करता है। वह समझता है कि संसार का काम तो व्यवहार से चलेगा ।.वीर्यवान् साधक अपनी वासना छोड़ कर परमेश्वराधीन होता है। उसकी परीक्षा भी होती है। जब सब कुछ महाकाली पर छोड़ा तो विपत्ति पर विपत्ति आती रहती है। साधारण साधक समझता है कि मैंने सब कुछ महाकाली पर छोड़ा तो अब दूसरे ही दिन से रसगुल्ला खाने को मिले। संसार के सुखों पर आसक्ति वाला साधक अपनी सबीजता को समझ ले तो ठीक रहेगा। अगर अपने को निर्बीज मान कर चलेगा तो बाद में वासना के उदित होते ही गड़बड़ हो जायेगा ।

* * * *

इस प्रकार सबीज और निर्बीज दो प्रकार के अधिकारी हैं। सबीज साधक वह है जिसमें वासनायें अभी दबी हुई हैं पर नष्ट नहीं हुईं। सबीज मंत्र वह है जो आत्म ज्ञान पर्यन्त फल देता है। अतः

सबीज साधक को निर्बीज मंत्र मिलता है और निर्बीज साधक में सबीज मंत्र होता है। यथा जिस खेत में अच्छी खेती उत्पन्न करना है उसे पहले निर्बीज करके, उसकी अत्यन्त सफाई करके, उसे सबीज करने को अत्यन्त उत्तम बीज डाला जाता है। भोजन की थाली परोसने के पहले यह देख लिया जाता है कि थाली में धूल का एक कण भी नहीं है। उसी प्रकार सबीज मंत्र यदि देना है तो यह देखना पड़ेगा कि वासना निर्मूल हुई या नहीं। यदि आपको अपने कमरे को गीले कपड़े से पोछना है और आपको धोबी का धुला हुआ साफ कपड़ा दिया जाता है तो आप मैला कपड़ा मांगते हैं। पर यदि आपको कपड़े पहन कर बाहर जाना है तो आप साफ कपड़ा पहनते हैं। पूर्ण शुद्ध भूमि में सबीज उपदेश संभव है। यदि भूमि ही सबीज है तो मंत्र निर्बीज होता है। इस प्रकार साधक और मंत्र में सबीज और निर्बीज के अलग-अलग अर्थ हैं।

निर्बीज दीक्षा पुनः दो तरह की होती है। साधक के गुरु के प्रति भाव से यह भेद है। जो साधक सर्वथा संसार वासना रहित भी हैं उनमें भी गुरु भाव भेद से दो भेद हैं। 'वासनाभेदतो भिन्नः शिष्याणां च गुरोस्तथा'। एक में शिष्य अपने प्रवृत्ति व प्रयत्न पर जोर देता है। दूसरे में अपने प्रयत्न को छोड़ कर सर्वथा गुरु के अनुकूल बन जाता है। लोक में भी यह स्वभाव का भेद देखा जाता है। कोई समझता है कि वस्तु अपने प्रयत्न से प्राप्त होती है, दूसरा उसमें शिव कृपा समझता है।

वैदिक संस्कृति में अपने प्रयत्न पर गर्व न करने पर जोर है। आजकल स्व प्रयत्न के गर्व पर ही जोर है। आज संविधान में भी अधिकार पर जोर है। हमारे इतने बड़े संविधान में कहीं यह नहीं लिखा कि झूठ बोलने वाले को दण्ड दिया जायगा। सबसे बड़ी झूठ अदालतों में बोली जाती है। दोनों पक्षों में एक पक्ष झूठा है, पर कानून कहता है कि वकील दोनों को मिलने चाहिये। यदि किसी ने हत्या भी कर दी हो और कोई वकील उसकी तरफ से पैरवी करने को नहीं मिलता

है तो सरकार उसे एक वकील अपनी तरफ से देगी। अगर सारे वकील सच बोलने लगें तो अदालत चल ही नहीं सकती।

इसके मूल में है अभिमान। कृष्ण ने अमानित्वं अदम्भित्वं कह कर इसे बुरा बताया। यद्यपि प्रयत्न तो मानी और अमानी दोनों करते हैं, पर एक प्रयत्न करके भी उसे कृपा मानता है। दूसरा उसे अपना प्रयत्न मानता है। आज हम खुले आम कहते हैं कि हम देश की उन्नति कर रहे हैं, पर यदि देश की अवनति हो गई तो यह नहीं कहते कि हमने देश की अवनति की। यदि लोगों की आमदनी बढ़ गई तो हम कहते हैं हमने अपनी योजनाओं के द्वारा आमदनी बढ़ा दी है। पर यदि नुकसान हो गया, लोग भूखे मरने लगे तो दोष प्रकृति का है। केवल राजनीति में ही नहीं, धर्मनीति में भी यही चलता है। हमारा झूठ बोलना हजार साल की गुलामी का फल या विलायती देन बताया जाता है। तो हम गुलाम बने ही क्यों? कुछ जयचन्दों के कारण! तो हमारे यहां जयचन्द पैदा ही क्यों हुए? काल के कारण! यदि काल के कारण तुम्हारी अवनति हुई तो तुम काल हीं के कारण अपनी उन्नति भी मानो। यदि काल को मानोगे, पाप का प्रारब्ध मानोगे, तो पुण्य का भी प्रारब्ध मानना पड़ेगा। हमारे सारे प्रयत्नों के करने पर भी कोई ऐसी शक्ति है जो कृपा पूर्वक हमें आगे बढ़ाती रहती है। यदि यह सोचेंगे कि अपने प्रयत्न से आगे बढ़ रहे हैं तो अभिमान आने की सम्भावना है। जब तक साधना चले ध्यान भजन चलता रहे, तो वह सब अपने प्रयत्न से है। अब वह छूट गया तो भगवान् ने रोड़े लगा दिये। यह दृष्टि अहंकारी की है। एक फलप्राप्ति में स्व प्रयत्न के ऊपर जोर देता है तो दूसरा साधक कृपा पर। स्वप्रयत्नवादी अहंकार की तरफ चला जाता है। उस अहंकार की निवृत्ति के लिये ही अमानित्व पर जोर है।

सारे प्रयत्न को अपना ही समझना विचार से दूर होता है। हम जिसे अपना प्रयत्न समझते हैं उसमें लाखों अन्य प्रयत्न भी सम्मिलित

हैं । हम कहते हैं हमने अपनी कपड़े की दूकान का व्यापार चौगुना कर लिया । खरीददार मजदूरों की तनखाहें बढ़ गईं तब न उन्होंने चौगुना खरीदा । इसी प्रकार चौगुना माल फैक्टरियों ने बनाया तब चौगुना कपड़ा बना । उसके लिये चौगुनी रुई पैदा की गई । खेतों में किसान ने गेहूं की जगह कपास उगाया । यदि जूट की उपज आठ गुना करोगे व रुई की चौगुनी तो अन्न की अपने आप घटेगी । जो हिसाब हमारे घर की औरत रसोई बनाते समय कर लेती है उसे आज हमारे अर्थशास्त्री नहीं लगा पाते । अगर खाली चावल बनाना है तो आंधा सेर और रोटी भी बनानी है तो पाव भर चावल और पाव भर आटा काफी है । यदि कपड़े का व्यापार बढ़ा तो रेल, मशीन, किसान मजदूर सबके कारण । जब तुम कहते हो कि हमने व्यापार बढ़ा लिया तो विचार नहीं करते कि रेल तुम्हें जल्दी मिल से सामान लाकर तुम्हें देती है । सारा विश्व तुम्हारी दूकान बढ़ाने का विचार कर रहा है । तो उसमें एक अंश प्रयत्न तुम्हारा भी है । तमाम संसार के प्रयत्न से हमारा काम बना यह प्रयत्न की परिसीमा है । ठीक इसी प्रकार सवेरे उठ कर ध्यान करने बैठे तो साधक समझता है कि यह हमारा ही प्रयत्न है । पर विचार करके देखो कि साधना के साधन किस प्रकार जुटे । मकान, कम्बल, आसन सब अनायास प्रस्तुत हैं । ऐसा लगता है कि समष्टि अपनी कृपा से सामग्री उपस्थित करती है । जो साधक इस बात को समझ लेता है वह जानता है कि उसे सर्वथा अपने को ईश्वर की इच्छा के अनुकूल बनाना है ।

दूसरी दृष्टि यह है कि हमारा प्रयत्न है तो थोड़ा, पर यदि उसे न करें तो सारी सृष्टि का क्रम गड़बड़ा सकता है । जैसे गांव का एक चोर सारे गांव की नींद हराम कर देगा । सूर्य चाहे जितना प्रकाश करे, तुम अगर अपनी खिड़की बन्द करो और बैठ जाओ तो सूर्य की कृपा व्यर्थ है । अपने अन्तःकरण को ईश्वर को तरफ खोलना ही साधक का कर्तव्य है । साधक का उसके प्रति अभिमुखी होना साधना का एक

पक्ष है । वस्तुत: दोनों चीजें चाहिये, ईश्वर की कृपा और साधक का अभिमुखी होना ।

इसी से दो दृष्टियां हो गईं जिससे साधक के दो भेद हो जाते हैं। हमें अपने हृदय को परमेश्वर की ओर करना है। परमेश्वर जैसा चाहते हैं तदनुकूल हमें बनना है। ईश्वर के प्रवाह को हम बदल नहीं सकते। यदि तुम प्रयत्न नहीं करोगे तो परमेश्वर का कार्य नहीं रुकेगा। पर यदि तुम ईश्वर के अनुकूल बन जाओगे तो तुम्हें फायदा अवश्य मिलेगा। जब क्रिया प्रवाह के प्रतिकूल होती रहती है तो शक्ति क्षय होती रहती है। यदि गंगा नदी पार करते समय उसके प्रवाह के अनुकूल तैरोगे तो जल्दी ही दूसरी ओर पहुंच जाओगे।

मानव प्रकृति के प्रवाह में बहता है, परमेश्वर के प्रवाह में नहीं। प्रकृति वासना है। यदि सारी दुनियां चोरी कर रही है तो हम चोरी कैसे न करें? अरे तो क्या जब सारा संसार चोरी करना छोड़ेगा तभी तुम छोड़ोगे? तो तुम में अचौर्य कब आवेगा? परमेश्वर तो तुम्हें अचौर्य में लगाना चाहता है। जब व्यापार में नफा होता है तो माल सबसे पहले खरीदना चाहते हो। जब परमेश्वर के प्रवाह में बहने की बात चली तो सबसे बाद में चलना चाहते हो। परमेश्वर के प्रवाह में हम क्यों नहीं चल पाते हैं? कारण है केवल समझ की भूल। हम समझते ही नहीं कि इसमें हमारा क्या लाभ है? कान, आंख खुली रहने पर भी हृदय नहीं खुलता। हृदय खुलते ही हमारा जीवन परिवर्तित हो जाता है।

यह जीव संसार रूपी घाट पर खड़ा है। जगत् बहता चला जा रहा है। जीव पूछता है इस संसार में सुख कब मिलेगा। सत्यनिष्ठता में मिलेगा। रोज घर के अन्दर झंझटें खड़ी होती हैं, पर जो परमेश्वर को पकड़ कर नहीं छोड़ता उसमें शक्ति आ जाती है। जो आत्म तत्व को जान लेता है, जिसका अध्यास छूट गया है वह दूसरों का भी अध्यास छुड़ाने में समर्थ हो जाता है। तभी वह आनन्द स्रोत बनता है।

*　　*　　*　　*

श्रुति दीक्षा के फल को बताती हुई कहती है कि दीक्षा से दक्षिणा को प्राप्त करता है। 'शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता' परमेश्वर को विषय करने वाली वृत्ति ही दक्षिणा है। इसीलिये इस ज्ञान के आद्याचार्य दक्षिणामूर्ति हैं। ब्रह्मवादी लोग उसे दक्षिणामूर्ति कहते हैं जिसका दीक्षा ही मुख है। ब्रह्माकार वृत्ति के अन्दर जो परमात्माकार मूर्ति है वही दक्षिणामूर्ति है। ब्रह्म पर्यंत लेजाने वाली वृत्ति ही दक्षिणा है। 'दद्यात् च दिव्यं भावं' स्वयं प्रकाश परमात्मा का भाव ही दिव्य भाव है, बाकी भाव तो प्राकृत हैं। अप्राकृत भाव की प्राप्ति ही दीक्षा का फल है। शरीर में अहं बुद्धि यह प्रकृति का कार्य है। मन भी प्रकृति का कार्य है। अतः जब मन के साथ एक होकर अहं कहते हैं तो यह प्राकृत भाव है। देह, प्राण, मन, बुद्धि, अहकार, चित्त इनमें से किसी के साथ भी अहं भाव प्राकृत भाव है। इस सबसे भिन्न परमात्म भाव अप्राकृत है। सारे तत्वों को प्रकृति और विकृति कह कर सांख्य शास्त्र आत्म तत्व को प्रकृति और विकृति से परे बतलाता है। अज का अर्थ भी यही है। प्राकृत भाव को हटा कर ब्रह्म भाव का उपदेश ही दिव्य भाव की दीक्षा है। दिव्य भाव स्वर्ग लोक में या अन्य लोक में नहीं है। स्वर्ग को तो उपचार या प्रशंसा के लिये दिव्य कहते हैं। आप जैसे मुनीम को ही सेठ और मालिक कह देते हैं, वैसे ही औपचारिक प्रयोग से देवता लोग देव कहाते हैं। अन्यथा देव शब्द तो केवल परमशिव के लिये ही प्रयुक्त होता है। 'एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ः' में देव का अर्थ परमशिव ही है। शिव को छोड़ देव शब्द का केवल औपचारिक प्रयोग है। लोक में भी अच्छे आदमी के लिये देव शब्द का प्रयोग होता है। दिव्य का अर्थ यहां पर प्राकृत भाव नहीं है। दिव्यभाव का उपदेश वेद ही करता है। भारतवर्ष में सभी लोग कहते हैं कि जीव शिव स्वरूप ही है। भारत का साधारण हिन्दू, चाहे कितने ही मत मतान्तर चलें, आज भी वेदान्ती है। शंकर के परवर्ती लोग अद्वैत का खण्डन करते ही रहे, पर आज भी गांव का गंवार कहता है कि आत्मा ही परमात्मा है। यह दुनियां तो झूठी है। यही विश्वास वेदान्त है। भारत में द्वैतवाद आज तक लोगों के हृदय में नहीं बैठता।

दीक्षा में दो अक्षर हैं। प्रथम अक्षर दी का अर्थ तो यह दिव्य भाव है। और क्ष का अर्थ है 'क्षिणुयात् दुरितान्यतः' मन के अन्दर जो दुर्वासना हैं उनको दूर करना। अतः दीक्षा केवल शब्द राशि के उपदेश का नाम नहीं है। वैदिक दीक्षा केवल कान में कोई मन्त्र पढ़ देना नहीं है। जब तक दुरित क्षीण नहीं हुए तब तक दीक्षा हुई ही नहीं। दीक्षयाप्नोति दक्षिणां। व्रतेन दीक्षां आप्नोति। व्रत शब्द का अर्थ है प्रतिज्ञा। जिसने शुभ कर्म करने की प्रतिज्ञा की है उसने निश्चय के द्वारा ही दीक्षा प्राप्त कर ली। यहां निश्चय गुरु शिष्य दोनों का निश्चय है। शिष्य का निश्चय है कि मैं इस मार्ग पर चलूंगा। गुरु का निश्चय है कि मैं इस जीव का उद्धार करूंगा। निश्चय शब्द का अर्थ है आपत्तियों का मुकाबला करने पर भी रास्ते का त्याग न करना। वस्तुतः मनुष्य का निश्चय कमजोर होता है। उसकी बुद्धि एक बात से दूसरी बात में जाती रहती है। यदि आप एक नोट बुक जेब में रखें और दिन भर में जितने निश्चय करते हैं फौरन उसमें लिखते चलें तो दिन में दस निश्चय अवश्य होंगे। आज निश्चय किया कि इस व्यक्ति से बात भी नहीं करेंगे। दूसरे दिन ही निश्चय किया कि इस व्यक्ति से रोज मिला करेंगे। ऐसे निश्चय क्षण क्षण में होते और क्षण क्षण में बदलते हैं। इस प्रकार निश्चय बदलते रहने से आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। निश्चय बदलने से इच्छा शक्ति प्रबल नहीं बनती। सबसे बड़ी शक्ति इच्छा शक्ति है।

जानने की शक्ति, क्रिया शक्ति और इच्छा शक्ति ये ही तीन मुख्य शक्तियां हैं। ये तीन शक्ति शिव की ही बताई गई हैं। इनसे ही सिद्ध होता है कि शिव और जीव में स्वरूपतः भेद नहीं। ज्ञान में और क्रिया में हम स्वतंत्र नहीं हैं। ज्ञान पदार्थाधीन है। वस्त्वधीना भवेद् विद्या। सामने घड़ा है तो आपको घड़ा ही दीखेगा। उपासना और ज्ञान में यही भेद है कि उपासना में ज्ञान किसी और चीज का है और उसमें आरोप किसी अन्य भाव का कर दिया जाता है। हाथ

में फोड़ा हो गया । आपने विचार किया कि चर्म बढ़ गया है, खून के सफेद कीटाणु ही पीप बन गये हैं । ये सारे विचार कर लो, पर फोड़ा कहेगा कि मैं तो फोड़ा हूं और दर्द करूंगा । इसी प्रकार क्रिया में भी आप स्वतंत्र नहीं । आप लोग सभी समझते हैं कि मैं करोड़पति बनूं पर लखपति भी नहीं बन पाते । क्रिया में आप अस्वतंत्र हैं । पर इच्छा करने में आप सर्वथा स्वतंत्र हैं । यदि आप इच्छा करें कि मैं विष्णु बन जाऊं तो इस इच्छा को कोई नहीं रोक सकता । मनुष्य ने इस इच्छा शक्ति का उपयोग न करके इसे कमजोर बना रखा है । जो भी इच्छा करता है थोड़ी ही देर में उसे बदल देता है । सोच समझ कर इच्छा करनी चाहिये यह बात अलग है । पर यदि इच्छा की तो उस पर टिको । इच्छा प्रबल होगी तभी साधना में स्थिर प्रवृत्ति होगी ।

व्यास जी ने ब्रह्म सूत्रों में प्रथम सूत्र बनाया 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' । 'अथातो ब्रह्म' नहीं कहा । योग के बारे में लिखा तो 'अथयोगानुशासनम्' कहा । भक्ति सूत्र में कहा 'अथा भक्ति व्याख्या-स्यामः' । पर जब ब्रह्म का विषय आया तो 'जिज्ञासा' क्यों कहा ? जिज्ञासा का अर्थ होता है जानने की इच्छा । इच्छा को कैसे प्रारम्भ करेंगे ? शास्त्र बना कर । जिसे इच्छा है उसे है, जिसे इच्छा नहीं है उसमें इच्छा प्रारम्भ नहीं की जा सकती । तो क्या 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' लिखते समय व्यास जी को नींद का झोंका आ गया था ? अतः सूत्र का तात्पर्य है 'ब्रह्म ज्ञानाय यत्नः कर्तव्यः' । किसी ने इस सूत्र में 'ब्रह्मजिज्ञासा' को 'अथ' के पहले बांच लिया और कहा ब्रह्म जिज्ञासा यदि हो 'ब्रह्म जिज्ञासा चेत् तर्हि' तो इस ग्रन्थ को पढ़ो । श्रुति ने ही स्वयं यह अर्थ पढ़ाया है । 'तमेतं ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' में श्रुति ने 'विवि-दिषन्ति' क्यों लिखा ? श्रुति व सूत्रकार दोनों ने साधन चतुष्टय सम्पन्न को ही विविदिषा की सम्भावना बताई है । इस असली जानने की इच्छा को ही गीता में 'व्यवसायात्मिका

बुद्धिः' कहा है। रोज रोज बनने और बिगड़ने वाली जिज्ञासा तो अव्यवसायात्मिका है। जानने की असली इच्छा पैदा होगई तो जाने बगैर रह नहीं सकता है। रामकृष्ण परमहंस रोज गंगा के किनारे जाकर रोते थे कि 'माँ! एक दिन और निकल गया, तेरे दर्शन नहीं हुए'। यदि किसी के हाथ में गरम लोहा रख दो तो जब तक वह लोहा गिरेगा नहीं तब तक उसे गिराने के सिवाय और कोई इच्छा नहीं होगी। ऐसी इच्छा ही ब्रह्म जिज्ञासा है। अथर्ववेद कहता है 'न एतत् अचीर्णव्रतोधीते' अपने सिर पर जो आग का जलता हुआ बर्तन रख लेता है वही इस को पढ़ सकता है। मैं जब तक इस ज्ञान को प्राप्त नहीं करूंगा तब तक जल रहा हूं ऐसी अनुभूति ही सच्ची जिज्ञासा है। विविदिषा और जिज्ञासा दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है, जानने की इच्छा। जब काली के बिना एक क्षण दूभर हो जाय तब जिज्ञासा उत्पन्न है। यही व्रत है। लोग समझते हैं कि जब बाकी काम समाप्त हो जायेंगे तब इस व्रत को लेंगे। पर केवल थोड़े समय की नौकरी ब्रह्म को सन्तोष नहीं देती। सब समय उसमें लगे रहो तभी ब्रह्म ज्ञान होगा। व्यवहार के लिये तन और धन के प्रयोग का अभ्यास चाहिये, परमार्थ के लिये मन का वैराग्य अपेक्षित है। दोनों का विरोध नहीं है। शुरू में तन और मन को अलग करने का अभ्यास चाहिये। इस अभ्यास की जब पूर्णता हो जाती है तो दोनों का विरोध नहीं रहता। उपासना और ज्ञान में यही फरक है। उपासना वाला व्यवहार में घबराता है। ज्ञानी का विरोध न प्रवृत्ति से है न निवृत्ति से। उसे निवृत्ति स्वभाव सिद्ध है। पर प्रवृत्ति के पीछे वह डंडा लेकर नहीं फिरता। प्रवृत्ति का विरोध निवृत्ति से नहीं है। प्रवृत्ति का विरोध स्वयं प्रवृत्ति से ही है। जिस काल में जो चीज जैसी है, उस काल में उस चीज को छोड़ कर न भूत का, न भविष्य का विचार ही निवृत्ति का स्वरूप है। पूर्व में क्या हुआ था इसे भूल कर जहां भविष्य का विचार भी नहीं है वहां प्रवृत्ति असंभव है। यदि संसार बाधित प्रत्यय

है तो भविष्य का विचार संभव नहीं। भविष्य का विचार तभी तक है जब तक संसार में सत्य धी है। यदि स्वप्न से उठने के बाद कोई स्वप्न के भविष्य का विचार करे तो समझना चाहिये कि नींद अभी पूरी नहीं छूटी। यदि कहता है कि स्वप्न में लाख रुपया तिजोरी में रख कर चाभी भूल आया हूं तो अभी वेचारे को स्वप्न ही दीख रहा है। जागृत की भी जिसे वाधितानुवृत्ति है वह प्रवृत्ति का विरोध क्या करेगा? प्रवृत्ति का विरोध तो तब हो जब संसार को सत्य समझे। यदि प्रवृत्ति का पदार्थ ही सामने नहीं, संसार का ही अभाव है, तो उसका काम बन गया।

'दक्षिणां श्रद्धां आप्नोति' तब श्रद्धा की प्राप्ति होती है। एक श्रद्धा यजुर्वेद की माध्यन्दिनी काण्व शाखा में ब्रह्मज्ञान के साधनों में परिगणित हैं। यहां ब्रह्माकार वृत्ति के बाद की श्रद्धा हैं। यह श्रद्धा अनुभव के बाद आती है। श्रदि यद् धार्यते जिसको हृदय में अनुभव से धारण किया जाय वह श्रद्धा है। इसी को निष्ठा भी कहते हैं और जिस में यह श्रद्धा या निष्ठा है उसे ब्रह्म संस्थ कहते हैं। इस ब्रह्म निष्ठा में स्थितिं का क्रम यजुर्वेद ने बतलाया है। पर जब तक निश्चय नहीं होता तब तक निष्ठा बनती नहीं। शंकर के एक शिष्य भानुमरीच्याचार्य थे। उन्होंने एक बार इच्छा प्रकट की कि कामरूप (आसाम) में जाकर लोगों को वेदान्त की दृष्टि देंगे। शंकर ने कहा वहां तो जंगली लोग ही अधिक रहते हैं वहां क्यों जाते हो। उन्होंने कहा कि जंगली लोगों में वासनायें कम होती हैं अतः वे वेदान्त की दृष्टि जल्दी ग्रहण करेंगे। शंकर ने कहा कि वहां रहोगे कैसे, यदि वे लोग खाने को न दें तो? और सम्भव है कोई गाली गुफ्ता भी करे। भानुमरीच्याचार्य ने कहा कि फल फूल खा लेंगें और यदि वे गाली देंगे तो हमारा क्या लेंगे? शंकर ने कहा सम्भवतः थप्पड़ या डंडा मारें। भानुने कहा यदि मार पीट करेंगे तो मैं सोचूंगा कि जान से तो नहीं मार रहे हैं। तब शंकर ने कहा अरे जंगली लोगों का क्या ठिकाना, जान से भी मार

सकते हैं। तब भानु बोले कि प्रारब्ध शेष होने पर मरना तो सभी को है। शंकर ने कहा कि यदि यह दृष्टि है तो तुम सफल होग्रोगे। इसे निश्चय कहते हैं। सब विपत्तियों के ग्राने पर भी जो खड़ा रहता है वही 'व्रतेन दीक्षामाप्नोति' जब तक दिव्य भाव नहीं मिला तब तक दीक्षा समाप्त नहीं होती। दिव्य भाव की ग्राप्ति ही दीक्षा है।

दीक्षा का फल ब्रह्माकार वृत्ति को प्राप्त करने के लिये दो प्रकार के व्रत सम्भव हैं। एक में तो ग्रपनी ग्रहंता के त्याग का निश्चय होता है ग्रौर दूसरे में पुरुषार्थ का निश्चय होता है। पहले व्रत से व्यष्टि को समष्टि में लीन किया जाता है ग्रौर दूसरे से समष्टि को व्यष्टि में। यदि एक रुपये को ९९) में डाल दो तो भी १००) बन जायेंगे ग्रौर ९९) को उठाकर १) में डालो तो भी १००) बन गये। फल में भेद नहीं है। पहले में व्यष्टि ग्रहन्ता को समष्टि में लीन कर दिया ग्रौर दूसरे में सारी समष्टि का ग्रनुभव ग्रपने में कर लिया। हर हालत में व्यष्टि ग्रौर समष्टि उभय भाव की निवृत्ति होकर एक ग्रखण्ड भाव की ग्रनुभूति होती है। ज्ञेय ग्रौर ज्ञाता, दृश्य ग्रौर द्रष्टा दोनों शास्त्रीय दृष्टि से ग्रनुभवगम्य हैं। मैं मन से ध्यान कर रहा हूं एक दृष्टि है। मैं ध्यान करने वाला है, दूसरी दृष्टि है। मन को ध्यान में लगाना क्रिया है। इस प्रकार दृश्य ग्रौर द्रष्टा में सारा जगत् ग्रा जाता है। वेदान्त की दृष्टि से केवल एक ही तत्त्व शिव के दो रूप हैं, दृश्य ग्रौर द्रष्टा। प्राचीन चार्वाक लोग चार तत्त्वों को मानते थे। बौद्ध लोग पांच एवं ग्रर्वाचीन चार्वाक १०८ तत्त्वों को मानते हैं। सांख्य ने २४ ग्रौर योग वालों ने २५ तत्त्व माने। पर दृश्य ग्रौर द्रष्टा से भिन्न कोई तत्त्व नहीं है। वस्तुतस्तु वेदान्त की दृष्टि में पदार्थ तो एक ही है। श्रुति कह रही है 'ग्रात्मैवेदं सर्वं', ' 'प्राण एवेदं सर्वम्' पुरुष एवेदं सर्वम्'। इस प्रकार वेदान्त की दृष्टि से तत्त्व एक ही है, पर उसकी प्रतीति दो तरह से है। वह प्रतीति दृश्य ग्रौर द्रष्टा रूप है। श्रुति इसी भेद प्रतीति को बन्धन मानती है। 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' 'ग्रथ यदुदरमन्तरं कुरुते' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव

पश्यति'। श्रुति में भेद दर्शन से परहेज बताया है। हर रोग का परहेज है। श्रुति कहती है कि यदि संसार रोग से बचना चाहते हो तो भेद दर्शन से बचना। 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'। अब यह भेद दर्शन एक में क्यों होता है, इसे समझाने के लिये अनेक कल्पनायें कीं। दृश्य और द्रष्टा रूप से भेद की प्रतीति है। दृश्य का आधार मुझ से भिन्न नहीं या मैं उस परमेश्वर से भिन्न नहीं जो दृश्य का आधार है, यह बात दो प्रकार से न कही जाती तो अनेक झगड़े खड़े हो जाते। वैष्णव कहते हैं कि जीव परमेश्वर से भिन्न नहीं है, जैसे बिन्दु की सत्ता समुद्र से अलग नहीं है, यह तो ठीक है, पर बिन्दु या लहर तो समुद्र नहीं है। इस प्रकार वे जीव को परमेश्वर से भिन्न करते हैं। पर जब वेदान्ती इस बात को जोर देकर कहता है कि जीव ब्रह्म है तो वह श्रुति के तत्त्वमसि महावाक्य पर जोर दे रहा है। 'ये आदमी ब्राह्मण हैं' इस वाक्य में 'ये आदमी' उद्देश्य है और 'ब्राह्मण हैं' विधेय है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' में प्रज्ञान उद्देश्य है और उसे ब्रह्म रूप विधेय बताया है। जीव और ईश्वर का अभेद है। श्रुतियों ने दो प्रकार का अभेद बताया। भेदवादी लोग 'तत्त्वमसि' का अर्थ खींच तान कर निकालते हैं। कुछ तो इसमें एक अकार पहले ही जोड़ कर इसे 'अतत्त्वमसि' कहते हैं। वेदज्ञ पूर्वापर परामर्श से इन मतों का खोखलापन जान लेता है। सामान्य जनता वेद न जानने के कारण अवश्य वेद के नाम से ठगी जाती है। पर साधक चाहे जिस प्रकार साधना करे, व्यष्टि रूप को सर्वथा लीन करके अथवा समस्त दृश्य जगत् को द्रष्टा में लीन कर के, अभेद दोनों प्रकार से एक सा ही सिद्ध हो जायेगा। दीक्षा में ये दोनों साधन बताये जाते हैं। साधक को स्वयं निश्चय करना पड़ता है कि अहं का विस्तार समष्टि में करे या अहं का लय समष्टि में करें।

यदि अहं पर विचार करो तो इसमें भी दृश्य और द्रष्टा भाव है। 'मैं' को जानने वाला कौन ? मनुष्य सारे दृश्य भाव को हटा सकता है, पर 'मैं' कहने से जिसे जानता है वह दृश्य है और जिसके द्वारा

जानता है वह द्रष्टा है। अन्तःकरण की वृत्ति अहंकृति है। अहं की विशेषता यह है कि यह आत्म तत्त्व के सबसे नजदीक है। पर नजदीक होने पर भी 'अहं' आत्मा नहीं है। चूल्हे में सबसे अधिक गर्मी लकड़ी के अत्यन्त पास नहीं उससे कुछ इंच ऊपर होती है। इसे ठीक से सोचो। अग्नि तो लकड़ी में है। जलने वाली भी लकड़ी ही है। फिर भी लकड़ी के अन्दर वह गर्मी उतनी प्रस्फुटित नहीं जैसी उसके ऊपर है। लकड़ी को उसकी प्रतीति नहीं। प्रतीति उसकी सन्निधि में है। वैसे ही आत्मा चेतन रूप है। पर वह अभिव्यक्त होती है उससे थोड़ी दूर पर अहंकारात्मक वृत्ति वाले अन्तःकरण में। चेतन की शुद्धता रहती है सुषुप्ति में पर सोया हुआ मनुष्य सोचता है कि मैं अचेतन था। सुषुप्ति में चेतनता को सिद्ध करने के लिये वेदान्ती को एड़ी चोटी का जोर लगाना पड़ता है। अहं ही चेतन है, यह भ्रान्ति है। लकड़ी की आग दो इंच ऊपर क्यों अभिव्यक्त होती है? क्यों कि वहां ओषजन (Oxygen) है। उस तत्त्व के संयोग से ही अग्नि अभिव्यक्त होती है। अग्नि रहती तो लकड़ी में है पर वायु सम्बन्ध के विना उसके तेज की अभिव्यक्ति नहीं होती। यदि चूल्हे को कोयले से खूब ठूस कर भर दो और ऊपर नीचे से हवा का रास्ता बन्द कर दो तो वह नहीं जलेगा। ठीक इसी प्रकार चेतन आत्म रूप होने पर भी बिना अहंकार की वृत्ति के प्रकट नहीं होता है। चेतना अभिव्यक्त होती है आत्म मनः संयोग से। अतः नैय्यायिकों ने उसे आत्म मनः संयोग रूप ही मान कर गलती की। वे अभिव्यक्ति को भूल गये। अहंकार की वृत्ति में वृत्ति तो माया का परिणाम है, दूसरा उसमें चेतन है। अगर उसमें चेतन पर जोर दोगे तो कहोगे कि अहंकार की असलियत चेतन है। यह कथन ऐसा ही हुआ जैसा यह कहना कि धान की असलियत चावल है या दूध की असलियत मक्खन है। पर जिसको पेट की बीमारी है उसके लिये तो दूध की असलियत मक्खन नहीं बल्कि मक्खन निकालने के बाद बचा हुआ सेपरेटा है। दूध को फाड़कर बंगाल में छेना निकालकर रसगुल्ला बनाते हैं और बाकी बचे हुए दूध के पानी को बहा देते हैं। अब बतलाइये दूध की असली चीज क्या है? पानी भी और छेना भी। बीमार के लिये

पानी असली है और दूसरे के लिये मक्खन या छेना असली है। इसी प्रकार अहंकार में वृत्ति और चेतना दोनों असली हैं। जिसने कहा कि अहं में चेतनता प्रधान है वह दृश्य को द्रष्टा में लीन करता है। जिसने अहंकार में वृत्ति को प्रधान माना वह द्रष्टा को समष्टि में लीन करता है। अहंकरण को लीन करना ही व्यष्टि को समष्टि में लीन करना है।

अब प्रश्न उठेगा कि अहंकार को लीन कैसे करें ? जहां अहं को लीन करना है वहां अभ्यास अपने अन्दर से अहन्ता को हटाने का किया जाता है। परमेश्वर ही सब कुछ करता है, मैं नहीं। इस साधना में गुरु प्रधान हो जाता है, शिष्य गौण। पर जिस साधन में सबको अपनी चेतनता के अन्दर लीन करना है वहां शिष्य प्रधान है और गुरु गौण। यह दूसरा मार्ग गुरु वशिष्ठ ने राम को 'शिष्य प्रज्ञैव केवला' कह कर बतलाया था। यहां समष्टि को व्यष्टि में लीन करने की साधना थी। खेत कैसा ही हो, पर बीज जो बोओगे वही उगेगा। जब गुरु ही बीज बोता है तो शिष्य के अहन्ता की निवृत्ति से शिव भाव की प्राप्ति में गुरु ही प्रधान है। अहन्ता एक ऐसी चीज है कि इसे तुम जितना भी दूर करना चाहो इसका दूर होना मुश्किल है। अहन्ता में जीव चेतन को पकड़ता तो जरूर है पर वृत्ति का अभ्यास इतना अधिक है कि वह तुरन्त आ खड़ी होती है। 'मैं चिन्मात्र हूं, देह से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं' सोचते समय एक मच्छर ने काट खाया तो वृत्ति फौरन उसकी ओर आ जाती है। क्रोध आता है या बड़ी चीज कोई होती है तो उसे तो साधक सम्हाल लेता है, पर छोटी छोटी विपत्ति वृत्ति को इधर उधर ले जाती रहती है। हरद्वार के एक स्वामी जी कहा करते थे कि यदि मच्छर न होते तो मेरी निर्विकल्प समाधि लग गई होती। छोटा छोटा रोग धीरे धीरे बढ़ कर दुःसाध्य बनता है उसी प्रकार छोटी छोटी चीजों में आई हुई अहन्ता धीरे धीरे बड़ी होती जाती है। वृत्ति के साथ एकता का आपको अभ्यास है, अतः

उसे छोड़ना सरल नहीं है । रोज एक रास्ते पर चल कर अपने घर पहुंचने का अभ्यास है तो उस रास्ते से चलने में ध्यान यदि इधर उधर भी हो जावे तो भी आप घर पहुंच जायेंगे । पर नये रास्ते में थोड़ा सा भी ध्यान इधर उधर हुआ तो आप फौरन रास्ता भूल जायेंगे । अहं में चेतन को पकड़ने का अभ्यास अभी आपके लिये नया है अतः मुश्किल है । वृत्तियों को पकड़ कर उन्हें छोड़ देने का अभ्यास करना आसान है । बड़े बड़े साधकों में भी जो अहन्ता आ जाती है उसका यही कारण है। भगवान् ने भी गीता में एक मार्ग को कठिन और एक को सरल इसी कारण कहा ।

वृत्ति का त्याग आत्मार्पण कहा जाता है । प्रश्न यह होता है कि आत्मा में सबका अर्पण तो हो सकता है पर आत्मा का अर्पण कैसे हो । रसगुल्ले का सुख मन ने करण द्वारा आप तक पहुंचाया । आप फिर उस सुख को किसी दूसरे को तो कभी नहीं दे सकते । वस्तुतः संसार की सारी चीजें आत्मा में अर्पण होती हैं । अतः आत्मा का अर्पण वृत्ति का अर्पण है । आत्मा का वृत्ति से अभेद समझ कर यहां अर्पण प्रधान है, अन्य भाव में ग्रहण प्रधान है । यदि आत्मा में संसार का लय करोगे तो दुर्गन्ध और सुगन्ध दोनों का ग्रहण होगा । न कुछ हेय, न उपादेय । इसमें सर्व ग्रहण है । पर अर्पण करने में अपने भेद दर्शन के स्वभाव का साधन रूप से उपयोग हो सकता है । सर्व ग्रहण का अभ्यास नहीं है । वृत्ति के साक्षी को पकड़ने का अभ्यास नहीं है । अतः उसे पकड़ कर चलना कठिन है । सैद्धान्तिक दृष्टि से एक ही अहंकार में चेतन और वृत्ति दोनों हैं । चेतन को पकड़ो तो समष्टि को व्यष्टि में लीन करना है और यदि जडांश को पकड़ो तो उस वृत्ति को ही अर्पण करना है । भेद दर्शन के अभाव में चेतन तत्त्व को ब्रह्मैव रूप से पकड़ सकते हो । एक में मैं कुछ नहीं रहा । दूसरे में मेरे अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं रही ।

मृत्यु और अमरत्व के मार्ग में क्या भेद है ? मृत्यु का मार्ग मनुष्य का स्वमनःकल्पित है और अमरत्व का मार्ग परमशिव का बनाया हुआ है । सड़क दोनों हैं । एक बैलगाड़ी की जो कष्टप्रद है ।

जीवों ने खुद चलकर वह सड़क बनाई है। बाप दादों से ऐसी ही लीक चली आ रही है। पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्। पैदा हुए, विवाह किया, बच्चे पैदा किये और मर गये। यह मृत्यु का मार्ग मनुष्य ने अपनी बुद्धि से बनाया है।

इससे भिन्न एक दूसरा मार्ग है। वह वैदिक मार्ग है। इन दो रास्तों में एक विश्व का बनाया हुआ है, दूसरा विश्वनाथ का। जो विश्वनाथ के पास पहुंच गया वह फिर विश्व में आता नहीं। एक मार्ग में निरन्तर बन्धन का अनुभव होता है। संसार में बन्धन नहीं है, संसार ही बन्धन है। संसार में कोई पति से बंधा हुआ है, कोई पुत्र से, कोई पोते या नाती से। यही बन्धन का मार्ग है। परमेश्वर का मार्ग प्रतिक्षण मोक्ष का मार्ग है। जिस क्षण परमेश्वर के मार्ग पर पैर रखा उसी क्षण मुक्ति है। 'यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते' जिस जिस से निवृत होते हो उस उस से मुक्त होते हो। जैसे ही रोटी खाई एवं जितनी खाई उतनी ही भूख की निवृत्ति होली। रोटी का ग्रास जिस क्षण खाया उसी क्षण भूख की निवृत्ति शुरू हो गई। जिस जिस बन्धन के पदार्थ से निवृत्त होते गये उस उस से मोक्ष होगया। सारे संसार से निवृत्त हो गये तो संसार से मोक्ष है।

साधना के दो मार्ग हैं एक कर्म का और दूसरा मोक्ष का। दूसरे मार्ग को श्रुति ने विज्ञेय मार्ग कहा है। 'स आत्मा स विज्ञेयः' कर्म करने के मार्ग में तुम स्वतन्त्र हो। ज्ञान के मार्ग में तुम स्वतन्त्र नहीं हो। कर्मेन्द्रियों से जो होता है वह कर्म है। ज्ञानेन्द्रियों से जो होता है वह ज्ञान है। पर प्रत्येक क्रिया कर्म नहीं है। कर्म कर्मेन्द्रिय का कार्य है। कर्मेन्द्रिय के कर्म को शास्त्रानुकूल करने से ही कर्मयोग होगा। जब गीता ने कहा 'कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते' तो सर्वेन्द्रियैः न कह कर कर्मेन्द्रियैः कहा। यह इसलिये कि ज्ञान का मार्ग अलग है और कर्म का मार्ग अलग है। श्रुति ने आत्ममार्ग को विज्ञेय कह कर ज्ञान का मार्ग बतलाया है। कर्म का मार्ग अज्ञान का मार्ग है। यदि कोई व्यक्ति

आंख मींच कर कर्तृत्व और भोक्तृत्व को अपने में मानकर चल रहा है तो अभी अज्ञान में है ।

पूर्व मीमांसा कर्म मार्ग का शास्त्र है। उसमें आत्मा का विचार नहीं किया गया। यदि कर्तृत्व और भोक्तृत्व का विचार करेंगे तो धर्म शास्त्र नहीं चलेगा। यदि कर्तृत्व और भोक्तृत्व की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई तो वेदान्त पढ़ो। ज्ञान मार्ग का पथिक कर्म करता है केवल अन्तःकरण की शुद्धि के लिये। पर कर्म मार्ग का पथिक वेद पढ़ता है मरने के बाद स्वर्ग जाने के लिये। वह ज्ञान को उतना ही समझना चाहता है जितना उसके लिये उपयोगी हो। ज्ञान मार्ग का पथिक भी कर्म को समझना चाहता है पर उतना ही जितना अन्तःकरण की शुद्धि के लिये अपेक्षित है। कर्म मार्गी यदि ज्ञान में अधिक प्रवृत्ति करता है तो देखता है कि सारा संसार हाथ से निकलता जा रहा है । यदि कर्तृत्व और भोक्तृत्व उसके हाथ से निकल गया तो उसके हाथ में रहेगा ही क्या? ज्ञान मार्गी भी कुछ कर्म करता ही है। पर उसका उद्देश्य भिन्न है। अन्तः-करण की शुद्धि ही ज्ञानयोगी के कर्म का लक्ष्य है । ज्ञान के मार्ग में दर्शन की प्रधानता है। मार्ग करण प्रधान नहीं होता। मॉन्टेसरी स्कूल में बच्चे को हाथ से काम अधिक करवाया जाता है। कपड़ा सीना, स्वेटर बुनना इत्यादि कर्म वहां प्रधान है। पर दूसरे स्कूलों में कुछ करवाते नहीं केवल पढ़ाते और समझाते हैं। ये ज्ञान प्रधान हैं। ज्ञान की अभिवृद्धि होने से परित्याग की प्रधानता होती है। कर्म मार्ग में ग्रहण की प्रधानता है । ज्ञान में मनुष्य के स्वरूप को समझाया जाता है। जीव तो परमेश्वर या अमृत का स्वरूप है। 'प्राणैः चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम्' परमात्मा से व्याप्त होने के कारण सब परमात्मा है। यथा तन्तु से ओत प्रोत होने के कारण सब कपड़ा तंतु ही है। चित्त की सत्ता परमात्मा से भिन्न नहीं है। चित्त को परमात्मा बताने वाला संस्कार दीक्षा संस्कार है। चित्त

को स्वतः सत्ता वाला मान कर चलना कर्म मार्ग है, और चित्त का वास्तविक स्वरूप बताने वाला ज्ञान मार्ग है।

चित् में त के जुड़ने से चित्त बनता है। चित् परमात्मा है। 'चित्तं चित् च विजानीयात् तकाररहितं यदा तकारो विषयाध्यासो जपारागो मणौ यथा' गुरु वशिष्ठ राम से कह रहे हैं कि हे राम! चित्त को तुम चित् रूप ही समझो। कब? जब तकार को हटा दोगे तब। यह तकार क्या है? मन में विषयों की भ्रान्ति घुसती तो थोड़ी सी है, फिर अपने को फैला लेती है। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् मूर्धानं विदार्य' सुषुम्ना के सूक्ष्म छेद से वह घुसा। परमात्मा चैतन्य रूप था केवल अनुप्रवेश का उसका संकल्प था। 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' पर संसार के विषयाध्यास से अनन्त वासनाओं का तकार इस चित्त ने चैतन्य में भर लिया। विषयभार से इतना ज्यादा आक्रान्त हो गया। सतयुग की अपेक्षा त्रेता में विषयाध्यास बढ़ा, त्रेता की अपेक्षा द्वापर में और द्वापर की अपेक्षा कलियुग में अध्यास बढ़ा। जितना जितना विषयाध्यास बढ़ता गया उतना उतना भोग का सुख घटता गया। आज २५ साल पूर्व के मुकाबले में भोग के पदार्थ बढ़ गये हैं। पहले लोगों को दो धोती, दो कुर्ते काफी होते थे अब दो दर्जन चाहिये। पर लोगों का सुख कम होता चला जा रहा है। अन्त में जीव दुखी होकर निकलने का मार्ग ढूंढता है तो परमेश्वर के मार्ग को दुर्गम पथ मानकर घबराता है। रास्ता तो उतना ही है जितने से तुम आये थे। तुमने जो यह अध्यास इकट्ठा कर रखा है उसे धीरे धीरे कम करो। जब फिर 'त' हट कर केवल 'चित्' रह जाओगे तो काम बनेगा।

दीक्षा क्षिणोति नष्ट करती है। किसे नष्ट करती है? अध्यास को। संसार में शरीर और इन्द्रियां घूमती रहें तो घूमें। नियन्त्रण तो चित्त का करना है। यदि साधक इन्द्रियों के नियन्त्रण पर जोर दें और चित्त को न रोके तो भारी गलती होगी। चित्त को संसार भर में घूमने देना बड़ा गलत काम है। जनों को अपने अन्दर भरना भजन

नहीं है। जैसे तरंग जल में घूमती है ऐसे संसार में चित्त घूमता है। चित्त संसार में वासनाओं के प्रभाव से वैसे ही घूमता है जैसे लहर हवा से घूमती है। वासना को रोकना साधना का विषय है। यदि समुद्र को रोकना है तो हवा को स्थिर करना पड़ेगा। लहर वायु से ही घूमती है। ऐसे ही जब चित्त संसार में घूम रहा है तो संसार को नहीं चित्त को ही वासना से हटाना है। साधक को सावधान रहकर वासना क्षय का प्रयत्न करना है। दीक्षा का क्ष वासना का क्षय करने के लिये है। तकार को चित्त से निकालकर दीक्षा अमृत पिलाती है। दीक्षा हीन मार्ग विश्व में आने जाने वालों के हैं।

अन्तः प्रज्ञा से ही अन्तःकरण ज्ञान ग्रहण करता है। विना वासना रूपी शीशे से छनकर आया हुआ ज्ञान मनुष्य को प्राप्त नहीं होता। जब वासना रूपी दर्पण को तोड़ दिया जाता है, मन को वासना रहित बना दिया जाता है तभी यह संभव होता है कि उस तत्व को उसी प्रकार जाना जाय जैसा वह है। चलचित्र में केवल शुद्ध प्रकाश पीछे है, पर पर्दे में वही भाचित्र (Photo) आता है जिसका चित्र लिया जा चुका है। पुराने जमाने के नवटंकी में लोग अच्छे दृश्य को देख ताली बजा कर Once more कहते थे। इसी आदत के कारण सिनेमा में भी जब किसी दृश्य को देख कर Once more कहने पर भीं नाटक की तरह उस दृश्य की पुनरावृत्ति नहीं हुई तब सभी ने समझ लिया कि सिनेमा को चुपचाप देखते चलो। इसी प्रकार वेदज्ञ जानता है कि मन के अन्दर कर्म करने से जैसी जैसी वासनाओं का निर्माण हुआ है वैसे ही दृश्य आते चलेंगे। एक बार जो दृश्य घट चुका है उसे हम बदल नहीं सकते। इस प्रकार साक्षी स्वरूप में स्थित होता है। साक्षित्व में स्थित व्यक्ति से भिन्न संसारी मनुष्य है जो सुख के दृश्य की पुनरावृत्ति चाहता है। यद्यपि पिछला दृश्य बदला नहीं जा सकता पर आने वाले दृश्य को बदलना आपके हाथ में है। आपको एक जन्म मिला इसमें अन्तः प्रज्ञा की जो रील आंपको मिली यद्यपि उन वासनाओं को बदलना

सम्भव नहीं, पर नये जन्म के लिये नयी वासनाओं का आप निर्माण कर सकते हैं। इस शरीर रूपी सिनेमा हॉल में आकर पुरानी वासना रूपी फिल्म की रील देखनी ही पड़ेगी। जैसे सिनेमा की रील के पीछे शुद्ध प्रकाश है, पर वह दीखेगा तब जब कोई फिल्म सामने नहीं रहेगी वैसे ही वासना मात्र का निवारण करने से ही शुद्ध अन्तःकरण के द्वारा शिव का शुद्ध चैतन्य रूप दीखता है।

वासना का अधिष्ठान मन है। यदि इसके लिये जागरूक रहो तब यह पकड़ में आता है। आचार्य गौड़पाद ने कहा कि 'सकषायं विजानीयात्' जानने मात्र से ही उसकी ग्रन्थि खुल जाती है। मन की तरफ नज़र रखनी पड़ती है कि वह क्या कर रहा है। हम सो जाते हैं और मन को जगने देते हैं। 'लये सम्बोधयेत् चित्तं' जब मन सो जाय, लीन हो जाय, तो उसे जगाओ (सम्बोधयेत्)। पर जगाओगे कब? जब खुद जागोगे 'विक्षिप्तं शमयेत् पुनः' मन की जागृत्-स्वप्नावस्था ही विक्षेप है। विक्षेप का शमन कब होगा? जब तुम जगे रहोगे। मन के जगने और हमारे जगने में फर्क क्या है? जागृत नर का सम्भव अक्षर ब्रह्म से हुआ है। विश्वः चासौ नरः चेति विश्वानरः, स एव वैश्वानरः। विश्व का अर्थ है व्यापक। विष्णु सहस्र-नाम के प्रथम श्लोक में ही 'ॐ विश्वं विष्णुर्वषट्कारः' कह कर सबसे पहले विश्व शब्द का प्रयोग इसी कारण हुआ है कि विश्व में जो समष्टि है वही विष्णु है। जो विश्व होते हुए भी नर हो 'न रमते विषयेषु यस्मात् तस्मात् नरः' विश्व में अपने को समष्टि समझते हुए भी आसक्त नहीं होता है वही वैश्वानर है। नर का अर्थ आदमी नहीं है। आदमी तो आदम की सन्तति है। यह सेमेटिक प्रयोग है। आदम (Adam) की प्रक्रिया पाप से पैदा होने की है। (Theory of Original Sin) उनका सिद्धान्त है कि आदमी पाप से आया, पाप से पैदा होकर, पापी ही है। पिता का पाप पुत्र में आया। इसी विचार धारा के प्रभाव से मुसलमान और ईसाइयों की देखा देखी हम भी अपने को पापी कहने लगे। वेद का घोष है तुम पापी नहीं हो 'अमृतस्य

पुत्राः' तुम में अमृत ब्रह्म है। 'तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्'। विश्व या संसार का ही नहीं जागृत नर का भी संभव अक्षर ब्रह्म से हुआ। हम तुम्हें अमृत पुत्र मान कर ब्रह्म कहते हैं। भ्रान्ति के कारण तुम अपने को जीव माने बैठे हो। अतः विभिन्न धर्मों की दृष्टि में समन्वय सम्भव नहीं है। अन्य मजहब तो कहते हैं कि तुम्हारे अन्दर पाप वस्तुतः है; पर अब यदि कोई प्रक्रिया करोगे तो सम्भवतः भगवान् तुम्हें माफ कर देंगे। क्षमा करके वे तुम्हें स्वर्ग ले जायेंगे। हमारे यहां बात ठीक इसके विपरीत हैं। तुम तो वास्तव में ब्रह्म हो। तुमने विषयों को सत्य मान कर जो उनमें प्रवृत्ति की यह तुम्हारी गलती है। यदि तुम इस गलती को छोड़ दो तो ब्रह्म ही रह जाओगे। भाष्यकार भगवान् शंकर भगवत्पादाचार्य कहते हैं कि यदि मनुष्य स्वभाव से पापी है तब तो शुद्धि का साधना से आरोप होगा। आरोपित वस्तु अस्थायी होगी। गणिका कभी पत्नी नहीं हो सकती। जब तक तुम्हारे पास धन है तभी तक वह तुम्हारी है। पति पत्नी में तलाक नहीं होता। गणिकाओं में ही तलाक सम्भव है। तो क्या साधना से तुम ऐसी वस्तु पाते हो जो तुम्हारी अपनी नहीं। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि यही भेद है कि पति पत्नी में स्वाभाविक एकता है और गणिका के साथ किसी कारण से एकता है। उपासना या कर्म करके यदि तुमने उस फल को प्राप्त किया तो उस फल को कभी स्थिर न समझना। जितनी उपासना की उसका फल उतने ही काल तक रहेगा। यदि मनुष्य स्वभाव से पापी है और उपासना कर्म के द्वारा उसने वह स्वरूप प्राप्त किया तो वह स्थायी नहीं। पर यदि हम स्वरूप से शुद्ध हैं तो हमारे कर्म व उपासना का आधार हमारा स्वरूप है। अन्य मतावलम्वी कहते हैं कि उपासना कर्म से हमें स्वरूप मिलेगा। वे कर्म और उपासना का फल ज्ञान मानते हैं। पर वास्तव में हमारे कर्म और उपासना का स्रोत ज्ञान है। ज्ञानी में मानसिक द्वन्द्व नहीं होता। उपासना में अन्तर्द्वन्द्व समाप्त नहीं होता। उपासना और कर्म से स्वरूप को प्राप्त करने वाले का अन्तर्द्वन्द्व क्यों नहीं मिटता? वे यह मानते हैं कि सचमुच तो हम सभी आपस में भिन्न हैं,

पर व्यवहार ऐसा करना चाहते हैं कि मानो हम सभी भाई हैं। हमारे यहां तो सत्कर्म हमारा स्वभाव है। हम भ्रान्ति से दूसरे को अपना भाई नहीं समझ रहे हैं। अतः 'अमृतस्य पुत्राः' तथा 'आदमस्य (Adam's) पुत्राः' का धर्म अलग-अलग है। इनमें समन्वय सम्भव नहीं।

फ्रॉइड (Freud) का रोध का सिद्धान्त (Theory of Repression) भी गलत है। बच्चों को आजकल यह सिद्धान्त कॉलेजों में पढ़ाया जाता है। फ्राइड की भूलों को यूंग (Jung) एडलर (Adler) आदि ने काफी संभाला पर उनकी सारी भावनायें मनुष्य को पापी मान कर चलती हैं। पापी मनुष्य अच्छा बनना चाहता है तो (Repression) रोध होता है, जिससे मानस ग्रन्थि बन जाती है। उनके अनुसार ग्रन्थि हटने पर मनुष्य को राक्षस या पशु बन जाना चाहिये। वेद ने वैश्वानर का स्वरूप बतलाकर कहा कि नर का स्वभाव ही विषयों में प्रवृत्ति करना नहीं है। विषय मन को आकृष्ट करते हैं पर नर, न रमते, उनमें रमण नहीं करता। यदि रमण करेगा तो क्या मिलेगा? नरक। नर शब्द में क प्रत्यय जोड़ कर नरक बना है। क याने छोटा बनना। विषयों में रमण करना ही नरक है। विषयाधीनता ही प्रत्यक्ष नरक है। विषयों में गिरकर अल्पता आती है। अपने नर स्वरूप से गिरना ही नरक है। जगते रहो, विषयों में मत जाओ, यही नरक से बचना है। सबसे सरल काम ब्रह्म प्राप्ति है। सब कामों में कुछ करना पड़ता है, ब्रह्म ज्ञान में कुछ नहीं करना है। शरीर को कमाना तो कठिन है, पर शरीर को छोड़ना सरल है। कोष छोड़ा तो ब्रह्म बन गये। देह संतति क्यों कमाते हो? इस अन्नमय कोष को इतनी क्रिया करके क्यों प्राप्त करते हो? इस संतति को छोड़ना क्यों सम्भव नहीं हो पाता है? श्रुति कहती है 'विश्वदाव्यः'। काम विश्व को जलाता रहता है। कैसे जलाता रहता है? जिस चीज की इच्छा है वह नहीं मिलती तो गुस्से से गरम होजाता है। इस प्रकार वह काम जलाता है। यदि

वैश्वानरः नहीं बनोगे तो विश्वदाव्यः के चक्कर में बने रहोगे। काम को छोड़ना सरल क्यों नहीं ? वासना के कारण। शराबी जैसे शराब नहीं छोड़ पाता यद्यपि जानता है कि शराब बुरी चीज है। जिस समय जीव सत्सङ्ग करता है तो जानता है कि व्यसन बुरा होता है, पर दस बजे का समय होते ही सब भूल जाता है। वह नशे का टाइम है। बहाने हजार करें पर नशा वासना का चढ़ा है। निवृत्ति का उपाय है अभ्यास। यह जीव रूपी राजा माया रूपी अफीम खाकर उन्मत्त रहता है। मन इससे जो चाहता है करा लेता है। मन, इन्द्रियां इस जीव से काम करा रही हैं। अतः कहा 'आत्मा त्वं गिरिजा मतिः'। मति शब्द में मनन का भाव निहित है। उस राजा की बुद्धि रूपी मति या पत्नी कहती है कि तुम अशास्त्रीय प्रवृत्ति करके बंधे हो, अतः अब प्रवृत्ति बुद्धि युक्त होकर करो। शास्त्रीय प्रवृत्ति इसी लिये कराई जाती है कि अशास्त्रीय प्रवृत्ति से हटने का अभ्यास हो सके।

यज्ञ, दान, तप से विविदिषा उत्पन्न होगी। पुत्रैषणा, लोकैषणा, वित्तैषणा से उठकर, विश्वदाव्यः से हट कर, वैश्वानर बनोगे। जानो तभी कि अब हम जागे, जब विषयों से खुद मन भागे।

* * *

श्रुति जब तुरीय आत्म तत्व का प्रतिपादन करते हुए उसे वासनाओं से रहित बताती है तो उसका तात्पर्य क्या है ? एक अखण्ड चिन्मात्र में जैसीजैसी वासनाओं का निर्माण होता है वैसी ही जगत् की प्रतीति होती चलती है। वह चिन्मात्र जगत् प्रतीति का कारण इस लिये है कि उसके बिना कोई प्रतीति नहीं हो सकती। जब जगत् का कारण ब्रह्म को कहते हैं तो वह आरम्भ कारण नहीं है। धागा कपड़े का आरम्भ कारण है एवं ईंट मकान का। पर जिस तरह मकान के लिये अनेक ईंटें और कपड़े के लिये अनेक धागों को कारण बनना पड़ता है वैसे ही आरम्भकारणतावाद में अनेक ब्रह्मों की आवश्यकता होती है। यदि कहो ब्रह्म जगत् उसी प्रकार बना जैसे दूध दही बनता है, तो यह भी संभव नहीं। क्यों कि दही बनने के बाद फिर दूध नहीं

रहेगा केवल दही ही दही रहेगा। तो इस उदाहरण को मान लो तो केवल जगत् ही जगत् रह गया, ब्रह्म नहीं रहा। श्रुति ने कहा 'पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतम्दिवि' तो लोगों ने इसका अर्थ गलत लगा लिया कि जगत् उसका एक खण्ड है। जो चीज खण्ड वाली होती है वह विनाशी होती है। अगर ब्रह्म को अवयव या खण्ड वाला मानोगे तो ब्रह्म खतम हो जायेगा। ब्रह्म को परिणामी कारण मानकर वैष्णवों ने ब्रह्म को ही मार डाला। केवल जगत् ही बच रहा। अधिष्ठान कारणता में ही ब्रह्म सर्वथा रस्सी में सर्प की भांति अपने रूप में रहते हुए जगत् जैसा प्रतीत हो सकता है। अब प्रश्न उठता है कि जब अधिष्ठान ही कारण है तो जगत् की प्रतीति क्यों ? ब्रह्म जगत् रूप से दीख रहा है, इसका तात्पर्य यह है कि कामनाओं के कारण तुम्हारी प्रज्ञा पर पर्दा पड़ गया। 'अविद्यावद्धचक्षुत्वात्' ही जगत् की प्रतीति है। यदि कामनाओं की निवृत्ति हो जाय तो ब्रह्म को देखने के लिये अन्य कोई प्रयत्न नहीं करना है। लोग कहते हैं कि रस्सी रोशनी करने से दिखाई दी। रस्सी और आंख का सम्बन्ध तो अंधेरे में भी था, तभी तो सर्प दीख रहा था, पर मन्द अन्धकार में वह सर्प जैसा दीखा। थोड़ा सा दीखने पर भी रस्सी और नेत्र का सम्बन्ध था तो अवश्य पर अन्धकार के कारण वह साफ नहीं दीख रही थी। ऐसे ही आज भी ब्रह्म दीख रहा है पर कामनाओं के कारण वह जगत् जैसा दीख रहा है।

एक बार मनोवैज्ञानिकों ने एक प्रयोग किया। एक व्यक्ति को १५ दिन तक भूखा रखा। फिर बगल के कमरे में कागज जलाया तो वह बोला मालूम पड़ता है कि रोटी जल रही है। फिर उसे खाना खिलाना शुरू किया और १५ दिन के बाद फिर बगल के कमरे में कागज जलाया तो उसे कागज जलने ही की खुशबू आई। इसी प्रकार कामनाओं के कारण, वासनाओं के कारण, चक्षु और मन पर पर्दा पड़ जाता है। इसी से ब्रह्म का ग्रहण यथार्थ न होकर कामनाओं के मुताबिक होगा। इन कामनाओं व वासनाओं की निवृत्ति का क्या उपाय है ?

श्रुति ने ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में इस रोग को बताया है और इस रोग की औषधि अथर्व वेद के १६वें काण्ड में कही। दोनों मन्त्रों के ऋषि वशिष्ठ हैं। 'ये पर्वता-सोम पृष्ठाः······ते क्रव्यादम् अशीशमम्' 'हिरण्यपाणि······इदं क्रव्यादं शमयन्तु'। कच्चे मांस खाने वाले को क्रव्याद कहते हैं। क्रव्याद शब्द का अर्थ वस्तुतः काम है। कामाग्नि जिन्दे मनुष्य को खाती है। अतः उसे आदमी का कच्चा मांस खाने वाला कहा। शरीर ही क्रव्य है। अन्य लोग तो मरे हुए के मांस को खाते हैं पर काम जीवित मनुष्य को खाता है। लौकिक अग्नि जीवित को मार कर, सुखा कर, जलाती है। कामना रूपी अग्नि बिना मारे ही कच्चा खा जाती है। वह 'अशीशमम्' शान्त हो गई। उन पर्वतों में जाने से शान्त हो गई जिनको श्रुति 'ये पर्वताः सोमपृष्ठाः' कह रही है। यहां पर्वत का अर्थ हिमालय नहीं है। चाहे हजार साल तक हिमालय में एकान्त में रहो, फिर मौका पाने पर राग द्वेष उद्बुद्ध होंगे। सोम है पृष्ठ में जिसके वह पर्वत सोम पृष्ठाः हैं। सोम की व्युत्पत्ति है उमया सह सोमः उमा सहित शिव। अतः सोम पृष्ठाः पर्वताः का अर्थ हुआ माया विशिष्ट ब्रह्म को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ाने वाला पर्वत। वह ज्ञान रूपी पर्वत है। अविद्या पांच पर्वों वाली है अतः अविद्या के पर्वत को पार करना है। जब तक ज्ञान नहीं होगा तब तक कामनायें शान्त नहीं होंगी। कामना को शान्त करने का उपाय आत्मा के स्वरूप को जानना है। कामना से दूर होते जाना ही ज्ञान का लक्षण है। 'बोधस्य उपरतिः फलम्' कैसे पता चले कि बोध हो रहा है, ज्ञान का फल संसार से निवृत्ति है। यदि संसार से निवृत्ति नहीं हुई तो बोध या ज्ञान हुआ ही नहीं। जितना ही शिव के स्वरूप को समझता है उतनी ही निवृत्ति होती है। संसार से जाने का अर्थ कहीं चले जाना नहीं है। संसार कहां बैठा है? तुम्हारे मन में। यदि मन से संसार को निकालो तो संसार निवृत्त होगया। चढ़ै तो चाखे प्रेम रस, गिरै तो चकनाचूर। मोह का नाम आज कल प्रेम है। जैसे मोह एक सम्बन्ध है ऐसे घृणा भी एक सम्बन्ध है। वैराग्य का रूप घृणा नहीं है। घृणा में भी बार-

बार उसका चिन्तन करना पड़ता है। यदि आप संसार को छोड़ना चाहते हो तो उससे घृणा करना छोड़ो। संसार कितना बुरा है यह लिखते लिखते ग्रन्थों को भरना घृणा का लक्षण है। संसार तो मोह और घृणा दोनों सम्बन्धों से दिखाई देगा। इस मन के संसार को, अविद्या वाले पर्वत को, कैसे हटाया जाय ? श्रुति ने 'सोम पृष्ठाः' से उपाय भी बताया। जो मायाविशिष्ट शिव का चिन्तन करके, उमा सहित शिव (सोम) की पूजा करके, आगे बढ़ेगा वही सोम पृष्ठ होगा।

अभाव रूपी उपाधि और भाव रूपी उपाधि में यह फरक है कि अभाव के पेट में भाव रहता है। अभाव रूपी उपाधि वाले के पेट में कई भाव हो जाते हैं। अतः अभावात्मक वृत्ति बनाने वाले की वृत्ति एकाग्र नहीं हो पाती। वह पराधीन हो जाता है। जो भावात्मक वृत्ति बनाता है उसकी वृत्ति स्वाधीन है। अभाव साधना इसी कारण क्लिष्ट है। उपाधि विशिष्ट ब्रह्म में अनेक उपाधियां हैं। ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय में कई उपासनायें बतलाई गई हैं। व्यास जी ने वेदान्त के ग्रन्थ में उन उपासनाओं को क्यों लिखा ? उनमें से जब किसी एक उपाधि को लेकर उपासना करता है तब सोभ प्राप्त होता है। तब उससे जब आगे बढ़ता है तो सोम पृष्ठाः बनता है।

शुद्धकीर्ति नाम का एक संन्यासी संन्यासाश्रम छोड़ कर अपने घर जाना चाहता था। उसने पाखण्डी बनने से पतित बनना ज्यादा अच्छा समझा। यद्यपि उत्तम आश्रम से निम्न आश्रम में जाने का निषेध है तथापि पाखण्डी होने से वही अच्छा है। शुद्धकीर्ति को आचार्यों ने बुलाया और पास बैठा कर उसके सर पर हाथ फेरा। शुद्धकीर्ति को ऐसा लगा कि वह स्वर्ग में पहुंच गया। वहां घृताची का सौन्दर्य देखा। उस अनुपम स्वर्गीय सौन्दर्य को देखकर कहीं उसे जगत् में सुन्दरता दीख सकती थी ? आचार्यों ने कहा कि उसे स्वर्ग की वह सुन्दरी प्राप्त हो सकती है, और उपाधि विशिष्ट में चित्त एकाग्र करने की साधना बतलाई। धीरे धीरे चित्त की एकाग्रता होने लगी। धीरे धीरे उसकी स्थिति बढ़ती गई। दो तीन साल के बाद आचार्यों

ने कहा कि अब तुम्हारी ऐसी स्थिति हो गई है कि तुम्हारा विवाह अप्सरा से हो सकता है। अब उसने कहा कि मुझे विवाह नहीं चाहिये।

उपनिषदों ने उत्कृष्ट उपाधि इसीलिये बताई कि निरुपाधि का चिन्तन साधारणतया नहीं हो सकता है। शुद्ध कीर्ति जानते थे कि आत्मतत्व अच्छा है, पर मन स्थिर नहीं हो पा रहा था। जगत् रूपी उपाधि प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसलिये वह मन को खींचती है। ध्यान से हम क्यों उठ बैठते हैं? क्यों कि काम चलता नहीं। काम चलाना नामक उपाधि इसलिये कि जगत् में सत्यत्व बुद्धि है। जगत् में असत्यत्व बुद्धि हो तो दूकान को सत्य न मानते, उसे न खोलते।

इसी प्रकार मायाविशिष्ट भी भगवान् का व्यावहारिक रूप है। उसमें जब चित्त एकाग्र होता है तो चित्त शुद्ध होता है। शुद्ध चित्त में फिर उस माया विशिष्ट की भी निवृत्ति हो जाती है। ये पर्वताः सोम पृष्ठाः का यही अर्थ है।

* * * *

एकता में अनेकता की प्रतीति वासनाओं के कारण है। उन वासनाओं का निषेध करते हुए श्रुति ने 'नान्तःप्रज्ञं' कहा। उनका निषेध करके वासनाओं के बाद आने वाले का निषेध स्वयं हो जाता है। वासनाओं की संख्या अगणित है। इसी कारण उनके द्वारा दृष्ट अनेकताओं की भी कोई गिनती नहीं। जब वासना मात्र का परित्याग होगा तो अन्तः पाती भेद स्वयं निवृत्त हो जायेंगे। अतः ऋग्वेद ने जहां 'ये पर्वताः सोम पृष्ठाः' बताया वहां 'आपोउत्तान शीवरी' भी कहा। नदी का उद्गम स्थान वृष्टि के बाद पर्वत हैं। सभी नदियां पर्वतों से निकलीं। पर्वत से आने वाला जल प्रवाह ही नदी है। जल का स्वभाव है नीचे रहना। लोक में जल चाहिये तो नीचे कुंआ खोदते हैं। पर नदी का जल हमेशा ऊपर पर्वत में मिलता है। इसी प्रकार अप अर्थात् कर्म कहां मिलते हैं? नीचे अर्थात् अचेतन मन में। हमारी क्रियाओं के पीछे अचेतन मन काम करता है। कई क्रियायें व्यर्थ हैं पर अचेतन मन, जिसमें मनुष्य का चेतन मन स्वयं कोशिश करके

कुछ न करे, बराबर कर्म कराता रहता है। सोच विचार कर तो कम कर्म होते हैं। बिना चेतन मन की वृत्ति के ये अप (कर्म) नीचे (अचेतन) से निकलते हैं। विज्ञापन पढ़ कर किसी वस्तु को खरीदना चेतन मन का काम है। अकस्मात् वृत्ति उठना अचेतन मन का काम है। अचेतन मन का कर्म कराने में बहुत बड़ा हाथ है। यदि एक दिन में तुम जितने कर्म करते हो सब को एक कागज में लिख डालो, छोटी से छोटी क्रिया भी लिख डालो, तो ८० प्रतिशत से अधिक अचेतन मन का कार्य मिलेगा। ये कर्म ही अप हैं जिनका स्रोत निम्न है। अचेतन मन में वासनायें भरी हुई हैं वे प्रवृत्त कराती हैं। उसको जय करना है तो स्रोत को बन्द करना पड़ेगा। जब पानी ज्यादा बरस जाता है तो कुएं के अन्दर का पानी खराब हो जाता है। अगर ऊर्ध्व चेतन मन से अचेतन मन में विचार का प्रवाह आये तो अचेतन के प्रवाह में गड़बड़ पैदा होगी। व्यवहार की दृष्टि से ऊर्ध्व चेतन शास्त्र हैं। अनेक शास्त्रीय क्रियाओं के कार्य कारण भाव का हमको पता नहीं है। जो शास्त्रों को समझने बैठेगा वह जनम भर बैठा ही रहेगा। इसी लिये शास्त्रों में श्रद्धा को स्थान दिया गया। कोई ऐसा दर्शन शास्त्र आज तक नहीं बना जिसका खण्डन नहीं हो सकता। अगर ऐसा शास्त्र बन जाय जो अकाट्य हो तो व्यास का सूत्र 'तर्काप्रतिष्ठानात्' झूठा हो जाय। शास्त्र एक मकान है जो अपने प्रयोग के लिये है। जैसे मकान में सोने का कमरा, बैठक का कमरा इत्यादि अपनी आवश्यकतानुसार बनाये जाते हैं और अपनी आवश्यकता से भिन्न दूसरे की सलाह निरर्थक है। पहले लोग शादी करते हैं फिर आवश्यकतानुसार गृहस्थ मकान बनाता है। ऐसा नहीं होता कि मकान बनाने के बाद उसके अनुसार अपनी आवश्यकतायें निश्चित हों। ऐसे ही प्रत्येक दार्शनिक अपनी आवश्यकतानुसार दर्शन बनाता है। प्रत्येक दार्शनिक जानता है कि कौनसी चीज सत्य है। फिर उसे सिद्ध करने को 'चूंकि' ढूंढ़ कर दर्शन बनाता है। अतः भगवान् भाष्यकार शंकर भगवत्पादाचार्य कहते हैं कि हम जब दर्शन बनाते हैं तो श्रुति का मत हमें मान्य है। अतः हमारा सिद्धान्त वेद है। तर्क हम बाद में ढूंढ़ते हैं। श्रुति से आने वाला सिद्धान्त ऊर्ध्वमन का काम करता है।

उसके अनुसार कर्म करने से नीचे का अचेतन मन बेकार हो जाता है। 'आप उत्तान' का अर्थ है ऊपर उठने वाला कर्म। जैसी जैसी मनुष्य आदत डालता है वैसा ही बनता जाता है। आदत चाहे ऊपर ले जाने वाली हो चाहे नीचे पर वह पड़ेगी धीरे धीरे। तो यह उन्नति होगी कैसे ?

दो प्रकार से मनुष्य की उन्नति सम्भव है। जबरन् और स्वतः। जबरन काम कराने की शक्ति भी आती तो अन्दर ही से है। दृढ़ निश्चय वाला अनेक बार देखा गया है कि जनम भर की आदत को एक ही बार छोड़ देता है। पर 'उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः' जिनकी इच्छा शक्ति कमजोर है वे दरिद्रों के मनोरथ की तरह कुछ नहीं कर सकते। प्रायः इच्छा शक्ति पुरुष की और भावना शक्ति स्त्री की तेज होती है। पुरुष का निश्चय करना कठिन है, निश्चय करके निभाना आसान। स्त्री का निश्चय करना आसान है पर निभाना कठिन। बुद्धि का निश्चय स्त्री (प्रकृति) का होता है। जीवात्मा का निश्चय पुरुष (आत्मा) का है। जीवात्मा जब बलात् प्रवृत्ति करे तो परमात्मा स्वतः सहायता देता रहता है। जिसकी मांग होती है वह माल स्वयं आजाता है। जैसे भारत में आज विलायत की छपी हुई दार्शनिक पुस्तक चाहो तो आसानी से दूकानों में नहीं मिलेगी पर क्रीम, पाउडर इत्यादि सब विलायती मिल सकता है, चाहे चोर बाजार ही में क्यों न मिले। इसी प्रकार परमेश्वर के राज्य में भी दृढ़ नियम है कि जिसने निश्चय कर लिया कि शिव मार्ग पर चलना है उसे मदद अवश्य मिलती है। यदि मदद नहीं मिली तो निश्चय ही कमजोर है।

दक्षिण में काञ्चीपुरम् नाम का एक शहर है। मीनाक्षी का जन्म काञ्ची में हुआ था। जब वे मदुरा गईं तो अपनी करधनी को काञ्ची में छोड़ गई थीं इसी कारण उस शहर का नाम काञ्चीपुरम् पड़ा। वहां एक बच्चे का जन्म हुआ। उसकी मां गरीब थी। उसके कोई अमीर रिश्तेदार भी नहीं था। एक बार लड़के ने मां से पूछा कि क्या मेरे कोई रिश्तेदार नहीं है। काञ्चीपुरम् में भगवती की पुत्री

मानते हैं । अतः मां ने लड़के से कहा तेरी एक बहन है, पर वह विवाह करके चली गई तो आती ही नहीं । तेरे बहनोई राजा हैं । एक दिन लड़के ने कहा तो मैं ही अपनी बहन से मिलने जाऊंगा । मां ने बहन का नाम पार्वती बताया और कहा तेरे बहनोई काशी के राजा हैं। लड़का एक दिन अपनी बहन से मिलने चल पड़ा । बच्चा १४ वर्ष का था । चलते चलते काशी पहुंचा । पुराने जमाने में भारत में अतिथि सेवा होती थी । दूर दूर से विद्यार्थी काशी में अध्ययन करने जाते थे। संसार का सबसे प्राचीन शहर काशी है । काशी को देख कर लड़का घबरा गया । लोगों से पूछा कि हमारी एक बहन रहती है । लोगों ने पूछा किस मुहल्ले में रहती है तो बता न पाया । उस समय काशी की सीमा आजकल की काशी से अधिक विस्तृत थी । तीन दिन तक बहन का पता ही नहीं चला । सोचा मैं तो बहन के लिये इतनी दूर से आया पर उसका पता ही नहीं चलता । एक टीले पर बैठ गया । सोचने लगा वापस चलें, इतना परिश्रम व्यर्थ ही गया । उसी समय एक सफेद वृषभ पर बैठे हुए पति पत्नी उतरे । बहन ने भाई को गले से लगाया एवं कहा भइया आने की चिट्ठी तो भेज देते । भाई बोला मां से तेरा पता पूछता तो क्या मां इतनी दूर आने देती ? बहिन ने कहा चलो खाना खा लो । भाई बोला बहिन के घर खाना कैसे खाऊं ? अतः सात दिन तक खाने का इन्तजाम बहिन ने एक महात्मा की झोंपड़ी में करवा दिया । सात दिन रह कर वापस घर गया । घर पहुंचा तो मां से कहा मैं अपनी बहन से मिल आया । इस बच्चे का दृढ़ विश्वास था तो यह अपनी बहन से मिल भी आया । थोड़े दिन बाद मां मर गई । तो लड़का उसी टीले में पुनः उसी महात्मा के पास पहुंचा और बोला मेरी बहन के पास खबर देदो। अब तो महात्मा रोने लगे और बोले 'अरे तेरी बहन को कहां खबर दूं ? वह तो जगत् जननी है ।' लड़का बोला तुम खबर नहीं दे सकते तो उसका ठिकाना बतादो। महात्मा ने ठिकाना विश्वनाथ का मंदिर बताया। विश्वनाथ मन्दिर की उस भव्य मूर्ति का ग्रीक लोगों ने वर्णन किया है । उस समय तक भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण नहीं हुए थे । उसने अपने बहनोई जी की मूर्ति देखी तो १०० फुट ऊंची

थी। जाकर बोला बहनोई जी मालूम पड़ता है बहिन बढ़िया माल खिलाती है, इसी करण इतने लम्बे हो गये हो। भगवान् ने कहा भाई अब तुझे अपना भाव स्थिर करने के लिये उसी टीले पर बैठ कर साधना करनी पड़ेगी। लड़के ने कहा साधना तो करूंगा तुम कब आओगे? तो भगवान् ने वादा किया कि मैं रोज आऊंगा। अब लड़के ने साधना शुरू की। स्थूल क्रिया से मनुष्य का कार्य नहीं चलता। साधना सूक्ष्म क्रिया है। जब उसके मरने का समय आया तो महात्मा ने उससे कहा तू मरने के लिये काशी चला जा। वहां देह त्याग करने से मुक्ति मिलेगी। तब वह लड़का बोला काशी में वह मरे जिसका वह बहनोई न लगे। मैं बहिन के घर क्यों जाऊं? अतः उसने वहीं शरीर त्याग किया। उस स्थान का नाम इस कारण ही सारनाथ पड़ा कि उस लड़के को भगवान् 'साला' कहते थे। सारनाथ में दो शिव लिंग हैं। एक श्याल (सारे) या साले का। सारेनाथ का अपभ्रंश हिन्दी में सारनाथ है। पास में दूसरी मूर्ति शिव की है, क्योंकि उसके भरण पोषण काल में शिव उपस्थित रहते थे।

यह कथा दृष्टान्त है कि चेतन मन जब शुद्ध होता है तो ईश्वर से रिश्ता करके कैसे परमात्मा की प्राप्ति होती है। आजकल ईश्वर की भक्ति नहीं व्यापार होता है। यदि ईश्वर से रिश्ता कर लो तो श्रुति रूपी माता की आवाज सुनाई देगी कि 'तू अमृत का पुत्र है' और इस वचन में श्रद्धा करके यदि तुम अपने पिता को देखने चल पड़ोगे तो परमेश्वर अवश्य दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे। दृढ़ विश्वास के साथ जब साधक चलता है तो 'वातः पर्जन्यः' बलात् ईश्वर को प्राप्त करता है। यह दृढ़ इच्छा वाले का मार्ग है।

* * *

भगवती श्रुति ने तुरीय को अन्तः प्रज्ञा या वासना से रहित होने पर ही ज्ञेय बताया। वासना को दूर कैसे किया जाय, इस पर विचार करते हुए यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि आत्म तत्त्व वस्तुतः बुद्धि का विषय नहीं, फिर भी उसे यदि बुद्धि का विषय बना लो तो वह वासना को

दग्ध कर देगा। जो किसी की भी बुद्धि का विषय नहीं उसे यदि देखो तो आश्चर्य होता है। अतः श्रुति ने कहा 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' जो बुद्धि का विषय नहीं उस ब्रह्म को देख कर आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। ऐसे ही मानस लोक में भी समझ लो। मानस पदार्थों में भी आश्चर्य होता है। पर बुद्धि का काम विवेक पूर्वक देखना है। बुद्धि में संकल्प होता है तो निश्चय टलता नहीं। मन में संकल्प के बाद विकल्प आता है। बुद्धि में यदि निश्चय हो गया कि संसार असत्य है तो वह संकल्प टलेगा नहीं। अतः कैसे परमात्मा एक संकल्प के द्वारा बुद्धि का विषय हो गया यह देख कर आश्चर्य होता है। पर बौद्धिक रहस्य को समझने वाला जानता है कि विवेक के बाद निश्चयाकारात्मक वृत्ति बनती है। बुद्धि का स्वरूप है नाम रूप की तरफ जाना। बुद्धि बनी है आत्मा के सत्वगुणांश से अतः वह नाम रूप की तरफ जाती है तो उसका आकार बदलता हुआ सा लगता है। जब वह नाम रूप से रहित हो गई तो आत्म रूप हो गई।

आत्मा का रूप क्या है? वह सर्वव्यापक है। आत्मा की सर्वव्यापकता सभी शास्त्रों में प्रतिपादित है और सत्य भी है। यदि वह सर्व व्यापक नहीं होती तो अपने से दूर के पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। दिक्कत केवल यह है कि हम उस आत्म तत्व को गलत ढंग से देखना चाहते हैं। भगवान को देखने का ढंग संसार को देखने के ढंग से अलग है। आलू, बैंगन की तरह हीरा और पन्ना देखा और बेचा नहीं जाता है। सुन्दर चित्र की परीक्षा के लिये कुछ और ही ढंग है। जो चित्रकला नहीं जानता वह उसे कभी समझ नहीं सकता। आज हम सौन्दर्य से इतनी दूर चले गये हैं कि उसको समझना मुश्किल है। उसकी अपेक्षा बौद्धिक पदार्थ को समझने के लिये और भी विलक्षण बुद्धि की जरूरत है।

आज प्रायः मनुष्य कहते हैं आज कल ईमानदर कैसे रहें? आगरा में एक मैजिस्ट्रेट के पास नौकर भी नहीं था और वे साइकिल में

दफ्तर जाते थे । पर घूस खाने की उनमें हिम्मत नहीं थी । ईमानदारी में एक मजा है । मैंने जीवन में कभी झूठ नहीं बोला, इस वृत्ति में भी आनन्द है । जब तक ईमानदारी को नहीं समझोगे वैसी वृत्ति बनेगी नहीं । सरकार को लाख अच्छी बना दो पर तुम अच्छे यदि नहीं रह सकते तो बेकार है । शान्ति का भी कोई मूल्य है यह समझना पड़ेगा । धन के मूल्य को ही हम आजकल सर्वस्व समझने लगे इसलिये झगड़े होते हैं । शान्ति की भी कोई कीमत होती है । सर्वत्र ईमानदारी की कीमत चुकानी पड़ती है ।

आत्मा के सुख को समझने के लिये एक विशिष्ट वृत्ति चाहिये । आत्म सुख को आज कोई चाहता नहीं । फिर चाहते हैं कि वह सुख अपने आप मिल जाय । आज का मनुष्य पहले तो मनुष्य ही नहीं बना । सारे प्राणी चलेंगे प्रकृति के अनुकूल और मनुष्य चलेगा अपनी मर्जी के अनुकूल । इसीसे वह अच्छा और बुरा फल अनुभव करेगा । शेर को मांस भक्षण का पाप नहीं लगता क्योंकि उस कर्म में वह परतंत्र है । पर मनुष्य को स्वतंत्रता है कि वह मांस खाये या न खाये । आज आदमी रात को बिजली जलाकर नाचता है, सोता नहीं । पशु तो उसे जैसा भोजन मिलता है वैसा खाता है, पर मनुष्य न खाने लायक भोजन को बना कर खाता है । शरीर शास्त्र की दृष्टि से सबसे अच्छा भोजन वही है जिसे बनाना न पड़े । आज लोग अप्राकृतिक ढंग से मसाले डाल कर भोजन बनाते हैं और पाव की जगह सेर खाते हैं ।

मनुष्य को महाकाली ने जब स्वतंत्रता दी तो वे जानती थीं कि उसका दुरुपयोग ही मानव अधिक करेगा । अतः उसे कुल २० साल की ही आयु दी । मनुष्य जब बाहर आया तो उसे पता चला कि दूसरों को अधिक आयु मिली है । उसने सत्याग्रह शुरू कर दिया कि हमारी उमर बढ़नी चाहिये । सन्तोष तो मनुष्य में है ही नहीं । सब कुछ ले लेने की इच्छा उसकी स्वभाव जन्य है । पशु जितना खाता है उतना खा लेगा । फिर जुगाली करेगा ।

पर मनुष्य खा कर जेब में भी भरना चाहता है। यह नहीं सोचता कि इतना होगया अब पर्याप्त है। दयापरवशा काली ने मनुष्य से कहा हमने तो सब उमर बांट दी तुम किसी से उमर मांगलो। बैल को दया आ गई। उसने अपने ४० साल में से २० साल उमर मनुष्य को देदी। इस पर भी उसे सन्तोष न हुआ तो कुत्ते के पास गया। कुत्ते ने भी २० साल उसे दे दिये। फिर भी सन्तोष नहीं हुआ तो बगुले के पास गया। बगुले ने भी २० साल दे दिये। फिर भी सन्तोष नहीं हुआ तो ऊंट ने सोचा कि लो इसे २० साल और दे दो। चाहता तो वह और भी था पर और किसी पशु ने उसे अपनी उमर नहीं दी। इस प्रकार मनुष्य शतायु बना। माँ ने भी कहा कि जैसा तुम्हारा चन्दा है वैसी ही तुम्हारी आयु होगी। मनुष्य अपने जीवन के प्रथम २० साल में तो मनुष्य रहता है। फिर २० साल बैल के चतुष्पाद होकर व्यतीत करता है। जैसे वृषभ केवल अपना ही फायदा चाहता है, मानव दूसरे के धन पर कुदृष्टि रख कर गृहस्थी का बोझ ढोता है। फिर २० साल कुत्ते की तरह गुर गुराने के हैं। बच्चों, स्त्री, बहू पर गुर्राता रहता है। ६० साल के बाद बगुले के दिन आये। बगुले की तरह भक्ति करता है कि कहीं अणिमा, महिमा मिल जाय। अन्त में २० साल ऊंट की तरह कांटे चबाने के हैं। दुःख ही दुःख चबाता रहता है। इस प्रकार जीवन को बिताता रहता है। चाहिये तो यह कि पहले २० वर्ष में अध्ययनादि करो। वृषभ धर्म का प्रतीक है। अगले २० वर्ष धर्म करने के हैं। सारे समाज का बोझ उसे निःस्वार्थ ढोना है। यही धर्म का निर्वाह है। जैसे वृषभ चार पैरों से चलता है वैसे ही उसे भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पायों से चलना है। जैसे वृषभ स्वयं भूसा खाकर तुम्हें गेहूं और जौ खिलाता है वैसे ही संसार से सबसे कम लेकर संसार को सबसे अधिक देना है। जैसे वृषभ पर भगवान् शंकर बैठते हैं वैसे भगवान् शंकर को अपनी नकेल देकर चलना है। उसके बाद २० वर्ष श्वान के हैं। उसमें श्वानवत् सावधान रहो। क्षण भर भी वृत्ति को परमेश्वर से दूर न करो। थोड़ा सा भी व्यवहार हो तो सर्तक रहो। कुत्ते की

वफादारी को अपनाओ अपने मालिक परमशिव के प्रति वफादार रहो। उसने जो धन पुत्रादि दिये हैं उन्हें परमेश्वर के धर्म वृषभ बनने योग्य बनाओ। जैसे कुत्ता घर की रक्षा करता है ऐसे अपने शरीर रूपी घर की रक्षा करो। जो ४० से ६० साल तक की उम्र में अन्न इत्यादि की सावधानी बरतेगा वही वृद्धावस्था में साधना करेगा। ६० से ८० वर्ष में बगुले की तरह एक पैर पर खड़े रहो। अब अपना सारा कार्य भार पुत्र पर छोड़ कर केवल मोक्ष परायण हो जाओ। जैसे बगुला सफेद होता है वैसे अपने जीवन को शुद्ध बना लो। बगुला नदी के किनारे खड़ा रहता है, नदी के अन्दर नहीं। संसार प्रवाह को साक्षी भाव से देखो। जन्म मृत्यु जरा व्याधिदुःख दोषानु दर्शनम्। संसार में दोषों को देखकर अपने चरित्र को निष्कलंक बनाकर प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग कर निवृत्ति में लगो। अन्त के २० वर्ष ऊंट के हैं। पिछली उमर लम्बी थी अब आगे कम रह गई। यही आगे के पैरों का छोटा होना है। संसार रूपी मृगमरीचिका में सभी तृष्णा से आक्रान्त हैं। अब तृष्णा न रहने दो। जल की जगह पर शिव हैं। यदि शिव रूपी जल को अपने अन्दर रखोगे तो संसार रूपी तृष्णा लगेगी नहीं। अपनी गर्दन ऊंची रखो। अहन्ता, ममता का नाम भी न रहे। इसीलिये शास्त्र ने अन्तिम समय संन्यास का विधान किया। 'अन्तकालेऽपिमामेव स्मरन्' का अर्थ है कि जीवन के अन्तिम बीस वर्षों में संन्यास लेकर चलो। ऊंट के पैर अत्यन्त मुलायम गद्दीवाले होते हैं। किसी प्राणी को ठोकर या नाखून से दुःख दिये बगैर इस प्रकार निर्वाह करो कि किसी को तुम्हारे कारण कष्ट न हो। इस प्रकार जीवन को बिताकर यदि उसका अन्त नहीं करोगे तो पशुओं से भी बदतर हो जाओगे। अतः वासना का त्याग जीवन को सन्मार्ग में लगाकर ही होगा अन्यथा जीवन व्यर्थ है।

पापी को एकान्त में डर लगता है। कई आदमियों के सामने उसका मन बंटा रहता है। पापी एकान्त में अपने आप को धिक्कारता है। कर्म जहां भी होगा चाहे शुद्धतम क्यों न हो उसमें भय का बीज होगा। यत्नि धर्म को लेकर संन्यासी महाकाली की शरण लेता है।

जगदम्बा से अन्य कोई शरण है ही नहीं। परमेश्वर और संसार का आश्रय एक साथ नहीं चलते। उत्तिष्ठ का अर्थ ही है कि ब्रह्म में तिष्ठ, बैठ जाओ। सारे सहारे छोड़ महाकाली का सहारा लेना ही वैराग्य है। पदार्थों का व्यवहार करना उनका सहारा लेने से भिन्न है। जब तक शरीर है तब तक व्यवहार तो चलेगा ही पर संसार का भरोसा छूट जाता है। पैन्शन आयेगी तो खाऊंगा, बैंक में रुपया होगा तो खाऊंगा, यह सब कुछ नहीं। भरोसा केवल महाकाली का होता है। कई बार जब मार्ग अवरुद्ध दीखता है, उस समय एक अति विचित्र ढंग से सहायता मिलती है। प्रत्येक विचारशील के जीवन में वह मौका आता है जब महाकाली किसी निमित्त को बनाकर प्रकाश भेजती है। सारे सहारे छोड़कर उमामहेश्वर के सहारे खड़े होना ही जीव का कर्त्तव्य व धर्म है। जब ऐसा करता है तब वह आश्रय या आधार उसे स्वयं प्राप्त होता है।

जब श्रुति परमात्म तत्त्व को समस्त अन्तःकरण की वासनाओं से रहित कहती है तो स्पष्ट है कि स्वरूपतः जगत् कुछ और है। तो इसका स्वरूप क्या है ? श्रुति का उद्घोष है कि यह संसार परब्रह्म परमात्मा के खेलने की जगह है। हम अपने अन्तःकरण की वासनाओं के कारण उसे कुछ अन्यथा देख रहे हैं। 'आरामं अस्य' कह कर श्रुति ने इसका इशारा किया है। जहां पूर्ण तरह खेला जाय वही आराम है। आरामं अस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन' (बृ. उ.) 'अस्य' का अर्थ है 'परब्रह्मपरमात्मनः'। तो वह शुद्ध परब्रह्म परमात्मा कैसे खेलेगा? खेल तो बिना द्वैत के बनता नहीं। उधर उसे श्रुति निष्कल, निरवयव बताती है। तो निरवयव खेल कैसे खेलेगा ? अतः 'अस्य' का तात्पर्य खंडावस्था होनी चाहिये। खंड प्रलय के समय वट वृक्ष के पत्ते पर भगवान् बैठे हुए रहते हैं क्या ? तो वह खंड प्रलय होगा ? पर यदि श्रुति को देखा जाय तो श्रुति उसे सजातीय, विजतीय और स्वगत भेद से रहित बताती है। 'एकमेवाद्वितीयम्' से श्रुति ने सब भेदों का निराकरण किया। इस अवयव रहितता को निष्कलं, निष्क्रियं,

शान्तं से कहा। निष्क्रियं खेलेगा कैसे ? क्या ब्रह्म भी मनुष्य की तरह केवल मन के घोड़े दौड़ा कर खेलता है ? मन के घोड़े केवल साधारण मनुष्य ही दौड़ाते हैं ऐसी बात नहीं है। एक बार अमेरिका में प्रचार करने के बाद विवेकानन्द भारत वापस आये तो कश्मीर पहुंचे। कश्मीर, काशी और केरल में इदानीं काल के वेदान्त विद्या के प्रचारक हुए हैं। कश्मीर तो केसर, कुंकुम और कवियों के लिये प्रसिद्ध है। विवेकानन्द कश्मीर के क्षीर भवानी के मन्दिर में पहुंचे। वह मन्दिर टूटा हुआ था। उसकी मूर्ति को मुसलमानों ने तोड़ दिया था। उनके मन में आया कि यदि मैं उस समय जीवित होता तो माँ की मूर्ति को कभी न टूटने देता। इसी प्रकार मुसलमान लोग भी ताजिया निकाल कर कहते हैं 'हाय हुसेन हम न हुए'। विवेकानन्द को उसी रात्रि में भवानी ने स्वप्न दिया और पूछा अरे विवेकान्द मैं तेरी रक्षा करती हूं कि तू मेरा रक्षक है ? सर्वं शक्तिमती मैं हूं और तू यह समझता है कि वगैर मेरी इच्छा के ही मन्दिर टूट गया ! विवेकानन्द समझ गये कि सत्य काम सत्यसंकल्प का संकल्प सभी चीजों में काम कर रहा है। अतः निष्कलं, निष्क्रियं, शान्तम् से आन्तरिक क्रियाओं का भी अभाव श्रुति ने बतला दिया। तो जब वह खेल ही नहीं सकता तो श्रुति ने 'आरामं अस्य पश्यन्ति' कैसे कहा ? तो क्या यहां 'अस्य' का अर्थ माया है ? सांख्यवादी लोग ऐसा ही मानते हैं। वे संसार को प्रकृति का खेल मानते हैं। यदि इसे माया या प्रकृति का क्रीड़ांगन मानोगे तो खेलने वाला कौन है ? खेलता तो हमेशा चेतन है, जड़ नहीं खेल सकता। प्रकृति स्वरूप से जड़ है। अतः प्रकृति का क्रीड़ांगन नहीं बनता। फिर यह किसका क्रीड़ांगन है ? है जरूर क्यों कि श्रुति इसे आरामं (क्रीड़ांगन) कह रही है। 'न तं पश्यति कश्चन' से आगे इसी को स्पष्ट भी कर दिया। अधिष्ठान ही एक ऐसी चीज होती है जिसे कोई नहीं देखता। वह देखने वाला कौन है ? यच्चक्षुषा न पश्यति, जिसे आंख से देखा नहीं जाता, येन चक्षूंषि पश्यति, जिससे चक्षु देखते हैं, तदेव ब्रह्म। कोई भी उसे नहीं देखता क्योंकि वह सर्व द्रष्टा है। यदि 'अस्य' का अर्थ

'ब्रह्मण:' है तो फिर निष्कल निष्क्रिय का क्रीड़ांगन कैसा ? 'इसके खेलने की जगह' का अर्थ यह नहीं कि वह यहां खेलता है। बल्कि वह इस खेल की जगह का मालिक है। ब्रह्म के खेलने की जगह में केवल षष्ठी द्वारा सम्बन्ध बतलाया गया है। ब्रह्म का सम्बन्ध संसार से है, पर वह सम्बन्ध क्या है, यह नहीं बताया। प्राय: सभी वादी स्वरूप को छोड़ कर सम्बन्ध पर जोर देते हैं। और सम्बन्ध वाचक शब्दों के जोर से वे स्वरूप को बदल देते हैं। पर पदार्थ का स्वरूप नहीं बदलता, सम्बन्ध बदल सकता है। पर ब्रह्म परमात्मा, निष्कलं, निष्क्रियं, शान्तम् है। आराम से उसका सम्बन्ध है। फिर यह खेलने की जगह किसकी ? वैष्णवादिक लोग सम्बन्ध को सच्चा मान कर परमेश्वर का स्वरूप बदल देते हैं। वेद में जीव को ब्रह्म का पुत्र बताया। 'अंशो नाना व्यपदेशात्' (ब्र. सू.) से व्यास ने भी बताया कि जीव ब्रह्म का अंश है। माया का काय होने के कारण मन को जीव मानना गलत है। मन का कर्तव्य तो समाधि है, संसार में रमण नहीं। अत: ब्रह्म का इस विश्वक्रीडांगन से रेफरी या साक्षी का सम्बन्ध है एवं उसके ब्रह्मस्वरूप पुत्र का वह क्रीडांगन है। मन के द्वारा यहां खेल चलाया जाता है। ब्रह्म को भी जीव की तरह क्रीडा का अंग मानना सबसे बड़ी भ्रान्ति है। हमारी वासनाओं के कारण ही यह भ्रान्ति आती है। हम चाहते हैं जिसे हम सुख समझें उसे और लोग भी सुख समझें। यह भ्रान्ति है। सुख का विषय बदलता रहता है। यदि हमें मीठा अच्छा लगता है तो हम सब को वही राय देते हैं। अगर हमें नमकीन अच्छा लगता है तो हम चाहते हैं कि दूसरों को भी नमकीन अच्छा लगे। उसी प्रकार जैसे वस्त्र हमको अच्छे लगते हैं हम समझते हैं कि वैसे सभी को अच्छे लगें। ये मान्यतायें भ्रान्त हैं क्योंकि हमेशा बदलती रहती हैं। यदि हम समझते हैं कि धन ही संसार में उन्नति का मार्ग है तो हम दूसरों को भी यही मनवाना चाहते हैं। जब हम अपनी सारी मान्यताओं को व्यक्ति से हटा कर समाज पर डालते हैं तो सारे समाज को अपनी मान्यता के अनुसार एक जैसा बनाना चाहते हैं। इसके पीछे भी यही भावना है कि हम

जिसे सुख समझते हैं सभी उसे सुख समझें। कोई विचारक हमको वासना रहित बनाना नहीं चाहता। केवल वैदिक दृष्टि ही वासना-हीन बनाने की है। विवेकचूडामणि में कहा है 'बोधो निर्वासनो यस्य' ज्ञान जिसका वासना रहित है, वही जीवन्मुक्त है। यही वैदिक संस्कृति की दृष्टि है। एक वासना के ऊपर दूसरी वासना चढ़ाते जाने से कोई लाभ नहीं है। सारी वैदिक संस्कृति का प्रयास यह है कि हमको वासना रहित कैसे बनाया जाय। अन्य सभी वाद एवं मत और मज़हब हमें कुछ बनाना चाहते हैं। वेद हमें स्वयं हमारे स्वरूप में ही स्थिर करना चाहता है।

वैदिक संस्कृति व्यक्तिनिष्ठ है। वह व्यक्ति को आगे रख कर चलती है। अन्य सब संस्कृतियाँ समाजवादी हैं। अन्य संस्कृतियों और वैदिक संस्कृति में यह मूलभूत भेद है। क्या समाज कई व्यक्तियों के समूह का नाम है? वह तो खिचड़ी मात्र है। समाज में व्यक्ति सदा अलग अलग रहेंगे। क्या आप समाज को हमें दिखा सकते हैं? समाज को वगैर देखे हुए लोग अन्धविश्वास से ही मान लेते हैं कि समाज है। वैदिक संस्कृति का आधार है व्यक्ति। वैदिक दृष्टि से भिन्न दृष्टि वाले लोग आत्मा को संघात मानते हैं। कोई उसे पृथ्वी, जल, वायु आदि का संघात चेतन मानते हैं, कुछ लोग उसे अन्नमय कोष, प्राणमयकोष आदि का संघात मानते हैं, कोई चार प्रकार के स्कन्धों के आघात से आत्मा का पैदा होना मानते हैं। इसी प्रकार लोगों की संघातवादी दृष्टि समाज के बारे में भी है कि भारत में द्रविड़, आर्य मंगोल,ग्रीक,शक, यवन इत्यादि ने आकर एक संघात बना कर नई संस्कृति का निर्माण किया। पर जैसे बहुत सी नदियों का पानी मिल कर समुद्र नहीं बनता, समुद्र नाम की एक अलग चीज है जिसमें नदियां खतम हो जाती हैं। इसी प्रकार वैदिक संस्कृति एक समुद्र है जिसमें जो आया वह मिलता ही चला गया। वैदिक संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है जिसमें अन्य संस्कृतियां समा जाती हैं।

आज कल जो लोग साम्यवाद पर लट्टू होते हैं उन्हें आत्मवाद का

सिद्धान्त समझना चाहिये। आत्मवाद मूल है। शक्ति हर एक में विद्यमान है। जड़ के मिलने से कभी चेतन नहीं बना। सब जड़ वस्तुओं के न रहने पर भी चेतन रहता है। अन्तः प्रज्ञा से रहित चेतन है। वासना जाल से निर्मुक्त भी चेतन है। वासना जाल से रहित चैतन्य को ही श्रुति ज्ञातव्य बता रही है। सारी शक्ति उसी चेतन की है। लोग अण्डे, मांस, इत्यादि अभक्ष्य भक्षण क्यों करते हैं ? क्योंकि वे शक्ति का स्रोत जड़ को मानते हैं। अन्तर्मुखता में शक्ति की वृद्धि होती है, इसे वे नहीं मानते। यही भूल भ्रान्ति है। आत्म तत्त्व एक चेतनतत्त्व है, जिसकी शक्ति से सभी कुछ होता है। यदि यह शक्ति है तो बाहर की शक्ति की अपेक्षा नहीं है।

अकबर राणा प्रताप को नहीं हरा सका, क्यों ? क्या राणा प्रताप के पास सेना थी ? आज हम संस्कृति की गड़बड़ी के कारण जितने उत्साह से अकबर का नाम लेते हैं उतने उत्साह से राणा प्रताप का नाम नहीं लेते। शिवाजी के अन्दर कौन सी बाह्य शक्ति थी ? आज अन्तः शक्ति को हम अपनी संस्कृति का प्रतीक मानना भूल गये हैं। जब हम साधन मार्ग में लगते हैं तो बाहर से शक्ति चाहते हैं। शक्ति अन्दर है बाहर से नहीं आ सकती। अन्दर की शक्ति ही बाहर प्रकट होती है। शक्ति का उद्‌गम स्थान चेतन तत्व है। जिस प्रकार कांचों के बीच में पड़े हुए हीरे को देखने के लिये जौहरी की दृष्टि चाहिये ऐसे ही शरीर के अनेक अनात्म पदार्थों के बीच में आत्मा रूपी हीरा पड़ा हुआ है, उसे देखने को जौहरी की दृष्टि चाहिये। वासना जाल के कारण हमने उस हीरे को कांच का टुकड़ा मान रखा है। सत्त्वात् संजायते ज्ञानं। मन का स्वभाव चञ्चल नहीं है। हमने उसे वासनाओं से चञ्चल बना रखा है। तमोगुण के द्वारा उसे निर्वासित कर रखा है। इस तमोगुण को हटाने के लिये अन्दर उपासना द्वारा प्रज्ञा नेत्र को उत्पन्न किया जाता है। इसी को प्रज्ञापारमिता कहते हैं। प्रज्ञापारमिता का अर्थ है प्रज्ञा इता अर्थात् यहां से गई, कहां गई? पारम्। पार चली गई। यदि सब कोषों की निवतर्क बुद्धि को पैदा

कर लिया तो तू नष्ट नहीं होगा। चित्त पुनः सत्व गुणी हो जायेगा और अन्तःकरण अपने स्वरूप भूत आत्मा को प्राप्त कर लेगा।

पर आज हमारे राष्ट्र रूपी शरीर के अंग प्रत्यंग कटते चले ज़ा रहे हैं अतः प्रश्न यह उठता है कि हम समाज की दृष्टि से क्या करें ? समष्टि की दृष्टि यह है कि जिनको हम भाई समझ रहे थे वे हम पर आक्रमण करते हैं। चीन वालों ने हम पर आक्रमण किया। पर सारी दुनियां भी यदि हमें शान्ति का उपदेश दे तो भी हमें शक्ति को उत्पन्न करना ही पड़ेगा। वह शक्ति अन्दर से आयेगी।

भगवती की प्रतिज्ञा है कि 'इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति, तदा तदावतीर्याऽहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्'। जब जब दानव लोग भारत भूमि पर चढ़ाई करें तब तब तुम मेरा स्मरण करना तो मैं दुश्मनों का नाश करूंगी। अरि याने दुश्मन के संक्षयम् अर्थात् नाश के लिये यह मंत्र है। राम ने स्वयं अवतार लेकर अरि को मारा था। इस मंत्र को जपने से यदि आपका अहिंसा धर्म खण्डित हो तो उसको 'तस्याऽहं सकलां बाधां नाशयिष्याम्यसंशयम्' की प्रतिज्ञा करने वाली के अर्पण कर देना। भगवती माता है। विशेषकरके उसकी अराधना इसीलिये करनी चाहिये। उसे दया जल्दी आती है। वह माता हमारी रक्षा करेगी। 'शत्रुतो न भयं किञ्चित्'।

* * * *

वासना की निवृत्ति के लिये शास्त्रों ने संस्कारों का प्रतिपादन किया है। अपने मन को लगाना अर्थात् संस्कारों द्वारा शास्त्र के अनुकूल बनना है। शास्त्र की मान्यता कब मानोगे ? जब अपनी मान्यता त्यागोगे तभी शास्त्र मान्य होगा। धर्म की गुलामी को गुलामी नहीं कहते। यदि धर्म की गुलामी को हटाओगे तो किसी राज्य की या वाद विशेष की गुलामी करनी पड़ेगी। एक विचारक ने कहा था कि धर्म के लिये बहुत झगड़े करने पड़ते हैं अतः धर्म को ही नहीं रखना चाहिये। जब उनसे पूछा गया कि आप राज्यों को भी क्यों नहीं उड़ा देते क्योंकि वे भी झगड़ते हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया कि राज्य के बगैर काम

नहीं चलता । इसी प्रकार हमारा कहना है कि धर्म के बगैर भी काम नहीं चलता । धर्म में अन्धविश्वास की संभावना की तरह सर्वत्र ही है। आप राज्य में इतनी योजनायें बनाते हैं और कहते हैं कि आने वाली पीढ़ी का दुःख हम घटाना चाहते हैं । आने वाली पीढ़ी आयगी भी या नहीं एवं आने पर भी आपकी योजनाओं से सुखी होगी, इसमें क्या-प्रमाण है ? आज के अनिश्चित कोवल्ट बम के युग में आखिर यह भी तो एक अन्धविश्वास ही है । अन्त में घूम फिर कर किसी न किसी तरह हर वाद में समाज या राज्य के नियम की गुलामी आती है । राज्य की गुलामी निश्चित फल देने वाली नहीं पर धर्म की गुलामी निश्चित फल देती है । इतिहास यही कहता है कि जब भी किसी ने दूसरों पर आक्रमण किया तो सदा यही कहा कि मैं दूसरों की गुलामी छुड़ाने के लिये आक्रमण कर रहा हूं । चीन ने भी हाल में भारत पर आक्रमण किया तो उनका कहना था कि वे भारत को पूंजीपति राष्ट्रों की गुलामी से स्वतंत्र करने के लिये ही भारत में आरहे हैं । वे हमको अमेरिका के प्रभाव से स्वतंत्र करने आ रहे हैं । अतः आक्रमणकारी तुमको धर्म की गुलामी से छुड़ाकर अपना गुलाम बनाना चाहते हैं । मनुष्य भी और सब गुलामी से छूटा तो अपने मन का गुलाम बनता है । मन की गुलामी सबसे बुरी गुलामी है । मन ही आपको बाजार में छोले और कुलचे खिलाता है । घर आकर पेट खराब हो गया तो वही मन डांटता है, अरे ! इतना क्यों खा लिया ? अगर न खाओ तो मन दिन भर कहता है 'अरे अच्छे छोले थे, खाये क्यों नहीं ?'

शास्त्र का अनुशासन तभी आयेगा जब अपने मन पर शासन करना सीखोगे । सारी साधनाओं का आधार यही है कि किसी प्रकार मन को वश में कर सको । मन यदि वश में नहीं हुआ तो सारी साधना व्यर्थ है । लोग साधना के क्रम को नहीं समझते । इतनी साधना हो और मन पर थोड़ा सा भी वश न हो ? यदि भजन और साधन से मन वश में नहीं आया तो समझो कि साधन ठीक नहीं हुआ । अवसर देखने में आता

है कि लोग लम्बे समय तक सत्संग करते हैं पर मन पर उनका तनिक भी नियन्त्रण नहीं हो पाता । वे मामूली घटना से विक्षिप्त हो जाते हैं । जिनका काम क्रोध नष्ट नहीं होता वे सत्संग के अन्त में तुलसी का प्रसाद तक क्रम से नहीं ले सकते । उनके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि संग अवश्य हुआ है पर कौन सा संग हुआ है यह सन्देहास्पद है । यदि मन वश में नहीं आया तो समझो कि साधन की प्रक्रिया में कमी है । जिस प्रकार रेल में जाने से गन्तव्य स्टेशन की दूरी घटेगी उसी प्रकार साधन का फल मन के ऊपर अधिक अधिक नियन्त्रण है ।

बैठना साधन नहीं, माला फेरना साधन नहीं, ये सब साधन के अंग हैं । साधन मन का नियन्त्रण है । यह भरोसा करना गलत है कि कुछ तो कर रहे हैं, यहाँ नहीं तो अगले जनम अवश्य फल मिलेगा । यदि आज दाल पकाने बैठे हो तो अगले जनम तक दाल पकाने से काम नहीं चलेगा । मुक्ति की भूख वाला उसे अभी ही मिटाना चाहता है । अगले जन्म में मुक्ति चाहना उस तिनके से गर्म करना है जो जल जायगा पर दाल गरम तक नहीं कर पायगा । जो संसार से विरक्त हो जाता है वह थोड़े समय में आगे बढ़ जाता है क्योंकि उसे भूख लगी है । यदि साधना धीरे धीरे करोगे तो साधन करके मोक्ष रूपी फल नहीं मिलेगा । मुमुक्षु के लिये साधना का विनियोग ठीक प्रकार मन का नियन्त्रण करके ही होता है ।

मन के ऊपर नियन्त्रण का एक सरल उपाय है । प्रत्येक बात में गुरु की आज्ञा पालना सीखना । यदि यह सीख लिया तो मन का नियन्त्रण स्वयं हो गया । अक्सर लोग कहते हैं हमें साधना करने को समय ही नहीं मिलता । समय इच्छा के अनुसार रहता है । लड़की के व्याह के लिये सब काम करने को समय निकल आता है । अखबार वांचने को समय निकल आता है । गीता पाठ और सत्संग में जाने का समय नहीं मिलता । इतवार को वाइस्कोप जाने का समय जरूर मिल जाता है ।

वेदान्त का अधिकारी साधक तब बनेगा जब उसमें विविदिषा आयेगी । जब दीर्घ काल तक यज्ञ, दान और तप तथा कामनाओं का

त्याग करेगा तब विविदिषा उत्पन्न होगी। लोक में भी यही होता है। जिसने कविता का अध्ययन किया वही काव्य पढ़ना पसन्द करेगा। अनुभूति वाला कवि ही क्रान्तदर्शी होता है। संगीत का अभ्यास करने वाला ही संगीत को समझता है। संगीत तो ध्वनि है। जैसे काव्य शास्त्र को समझे वगैर कवि नहीं बनता। कई लोग तो काव्य शास्त्र पढ़ कर भी कविता को नहीं समझते, उसके लिये सूक्ष्म बुद्धि चाहिये। इसी कारण सूक्ष्मतम ब्रह्म का प्रचार नहीं होता। जब यज्ञ, दान, तपादि करेगा तब उसमें विविदिषा, ब्रह्म को जानने की इच्छा, उत्पन्न होगी। आत्म विद्या का उपदेश पकने पर ही मिलता है। 'कर्मभिः कषाये पक्वे' शुभ कर्मों को करते-करते जब वह पक्व हो जाता है तभी ब्रह्म ज्ञान की भूमिका बनती है।

* * * *

यदि मनुष्य के मन में, हृदय में, दो प्रबल भावनायें एक समान रूप से हों तो उसे चित्तद्वैध (Schizophrenia) नामका मानसिक रोग हो जाता है। एक मन हो जाना, एक आदर्श को लेकर प्रत्येक क्षण लगा रहना, ही विक्षेप की निवृत्ति है। इसी को शास्त्रीय भाषा में भक्ति कहते हैं। 'चेतोवृत्तिरुपेत्य तिष्ठति सदा सा भक्तिरित्युच्यते'। उपेत्य समीप गमन करके सदा तिष्ठति चित्त की वृत्ति जब सदा एक ही में लगी रहे तभी भक्ति होती है। भक्ति जब तक दृढ़ नहीं होती तब तक ज्ञान असम्भव है। 'यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ' से बिना भक्ति के श्रुति ने ज्ञान में अधिकार का निषेध कर दिया है। श्रीकृष्ण ने भी कहा है 'भक्त्या मां अभिजानाति'। उपर्युक्त लक्षण इसी भक्ति का है।

आज कल लोगों ने भक्ति में परमेश्वर से अपने को अलग मानना अनिवार्य मान उसे द्वैत भक्ति में रूढ़ कर लिया है। भक्ति से द्वैत का कोई सम्बन्ध नहीं है। मध्यकालीन वैष्णव आचार्यों का जितना आग्रह अद्वैत के खण्डन और द्वैत के मण्डन में है उतना भक्ति के स्वरूप निर्णय में नहीं। रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, चैतन्य इत्यादि ने भक्ति

के साहित्य की रचना नहीं की। भगवान् की स्तुति के लिये आचार्य शंकर के स्तोत्र आज तक प्रचलित हैं। दूसरे आचार्य भक्ति की आड़ में द्वैतसिद्धि कर रहे थे। चित्त वृत्ति जहां जाकर सदा लग जाय वही भक्ति है। जिसकी वृत्ति परमेश्वर में लगी होगी वह परमेश्वर का वर्णन करेगा, द्वैत दर्शन का नहीं।

पशुपतेः पादारविन्दद्वयं चेतोवृत्तिरुपेत्य तिष्ठति सदा में शंकर-भगवत्पाद ने पशुपति के पादारविन्द में चित्तवृत्ति को लगाने को क्यों कहा? क्यों कि 'पाशबद्धो भवेत् पशुः' अविद्या पाश से बंधे हुए जीव को ही शास्त्र में पशु कहा है। उसका पालन करने वाला 'पातीति पतिः' पशुपति है। पाश में बद्ध होने पर भी उसमें स्वतंत्रता का बीज है। इस कारण वह जीव पशु है। उसमें स्वातंत्र्य अथवा चेतन बीज रूप से होने पर भी परतंत्र होने से पशु है। जो सर्वथा परतंत्र है उसे पाश कहते हैं। जो थोड़ा स्वतंत्र है वह पशु है। जो सर्वथा स्वतंत्र है वह पशुपति है।

जहां जीवभाव है वहां स्वातंत्र्य शक्ति से शिव का उन्मेष भी है। अतः उसे पशुपति कहा। पशुपति के दो पाद हैं। डाक्टर विधुशेखर भट्टाचार्य 'तं वन्दे द्विपदां वरं' का 'द्विपदां मानवानां श्रेष्ठं वरं' अर्थ करके गौड़पाद को भीं बौद्ध सिद्ध करते हैं। शब्दों के तात्पर्य निर्णय में काल, देश, सन्दर्भ आदि के अविचार से ऐसी गलती बड़े बड़े विद्वान् कर बैंठते हैं। वास्तव में पद कहते हैं जिसपर कोई स्थिर हो। जब श्रुति ने कहा 'शं द्विपदे, शं चतुष्पदे' तो किसके कल्याण की कामना की? दो पैर का अर्थ यहां दो आदर्श है। इसी प्रकार चतुष्पाद का अर्थ है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के आदर्श वाले। जिन्होंने केवल धर्म और मोक्ष की ही कामना कर रखी है वे द्विपाद हैं। उन द्विपादों में श्रेष्ठ को नमस्कार करते हुए आचार्य गौड़पाद 'तं वन्दे द्विपदां वरं' कह रहे हैं। वरं का प्रयोग इस लिये किया कि वे अर्थ और काम रूपी अवरद्वय पाद पर स्थित नहीं हैं। ये दो पाद निम्न कोटि के हैं।

पशुपति के दो पाद हैं पर और अपर। धर्म और मोक्ष उनकी तरफ प्रवृत्त पशु के पाद हैं। जब धर्म साधक की प्रधानता बताई जाती है तो भगवान् शंकर को वृषारूढ़ कहते हैं। जब मोक्ष प्रधान साधक का ध्यान होता है तो पद्मासीनं कहते हैं। कर्म को वेदों में जल से इंगित किया जाता है। पद्म सदा जल के ऊपर और उससे निर्लिप्त रहता है। कर्म से निर्लिप्त मोक्ष प्रधान साधक के लिये शंकर का रूप पद्मासीन है। भक्ति धर्म प्राधान्येन भी है और मोक्ष प्राधान्येन भी है। धर्म प्राधान्येन भक्ति सगुण प्रधान है। मोक्ष प्रधान भक्ति निर्गुण प्रधान है। साकारनिराकार या धर्ममोक्ष दोनों के साथ भक्ति का सम्बन्ध है। अतः पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा दोनों में उपासना का विचार है। पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्ड संबन्धी उपासना का विचार है। जो मोक्ष में अन्वित उपासनायें हैं उन्हें उत्तर मीमांसा में बतलाया गया है। धर्म रूपी फल देने वाली उपासनाओं का विचार ही पूर्व मीमांसा में है। हमारे वेदों में कर्म और ज्ञान, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति ही दो मार्ग हैं। वेदों में ज्ञान और कर्म का ही स्वतन्त्र निरूपण है, भक्ति का नहीं। भक्ति का स्वरूप दोनों मार्गों में अंगरूप से निष्ठासिद्धि करना है।

अङ्कोट नामक एक वृक्ष होता है। जब उसका बीज गिरता है तो तुरन्त उसी वृक्ष की जड़ में चला जाता है। उस वृक्ष की शाखा को काट कर लगाते हैं तो नया वृक्ष लगता है। जैसे अङ्कोट वृक्ष का बीज उत्पन्न होते ही अपने मूल की तरफ जाता है वैसे निज बीज सन्तति को मूल की तरफ ले जाओ। जीव इसीलिये अपनी वृत्ति परमेश्वर की तरफ लगा सकता है कि वह निज रूप है। इसलिये उसे भाष्यकार निज बीज सन्तति से कहते हैं। शुद्ध अन्तःकरण में परमेश्वर का ही प्रतिबिम्ब जीव का रूप है, अतः उसे 'आभास एव च' कहते हैं। जीव रूप से परमेश्वर अपना निज रूप देख रहा है। साथ में सन्तति शब्द का प्रयोग उसका भाव बताने को है। जो सन्तत चलाये रखे उसे सन्तति कहते हैं। इसी प्रकार परमेश्वर का चिन्तन सन्तति रूप से करने को कहा

गया है ताकि निरन्तर परमेश्वर की धारा जीव बहाता चले। यहां सन्तति से जीव का कर्तव्य बताया है। 'उपेत्य तिष्ठति सदा' से स्वभाव बतलाया है। सन्तति में प्रवाह है, तिष्ठति में निरोध है। जल के नदी रूप से प्रवाह में सन्तति है। पुत्र को सन्तति इसी कारण कहते हैं कि उसमें स्वसमान जातीयता का प्रवाह है। अतः 'अङ्कोटं निजबीज सन्ततिः' से यह बताने की चेष्टा भगवत्पाद कर रहे हैं कि अभ्यास काल में वृत्ति का प्रवाह साधक को करना पड़ेगा। निरन्तर चित्तवृत्ति का प्रवाह बहाते तो रहें पर किस सम्बन्ध से? 'निजबीज' में परमेश्वर का पुत्र मैं हूं, यह भाव है। यही भक्ति का भाव स्वरूप है।

दास्य भाव में दूरी है। जिस समय परमेश्वर से मार्ग याचन करो तो पुत्रवत् करो 'न तु भृत्यवत्' नौकर की तरह नहीं। 'योऽ सौ पुरुषः सोऽहमस्मि' ही वेद प्रतिपादित सम्बन्ध है। पिता से पुत्र कह सकता है कि मैं तुम्हारे समान हूं। सन्तति सम्बन्ध में भाव प्रधान है। भक्ति का प्रारम्भ ही उस समय होता है जब पुत्र भाव या स्वसमान जातीयता का निश्चय हो जाय। पिता की सारी सम्पत्ति पुत्र की होती है। नौकर हमेशा मालिक से मांगता ही रहेगा। भक्ति का प्रारम्भ तभी होगा जब परमेश्वर को पिता मानें। तब उससे रोज भीख नहीं मांगेंगे। अपने को यदि पुत्र मान कर चलोगे तो भगवान् का सब कुछ तुम्हारा ही है।

महेश्वर के प्रति पिता का भाव भक्ति का प्रथम लक्षण है। पिता और पति दोनों शब्द संस्कृत में 'पातीति' रक्षा करने वाले के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। वह किस तरह पिता है? इसका उदाहरण एक ऐतिहासिक घटना है। उदयपुर में महाराणा को दीवान कहते हैं। एकलिंग नाथ भगवान् को राजा माना जाता है। हुकम दीवान का चलता है और राज्य एकलिंग का। एकलिंग की सारी पूजा की व्यवस्था महाराणा के यहां से होती है। मन्दिर में जो भी चढ़ावे होते हैं वे अतिथि सेवा में लगते हैं। एकलिंग के मन्दिर

से १२५ मील दूर पर एक ब्राह्मण रहता था। वह ब्राह्मण वैदिक था। किसानों के खेतों में जाकर उनको कुछ कथा वार्ता सुना कर अपने भोजन के लिये अन्न मांग लाया करता था। लोग उसे सन्तो जी कहते थे।

मारवाड़ में एक बार भयंकर अकाल पड़ा। वैसे तो मारवाड़ में सदा ही अकाल पड़ता रहता है, पर इस बार तीन साल तक लगातार अकाल पड़ गया। लोगों के पास स्वयं ही खाने को न रहा। सन्तो जी को कौन देता? पांच दिन होगये भोजन नहीं मिला। पत्नी बोली मेरे पीहर के तो सब मर गये तुम्हारे भी कोई भाई, बन्धु नहीं है क्या? सन्तो ने कहा मेरे पहचान का तो केवल एक ही है पर वह सवा सौ मील दूर रहता है। वहीं जाऊंगा। आठ दिन भूखे रहकर बड़ी कठिनाई से सन्तो जी एकलिंग के मन्दिर में पहुंचे। सायंकाल के समय जब वे पहुंचे तो मन्दिर में बड़ी भीड़ थी। भगवान् का पंचामृत से अभिषेक हो रहा था। पुजारी लोग पूजा करके चले गये और बेचारे सन्तो जी को केवल अभिषेक का जल पान करने को मिला। सन्तो जी भूखे ही प्रातःकाल होने की प्रतीक्षा में सोगये।

जब मंदिर से सब लोग चले गये तो भगवान् ने स्वयं भंडार में जाकर भोजन निकाला और थाली में रखकर सन्तोजी को उनके गांव का नाम लेकर पुकारा। काफी देर बुलाने पर आया। एकलिंग ने कहा कि आज इसी थाली को लेकर चला जा। कल देखेंगे कि तेरा क्या इन्तजाम होता है। सन्तोजी को लगा कि मन्दिर का कोई कर्मचारी भोजन दे गया है। खाना खाकर के देखा कि थाली रत्नों की बनी हुई है। अब उसे किसे वापस दें, कोई दीख ही नहीं रहा था। अपनी गुदड़ी में थाली को लपेट कर सर के नीचे रख कर सो गये।

रात बीती। पुजारी ने पट खोले। एकलिंगजी की मच्छरदानी एक तरफ पड़ी थी। भोग लगाने गये तो देखा सारी चीजें छितरायी पड़ी थीं। सन्तोजी को भोजन देने यदि ललिता जातीं तो कुछ थाली बरतन ठीक से भी सजा कर रखतीं, पर वहां तो महेश्वर स्वयं गये थे। वे

व्यवस्था क्या ठीक रखते। पुजारियों ने देखा कि अन्दर का रत्न थाल गायब है। पुलिस बुलाई। रत्न थाल समेत सन्तोजी को सोते हुए पकड़ लिया गया। उनको जेल में डाल दिया गया।

शाम के समय महाराणा उदयपुर अपने इष्टदेव का ध्यान कर रहे थे। भगवान् ने उनसे कहा 'तेरी सारी व्यवस्था गड़बड़ है। एक तो मेरा कई दिन भूखा भक्त चल कर आया और तूने उसे खाना नहीं दिया। जब मैंने उसे अपनी थाली में खाना दिया तो तूने उसे जेल में डाल दिया। थाली मेरी थी कि तेरी?' महाराणा फौरन उदयपुर से चले। २५ मील दूर एकलिंग जी पहुंचे। सन्तोजी को जेल से निकाला और उनसे क्षमा याचना की। यह है पिता की रक्षणता जिसे भगवत्पाद शंकर इंगित करते हैं।

*　　　*　　　*　　　*

तुरीयावस्था में वासना का श्रुति निषेध करती है। वासनायें अनेकत्व से हैं। आत्म दृष्टि एकत्व से है। गीता में कहा है 'व्यवसायात्मिका बुद्धिः एका इह कुरुनन्दन। बहुशाखा हि अनन्ताःच बुद्धयः अव्यवसायिनाम्।' एका बुद्धि और अनन्ता बुद्धि में फरक है। बहुशाखा कह कर भी कृष्ण को जब सन्तोष नहीं हुआ तो 'अनन्ताः च' कह दिया। बुद्धयः का ऐसा विशेषण भगवान् ने क्यों दिया? यदि केवल बहुत कह कर भगवान् छोड़ देते तो बहुत एक एक करके एक दिन खतम हो जाता है। पर अनन्त की समाप्ति असम्भव है। यह बहुत समझने की बात है कि वासनाओं के जाल को एक एक करके समाप्त करना असम्भव कार्य है। अनन्तता के ही कारण असम्भव है। वासनाओं का अन्त करने का उपाय क्या है? बुद्धि में एक ही वासना को प्रविष्ट कर किसी अन्य वासना को घुसने न दो। बुद्धि का जहां तक प्रयोग है अन्य वासनाओं का अन्त हो गया। यह इस कारण सम्भव है कि बुद्धि एक समय में एक ही वासना का ग्रहण करती है। एक वासना का ग्रहण श्रीकृष्ण ने गीता में सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं

शरणं व्रज से कहा। यहां मां का अर्थ परमात्मानं है। मत् पद का अर्थ गीता में शुद्ध परमात्मा है। भगवान् भाष्यकार ने भी परमेश्वर के पुत्र की वृत्ति अङ्कोट में वृक्ष के बीज की उपमा दी। इस उपमा की एक और विशेषता है। वृक्ष का मूल स्थिर रहता है। सारी क्रियाओं का मूल परमात्मा है एवं वह अचल है।

बीज के दृष्टान्त में मूल कुछ नहीं करता। पर जीव ही परमेश्वर की ओर दौड़ रहा हो ऐसा नहीं है। 'स सर्वज्ञः सर्वकर्ताच'। वस्तुतः परमेश्वर ही जीव को अपनी ओर खींचता है। अतः भगवान भाष्यकार ने फौरन दूसरा दृष्टान्त दिया चुम्बक का, जो कि सुई को अपनी ओर खींचता है। खींचने की सारी क्रिया तो चुम्बक में है पर गति दीखती है सुई में। क्रिया दीखती कहीं है और होती कहीं और है। ज्वाला पतंगे को खींचती है पर दीखता ऐसा है कि शलभ स्वयं जारहा है। पतङ्गे की आंख के द्वारा वह ज्योति उसके हृदय में प्रविष्ट हो जाती है। हृदय में आयी हुई ज्योति अपने स्वकारण की ओर दौड़ती है। अतः गति मालूम पड़ती है पतङ्गे में पर होती है ज्योति की। चुम्बक पत्थर के सामने जब लोहा आता है तो वह लोहे को भी चुम्बक बना देता है। अब यदि चुम्बक ने सुई को भी चुम्बक बना लिया तो चुम्बक अपने आप को खींच रहा है। श्रुति बताती है कि 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'। जब जीव के अन्दर का चैतन्य स्वयं अपने कारण भाव शुद्ध चेतन की ओर प्रवृत्त होता है तो सर्वकर्तृत्व परमेश्वर में होने के कारण वह किसी दूसरे को अपनी ओर नहीं खींच रहा है। यद्यपि अपने अन्दर के चेतन तत्व को परमेश्वर की तरफ खिचते देख कर जड़ शरीर खिचता हुआ सा दीखता है। यद्यपि सुई का सम्पूर्ण लोहा खिचता है, पर सुई का अग्रभाग, सूक्ष्म अंग तेजी से खिचता है। इसी प्रकार जीव का अन्तःकरण उसका बारीक अंग है। अनेकता को दूर करके जितनी एकता आयेगी उतना ही वह अधिक बारीक होगा। अन्तःकरण की वृत्ति जितनी

अधिक एकाग्र होगी वह उतनी ही तेजी से परमेश्वर की ओर खिंचेगा। इसीलिये सुई का दृष्टान्त दिया। सुई की एक और विशेषता यह है कि सुई स्वयं भी एकरूपा है और अनेक को एक करने का काम सुई का है। दर्जी दो काम करता है, कैंची से फाड़ना और सुई से एक करना। सदाशिव स्वातन्त्र्यशक्ति से अखण्ड भाव को फाड़ देता है एवं पुनः ब्रह्माकारधी द्वारा अखण्ड कर देता है। बुद्धि की एकाग्रता स्वयं सुई के आकार का होना है, और अनेक अनुभवों की अनेकता को एकता में पिरोना यह बुद्धि का दूसरा काम है। प्रांयः हमने अपनी बुद्धियों को कबूतरखाना बना लिया है। हमारा ज्ञान बहुत होता है पर हम उन्हें अलग अलग कबूतरखानों में रखते हैं। हम इतिहास भूगोल को मिलाते नहीं। इसी प्रकार घर में जैसा व्यवहार करते हैं वैसा व्यापार में नहीं करते। ग्राहक आपको दस गलत बात कहता है तो आप हंसते रहते हैं। पर पत्नी यदि एक गलत बात कहे तो आप बिगड़ उठते हैं। हम अपने ज्ञानों को अलग अलग रखके उनका समन्वय नहीं करते इसलिये बुद्धि एकाग्र नहीं हो पाती। अनुभूति, विचार, हृदय, तथा मस्तिष्क में समन्वय न होने के कारण जीवन के कण बिखरे रहते हैं, इन्हें जबतक बुद्धि रूपी सूचिका से मिलायेंगे नहीं तब तक परमात्मा की ओर खिंच नहीं सकते।

यह समन्वय ही वेदान्त की अभूतपूर्व देन है। हमने आज उसे गलत समझ लिया है। लोग कहते हैं कि इस हिन्दू धर्म ने तो बेड़ा गर्क कर दिया, सब कुछ धर्म में मिला दिया। भाष्यकार शंकर भगवत्पाद हमको एक नवीन विचार की शैली देते हैं। हमारा धर्म एक संगठित तत्त्व है। यह नहीं कि हम मन्दिर में धार्मिक रहें और केवल प्लेटफार्म पर दार्शनिक। हमारे कला के केन्द्र मन्दिर थे। मन्दिरों की कला कृतियों को देख कर आजकल लोग समालोचना करते हैं। कई तो उनमें अश्लीलता देखते हैं। क्या परमात्मा की सृष्टि का स्वरूप कभी अश्लील हो सकता है? श्लील को अश्लील बनाना तो हमारी दृष्टि का काम है। आज हमारी दृष्टि संकुचित हो गई है। हमें स्थूलतम भोग का

सूक्ष्मतम भावना से संगठन करना है। किसी भी युग में यह प्रयास पूर्णतम रूप से सफल हुआ था ऐसा नहीं कहा जा सकता, फिर भी हम उस दर्शन को दर्शन नहीं कह सकते जो हमें यह मार्ग न दिखाये कि उसे जीवन में कैसे घटाया जा सकता है। भारतीय प्रणाली दर्शन को जीवन में घटाने की रही है। एक बार शंकर से किसी ने पूछा था कि आप जिस तत्त्व को समझा रहे हैं वह हमारी समझ में अगर नहीं आये तो आप क्या करेंगे ? शंकर ने उत्तर दिया कि जब तक तुम्हारी व मेरी बुद्धि बनी है तब तक समझाता ही रहूंगा। डंडे के जोर से आप दूसरे की जबान को जरूर रोक सकते हैं पर बुद्धि में प्रवेश नहीं कर सकते। जीवन के प्रत्येक स्तर पर समन्वय का मूल केवल अद्वैतात्मक दृष्टि है। यदि इसे छोड़ दिया तो वह विचारधारा भारतीय विचारधारा नहीं रहेगी।

* * * *

शंकर भगवत्पाद ने एक स्थल में चुम्बक पत्थर की उपमा परमात्मा से दी। कान्तोत्पल शब्द का प्रयोग वहां किया। कान्त का अर्थ होता है जिसकी कामना की जाय। इस उपमा से उन्होंने यह ध्वनि की कि चुंबक पत्थर भी खींचेगा तभी जब तुम उसे कान्त बनाओगे। श्रुति ने भी कहा है 'यंएवैष वृणुते तेन लभ्यः'। इसका अर्थ है यं परमात्मानं एव एष साधकः वृणुते। जब साधक परमात्मा का वरण करता है तब परमात्मा अपने स्वरूप का उद्घाटन करता है। जब वरण करेगा तभी, परमात्मा कान्त बनने के बाद ही, अपने स्वरूप को प्रकट करेगा। सूक्ष्मरूप से परमेश्वर को कान्त कह कर शंकर भगवान् यह ध्वनि भी कर रहे हैं कि पुत्र और पिता के सम्बन्ध की यह विलक्षणता है कि वह सम्बन्ध धीरे धीरे घटता है। विवाहोत्तर पुत्र को कान्ता मिल जाती है। पर परमेश्वर का जब ज्ञान होता है तो उसका प्रेम घटता नहीं क्यों कि वह ज्ञान परमेश्वर की चाह से उत्पन्न हुआ है। जीव ने उसका वरण किया है, इसीलिये वह कान्त है। कान्तोत्पल में उत्पल शब्द का अर्थ है पत्थर। पत्थर के प्रयोग से आचार्य ने परमेश्वर का स्थाणुत्व और

निर्विकारत्व बताया । सारी सुइयों को अपनी ओर खींच कर भी जैसे चुम्बक निष्क्रिय रहता है ऐसे परमेश्वर की निष्क्रियता और सक्रियता युगपत् इस उदाहरण से बतलाई ।

प्रश्न उठता है कि महेश्वर एक साथ निष्क्रिय और सक्रिय कैसे हैं । शिवलिंग युगपत् पत्थर भी है और शिव भी । साधारण ईसाई की दृष्टि में वह पत्थर ही है । वैदिक की दृष्टि में वह शिव ही है । वस्तुतः वह पत्थर रूप शिव है अतः दोनों ही है । परमेश्वर भी विचार से निष्क्रिय सिद्ध होता है क्योंकि एक में क्रिया सम्भव नहीं । फिर भी वह समाधिकाल में निष्क्रिय और व्यवहार काल में सक्रिय ही प्रतीत होने से दोनों है । उसमें वस्तुतः सक्रियता और निष्क्रियता युगपत् रहती है । एक स्थान में श्रुति कहती है कि तू ही पुरुष है, तू ही स्त्री है और तू ही कुमार है । दूसरे स्थान में श्रुति कहती है कि वह न स्त्री है, न पुरुष है, न कुमार है, न कुमारी है । दोनों को उसमें देखना ही अखण्ड अद्वैत दृष्टि है । अयस्कान्त का प्रयोग बड़ा सुन्दर प्रयोग है ।

जो कान्त है वह निर्विकार कैसे होगा ? योगवासिष्ठ की एक कथा में इसे बताया गया है । एक आदमी एक व्यापारी के यहां काम करता था । व्यापारी ने कहा कि अमुक राजकुमार ने मुझ से सोना उधार लिया है तू आज उससे उधाकर ले आ । वह आदमी जब राजकुमार के घर पहुंचा तो बाहर से उसने दो बड़े कुत्ते दरवाजे पर देखे जिन्हें देख कर वह डर गया और वापस आकर बोला कि वहां भीषण कुत्ते हैं । मैं अन्दर न जा सका । मालिक ने डांट पिलाई तो बेचारा फिर गया । बड़ी हिम्मत करके आगे बढ़ा तो देखा कि कुत्ते पत्थर के बने हुए हैं । पास जाकर देखा तो निश्चय हो गया कि ये कुत्ते असली नहीं । 'रेखोपरेखावलिता यथैका शालभंजिका तथा त्रैलोक्यखचितं ब्रह्मैकं प्रविचार्यताम् ।' एक अखण्ड परमात्म तत्व में ही यहां सब कुछ जगत् का चित्र खिंचा हुआ है । यथार्थ में यहां दो चीजें सम्भव ही नहीं । इस कथा

में राजकुमार रूपी जीव ने शिवरूपी व्यापारी का आनन्द रूपी सोना उधार ले रखा है। आनन्द रूपी सोना जीव को अपनी ओर खींचने के लिये उसने उधार दे रखा है। आनन्द तो शिव का है और आनन्द की कामना जीव में है। बुद्धि मुनीम उस आनन्द को प्राप्त करने जाता भी है तो कुत्तों को देख कर डर जाता है। संसार वासना ही कुत्ता है। सारा संसार ब्रह्म है पर वह वासना से दीखता है जगत्। अतः डर लगता है। संसार के विरोध का डर है तो साधक घबरा कर भागता है। सोचता है जंगल में जाऊं या कहीं एकान्त में भागूं। जब जरा हिम्मत करके साधना के पथ पर आगे बढ़ता है तो देखता है कि जिसको मैं संसार समझ रहा था वही ब्रह्म है। अब उसे पहचान लिया तो भय नहीं रहा। उसको दूर से देख कर सब डरते हैं। भयात् इन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति। पास जाकर देखा तो वहां अभय है। अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि। भय की निवृत्ति से ही इसकी कान्तता है। शिव के पास हिम्मत करके जाओगे तभी प्रेम होगा। नजदीक पहुंच कर उसे अपना समझोगे तभी वह कान्त रहेगा। द्वैत की दृष्टि में भय है। कान्त बन कर अभेद हो जायगा।

*   *   *   *

इस प्रकार चुम्बक पत्थर और सुई के दृष्टान्त से शंकर भगवत्पाद ने यह समझाने की कोशिश की कि मन की वृत्ति का प्रवाह ऐसा बनाया जाय कि परमात्मा की प्राप्ति हो सके। मन को वासना रहित बना कर ही परमात्मा का वरण सम्भव है। वासनाओं का नाश एक एक करके असम्भव दोष से ग्रस्त होने के कारण एक प्रधान वासना को पकड़ कर अन्य का उद्भव नष्ट करना है। वह एक वासना कैसी हो? वह प्रवाह कैसा होगा? परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का वृत्ति प्रवाह ही यहां निर्दिष्ट है। यह वृत्ति प्रवाह किया कैसे जाय? दो तरीके सम्भव हैं। प्रथम तो उसे अपना कारण समझ कर वृत्ति का प्रवाह सम्भव है, दूसरा उसको वर बना कर उसका वरण करके वृत्ति

का प्रवाह सम्भव है। इसी को बतलाने के लिये भगवान शंकर ने चुम्बक पत्थर और सुई का दृष्टान्त दिया था।

पर उनको स्वयं इस दृष्टान्त से कुछ असन्तोष हुआ। क्यों कि चुम्बक पत्थर और सुई दोनों जड़ हैं। पर यहां न जीव में जड़ रूपता है, न परमात्मा में। यहां दोनों चेतन हैं। अतः दोनों में आकर्षण को बताने में जड़ वस्तुओं के आकर्षण के दृष्टान्त में कुछ असन्तोष की प्रतीति स्वाभाविक है। सुई बेचारी तो कोई भी चुम्बक पत्थर हो उसकी ओर खिंच जाती है। यहां आकर्षण जाति विषयक है। अतः आचार्यों ने तीसरा उदाहरण दिया कि 'साध्वी नैज विभुं' जिस प्रकार साध्वी स्त्री अपने ही पति की ओर आकर्षित होती है। इस उदाहरण में दोनों ही चेतन हैं। साध्वी स्त्री की रुचि पुरुषमात्र के लिये न होकर पुरुष विशेष अपने पति के लिये ही है। नैज विभुं पद से आचार्य ने पुरुष विशेष अथवा ईश्वर की ध्वनि की है। मनुष्य के शरीर रूपी पुरी में जीव और ईश्वर दोनों ही शयन करते हैं। शास्त्रों में जीव को प्रति देह भिन्न और ईश्वर को सब में एक ही माना है। अतः ईश्वर ही पुरुष विशेष है। जो अविद्या अस्मिता आदि पांचों क्लेशों से अस्पृष्ट रहे उसे ईश्वर संज्ञा दी गई है। जब तक ये पांच क्लेश हैं तब तक जीवरूपता है। नैज विभुं का प्रयोग एक और संकेत देता है। साध्वी स्त्री का अर्थ ही यह है कि वह अपने पति को छोड़कर किसी अन्य की तरफ आकृष्ट नहीं होती। तो फिर आचार्य ने निज का प्रयोग क्यों किया? पश्चिम के देशों में जहां तलाक की प्रथा थी विवाहित लोग पुनर्विवाह करके एक दूसरे के पति पत्नी से सम्बन्धित भले ही होते हों पर साध्वी की दृष्टि से तो नैज पद खटकता है। पर संस्कृत भाषा की यह विशेषता है कि जहां पुनरावृत्ति किसी पद की की जाय वहां 'एव' का अर्थ होता है। अतः नैज का अर्थ हुआ 'अपना ही'। परमेश्वर सब का विभु है, यह भावना तो साधना के प्रथम भाग में होती है। बाद में यह भावना आती है कि परमेश्वर मेरा ही है। विभु

शब्द का अर्थ है सर्वव्यापक या अनन्त। दूसरों के साथ उसका दूर का सम्बन्ध हो पर मेरे साथ निज का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि इसमें द्विष्टता, दो रूपता, नहीं है। वह परमात्मा विभु होते हुए भी मेरा निज ही है, यह बतलाने को 'नैजं विभुं' कहा। इस उदाहरण में भी एक विलक्षणता है। पहले सूचिका का उदाहरण चुम्बक की ओर आकर्षित होते समय एकाग्रता में था। अब यहां साध्वी में चरित्र की विशिष्टता पर जोर है। साधु चरित्र वाली स्त्री साध्वी कहलाती है। प्रेम में एकाग्रता ही नहीं साध्वीपन होना चाहिये। इस असाध्वी भाव को हटाने के लिये ही यह साध्वी का उदाहरण लिया। अपने पति को साध्वी पत्नी ही प्रिय होती है। साधक का अन्तःकरण कितना ही एकाग्र क्यों न हो, यदि वह निर्मल नहीं हो गया, पाप की भावनाओं से निवृत्त नहीं हो गया, तो परमेश्वर ग्रहण नहीं कर सकता। पापी की वृत्ति भी एकाग्र हो सकती है। पर सांसारिक प्रेम में पागल दूसरे समय ठगना और धोका देना आदि कृत्य कर सकता है। सूचिका की स्थिति में ध्याना-ग्रता तो है पर यदि अन्तःकरण साधु नहीं होगा तो साध्वी की स्थिति नहीं आयेगी। श्रीकृष्ण ने कहा है 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' पर वही व्यक्ति जल्दी धर्मात्मा बनेगा जो 'सम्यग् व्यवसितो हि सः' जिसने दुराचार की भावना छोड़ दी हो। दुराचारी ही तो साधु बनेगा, बद्ध ही तो मुक्त होगा। पर कब? जब दुराचार की भावना को छोड़ कर चलेगा।

पापी का मानसिक परिवर्तन यदि हो भी जाय तो समाज की दृष्टि में वह पतित है। परमेश्वर की दृष्टि तो उसके पूर्व जन्म के साथ साथ इस जन्म को भी क्षण क्षण देख रही है। ईश्वर की दृष्टि का विचार ब्रह्मसूत्रों में किया गया है। जो व्यक्ति उत्तम नियमों की प्रतिज्ञा करके उसे भंग करे ऐसा व्यक्ति किसी काम का नहीं। 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' ऐसे भ्रष्ट व्यक्ति का कोई प्रायश्चित्त नहीं दीखता। ऐसे व्यक्ति को परमेश्वर का ज्ञान क्या सम्भव है?

यह एक पक्ष है। ब्रह्मसूत्र में सूत्रकार और भाष्यकार ने निर्णय दिया है कि यदि जो व्यक्ति पतित हो उसके उद्धार का कोई रास्ता ही न हो तो परमेश्वर की करुण वृत्ति एवं सर्वशक्तिमत्ता पर प्रहार आ जायेगा। अतः प्रायश्चित्त की कठोरता में ऐसी स्मृतियों की गतार्थता है। मध्यकालीन युगों में हम में कमी आ गई थी। विदेशियों ने हम पर आक्रमण किये। वे हमारे ऊपर करुणा नहीं करते थे। अतः धीरे धीरे हम भी निर्दय बन गये। इस प्रकार हमारे व्यष्टि व समष्टि जीवन में भी कठोरता आ गई तो क्या आश्चर्य है। जब भी किसी देश में तानाशाही होती है तो जन जीवन भी कठोर हो जाता है। गुप्तचर राज्य में पति और पत्नी में अविश्वास होने लगता है। जहां समाज में अविश्वास का अत्यधिक पुट है वहां व्यक्तिगत जीवन में भी वह परिलक्षित अवश्य होता है। मध्यकालीन युगों में हमारे ऊपर क्रूरता पूर्वक शासन किया गया अतः व्यक्तिगत जीवन में भी हम पतित का उद्धार असम्भव मानने लगे। इसके बाद एक अनुभूति पूर्ण पक्ष ऐसा उठ खड़ा हुआ जो केवल पतित का ही उद्धार सम्भव मानने लगा। वास्तविकता यह है कि कोई यदि पतित नहीं होता तो उसके उद्धार का प्रश्न ही नहीं उठता। पर उद्धार के लिये केवल पतित शब्द पर ही जोर देना अनावश्यक है। पतित व्यक्ति साधु दृष्टि द्वारा उद्धार का विषय बनता है। जब उसने ठीक निर्णय कर लिया तो परमेश्वर की प्राप्ति कर सकता है। आध्यात्मिक जीवन में ठीक परिवर्तन से ही आगे बढ़ा जा सकता है। तब प्रश्न उठता है कि स्मृतिकारों ने 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' क्यों कहा? सामाजिक दृष्टि से पतित उच्च योग्यता के पद को नहीं पा सकता। इसका रहस्य केवल समाज की विश्रृंखलता को बचाना ही नहीं है। समाज की दृष्टि के अन्तःकरण परिवर्तन परिलक्षित करने की असंभवता की यह स्वीकृति है। इस बात को कौन जानता है कि गांधी जी के पास जाकर सुहरावर्दी का मन सुधरा या नहीं? सामाजिक दृष्टि से हम इसका निर्णय नहीं कर सकते। पर आध्यात्मिक दृष्टि से

निर्णय सहज होगा। शिकागो में एक अत्यन्त दुश्चरित्रा नारी का चरित्र परिवर्तन हुआ। वह न्यूयार्क आकर नाम बदल रूथ से जौन बन गई। स्वामी बोधानन्द जी के पास आने जाने लगी। विदेश में लोगों का एक दूसरे से परिचय कराने की प्रणाली है। स्वामी बोधानन्द जी ने किसी को उसका परिचय देते समय कहा यह जौन है पर इसका सही नाम रूथ है। वह बेचारी शर्म से गड गई। बोधानन्द जी न समझ पाये कि स्थान परिवर्तन और नाम परिवर्तन के बगैर उसकी पूर्वावस्था का सामाजिक लोप सम्भव नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि से अन्तिम निर्णय 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' नहीं है। सम्यक् व्यवसितत्व ही अन्त:करण की साधुता है जो सभी प्रायश्चित्तों का फल है। नि:सन्देह शास्त्रानुकूल आचरण सम्यक् व्यवसाय है। शास्त्रानुकूल आचरण के बाद ही अन्त:करण की वृत्ति परमेश्वर को ग्रहण कर सकेगी।

'साध्वी नैज विभुः' के उदाहरण से समझाया गया कि साध्वी स्त्री अपने पति की ओर आकृष्ट होती है। विभु शब्द से एक और ध्वनि भी इंगित की गई। विभु का अर्थ है मालिक और व्यापक। विशेषेण भवति इति विभुः। विशेषण युक्त को विभु कहा। परमेश्वर ही एक मात्र सत्ता वाला है, उसके अलावा और कोई है ही नहीं। आप कह सकते हैं कि परमात्मा के अतिरिक्त जगत् है पर वह मुक्त को नहीं दीखता। यह तो सांख्यवादी की दृष्टि है। यदि रूप है और मुझे नहीं दीख रहा है तो मुझ में कोई कमी आ गई है। मैं अंधा हो गया हूं। यदि प्रकृति का दर्शन करने की मेरी शक्ति नष्ट होगई, और इस शक्ति का नष्ट होना ही मोक्ष हो तो मोक्ष एक रोग होता। मोक्ष को रोग मानना किसी को इष्ट नहीं है। पर यही गलती सांख्य और योग दर्शनों के मूल में है। इसी गलती के कारण लोग अध्यात्मवाद को जगत् पलायनवाद मानते हैं। पलायनवादियों की दौड़ अलग अलग जगहों के लिये है। कोई इस संसार से भागकर वैकुण्ठ या गोलोक को भागना चाहता है तो कोई बिहिश्त या हैवन को। लोकान्तर में गमन की इच्छा बाहर को भागना ही

है। इसी कारण अध्यात्मवाद का नाम पलायनवाद बना। पर वेदान्त कहता है पलायन की दृष्टि ठीक दृष्टि नहीं है। किं गृह्णामि त्यजामि किं। एक ही आत्मतत्त्व में तुम हेय और उपादेय किसे मानोगे? संसार से भागकर कहीं नहीं जा सकते। जिसे अब तक संसार मानते रहे वही तो ब्रह्म है। वैदिक दृष्टि में पलायन नहीं है। वेदान्ती भी राग छोड़ने का उपदेश देते हैं। यही वैराग्य है। 'रागद्वेषविमुक्तैः केवलैः इन्द्रियैः चरन् प्रसादं अधिगच्छति' का उपदेश शान्ति को प्राप्त करने का इन्द्रियों को आत्मवश्य करने का, गुलामी को छोड़ कर स्वतंत्र बनने का है। अपना मालिक बन कर व्यवहार करना ही 'विधेयात्मा' है। साधक को शास्त्रानुकूल व्यवहार करना है। साधक के कर्तव्य ही सिद्ध के लिये स्वभाव हैं।

कर्म का विनियोग अन्तःकरण की शुद्धि में है। शास्त्र के अनुकूल आचरण करने वाले एक गृहस्थ शिष्य को भाष्यकारों ने समझाया कि कर्म चित्त शुद्धि का साधन होकर मोक्ष में प्रयुक्त है। अतः कर्म से आगे चलो। पर वह कहता था कि कर्म अच्छा लगता है। साधना का भी एक आनन्द होता है। उसे शास्त्र ने रसास्वाद कहा है। उस रस को छोड़ो यह शास्त्र की ही आज्ञा है। पर बार बार कहने से भी वह गृहस्थ शिष्य नहीं मान रहे थे। अन्त में एक बार पूछा कि तू कर्म क्यों कर रहा है? वे बोले किये बगैर शान्ति नहीं मिलती। बहुत सी शास्त्रीय क्रियायें ऐसी आदत हो जाती हैं जिनको न करने से बुरा लगता है। साधक को सतर्क रहना चाहिये। जब दुनिया का काम करते हुए ही जप होने लगे तो जप का अभ्यास छोड़ दिया जाता है। जप तो एकाकार वृत्ति बनाने के लिये ही किया जाता है। ऐसे ही कर्म का विनियोग अन्तःकरण की शुद्धि में है। जिसने उसे स्वभाव बना लिया वह साधक स्वरूप से च्युत होगया। शास्त्र कहता है कि चाहे जिस किसी के हाथ का स्पर्श किया हुआ भोजन नहीं करना चाहिये। पर यदि इस का अर्थ अपनी पत्नी के हाथ का स्पर्श किया हुआ भी न खाना हो तो उस व्यक्ति को यही कहना

चाहिये कि अपने हाथ का भी क्यों खाते हो ? उसे भी खाना छोड़ दो। जल्दी स्वर्ग पहुँचोगे । यदि कर्म किये बगैर तुमसे नहीं रहा जाता तो तुम पर कर्म का भूत सवार होगया । शान्ति तो स्वभाव है । सब अवस्थाओं में उसका प्रभाव बना रहना चाहिये । यदि वह कर्माधीन हो गई तो गुलाम बन गई । तब आचार्यों के समझाने पर वह सद्गृहस्थ श्रवण मनन करने लग गये । चित्त तो शुद्ध था ही अतः थोड़े ही समय में तत्त्व प्राप्ति करली। भाष्यकार उस गृहस्थ शिष्य की प्रशंसा करते थे । भाष्यकार एक दिन उन्हीं के यहां ठहरे हुए थे और वे इन्तजाम में लगे हुएथे । वे सत्संग के समय भी जब काम में ही लगे रहे तो भाष्यकार के अन्य शिष्यों ने पूछा कि आप इनकी तत्त्व निष्ठा की क्यों प्रशंसा करते हैं। ये तो दिन भर काम में ही लगे रहते हैं ।। परीक्षा तो कीजिये । एक दिन वे घी से मिठाई बना रहे थे तो भाष्यकार ने बुला भेजा कि फौरन चले आओ। वे सद्यः चल पड़े । इधर सारा घी जल गया । जब उनसे पूछा गया कि घी के जलने का आपको खेद नहीं है तो वे बोले कि घी जला तो क्या हानि है ? जिसकी प्रसन्नता के लिये मिठाई बनवा रहा था यदि वे मुझे यहां बैठाते हैं तो घी से क्या प्रयोजन ? यदि परमेश्वर की उपासना परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये नहीं है तो वह केवल कर्म है ।

यदि हम संसार को ब्रह्म में देखें तो संसार ब्रह्म ही बन जाता है। 'इदं बुद्धिकालेऽपि सर्वं ब्रह्म एव' जो इस समय दीख रहा है वह भी ब्रह्म ही है । एक ही चीज दो दृष्टि वालों को दो रूप से दीखती है। एक ही ब्रह्म है। वह परिणाम से संसार नहीं बनता । उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता । दृष्टि के भेद से वह परमेश्वर संसार दीख रहा है । अतः 'साध्वी नैजविभुं' यथार्थता को बतलाता है। साधु चरित्र वाली एकाग्रता की दृष्टि ही इसे देख सकती है। सर्वत्र एक दृष्टि होने से धर्म का आधार उसके लिये बदल जाता है। एक स्थिति होती है जब 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' । पर होना चाहिये व्यक्ति को सत् के साथ एकनिष्ठ तभी

उसकी अन्तःकरण की प्रवृत्ति धर्म का आधार बन सकेगी। गौड़पादाचार्य भी कहते हैं कि वेदों का अर्थ जैसा जैसा उचित हो वैसा वैसा ब्रह्मनिष्ठ लोग करते हैं। वे जैसा अर्थ करते हैं वही ठीक है। 'साध्वी नैज विभुं' यह मेरा ही है की साध्वी दृष्टि से साधक की शिव दृष्टि बनती है। अध्यात्म शास्त्र का यह नियम है कि स्वरूप ही साधन है। समग्र उपाधियों से रहित उसका स्वरूप इसीलिये कहा गया कि साधक को भी समस्त उपाधियों से रहित बनना है। अन्तः वासना से रहित इसलिये कहा कि साधक भी वासनाओं से रहित बने। एक एक करके वासनाओं को हटाना साधक के लिये असम्भव कार्य है अतः निरन्तर एक वृत्ति के प्रभाव को रखने से अन्य वृत्तियां कम होने लगेंगी और उन वासनाओं का नाश स्वभावतः होने लगेगा। लक्षण का विचार करके दृष्टान्त का विचार कर शंकर ने तीन दृष्टान्त दिये। परमेश्वर को कारण समझ कर, वरण करके, अथवा अपना ही समझकर साधक चले। इसमें तीसरा पक्ष 'साध्वी नैज विभुं' से बतलाया। पर साध्वी तो पति के वियोग में भी जीवित रह सकती है। वियोग के कारण सत्ता का नाश नहीं होता। पर जीव अपनी सत्ता को परमेश्वर से अलग करके वस्तुतः मर जाता है। जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को 'साध्वी नैज विभुं' से भी पूरा पूरा नहीं बतलाया जा सकता। अतः भगवत्पाद ने एक चौथा दृष्टान्त भी दिया जो कि लता का है। लता केवल वृक्ष के आश्रय से ही रह सकती है। अगर वृक्ष न रहे, उसे लपेट कर न रखा जाय तो लता मुर्झा जायेगी। बेल तो अधिक व्यापक होती है, वह तार के खम्भे पर भी चढ़ जाती है। पर ऐसी एक लता होती है जो पेड़ पर ही चढ़ती है और वृक्ष शाखा से ही अपनी भोज्य सामग्री लेती है। इस उदाहरण में यह दूसरी प्रकार की लता ही विहित है। 'लता क्षितिरुहं' में उस भक्त की दृष्टि की ओर इशारा है जो परमेश्वर के चिन्तन बगैर क्षण भर भी जीवन नहीं रख सकता। 'क्षितिरुहं' की एक ध्वनि यह भी है कि 'क्षीयते

इति क्षिः, सा यस्मिन् तिष्ठति इति क्षितिः' क्षय होने वाले सारे संसार के पदार्थ क्षिः हैं। ये पदार्थ जिसमें रहें वह क्षिति है। चूंकि पृथ्वी पर सारे वृक्षादि प्राणी उत्पन्न होते हैं अतः उसे क्षिति कहा और जो क्षिति के ऊपर उत्पन्न हुए उन्हें क्षितिरुह कहा। अब प्रश्न उठता है कि केवल क्षि कहने से काम चल सकता था। पहले क्षि से क्षिति बना कर फिर क्षितिरुह क्यों कहा ? क्षीयते इति क्षिः से ही सारे जगत् को क्षिः मान सकते थे। यह जगत् एक कूटस्थ चैतन्य में रहता है। इस लिये उसका अधिष्ठान हो गया क्षिति। अधिष्ठान रूपी चैतन्य से जो निकली वह हुई परमेश्वर की विद्या शक्ति। माया शक्ति और विद्या शक्ति इन दोनों में भेद करने के लिये ही क्षितिरुह का प्रयोग है। लता 'लति वेष्टने' लपेटना के अर्थ में प्रयुक्त है। क्षितिरुह विद्या शक्ति को लपेटने वाली ब्रह्माकारा वृति ही लता है। ब्रह्माकारा वृत्ति क्षितिरुह को छोड़ कर क्षण भर भी नहीं रह सकती। अतः लता क्षितिरुहं से बतलाया कि लता और क्षितिरुह का सम्बन्ध कैसा है। पेड़ के बिना लता का जीवन असम्भव है एवं ब्रह्म के बिना ब्रह्माकारा वृत्ति भी असम्भव है।

पर ब्रह्माकारा वृत्ति का भी प्रवाह कब तक रहेगा ? जब तक जीव अपनी सत्ता को ब्रह्म में खो न दे तब तक। अतः लता क्षिति रुहं के बाद शंकर ने 'सरिद् वल्लभं' कह कर अन्तिम उदाहरण दिया। वल हिन्दोलने और लभ प्रावणे से मिलकर वल्लभ शब्द बना है। जो हिन्दोला, गति, प्रयत्न के द्वारा प्राप्त किया जाय वह वल्लभ है। आत्मज्ञान को प्राप्त करने तक ही जीव में गति है। जब सरित् वल्लभ अर्थात् समुद्र में सिन्धु (नदी) पहुंच गई तो वह सिन्धु या नदी नहीं रही वरन् समुद्र ही होगई। जब ब्रह्माकारा वृत्ति से ब्रह्म को जान लिया तो ब्रह्म ही हो जाता है। ब्रह्मैव न तु ब्रह्मवित्।

* * * *

परब्रह्म परमात्मा को श्रुति समस्त वासनाओं से रहित बताती है। वह वासना रहित है अतः उसे वासना रहित होकर ही जाना

जा सकता है। वासनाओं के द्वारा असमत् तत्त्व ढका हुआ है। भोगों के अन्दर जो राग है वह परमात्म तत्त्व को विषय करने ही नहीं देता। चित्त से जब भोगों के अन्दर का राग छुटाया जायेगा तभी वह चित्त परमात्मा को विषय कर सकेगा। रागों की कोई इयत्ता नहीं। उनकी कोई सीमा नहीं। राग परम्परा बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की भांति अनन्त है। इस निरन्तर परम्परा में राग रूपी वृक्ष परम्परा का बीज शास्त्रों ने अहंकारात्मक बताया है। आचार्य अनुभूति स्वरूप ने कहा है 'यस्य बीजम् अहङ्कृतिः गुरुतरं मूलं मम इति ग्रहः। भोगस्य स्मृतिरंकुरः सुतसुताज्ञात्यादयः पल्लवाः स्कन्धो दारपरिग्रहः परिभवः पुष्पं फलं दुर्गतिः' अहं रूपी बीज आने पर 'यह मेरा है' ऐसी भावना ही वासना संतति का मूल है। चीजों में अपनेपन का विस्तार होता चला तो वही परिभव पुष्प है जिसका फल दुर्गति है। यह जो ब्रह्म से विपरीत भावना करने वाली राग रूपी लता है वह कब लून होगी, जब वह बीज रूपी अहंकार नष्ट होगा। अहंकार में 'अहं' पद अ, ह, अ, म इन चार वर्णों से बना है। अ और ह मिलकर अः बना और उसके आगे अं है। पर वर्ण-माला क्रम में अः अं न पढ़ा कर अं अः पढ़ाते हैं। अः के आगे अं पढ़ने से यदि सन्धि के नियम को बरतो तो अः के विसर्ग के बाद अकार आया तो वह ओऽम् में परिणत होगा। अतः अः अं ही ओऽम् है। पर यदि अः अं को बगैर सन्धि के अलग अलग रखो तो अहम् ही रहेगा। अहम् को ओऽम् करने पर मनुष्य बन्धन से छूटता है। उसी का विग्रह करना बन्धन है। समष्टि से अलग होना ही बन्धन है। व्यापक बनना, सर्वरूप बनना, ही मुक्ति है। मुक्ति कोई देशान्तर गमन नहीं है। यहीं पर समष्टि भाव पाना ही मुक्ति है। वर्णमाला में पहले ही अः अं पढ़ कर बालक मुक्त न हो जायें अतः संसारी लोग उलटा अं अः पढ़ाते हैं। पाणिनि जी ने सोचा कि कहीं लोग इस बात को समझ गये तो मुक्त लोगों के लिये व्याकरण किसी काम का नहीं रहेगा अतः माहेश्वर सूत्रों में अनुस्वार और विसर्ग को रखा ही नहीं।

अब समझने की बात यह है कि अः अं (अहम्) यही जीव का रूप क्यों रखा ? अः का उच्चारण करते ही जो कुछ है वह सब बाहर निकल गया । फिर अपने व्यापक रूप को बाहर निकाल कर अपने परिच्छिन्न रूप को अपने अन्तःकरण में अं के द्वारा बन्द कर लेता है । अं के उच्चारण में मुंह बन्द होता है । अः के कहने में सांस बाहर जाती है । पर ओम् के कहने में सांस बाहर नहीं जाती उसका उच्चारण करके मुंह फौरन बन्द हो जाता है । यह शिक्षा की दृष्टि है । साधना की दृष्टि से अहम् तब ओं बनता है जब हम बाहर कुछ न रख कर सब कुछ अन्दर रख लेते हैं ।

आचार्य अनुभूति स्वरूप अहं को कृति क्यों मानते हैं ? क्योंकि अहं पहले से नहीं होता । हम उसे लाते हैं । बच्चे में देह का अध्यास दृढ़ नहीं होता । वह जैसे दूसरों से खेलता है वैसे अपने से भी खेलता है । जैसे जैसे वह बड़ा होता है शरीर के ऊपर अहन्ता धीरे धीरे बढ़ाता है । यहां पर देह के अन्दर अहंकार को जीव कर लेता है । क्यों ? क्यों कि भोग का साधन देह है। भोग के इस साधन को, साधन न समझना अहं कृति है । उसे अपना स्वरूप समझने लगता है। साधन के अन्दर स्वरूप का अध्यास कर लेते हो। लोग कहते हैं देह का अध्यास कैसे छूटे ? यह मान लिया गया है कि देह का अध्यास स्वयं मौजूद है । पर स्वप्न में देह का अध्यास कहां रहता है ? सुषुप्ति में तो स्थूल, सूक्ष्म दोनों का ही नहीं रहता । देह का अध्यास स्वाभाविक नहीं है, किया जाता है । जो चीज स्वाभाविक नहीं है उसे छोड़ा भी जा सकता है । मरने के बाद मुक्ति काल्पनिक है, अनुभव सिद्ध नहीं । मृत्यु के अनन्तर किसी भी फल को मानना केवल विश्वास है । वेदान्त की महत्ता है 'इह' यहीं पर मुक्ति का प्रतिपादन। जीवन्मुक्ति ही मुक्ति में प्रमाण है क्योंकि वह अनुभव सिद्ध है। अतः जीवन्मुक्ति को विदेह मुक्ति से श्रेष्ठ माना गया है । यदि देह में अध्यास स्वाभाविक होता तो जीवन्मुक्ति असम्भव हो जाती । चूंकि यत्नसाध्य होने से इस देहाध्यास का बाध संभव है अतः जीवन्मुक्ति

सम्भव है । ग्रन्थ पढ़ते समय देहाध्यास छूट जाता है । चार घंटे तक पढ़ते रहते हो, खाना पीना भूल जाते हो । देह के अन्दर उस समय अहं बुद्धि थी ही नहीं । पेट के अन्दर जब दर्द होता है तो पता चलता है कि पेट मेरा है । अन्यथा पेट है करके पता ही नहीं चलता । भोग स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों से होता है । यदि किसी व्यक्ति को उषा के विषय में एक सुन्दर वैदिक प्रार्थना याद है तो प्रातःकाल सूर्य को देखते ही वह वैदिक सूक्त याद आ जावेगा । फौरन आंख बन्द होकर सूर्य को देखना बन्द कर देगी क्योंकि सूक्त का आनन्द आने लगेगा । यह सूक्ष्म शरीर का भोग है । स्वर्ग में सूक्ष्म शरीर भोग का करण है । भोग साधन सदा ही शरीर होता है ।

अहं का जिससे सम्बन्ध होगया उससे मम का सम्बन्ध हो गया । जिसने अहंकार को समष्टि बना लिया उसके लिये कोई चीज मेरी नहीं होती । जिसके अन्तःपाती सारा विश्व होगया उसका मेरा कौन बनेगा ? ओं एक अव्यय है । इसके आगे कोई प्रत्ययं या कारक नहीं लगता । जब तक अहं है तब तक उसके आगे सारे प्रत्यय और कारक आते हैं । और वही अहं ओं बनते ही अव्यय बन गया । सम्बन्ध ओं का बन ही नहीं सकता । 'ममेति ग्रहः' से बतलाया है कि यद्यपि सामान्य मम व्यवहार का हेतु है पर 'मम इति ग्रहः' यह तीव्र बन्धन का हेतु है । यथा 'ये मेरे भाई लगते हैं' और 'ये मेरे भाई हैं' इन दो प्रयोगों में 'लगने वाला भाई' तो भाई के समान है पर दूसरे प्रयोग में 'भाई' तो भाई ही है । दूसरे प्रयोग में ममेति ग्रहः है । सप्तशती की कथा है कि समाधि नामक वैश्य को धक्का देकर उसके घर वालों ने निकाल दिया फिर भी वह जंगल में बैठा हुआ सोचता है कि वे कैसे होंगे । मित्र धोखा देता है फिर भी आप उसके बिना नहीं रह सकते । पुत्र आपका कहना नहीं मानता है फिर भी आप उसे छोड़ नहीं सकते । आपने दिल्ली की नई कोलोनी में मकान बना रखा है फिर भी उसमें अपनी गली का पड़ोस छोड़ कर नहीं जा सकते । जब मन स्थूलतर

होता चला तो अहन्ता ममता बढ़ चलती है। जितना मन सूक्ष्म होता चलता है उतनी ही अहन्ता ममता घटती है। अध्यास बढ़ने से मन स्थूल बनता है। सूक्ष्म मन स्वतः अहन्ता को घटाता चलता है। अहन्ता और ममता काटने से नहीं कटती। घर छोड़ कर आया, संन्यासी बना, फिर चाचागुरु, दादागुरु, शिष्य में ममता बनाली। मेरा घर यह अध्यास छोड़ता है तो मेरा आश्रम यह अध्यास हो जाता है। लड़की जब पिता का घर छोड़कर आयी तो संन्यास हो गया। अब पति के घर में आकर फिर अध्यास बढ़ा लिया। अहन्ता और ममता हटाने का प्रयत्न करोगे तो एक जगह से हट कर दूसरी जगह जा बैठेगा। पर जब अहन्ता का विषय कोई रहा ही नहीं तो सारी समष्टि में अहन्ता के आने से वह ओम् बन गया।

अन्त में प्रार्थना है 'तृष्णा लता लूयताम्' जिस तृष्णा की लता का बीज अहंकार है उस तृष्णा को उखाड़ कर फेंक दो। कैसे? दृष्टि के विस्तार से। जितनी जितनी ब्रह्म भावना होगी उतनी उतनी तृष्णा कामना कम होती जायगी।

* * * *

श्रुति परमात्मा को वासनाओं से रहित बता रही है। जीव में वासनाओं के अधिष्ठान, उनके रहने की जगह, को चित्त कहते हैं। व्यापक होने के कारण आत्मा बगैर उपाधि के अधिष्ठान नहीं बन सकता। यथा आकाश व्यापक है। जब तक वह घट, मठ आदि उपाधि वाला नहीं बनता तब तक उसमें कुछ रख नहीं सकते। मट्टी के घड़े में जल नहीं रखते। पानी तो घड़े के अन्दर जो पोल या आकाश है उसमें रखा जाता है। अवकाशस्वरूपः आकाशः। संस्कृत में अंग्रेजी के Sky को नभ शब्द से कहते हैं और Space के लिये संस्कृत शब्द आकाश है। पर यदि आकाश में ही पानी को रखना था तो घड़े की क्या जरूरत थी? आकाश व्यापक है। जब तक वह घड़े की उपाधि वाला नहीं बनता तब तक उसमें पानी नहीं रखा जा सकता। भगौने के बीच में जो आकाश है उसी में दाल रखी जा सकती है।

आकाश बगैर भगौने के दाल को अपने में नहीं रख सकता। ऐसे ही आत्मा व्यापक है। वह चित्त की उपाधि से ही वासना का ग्रहण करता है। यथा बिना भगौने के दाल नहीं पक सकती ऐसे ही आत्मा व्यापक होने के कारण बिना उपाधि के कोई क्रिया नहीं कर सकती। आत्मा की उपाधि का नाम है चित्त। चित्त रूपी उपाधि से युक्त आत्मा में वासनायें हैं। अधिष्ठान तो उनका भी आत्मा ही है। पर उपाधि से जब उसमें आश्रयरूपता आती है तो कह दिया जाता है कि सारी वासनायें चित्त में रहती हैं। यदि वासनाओं को हटाना है तो चित्त का स्फोटन करना पड़ेगा। चित्त को नष्ट करना पड़ेगा। आश्रय के नष्ट हो जाने से आश्रित वासनायें स्वयं क्षय हो जायेंगी। यदि लोग नौका में बैठकर जा रहे हैं तो नौका के डूबते ही वे लोग स्वयं डूब जायेंगे। अतः वासना को नष्ट करने के लिये चित्त रूपी आश्रय को नष्ट करो। कैसे? चित्त की दो अवस्थायें हैं, एक अन्तः दूसरी बहिः। अन्तः अवस्था में चित्त सारी वासनाओं को अपने गर्भ में रखता है, इसलिये मालूम पड़ता है कि चित्त इस समय है ही नहीं। पर जैसे मुर्गी के अन्दर से अण्डा समय समय पर प्रकट होता है वैसे ही वे वासनायें समय समय पर चित्त में से बहिः प्रकट होती हैं। प्रत्येक लकड़ी के गर्भ में अग्नि रहती है एवं समय समय पर वह अग्नि प्रकट होती है। अग्नि कहीं बाहर से नहीं आती। बगैर दियासलाई के भी अगर संघर्षण किया जाय तो लकड़ी में अग्नि प्रकट होती है। दियासलाई में भी अग्नि संघर्षण से ही प्रकट होती है। दियासलाई के मसाले के गर्भ में जैसे अग्नि है वैसे ही चित्त के गर्भ में वासना है जिन्हें वह भूत संघर्ष प्रकट करता रहता है। यदि हजार साल तक भी लकड़ी को पानी में रखो, फिर निकाल कर सुखालो तो अग्नि वैसी ही रहेगी। इसी प्रकार अव्यक्त वासना खतम नहीं होती। यदि लकड़ी की अग्नि निकालना चाहते हो तो उसे जला डालो। केवल राख बचेगी। लकड़ी रूपी आश्रय में अग्नि आश्रित है। उसे पूरी तरह से प्रकट हो जाने दो, सर्वतोभावेन जला डालो। कोयला नहीं, राख बना डालो। ठीक इसी प्रकार चित्त के

आश्रित वासनायें हैं। समय समय पर वे प्रकट होती हैं। सैकड़ों हजारों वर्षों तक चित्त को दबाकर रखोगे तो भी वे समय आने पर फूट निकलेंगी। यदि सारी वासनाओं को चित्त से निकल जाने दो तो वह चित्त नहीं, चिद्रूप परमात्मा बन ही जायगा।

वासनाओं को निकालने के लिये संघर्ष अपेक्षित है, पर उस संघर्ष का प्रकार पूर्व संघर्ष प्रकार से भिन्न है। चित्त में से वासनायें तभी निकलती हैं जब पदार्थ सामने आता है। बिना पदार्थ के भी कभी कभी वासना चित्त की मर्जी के अनुसार प्रकट होती है। यथा जंगल में दावाग्नि स्वतः प्रकट होती है। या जैसे स्फुरातु (फौसफोरस) हवा लगने मात्र से जल जाती है। फौसफोरस संस्कृत का ही शब्द है। संस्कृत में नियम है कि अधिक अर्थ में द्वित्व कर दिया जाता है। स्फर धातु का द्वित्व करो तो पहले वर्ण का द्वित्व होता है। फ पहले आकर फोस फोरस बना। यह जगत् ब्रह्म का स्फुरण है। श्रुति कहती है कि ब्रह्म बिना किसी कारण ही जगत् रूप में स्फुरित होता है। ऐसे ही बिना पदार्थ के सामने होने पर भी कभी चित्त के संस्कार उदित होते हैं। परन्तु यह विशेष है। सामान्यतः पदार्थ संबंध से ही वासना उद्बुद्ध होती है। चित्त के संस्कारों को संघर्ष करके जलाना पड़ेगा। मन के संस्कार कब निकलते हैं ? सामने पदार्थ आने पर संस्कार अवश्य प्रकट होता है। अतः प्रकट करके वासनाओं को नष्ट करना है। दबा कर वे नष्ट नहीं होंगी। अतः श्रुति में क्रम माना गया पहले कर्म फिर ज्ञान। गीता में भी कहा है आरुरूक्षु को कर्म करना चाहिये। जब वह योगारूढ़ हो जाय तब शम करना चाहिये। जब तक योगारूढ़ता नहीं आती तब तक कर्म त्याग करता है तो चित्त के संस्कार दब जाते हैं नष्ट नहीं होते। फिर समय आने पर पुनः प्रकट होते हैं। इसीलिये गीता में कर्म पर इतना जोर है। गीता का तात्पर्य तो कर्म त्याग में है पर 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोश्नुते'। पहुंचना तो नैष्कर्म्य में है पर बिना कर्म को प्रारम्भ किये हुए वहां तक पहुंचना असम्भव है। चित्त के संस्कारों का निकालना कर्म से ही क्यों

संभव है ? कर्म काल में संस्कार बाहर निकलते जाते हैं । फिर कर्म करने से सभी का चित्त शुद्ध क्यों नहीं हो जाता ? क्यों कि जितने संस्कार बाहर निकालते हैं उससे हजार गुने अधिक अन्दर डालते रहते हैं । वेद संस्कार निवृत्ति की युक्ति बताता है । जैसे आज कल युद्ध में दुश्मन को जीतने के लिये उसकी फौजों के अधिष्ठान को बम फेंक कर खतम करते हैं वैसे ही संस्कारों का अधिष्ठान चित्त है अतः वहीं बम बम महादेव को डालना है । साधारण रोग को निकालने के लिये भी उसके अधिष्ठान को जान कर ही इलाज करना पड़ता है । अच्छे वैद्य और बुरे वैद्य में क्या फरक है ? यदि अच्छे वैद्य के पास जाकर कहते हो कि सिर में दर्द है तो पहले रक्त चाप को नापता है, पेट को ठोकता है, उल्टा लिटा कर पसली में घन धन करता है । सिर के दर्द के अधिष्ठान को ढूंढता है, केवल सिर को नहीं देखता । ऐसे ही वासना के अधिष्ठान चित्त वासना क्षय सम्पूर्ण करना पड़ता है । यदि एक भी वासना बच गई तो मनुष्य को सर्वथा उखाड़ देगी । भोग परायण विजयी नहीं होता । हम लोग भोग परायणता बढ़ाते गये तो चीनी युद्ध के समय ढीले पड़ गये । कष्ट सहने की शक्ति कम होने के अनुपात से युद्ध विजय नहीं कर सकोगे । रामचन्द्र भी रावण से युद्ध करने के पहले १३ साल तक कष्ट ही कष्ट सहते रहे । भगवान कृष्ण भी जब भोगपरायण हुए तो उनके हाथ से मथुरा का सारा राज्य जरा से टुटपुंजिये जरासंध ने छीन लिया । भाग कर द्वारका पहुंचे । महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की विजय का कारण वनवास भी माना जा सकता है । किरातार्जुनीय में लिखा है कि नारद ने अर्जुन से कहा था तुमको तपस्या का सुन्दर मौका मिला है । तुम पाशुपतास्त्र पा सकते हो । रावण को मार कर जब राम आ गये एवं लवणासुर के साथ युद्ध हुआ तो लक्ष्मण और हनुमान तक हार गये । इससे पता चलता है कि भोग परायण विजयी नहीं होता तपस्वी ही विजय पाते हैं । इटली के लोग रोमन संस्कृति के कारण भोग परायण अधिक होते थे ।

नैपोलियन के आने पर वे लड़े नहीं । पर जब नैपोलियन फ्लोरेन्स पहुंचा तो भीषण युद्ध हुआ । अन्त में लोग भाग कर जंगलों में छिप गये । जब नैपोलियन ने आगे कूंच किया तो छिपे हुए लोगों ने फिर से नैपोलियन की दुर्ग रक्षक फौज पर चढ़ाई कर दी । किले का भोजन समाप्त होगया । सब सिपाही मर गये केवल एक सिपाही रह गया । उसने कई जगह बन्दूक फिट कर दीं । किले से चारों ओर बन्दूक छोड़ता रहा । फ्लोरेन्स वालों ने समझा कि अभी किले में बहुत आदमी होंगे । समझौते की बात चीत चली । अपने अस्त्रशस्त्र समेत बाहर निकलने की शर्त पर समझौता हुआ । तब वह अकेला सिपाही अस्त्र शस्त्र लेकर बाहर निकला । उस समय जबान की कीमत थी । आज चीन वाले कहते कुछ हैं करते कुछ हैं । हमने भी अपने राजाओं से क्या कहा और फिर क्या किया ? आज मनुष्य के वचन की कीमत नहीं रही । उस अकेले सिपाही से फ्लोरेन्स वालों ने पूछा तुम्हारा जनरल कौन ? तो उसने कहा मैं । सेना कौन ? तो उसने कहा मैं । उसे फ्लोरेन्स वालों ने बाहर जाने के लिये पत्र दे दिया । वह नपोलियन के पास पहुंचा । उसके मरने के बाद भी नैपोलियन का नियम था कि जब भी सैनिकों की हाजिरी ली जाती थी तो सदा उस अमर वीर का नाम लिया जाता था और एक अफसर आगे आकर कहता था वह सुख की नींद सो रहा है ।

यदि चित्त के दुर्ग में रहने वाला एक भी संस्कार बच गया तो वह संस्कारों की ऐसी परम्परा खड़ी करेगा कि संस्कारों की फौज खड़ी हो जायेगी । कर्मों द्वारा समग्र वासनाओं को क्षय कर दो तभी वैराग्य के अधिकारी बनोगे । मध्यकाल में लोगों ने इसे नहीं समझा तो न ज्ञान और न वैराग्य के ही लोग पूर्ण अधिकारी बने ।

*   *   *   *

व्यष्टि को लेकर ही सारी वासनायें हैं । व्यक्तिगत कल्पनायें सार्वदिक नहीं होतीं । व्यष्टि और समष्टि में भेद है । गंगा,

यमुना तो व्यष्टि हैं पर समष्टि रूप से जल एक है । अग्नि समष्टि तत्त्व है । श्मशान की अग्नि और गार्हपत्य अग्नि व्यष्टि दृष्टया कल्पित हैं । यह भेद हमारी दृष्टि में है । श्रौत समष्टि उपासना में वायु तत्त्व को प्रधान रखा गया । वायु से कहते हैं 'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि' हे वायु तू तो प्रत्यक्ष ब्रह्म रूप है । ऐसा वायु से ही क्यों कहा ? क्योंकि देहगत बाकी तत्त्व तो ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे हमारे ही हों, पर शरीर का प्राणमय कोश प्रत्यक्ष समष्टि का अंग प्रतीत होता है । यदि वह नाक के द्वारा हमारे अन्दर प्रविष्ट हो गया तो हमारा प्राण कहलाता है और अगले ही क्षण बाहर निकल गया तो समष्टि में लीन हो गया । हम लोग चाण्डाल को छूकर तो नहाते हैं, पर चाण्डाल के अन्दर की वायु को अपने अन्दर लेकर घबराते भी नहीं । निरन्तर जाने किस किस का प्राण हमारे अन्दर जा रहा है । आजकल लोग आंख का शल्य करा के दूसरे की आंख को लगा लेते हैं । उस समय न जाने किसकी आंख उन्हें मिलती है । पृथ्वी सारी की सारी एक तत्त्व है । उसमें भी हमने व्यष्टि की कल्पना की । यह हमारा देश है वह तुम्हारा देश है । यह हमारे देश का आकाश है, इस पर से हम दूसरे देश के विमान को नहीं गुजरने देंगे । बम्बई में जमीन खरीदकर भी मकान के ऊपर की मंजिलों का मालिक जमीन का मालिक नहीं होता । कई मकान ऐसे बने कि लोगों ने मकान के बनने के पहले ही तीसरी मंजिल और दूसरी मंजिल खरीद ली । यह तो जड़ जगत् की बात है । चेतन जगत् में भी यही होता है । हमारे प्राचीन आचार्य लोग हमें अनेक विचारों को दे गये पर किसी विचार का कापी राइट नहीं है । वे जानते थे कि विचार समष्टि समुदाय की देन हैं । हमारा व्यक्तिगत अनुदान उसमें बहुत कम है । यदि कोई मकान बना रहा है व उसमें आप भी एक इंट चुपचाप लगा देते हैं तो क्या इससे वह सारा मकान आपका हो जायेगा ? समग्र कल्पना के मालिक तुम कैसे बने ? अतः हमारी प्राचीन परम्परा के लोग

आचार्य परम्परा का नाम लेकर सब कुछ व्यास जी के नाम से लिख देते थे। हमारे प्राचीन आचार्य अपने नाम को चलाने में अभ्यास नहीं रखते थे। आजकल तो थोड़ी सी बात पर भी मनुष्य अपने नाम को चलाना चाहता है। अंग्रेजों की बनाई सड़कों या पुलों के निर्माताओं का नाम मिटाकर राष्ट्रीयता की आड में अपने नाम को चलाने का रोग तो प्रत्यक्ष ही है। प्राचीन आचार्य ज्ञान को परम्परा से प्राप्त मानते थे। वे समझते थे कि जो कुछ भी सुन्दर लिखा गया है वह गुरु परम्परा से प्राप्त ज्ञान के कारण है। वह सौन्दर्य वर्तमान लेखक के कारण ही नहीं है। अनेक परमहंसों द्वारा रचित शंकर के नाम से अनेक स्तोत्र मिलते हैं। हमारे नवीन दार्शनिक भी अपनी नयी विचारधारा पर स्वत्व न रख कर प्राचीन उपनिषदों की व्याख्या में नवीन कल्पना को भी रख देते थे। उसे अपनी कहने में सकुचाते थे। पर आज हम चेतन के क्षेत्र में भी व्यष्टि मुखी हो गये हैं। यह विश्व अयुतसिद्धावयव है। जिस पदार्थ की सिद्धि बिना दूसरे पदार्थ के नहीं हो सकती उसे अयुतसिद्धावयव कहते हैं। आज जब हम भाषण देते हैं तो ध्वनिप्रसारक यन्त्र हमारी मदद करता है। अतः इस यन्त्र के आविष्कर्ता का योग भी इस भाषण में सहायक है। जिस कम्पनी ने इस यन्त्र को बनाया उसका भी सहयोग है। जिन लोगों ने उस कम्पनी का हिस्सा खरीदा उनका भी सहयोग है। लोहा बनाने वालों का भी सहयोग है। लोहे की खान यदि बिहार में है और मिल कोचीन में है तो रेल के सहयोग की भी आवश्यकता हुई। रेल के इंजिन के आविष्कारक का सहयोग भी है। बिजली के सब कर्मचारियों के सहयोग से ही लाउड स्पीकर का प्रयोग सम्भव हो पाता है। मजदूर कब काम करेंगे? जब खेत के कृषक काम करेंगे। इस प्रकार सारा संसार एक भाषण में सहयोग करता है। जैसे जैसे यह समष्टि दृष्टि बनती जाती है व्यष्टि दृष्टि खतम हो जाती है।

विश्व के अयुतसिद्धावयव होने से प्रत्येक क्षण मुमुक्षु को पता चलेगा कि कितना कम काम करते हुये अपनी एक ईंट जोड़ कर सारे

मकान के मालिक बनना चाहता रहा है। रक्त के परमाणु जीवित पदार्थ हैं। जब डाक्टर लोग किसी की आंख में दूसरे की आंख लगाते हैं तो लगाई जाने वाली आंख मृत मनुष्य की नहीं, जीवित की ही निकाल कर लगाई जाती है। वैसे ही अन्य जीवित अंगों को लेकर दूसरों पर उन्हें लगाया जाता है। हमारे शरीर में अनन्त कोषा (cell) नामक जीव हैं। पर उन सब का आश्रय या अधिष्ठान हम हैं। इस समष्टि जीव रूप का अभिमानी 'मैं' जब मरने के बाद चला जाता है तो वे सब जीव मरने व सड़ने लगते हैं। यदि हमारे जीवित काल में ही कोई कोषा यह निश्चय करले कि मैं अलग अपने ढंग से रहूंगा तो उसी को कैन्सर कहते हैं। उसका फिर एक ही उपाय है कि उन कोषों को काट कर फेंक दो या बिजली से जला दो। अगर कैन्सर के समीप के कोषा कटने से रह जाते हैं तो उनकी भी आदत देखा देखी बिगड़ जाती है। उन्हें भी काट कर फेंकना पड़ता है। समाज का कैन्सर बेईमानी है। लोग देखा देखी उसे बढ़ाते हैं। राष्ट्र भी एक दूसरे को हड़पते हैं। पोलैण्ड इत्यादि को रूस हड़प गया। चीन समझता है कि मैं भी तिब्बत, भूटान, नेपाल, भारत, मलाया, हिंद चीन आदि को क्यों न हड़प लूं। इसी प्रकार हम जीवित व्यक्ति भी किसी के अंग हैं। हम सब एक अखंड चिन्मात्र के अंग हैं। पर हमें यह कैन्सर रोग आगया है कि हमने अपने को अलग अलग समझ रखा है। श्रुति कहती है कि जैसे एक अखण्ड अग्नि ही भिन्न रूपों में दीखती है वैसे एक अखण्ड चिन्मात्र भिन्न भिन्न रूपों का दीखता है। एक ही अखण्ड चिन्मात्र सारे अन्तःकरणों के अन्दर रह कर सारे अन्तःकरणों का प्रकाशक है। उसे सर्व भक्षक इसी कारण कहा। यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवति ओदने। ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति भात के समान हैं और 'मृत्युर्यस्योप-सेचनं' ज्ञान तथा क्रिया को मारने वाली भक्षक मृत्यु उस परमेश्वर की चटनी या साग है। महेश्वर के बिना कुछ भी नहीं रह सकता। ज्ञान, क्रिया, परिणाम (मृत्यु) जहां है वह चेतन तत्त्व ही

सब का आधार है। चिन्मात्र दृष्टि करके फिर किस की वासना करोगे। वासना व्यष्टि को लेकर ही क्रिया करेगी।

गीता में प्रश्न उठा कि मनुष्य क्यों काम करता है? उत्तर मिला स्वभाव से। तो फिर क्या शास्त्र व्यर्थ है? यद्यपि प्राचीन वासनाओं से प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, पर प्राचीन वासनायें केवल राग द्वेष को उत्पन्न करके ही प्रवृत्ति कराती हैं। प्राचीन वासनायें स्वयं प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न कर सकतीं। रागद्वेष ही उन वासनाओं के अस्त्र शस्त्र हैं। यहीं शास्त्र का प्रयोजन है। शास्त्र राग द्वेष का प्रतिबन्ध करने में समर्थ है। बलवत् इष्ट भावना पैदा करना वासना का काम है। बलवत्तर अनिष्ट भावना से उसे रोकना शास्त्र का काम है। बड़े आराम से रात के नौ बजे जाड़ों में रजाई खींच कर सोने के लिये सुन्दर बिछौने में गये। उसी समय किसी ने आकर कहा कि अहमदाबाद से हुकुमचन्द सेठ जी आये हुए हैं और आपके २५०००) रु० देना चाहते हैं। वे कल ही वापस जाने वाले हैं। आप रजाई फेंक देते हैं और फौरन् वसूली के लिये दौड़ पड़ते हैं। बलवत्तर इष्टभावना दुर्बल भावना की प्रतिरोधिका बन गई।

ज्ञानी और जीवनमुक्त क्यों शास्त्र विरुद्ध काम नहीं करते? क्यों कि वासना के कारण शास्त्र विरुद्ध वस्तु में राग उत्पन्न हो सकता है पर साधन काल में शास्त्र विरुद्ध कर्मों में बलवत् अनिष्ट की भावना भी बन चुकी है। अतः वासना की प्रवृत्ति को यह साधना काल की भावना दबा देगी। गीता में स्थितप्रज्ञ का लक्षण 'प्रजहातियदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्' है। शास्त्र बलवत् इष्ट और अनिष्ट भावना का संस्कार डालता है। इसी प्रकार लोक में समष्टि की दृष्टि व्यष्टि की दृष्टि को काटती है। अतः वासना क्षय के दो उपाय हुए। (१) आश्रय का नाश अर्थात् चित्त का नाश व (२) व्यष्टि की भावना को समष्टि की भावना से नष्ट करना।

समग्र संसार में समष्टि की दृष्टि वासना नाश का एक प्रबल उपाय है। समाज और देश का कल्याण केवल ब्रह्म ज्ञान से ही हो सकता

है। यदि धर्म की दृष्टि को व्यक्तिगत रखोगे तो उन्नति नहीं होगी। जब समाज की उन्नति का आधार व्यक्ति नहीं ब्रह्म ज्ञान बनेगा तभी समाज की उन्नति होगी। अतः समष्टि दृष्टि बनाने का एक उपाय यह है कि सदा अपने प्रयास को एक ईंट मान कर सारे मकान के मालिक बनने का दावा मत करो।

* * * *

शास्त्र ने तीन तत्व माने हैं। जीव, जगत् और ईश्वर। वेदान्त का तात्पर्य इनकी एकता प्रतिपादन करना है। भेद दर्शन तो स्वभाव सिद्ध है। अभेद दर्शन के लिये ही प्रमाण की आवश्यकता है। अतः श्रुति का तात्पर्य जीव, जगत् और ईश्वर के अभेद प्रतिपादन में ही है। इन तीनों की एकता कब हो सकती है, यह उद्योग किसमें रहता है, कब वह सफल हो सकता है ? ये सब प्रश्न हैं।

एकता के लिये उद्योग ईश्वर करता है, ऐसा नहीं माना जा सकता। क्यों कि ईश्वर अज्ञान युक्त तो है पर अज्ञान का मालिक होकर है। जो जिसका शासन करता है वह उसके अधीन नहीं हो सकता। मायां तु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम्। माया का मालिक होने के कारण माया उसे बन्धन में डालने में समर्थ नहीं है। जादूगर में जादू रहता है परन्तु जादूगर स्वयं अपने जादू में नहीं फंसता है। जादूगर खेल दिखाते समय तो सौ सौ रुपये के नोट बनाकर दिखा देता है पर मांगता दो दो पैसे है। ऐसे ही परमेश्वर अपनी माया से खेल दिखाता जरूर है पर स्वयं उनमें बद्ध नहीं है। इसीलिये वह अविद्या हटाने का प्रयत्न भी नहीं कर सकता।

जगत् भी माया को हटाने का प्रयत्न नहीं कर सकता क्यों कि वह जड़ है। चिट्ठी किसने लिखी पूछने पर उत्तर हो कलम ने तो प्रश्न फिर उठेगा कि कलम तो स्वयं लिख नहीं सकती अतः प्रवृत्ति किसने की। जड़े स्वतः प्रवृत्त्यभावात्। अतः प्रवृत्ति कराने वाला सदा चेतन होगा। जगत् जड़ रूप है यथा कलम

जड़ है । जैसे कलम स्वयं नहीं लिख सकती ऐसे जगत् स्वयं नहीं प्रवृत्ति कर सकता ।

यदि इसे और सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो जगत् स्वयं माया रूप है अतः अपनी निवृत्ति की प्रवृत्ति स्वयं नहीं कर सकता । अब केवल जीव ही बच रहा जो मोक्ष में प्रवृत्ति करेगा । गीता में कहा है 'तेषां अहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्' सर्वेषां नहीं कहा । पहले 'तेषां' की कोटि में आओ तो भगवान् मृत्यु सागर से उद्धार करेगा । पापी को आसुरी योनि में फेंकता हूं, यह भी भगवान् ने ही कहा । अतः जिनका वे मृत्यु संसार से उद्धार करते हैं उनको मोक्ष देने का कर्तृत्व तो भगवान् में है पर सबका नहीं । यहां फलदातृत्व रूप से भगवान् की सिद्धि है । परमेश्वर संसार से किसी को हटाने का यत्न नहीं करता है । यत्न साध्यता जीव की ही है । कोशिश तुम्हारी रहेगी, फल परमेश्वर देंगे ।

अतः साधक गत भेदों को जीव के अन्दर ही ढूंढना पड़ेगा । शास्त्र ने मुमुक्षु में तीन प्रकार के मल बतलाये हैं । आणव, कर्मज और मायिक । जैसे जैसे मल होंगे वैसे वैसे उनकी निवृत्ति के लिये यत्न भी होगा । ये भेद उन मुमुक्षुओं के हैं जो दीक्षा के अधिकारी हैं, जिन्होंने मन को शुद्ध कर लिया है, और जिनमें मोक्ष की सच्ची इच्छा है । मुमुक्षु प्रयत्न भी करता है पर अपने इसी जीवन में कोई तो परमेश्वर को सर्वथा पकड़ पाता है, तो कोई ऐसा भी होता है जो थोड़ा ही सफल होता है और व्यवहार में जाते ही फिर गड़बड़ा जाता है। कोई प्रयत्न करता है कुछ बनता ही नहीं ।

शास्त्र ने केवल आणव मल वाले को शुद्धतम अधिकारी माना । वह विज्ञानाकल है । उसने परोक्ष ज्ञान प्राप्त कर लिया है । जब अन्तः करण शान्त हो गया है, सारी बाह्य प्रवृत्तियों का निरोध कर लिया गया है, शास्त्र के अध्ययन के द्वारा परोक्ष ज्ञान हो चुका है, ध्यानादि के

द्वारा चित्त को एकाग्र भी कर लिया गया है तभी इस कोटि में गिना जा सकेगा। इतना ही नहीं सारे प्रवृत्तिमूलक अभ्यास रोक कर वह निवृत्ति निष्ठ भी हो कर क्षीण कषाय है एवं कर्म भी क्षीण प्राय हैं। संचित प्रारब्ध कर्म न्यून होते हैं व विवेक द्वारा अपने को समझा भी होता है। पर इतने से भी ब्रह्म से अभेदानुभव नहीं हुआ, क्योंकि अपने को शरीर मनादि से संयुक्त ही अनुभव करता है। विवेक से यह जानता है कि मैं देह, इन्द्रिय, मन से भिन्न हूं पर अनुभव करता है कि भिन्न नहीं हूं। यह आणव मल का प्रभाव है। ऐसे साधक को विज्ञानाकल कहते हैं। विज्ञानेन अनुभूत्या अकल:। जो केवल अनुभूति से रहित है ऐसा पुरुष सर्वोत्तम साधक माना गया है। ऐसे व्यक्ति को तत्वमस्यादि के उपदेश मात्र से ज्ञान हो जाता है।

श्रुति ने कहा 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:'। आत्मा श्रोतव्य: का अर्थ है कि यदि एक बार आत्मा के विषय में सुन ले तो तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जावे। श्रुति ने कहा ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्। प्रश्न हुआ कि ज्योतिष्टोम कितनी बार करे? उत्तर है यदि एक ही बार करेगा तो स्वर्ग जायेगा क्यों कि एक वचन श्रुत है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो स्वर्ग रूपी फल अनैकान्तिक हो जायेगा। कोई यज्ञ २५ बार करेगा कोई ४० बार। यदि २५ बार करने वाले को भी स्वर्ग मिला तो ४० बार करने वाले का १५ बार का यज्ञ फालतू हो जायेगा। इसी प्रकार 'श्रोतव्य:' से श्रुति ने बता दिया कि एक बार श्रवण से ही तत्त्व ज्ञान हो जायेगा। पर वादी कहता है कि एक बार सुनने से तो तत्व ज्ञान होता हुआ नहीं देखा जाता। अत: वह कहता है कि इससे यह सिद्ध हुआ कि श्रवण से तत्व ज्ञान नहीं होता। तो क्या श्रुति ने हमको धोखे में डाला? तब कहा कि श्रोतव्य: के आगे पढ़ो तो 'निदिध्यासितव्य:' कहा है। इसका अर्थ हुआ ध्यान से करे। ध्यान कब तक करे? आवृत्ति: असकृत् उपदेशात्। बार बार ध्यान करे। जब तक ज्ञान उत्पन्न न हो तब तक उपदेश की आवृत्ति होगी। ऐसे भी दृष्टान्त हैं

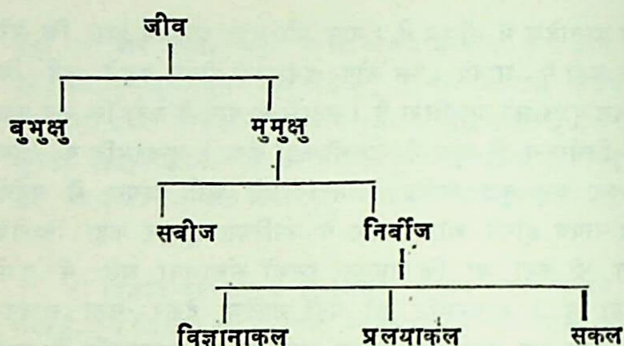
जहां एक बार उपदेश करने से भी श्रवण मात्र से तत्व ज्ञान होगया। पर जिस मुमुक्षु में दूसरे दोष बैठे हुऐ हैं वह तब तक श्रवण करे जब तक अन्य दोष निवृत्त न हो जाय। आप पूछ सकते हैं कि कई बार सुनना चाहिये इसमें श्रौत प्रमाण क्या है? छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेत-केतु का दृष्टान्त श्रौत प्रमाण है जिसको महावाक्य नौ बार सुनाया गया।

जो विज्ञानाकल साधक है, जिसके अन्दर केवल आणव दोष रह गया है, ऐसे जिज्ञासु को तीव्रतम शक्तिपात का अधिकारी माना गया है। यहाँ आणव मल को क्षीण करना शक्तिपात का एकमात्र कार्य है। केवल इस मल को दूर करने के लिये ही उसे दीक्षा के 'क्ष' की आवश्यकता होती है। यथा सूखी देवदारु की लकड़ी में दियासलाई लगाते ही आग की लपट निकल जाती है। ऐसे पुरुष में तीव्र शक्ति-पात स्वयं सदा शिव ही दीक्षा देकर करते हैं।

दक्षिण भारतवर्ष में सुन्दरमूर्ति ऐसे ही अधिकारी हुए हैं। जब वे सोलह वर्ष के हुए तो उनका विवाह निश्चित हो गया। वे अन्दर ही अन्दर सदाशिव से अभ्यर्थना कर रहे थे कि मैं इस जंजाल में न पड़ूं। उनके पिता जी मंत्री थे। उन्होंने बड़े घर में विवाह सम्बन्ध स्थिर किया था। विवाह का समय आगया और बारात पहुंची। जैसे ही विवाह मंडप में गये तो देखा कि एक वृद्ध व्यक्ति आया और पूछने लगा कि यहां सुन्दर नाम का कोई व्यक्ति है क्या? उसी से मुझे मिलना है। जब उसको सुन्दरमूर्ति के पास पहुंचाया गया तो वह बोला 'अरे सुन्दर तूने तो मेरी गुलामी करने की प्रतिज्ञा की थी, यहां कहां आगया'। लोगों ने पूछा कि यदि इसने आपकी दासता स्वीकारी थी तो आपसे कुछ लिया भी था क्या? वृद्ध बोला हां उसका दस्तावेज भी लिखा था, यह देखो। लोगों ने देखा कि दस्तावेज पर राजा की मुहर लगी है, और सुन्दरमूर्ति ने लिखा है कि मैंने आपसे जो कुछ पाया है उसके एवज में जन्मभर गुलामी करूंगा। बाप के भी

दस्तखत दस्तावेज में मौजूद थे । बाप को बड़ा आश्चर्य हुआ कि मेरे दस्तखत कहां से आगये । दस लोग इकट्ठा होकर कहने लगे कि आपने इस बुड्ढे को ठग लिया है । लड़की के बाप ने कहा कि जब तक आपका निर्णय न हो जाय मैं लड़की नहीं दूंगा । सुन्दरमूर्ति का हाथ पकड़ कर वह वृद्ध व्यक्ति लेगये । जाते जाते जंगल में पहुंचे तो वृद्ध गायब होगये और शंकर ने उपस्थित होकर कहा कि तेरे बाप ने भी कहा था कि भगवन् इसको संभालना अतः मैं तुझे ले आया हूं । सुन्दरमूर्ति को वहीं उपदेश देकर कहा सुन्दर-मूर्ति ! तुम इस ज्ञान का प्रचार करो । तब सुन्दरमूर्ति ने कहा कि मैं केवल आपकी गुलामी करूंगा और किसी की नहीं । आप स्वयं आकर मुझे खिलाया पिलाया करें । शिव ने इसे मान लिया । सुन्दर-मूर्ति को जब भी जिस वस्तु की आवश्यकता होती थी उसे शिव से मांगते ही रहते थे । शिवजी से अकाल में अन्न की वर्षा, गरीब के घर सोने की वर्षा आदि सब उन्होंने करवाई । ईश्वर के साथ उनका सम्बन्ध मालिक और गुलाम का था । वे कहते थे कि मेरा मालिक मासिक तनखा नहीं देता, पर जरूरत पड़ने पर उसे सब कुछ देना पड़ता है । यह विज्ञानाकल पुरुष का प्रत्यक्ष उदाहरण है । उन्होंने जहां भी जो कुछ मांगा, उसे अपने पास नहीं रखा । पदार्थ को मांग कर उसी क्षण दूर कर देते थे । यदि अन्न मांगा तो आज ही वितरण हो जाना चाहिये । कल की अपेक्षा नहीं । और अपने लिये भी कभी नहीं मांगा । मांगा सदा दूसरों के लिये । उनको दीक्षा देने के लिये स्वयं परमेश्वर क्यों लेगये ? क्योंकि उनका अन्तःकरण शुद्ध था । यह सर्वोत्तम अधिकारी विज्ञानाकल था । उसमें केवल आणव मल की ही निवृत्ति अपेक्षित थी ।

दूसरे और तीसरे प्रकार के अधिकारी मलभेद से ही प्रलयाकल और सकल कहलाते हैं । जीव के भेद निम्न तालिका से स्पष्ट होते हैं ।



दोष तीन प्रकार के होते हैं। आणव, कार्मिक और मायिक। कार्मिक दोष तो कर्म से उत्पन्न दोष हैं। जीव अनादिकाल से अनेक कर्मों को अन्तःकरण में इकट्ठा करता चलता है। जहां कार्मिक दोष होगा वहां आणव दोष अवश्य होगा। क्यों कि जब तक जीव अपने को परिच्छिन्न समझेगा तभी तक कर्म होगा। उपाधि से परिच्छिन्न आत्मा ही कर्म करता दीख सकता है अर्थात् उसमें कर्म की प्रतीति होती है। वह कर्म करता है, यह नहीं कह रहे हैं, पर कर्मों की प्रतीति हो रही है। वही प्रतीति बोझ बन कर बढ़ चली। आचार्य गौड़पाद ने इसी को कषाय दोष कहा है। कसैली चीजें न मीठी होती हैं न खट्टी, न कड़ुवी, न तीती, न नमकीन। उसका स्वाद भिन्न है। इस में स्फुटता नहीं होती है। जो तेजी अन्य रसों में होती है वह उसमें नहीं है। आप अधिक खट्टे पदार्थ को नहीं खा सकते और अधिक नमक या मीठा डाल दो तब भी नहीं खा सकते। इस लिये अन्य रस तीखे हैं। कसैले में तेजी नहीं होती। उसका स्वाद ठीक ठीक नहीं बताया जा सकता है। कर्म का मल मनुष्य की आध्यात्मिक तेजी को कम कर देता है पर स्वयं स्फुट नहीं रहता है। सकल में तो कर्म स्फुट हो जाते हैं, पर प्रलयाकल में अभी कर्म वासना रूप से पड़े हैं। यथा नींद भी नहीं, विक्षेप भी नहीं, फिर भी आनन्द की अनुभूति नहीं तो आनन्द रूपता को ढांकने वाला कार्मिक मल प्रलयाकल का कहा गया है।

प्रलय का अर्थ यहां सुषुप्ति है। प्रलय जैसी अवस्था यहां है। आनन्द की यथार्थ स्फुटता वहां नहीं है। जैसे चेतनता मन के संयोग के बिना स्फुट नहीं होती पर आत्मा में रहती जरूर है, ऐसे ही सुषुप्ति में आनन्द तो है पर स्फुट नहीं। इसी कारण बड़े शहरों में लोग निशाचरों का जीवन व्यतीत करते हैं और जगकर सिनेमाघरों में, नाचघरों में आनन्द की स्फुटता मानते हैं। महा प्रलय में भी जीवों की वही स्थिति हो जाती है। उसी स्थिति को दिखलाने के लिये उनका नाम प्रलयाकल रखा।

यदि कार्मिक मल स्फुट होता तो उससे युद्ध किया जा सकता। जो स्वयं ही अत्यन्त अस्फुट है उस मल से कैसे युद्ध करें ? यदि कार्मिक मल की तरफ दृष्टि करो तो वह दीखता भी नहीं। दीखने में काम, क्रोध, लोभ और मोह प्रकट हैं अतः उनसे तो लड़ सकते हो पर कार्मिक मल दीखता भी नहीं। अतः आचार्यों ने कहा 'सकषायाद्विजानीयात् समं प्राप्तन्न चालयेत् ।' यदि कार्मिक मल को जान लो तो वह नहीं रहेगा। विजानीयात् से गौड़पाद ने इंगित किया कि उसके स्वरूप को समझ लो तो फिर वह धोखा नहीं देगा। जान लो कि यह चोर है तो फिर वह तुम्हारे साथ धोखा नहीं कर सकता। जानने के बाद कार्मिक मल बोझ नहीं बनता।

इसको जाना कैसे जाय ? इसको बताने, या जनाने वाली दीक्षा ही प्रलयाकल दीक्षा है। कर्मों का स्वरूप जानना आवश्यक है। उसको बताने वाली दीक्षा या साधन ही प्रलयाकल दीक्षा है। उसे जानने की प्रवृत्ति तीव्र शक्तिपात से है। तीव्र शक्तिपात से मन में स्तब्धता लाई जाती है। मन में यह विलक्षणता है कि ज्यों ही वह स्तब्ध होता है तो उसके छिपे हुए राज प्रगाढ़ स्तब्धता (Deep hypnosis) में प्रकट होने लगते हैं। पाश्चात्य लोग इन सारे विज्ञानों का प्रयोग मनुष्य को केवल संसारी बनाने के लिये करते हैं। भारत में हम लोग उसी का प्रयोग उसे मुक्त करने के लिये

करते हैं, पर विधि एक ही है। पानी मैला है। यदि उसे हिलाते रहोगे तो मैल न बैठेगा। उसे स्तब्ध करो। आज कल शरीर के खून को Centrifusion द्वारा इतना तेज घुमाया जाता है कि उसकी गति का पता तक नहीं चलता। एक मिनट में उसे १६०० बार तक घुमाया जाता है फिर उसे अकस्मात् रोक देते हैं। ऐसा करने से जितना पदार्थ नीचे बैठना होता है वह फौरन बैठ जाता है। अकस्मात् परिवर्तन का यही रहस्य है। आप देखते हैं कि किसी व्यक्ति में अकस्मात् परिवर्तन आ गया। कस्मात् का अर्थ है कारण से। अकस्मात् याने बिना कारण ही। बिना कारण तो संसार में कोई कार्य होता नहीं। अतः यह निश्चित है कि वह अकस्मात् नहीं बदला। पहले वह संसार में इतने जोर से घूम रहा था कि जितने कार्मिक मल थे वे सब ऊपर आगये थे। फिर यकायक परिवर्तन की आवश्यकता थी। दूसरी तरफ ऐसे भी लोग हैं जो न संसार में लगते हैं, न परमार्थ में। जहां के तहां रहते हैं। अधिकतर साधकों के जीवन में यही होता है। संसार की ओर प्रवृत्ति नहीं। परमेश्वर की ओर जाने का भी जोर नहीं। सोचते हैं मरने के बाद सद्गति हो जायेगी। वेदान्ती को छोड़ कर बाकी सब लोग ऐसा सोच सकते हैं। केवल वेदान्ती ही ऐसा होता है जिसे मरने के बाद सद्गति की आकांक्षा नहीं। मरने के बाद क्या होता है इसे बताने वाला कोई नहीं। ज्योतिषी की अगले जन्म की ही भविष्य वाणी ठीक रहती है क्यों कि वह कभी झूठी सिद्ध नहीं हो सकती। जितने भी संसार के मत मतान्तर हैं वे मृत्यु के बाद स्वर्ग का वादा करते हैं। वेदान्त का सबसे बड़ा सन्देश है 'इहैव फलमश्नुते' 'इहचेत् अवेदीः अथ सत्य मस्ति' 'यदेवेह तदमुत्र'। जो यहां है वही बाद में है। जिसने यहीं ज्ञान प्राप्त कर लिया वह मुक्त हो गया। यदि ब्रह्मात्म बोध को यहीं देख लिया तो देख लिया। जो यहां देख लिया वही सच्चा है। अगले जन्म में मुक्ति का सिद्धान्त वैदिक नहीं। अन्य मतमतान्तरों के लिये ही ऐसा अवैज्ञानिक सिद्धान्त ठीक पड़ेगा।

कार्मिक दोष इस परिवर्तन को लाने नहीं देता। जब तक कार्मिक दोष हटेगा नहीं तब तक आणव दोष भी नहीं हटेगा। अतः स्तब्धीभवन की दीक्षा प्रलयाकल दीक्षा है। इसमें पहले जीव को घूमने दिया जाता है, फिर तीव्र शक्तिपात से उसे स्तब्ध किया जाता है।

जब भगवती श्रुति परमात्म तत्व का प्रतिपादन करते हुए उसे वासनाओं से रहित कहती है और वासना रहित व्यक्ति ही उसे जान सकता है। समष्टि दृष्टि बनाने से वासनाओं की परिसमाप्ति होती है और व्यष्टि दृष्टि बनाने से वासनाओं की अभिवृद्धि। वासना के विषय में गीता में कृष्ण ने अर्जुन को सुन्दर उपदेश दिया है। अनेक प्रकार के उपदेश देने के बाद सारी गीता सुनाकर दो श्लोकों के द्वारा अन्तिम कर्तव्य बताया है। वहां का तात्पर्य भी वासना निवृत्ति ही है।

गीता में आता है कि पहले तो भगवान् अर्जुन की बात सुनते रहे। यह नियम है कि कोई आदमी यदि आता है तो पहले उसकी बात सुनो। जब वह सब बोल चुके तब अपनी बात प्रारम्भ करनी चाहिये। अर्जुन एक अध्याय पूरा बोलता चला गया। जब सब कुछ कह कर बैठ गया 'उपाविशत्' तो भगवान् ने कहा 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितं' यह कल्मष तेरे अन्दर कहां से आ-गया है? इस प्रकार की बातें मलिनान्तःकरण वाले सोचते हैं। अन्तः-करण में कल्मष आने पर ही तू भय शोकादि से व्याकुल हो रहा है। 'कुतः' शब्द की ध्वनि है कि तू तो मेरे साथ रात दिन रहा है, मैं समझता था कि तू मेरे से प्रेम करता है, और मुझ से प्रेम करने वाले के हृदय में कश्मल सम्भव नहीं? 'त्वां' शब्द की भी एक ध्वनि है कि तुझ में एक और विशेषता थी जिसके कारण कल्मष नहीं आना चाहिये था। दूसरे लोग भी मेरे से प्रेम तो करते हैं, पर तू तो प्रेम 'प्रियोऽसि में सखा चेऽति' मेरा प्रिय है, और मैं भी तुझ से करता हूं। 'कुतः' से भगवान् ने ध्वनित किया कि वासनायें ऐसी प्रबल

होती हैं कि क्षण मात्र के लिये भी दृष्टि सदाशिव से हट गई तो मनुष्य गिर गया ।

दुर्योधन भी श्रीकृष्ण की मदद चाहते थे । पर मायावी भगवान् बिना अपनी माया को सामने रखे हुए कोई कार्य करते ही नहीं । इसीलिये तो 'प्रकृति स्वाम् अविष्ठाय सम्भवामि आत्ममायया' कहा । अतः श्रीकृष्ण ने परीक्षा ली कि मुझे लेने कौन आया है । दुर्योधन मेरे को लेने आया है कि मेरी माया को । नारायणी शक्ति या नारायणी सेना भी भगवान् के ही आश्रित है । आसुरी सत्ता को भी आश्रय भगवान् ही देते हैं । अतः दैवी सम्पत्ति (अर्जुन) और आसुरी सम्पत्ति (दुर्योधन) दोनों ही भगवान् से मदद लेने गये थे । इतिहास में कई भिन्न वृत्तान्त हैं । ध्रुव ने तपस्या करके क्या मांगा था ? वे बोले थे भगवन् आप आ गये मुझे और कुछ नहीं चाहिये । रावण ने क्या चाहा ? राज्य । भगवान् कल्पवृक्ष हैं उनसे जो मांगो वही मिलेगा । यदि आप दुःखी हैं तो इसका कारण केवल यह है कि आपको भगवान् से मांगना भी नहीं आता । वैसे ही दुर्योधन ने क्या मांगा ? नारायणी सेना को । इसी प्रकार साधक भी अणिमा, लघिमा, गरिमा इत्यादि गौण सिद्धियों को चाहता है । सिद्धियां साधक के पास अवश्य आती हैं, जो उन्हें चुन लेगा वह उन्हें पायेगा । उस समय तो अर्जुन ने भगवान् को चुना था । अब विषम काल आया तो माया मोह की बातें करने लगा । यह समस्या प्रत्येक साधक के सामने आती है । विचार काल में वह अनुभव करता है कि मुझे केवल भगवान् चाहिये । सत्संग, ध्यान, जप में निश्चय करता है कि आत्मा चाहिये । व्यवहार करते ही फिर माया के चक्कर में पड़ता है । कहता है झूठ बोले बगैर काम ही नहीं चलता । अर्जुन जब भगवान् के पास गया था तो उस समय भगवान् को ही मांगने गया था, अतः उनके पैरों के पास बैठा रहा कि माया रूपी

चद्दर, जिसे ओढ़ कर भगवान् लेटे हुए थे, कब हटे और कब भगवान् के मुख चन्द्र का पान करूं ? अब कुरुक्षेत्र में आते ही उसकी दृष्टि भगवान् से हट गई तो बोला 'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय, यावत् एतान् निरीक्ष्येऽहं' । इन सेनाओं का मैं निरीक्षण करूंगा कहते ही भगवान् से दृष्टि हट गई । अब माया की ओर दृष्टि गई । अतः हर साधक को चाहिये कि ध्यान काल में 'घूंघट के पट खोल' कह कर शान्त चित्त होकर ब्रह्म की तरफ दृष्टि करे । भगवान् अपने आवरण को दूर करते हैं । श्रुति कहती है 'विवृणुते तनूं स्वां' । ब्रह्म सर्वथा निरावृत होकर अपना रूप दिखाते हैं । 'यमेव एष वृणुते' में श्रुति ने जब कहा यं परमात्मानं एव एष साधकः वृणुते तो क्रियाफल में लप्स्यते नहीं कहा । 'तेन लभ्यः' कह कर यह बताया कि उसे सद्यः प्राप्त किया हुआ ही समझो, केवल वरण करने भर की देर है । जो भी उसका वरण करे व ध्यानकाल में परमेश्वर की तरफ दृष्टि करे उसके लिये परमेश्वर निरावृत हुआ । पर यह तो सम्भव नहीं कि २४ घंटे कोई समाधि में ही रहे । व्यवहार में माया की तरफ दृष्टि करनी ही पड़ेगी । भगवान् भाष्यकार भी श्रवण मनन निदिध्यासन से युक्त को प्राज्ञ और उसी को बाहर की तरफ दृष्टि करने पर पराङ्मुख कहते हैं । उसे विषयाभिमुख नहीं कहते क्योंकि प्राज्ञ दृष्टि से विषय की सत्ता सिद्ध नहीं है । इसलिये पराक् का प्रयोग किया । पर-रूपेण अञ्चते भासते इति पराक् । एक ही ब्रह्म जब कि सर्वव्यापक ज्ञान स्वरूप है तो घट ज्ञान, पट ज्ञान काल में दूसरा ज्ञान कहां से हो सकता है । ज्ञान केवल एक है । फिर भी लोग कहते हैं कि मेरा ज्ञान तो यहीं तक है । आपका शायद इससे आगे होगा । पर ज्ञान भी कहीं मेरा और तेरा होता है ? मेरी बिजली और तुम्हारी बिजली कह कर लोग एक अखण्ड बिजली के भाग करना चाहते हैं । क्या यह कभी संभव है ? इस एक अखण्ड ज्ञान को बताने के लिये ही उसे एक या व्यापक कह कर पराचीन कहते हैं । वही एक अखण्ड ज्ञान जब बाहर की तरफ

दीखता है तो 'पराङमुखम्' रूप, रस, गन्ध दीखता है। क्या कहीं बिना ज्ञान के रूप, रस, गन्ध संभव है ? रूप का ज्ञान है, तभी न रूप सिद्ध हुआ ? जो कहीं मिले नहीं पर दीखे उसी को तो भ्रान्ति मानते हो। अतः अवभाति, बाहर वही ज्ञान दीखा। पर पराङमुख होकर ज्योंही वह दीखा तो फौरन आवृणोति तथा-माया वैसे ही माया ने उसे आवृत कर लिया। कैसे ? जैसे तालाब में नहाने के लिये काई को हटा कर डुबकी लगाओ तो काई या शैवाल फिर वहीं पर आकर ढंक देता है। अतः 'यावदेतान्निरीक्ष्येऽहं' कहा तो परिस्थिति हुई गाण्डीवं संस्रते हस्तात्। हाथ से गाण्डीव खिसक कर गिर गया, मुख सूखने लगा। भगवान् पूछते हैं कि यदि तू मुझे वरण करके लाया था तो अब यह कश्मल कहां से आ गया ? कुतस्त्वा कश्मलमिदं ?

यह बड़ी सूक्ष्म बात है। मोटर में ड्राइवर के सामने कांच लगा हुआ रहता है जो हवा का अवरोधक है पर उसमें से सामने का दृश्य दीखता रहता है। उस शीशे को हटा दो तो ठंडी हवा हाथ पैर में लगेगी। कांच अवरोधक है हवा का। उसको सामने रख कर व्यवहार करोगे तो हवा कष्ट नहीं देगी। 'एतान् निरीक्ष्ये' तो ठीक है, लेकिन भगवान सामने बैठे हैं, यह देखकर चलता तो 'वेपथुश्च शरीरे में' नहीं होता। सारे धर्म और अधर्म का आश्रय कौन ? भगवान्। आत्मदर्शन ही परम धर्म है। बाकी सब धर्म इसके अन्तःपाती हैं। अतः परमात्म चिन्तन के बाद यदि ब्रह्म प्राप्ति हो गई तो कर्म क्षय हो जायेगा। किमर्थं कस्य कामाय शरीरं अनुसंज्वरेत्। फिर शरीर को किस लिये तपायेगा, सारा कर्मकाण्ड बेकार हो जायेगा। कन्या का विवाह वर को मारने के लिये नहीं वर वधू को सुखी रखने के लिये होता है। वर यदि मर जायेगा तो तेरी लड़की विधवा हो जायेगी। श्रुति रूपी कन्या का उपयोग क्या है ? 'वेदैश्चसर्वैः अहमेव वेद्यो' 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ओं इत्येतत्।' अतः श्रुतियों के कर्मकाण्ड की रक्षा करने के लिये परमेश्वर

का हनन मत करो। यदि परमेश्वर प्राप्ति से कर्म खतम होते हैं तो होने दो। मीमांसक यही गलती करता है कि कर्म को देखते देखते वह परमात्मा को भुला देता है। सारे योग का फल सदाशिव दर्शन है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं तेरे रथ को खुद लेकर यहां आगया। मैं सारथी बन गया। अब तू कहता है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। यदि तू मेरे से दृष्टि हटाता नहीं तो धर्माधर्म का अविवेक नहीं होता।

'कुतः' की ध्वनि है 'प्राचीनसंस्कारवशात्' ये मेरे भाई हैं, ये मेरे दादा हैं, इस प्रकार मेरी माया की हवा लगते ही तू कांपने लगा। अतः गीता को कुतस्त्वा कश्मलमिदं से शुरू करके अन्त में कह दिया 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'। यह अन्त की शिक्षा है। ध्यान काल में जो किया था वह फिर कर। शरण तो वह भगवान् की पहले ही ले चुका था, भगवान् को सारथी बना चुका था, तो फिर मामेकं शरणं व्रज क्यों कहा ? गीता हृदय में यह प्रश्न उठाया गया है कि कहना तो 'आव्रज' चाहिये था कि तुम मेरी शरण में आओ। यहां 'व्रज' अर्थात् जाओ का प्रयोग भगवान् ने क्यों किया। भगवान् कहते हैं कि पहले तूने मेरी शरण ध्यान काल में ली थी। पर अब 'व्रज' युद्धकाल में जाकर व्यवहार कर। 'मामेकं शरणं व्रज' के द्वारा ध्वनित किया कि व्यवहार काल में भी वही दृष्टि रख कर व्यवहार कर। साधारणतः मनुष्य दिन भर व्यवहार करके शाम को गलतियों को सोचता है। अर्जुन कहता है कि एक बार जब कश्मल आगया तो अब फिर व्यवहार में प्रवृत्ति क्यों कराते हो। 'विविक्त-देशसेवित्वं' एकान्त वास की शिक्षा देकर अब फिर क्यों लड़ने को कहते हो। 'ध्यानयोगपरो नित्यं' से जंगल जाने को कहा तो अब मैं युद्ध छोड़कर चला जाऊं। भगवान् कहते हैं अरे जायेगा कहां ? 'मामेकं शरणं व्रज'। अब मेरे को सामने रख कर व्यवहार करो। जिस चीज को ध्यान में रखते हो उसे व्यंवहार में प्रकट करो। सारे पदार्थों को देखते हुए, मुझे सामने रखो। अर्जुन ने कहा अगर फिर कश्मल आया तो? भगवान् ने वादा किया 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो

मोक्षयिष्यामि' । तो गीता सुन कर भी क्या आगे पाप करेगा ? विश्वरूप के दर्शन करके भी क्या पाप करेगा ? विश्वरूप भगवान् के दर्शन जिसे हो गये उसे क्या आत्मा का अदर्शन किसी काल में संभव है ? सबसे बड़ा धर्म है आत्म दर्शन । असूर्या नाम ते लोका: अन्धेन तमसावृता: आदि से श्रुति ने बतलाया है कि तांस्ते प्रेत्य अभिगच्छन्ति ये के चात्महनोजना: । इस श्रुति का तात्पर्य आत्मघाती को मार कर नरक भेजने का नहीं है । नरक तो यहीं है । कुम्भीपाक का मलमूत्र, रौरव का पीपखाना सब इसी देह में है । कौन सा नरक ऐसा है जो इस शरीर में नहीं है । चमड़े को छेद कर बाल निकलते हैं यही सूची पाक है। यहीं इस देह में जिसने आत्म बुद्धि करली उसे नरक प्राप्त हो गया । 'प्रेत्य' का अर्थ है प्रकर्षेण एत्य गत्वा । जो शरीर के अन्दर भूख प्यास में रमण करते हैं वही असुर हैं । साधक असुर नहीं है । साधक तो ध्यान धारणा काल में समाधि में गया । चलाचल निकेतश्च यति: । साधक के दो मकान होते हैं । एक चल निकेत शरीर और दूसरा अचल निकेत ब्रह्म । साधक कभी एक में रहता है कभी दूसरे में । अत: वह सदा चल निकेत में न रहने के कारण प्रेत्य अभिगच्छन्ति नहीं होता ।

अर्जुन पूछता है फिर भी माया का दर्शन तो माया दर्शन ही है । क्या उस पाप का फल मुझे नहीं भोगना पड़ेगा ? तब भगवान् ने कहा है 'मोक्षयिष्यामि' अर्थात् बाधितानुवृत्या मोक्षयिष्यामि । जब तक मेरी तरफ दृष्टि रहेगी मिथ्यात्व दृष्टि द्वारा वह बाधित होता रहेगा । यदि मुझ से दृष्टि हटी तो जगत् में सत्यत्व दृष्टि हो जायेगी । पर 'माशुच' कुछ माया के धक्के तुझे लगेंगे जरूर पर उससे तुझे शोक नहीं होगा ।

यह काकाक्षिन्याय से साधक का व्यवहार है । यथा देखने वाले को कौवे की दो आंख दीखती हैं परन्तु वस्तुत: अक्षि एक ही होती है । एक क्षण में माया की तरफ दृष्टि गई तो दूसरे क्षण में ही ब्रह्म दृष्टि हो गई । क्षण क्षण में जिसकी दृष्टि अचल ब्रह्म की ओर गई

वह साधक है। और 'निमेषार्धं न तिष्ठन्ति दृष्टि ब्रह्ममयीं विना' जो सदा ब्रह्म की दृष्टि रखे वह सिद्ध है। यथा ब्रह्मा विष्णु रुद्र क्षणमात्र के लिये भी अपने स्वरूप को नहीं भूलते। साधक को काकाक्षिन्याय से हिलोरा तो लगेगा पर वह धीरे धीरे सिद्धि को प्राप्त होगा। व्यवहार काल में जगत् दृष्टि में बन्धन है। शास्त्र की विशेषता है कि वह व्यवहार काल में ब्रह्म दृष्टि लाना सिखाता है। श्रीकृष्ण से अर्जुन ने 'न योत्स्ये' कहा। गीता शुरू हुई कि अर्जुन कहता है मैं नहीं लड़ूंगा। और अन्त में अर्जुन ने कहा 'करिष्ये वचनं तव'। हे भगवान् जैसा तुम कहोगे वैसा ही करूंगा। यही उत्तम साधक की भी स्थिति है जहां कुछ छोड़ने की जरूरत नहीं।

वासना का समूल नाश करने का उपाय ध्यान काल में ब्रह्म को प्राप्त करके उसे व्यवहार काल में लाना है। तभी वासना का क्षय होगा।

*　　*　　*　　*　　*

वासना का विजय किस प्रकार किया जाय? वासनाओं का स्वरूप समझने के बाद यह पता चला कि उनको हटाने के लिये दूसरी वासनाओं की आवश्यकता है। ये दूसरी वासनायें पहली वासनाओं को शुद्ध करने वाली होने के कारण संस्कार कहलाती हैं। कोश की दृष्टि से संस्कार और वासना में कोई भेद नहीं है। रूढ़ि में ऊर्ध्वगामी का नाम संस्कार है तो निम्नगामी का नाम वासना।

अतः वैदिक धर्म में संस्कार का विधान है। यह वैदिक धर्म की अलौकिक देन है। हमारे यहां संस्कृति या मनुष्य का निर्माण प्रधान है। भिन्न संस्कृतियों का उद्देश्य भिन्न भिन्न होता है। कहीं व्यापारी उत्पन्न होते हैं कहीं फौजी और कहीं दार्शनिक। भारत तो मानव उत्पन्न करने पर ही जोर देता है। मानव को देव बनाना ही हमारा धर्म है। देव को ब्रह्म बनाना ही हमारा दर्शन है। षोडश संस्कार उसका अद्भुत उपाय है। संस्कारों का लोप अनिष्ट है। संस्कारों का

केवल स्त्रियों की मान्यताओं में परिणत होना भी अनिष्ट है। यदि संस्कारों के रहस्य और तात्पर्य को न समझा जाय तो उनका पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता। अतः धर्म में अनुस्यूत तत्व को समझ कर षोडश संस्कार कराने चाहिये।

संक्षेप में यहां पर यह इंगित किया जा सकता है कि गर्भाधान संस्कार में माता पिता की सावधानी अति आवश्यक है। पुंसवन, सीमन्तोन्नयन भी गर्भस्थ शिशु के ही संस्कार हैं। जातकर्म, नामकरण, अन्न प्राशन इत्यादि अधिकतम संस्कार प्रथम वर्ष में ही हो जाते हैं। जिस प्रकार वृक्ष को सुधारने के लिये अंकुर का ख्याल रखना पड़ता है ऐसे ही ये सब संस्कार सावधानी पूर्वक किये जाते हैं।

मनुष्य के जीवन में महत्तम परिवर्तन लाने वाला संस्कार उपनयन है। इसे शास्त्रों में द्वितीय जन्म बताया है। उसकी अन्तिम क्रिया गुरु गृह में जाना है। उस समय से संस्कारी द्विज परमेश्वर की तरफ जाता है। श्रुति ने नियम किया है कि यदि परमात्मा का ज्ञान चाहते हो तो गुरु के पास जाओ। तद्विज्ञानार्थं गुरुं एव अभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। यहां समिधा शब्द बड़ा महत्वपूर्ण है। समिधा लेकर जाने में एक रहस्य है। श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं शब्द रूढ़ है संन्यासी में। श्री परमहंस संन्यासी तो यज्ञ करते नहीं। संन्यासी को तो अग्नि का स्पर्श भी निषिद्ध है। यहां तक कि संन्यासी के शरीर को भी जलाया नहीं जाता। शास्त्र कहता है कि यदि परमहंस का शरीर जला तो राज्य में विप्लव और अनावृष्टि होती है। अतः समिधा लेकर गुरु के पास जाने का क्या तात्पर्य है? समिधा एक योगरूढ़ शब्द है। जो सम्यक् अर्थात् अच्छी तरह से इन्धते जल उठे उसे समिधा कहेंगे। किंच इण् गतौ धातु है और धा का अर्थ है रखना। अतः समिधा का अर्थ अच्छी तरह से जाकर के रखना भी है। परमेश्वर की तरफ जाना और जाकर के मन को वहीं रखना ही समिधा है। इसी कारण उपनयन संस्कार में भी गुरु शिष्य से कहता है 'समिधां आधेहि'।

अहन्ता का परित्याग 'इ' है और सारी चीजों को 'धा' धारण करने वाला परमेश्वर है। अतः अहन्ता को अपने शरीर से उठा कर परमेश्वर में रखे। अतः समिधां आधेहि का अर्थ बनता है कि अपनी अहन्ता को उतार कर ब्रह्म से सम्बन्धित करो। श्रुति ने कहा कि परमात्मा ने समिधा को बनाया 'समिधां चकार'। सायणाचार्य ने इस के अर्थ पर सूक्ष्म विचार किया। परमेश्वर ने समिधा कैसे बनाई? वह तो पेड़ बनाता है, समिधा नहीं बनाता। अतः आचार्य सायण ने लिखा है कि परमेश्वर के अन्दर अन्तःकरण को रखने की विद्या को ही समिधा कहा है। प्रश्न उठता है कि समिधा में 'धा' का प्रयोग हो गया तो पुनः 'आधेहि' में 'धा' का प्रयोग करने की क्या आवश्यकता थी। जब मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करले तो क्या करे? अन्यां वाचां विमुञ्चथ अन्य सब बातों को छोड़ दे। पर रस्सी को देखने के बाद 'सांप को न देखे' कहना फिजूल है। अतः यह नियमन के लिये है। यदि किसी को फिर अध्यस्त की प्रतीति होने लग जाय तो पुनः अधिष्ठान का ध्यान करे। उपनयन में ब्रह्मचारी अभी अभी गुरुगृह आया है। 'समिधां' से यदि निष्ठा वाला नहीं बन पाया तो 'आधेहि' से कहा कि बार बार उस दृष्टि को कर। आप पूछ सकते हैं कि समिधा पद काष्ठ के अर्थ में भी तो प्रयुक्त है। ऐसा क्यों? लकड़ी अग्नि के रहने की जगह है। 'यथा अरण्योर्निहितः जातवेदः' यह श्रुति की कल्पना स्पष्ट है। यहां अन्दाज लगाने की आवश्यकता नहीं। अग्नि को जातवेद बताया और उसे अरणी में निहित कह रहे हैं। जात का अर्थ है उत्पन्न होते ही वेद का अर्थ है जो चीजों को जाने। तो जातवेद का अर्थ हुआ साक्षी। अतः यहां अरणियां दो हैं। एक जीव और एक जगत्। ज्ञान तभी स्फुट होता है जब जीव और जगत् को मथा जाय। सुषुप्ति काल में ज्ञान नहीं। मन्थन से ही ज्ञान होगा। 'यथा अरण्योर्निहितः जातवेदः' में निहितः पद का अर्थ है नितरां हितः। श्रुति में अपौरुषेयत्व है। समिधा पद को लकड़ी के अर्थ में क्यों रूढ़ किया? इसको समझाने के लिये श्रुति कहती है 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः' अग्नि लकड़ी में

छिपी है। जिस तरह वह हवन कुण्ड में डालते ही जल उठती है वैसे प्रत्येक जीव में शुद्ध चिन्मात्र छिपा हुआ है। उसी का नाम सर्वभूतान्तरात्मा है। लकड़ी में अग्नि है पर वह अग्नि के स्पर्श से ही प्रकट होती है, ऐसे ही जीव में परमेश्वर है पर जब उसका परमेश्वर के साथ स्पर्श होगा तभी 'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च तदा जीवो भविष्यति'। सर्वकर्ता नाम से साधक को घबराना नहीं चाहिये कि परमेश्वर का स्पर्श होते ही उसे बहुत काम करना पड़ेगा। ऐसी बात नहीं है। पड़े रहना भी एक क्रिया है। आप में क्रिया का बोझ तो तब तक है जब तक भार रूप तमोगुण रहेगा। जब भगवान् सुरेश्वराचार्य उसे सर्वकर्ता कहते हैं तो 'क्रियावान् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' की आथर्वणश्रुति के सहारे ही कहते हैं। वह क्रियावान् परमेश्वर से अभिन्न हो जाता है। न परमेश्वर से श्रेष्ठ न परमेश्वर से निकृष्ट। परमेश्वर से सम्बन्धित होने पर जीव परमेश्वर रूप होता है। लकड़ी तो जितना अग्नि को प्रकट करती जाती है उतना स्वयं भस्म होती जाती है। इसी प्रकार जितने अंश में जीवत्व रहेगा उतना ही ईश्वरत्व का अभाव होगा। अतः ज्ञान सम काल ही मुक्ति है। जिस काल में ज्ञान है उसी काल में निवृत्ति है। अपने को अन्तःकरण का साक्षी जानते ही जीव परमात्मा है। इसी कारण प्रतीक रूप से यहां समिधा को लिया गया।

यही भगवती की छिन्नमस्ता मूर्ति है। छिन्नमस्ता मूर्ति में भगवती खड़ी है। अपने सिर को काट कर अपने हाथ में रखा है। मुंह ऊपर कर रखा है। हाथ में रखे सिर का मुंह खुला हुआ है। उस मुंह में अपने कटे हुए गले से एक रक्त की धारा अपने ही मुंह में जा रही है। एक रक्त की धारा एक सखी के मुंह में जा रही है और अन्य धारा दूसरी सखी के मुंह में। यह अपने ही मस्तक की बलि भगवती ने अपने को दे रखी है। बलि का अर्थ होता है उपहार (gift)। आजकल यज्ञ में अन्तिम बलि नारियल की दी जाती है। नारियल अपने सिर का प्रतीक है। गोपथ ब्राह्मण में उसे नर बलि कहा है। अपने सिर को काट कर

देने का विधान कहीं नहीं है। नारियल या सिर चढ़ाने का अर्थ अन्तिम बलि देना ही है । अतः छिन्नमस्ता ने अपनी सिर रूपी अहन्ता की बलि देकर उसे पाणि में रखा है ।

भगवती की 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च' ज्ञान, बल और क्रिया रूपी तीन रक्त की धारायें बह रही हैं । उसमें ज्ञान, इच्छा और क्रिया समकालिक हैं । जीव में अभी ये समकालिक नहीं हैं । हम इच्छा करते हैं सच बोलें, पर क्रिया करते हैं दूसरों को ठगने की । इन तीनों को समकालिक हो कर स्वतन्त्र होना है । अतः भगवती के छिन्न मस्तक होने पर ये तीन धारायें निकलीं । एक रक्त की धारा ज्ञान की अपने ही मुंह में पड़ी । कटी हुई अहन्ता माया रूपी अन्तःकरण से कट कर साक्षी के मुंह में पड़ी । इच्छा और क्रिया रूपी दो रक्त की धारायें दाहिनी सखी विद्या और बांयी सखी अज्ञसेविका के मुंह में पड़ीं । दाहिनी सखी साधक हैं । बांयी सखी अज्ञ हैं । जो भी उसकी सेवा करता है वह उसकी क्रियाओं से लाभ उठाता है ।

यह छिन्नमस्ता की मूर्ति ही वेदान्त की मूर्ति है । समित्पाणिः में भी कहा गया कि समिधा को पाणि में लेकर गुरु के पास जाओ । तो समिधा को पाणि में ही क्यों रखा ? क्यों कि जिससे काटोगे उसी में रखना है । जिस आत्मतत्व से अविद्या को काटोगे उसी आत्म तत्व में अविद्या लीन होगी । सूर्यकान्तमणि या आतशी शीशा स्वयं कागज को नहीं जलाता बल्कि सूर्य जलाता है पर सूर्य कान्त मणि में चढ़ा हुआ सूर्य ही जलाता है । उसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति में उपारूढ़ ब्रह्म ही अज्ञान को काट रहा है । ब्रह्माकार वृत्ति तो स्वयं माया है वह अज्ञान को क्या काटेगी । एतत् अनुशासनम् । उपदेश बस इतना ही है ।

*   *   *   *

भगवती श्रुति परमात्म तत्त्व को विज्ञेय बतलाती है । एक मात्र अनुभव करने योग्य वही है । यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ।

जिस एक परमात्मा के जानने से सब कुछ जान लिया जाता है। वह ही विज्ञेय है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि वह विज्ञेय है तो वह किस रूप से जाना जा सकता है और उसके ज्ञान का साधन क्या है? घड़े को देखने के लिये घड़ा और रोशनी दोनों चीजें चाहिये। पर कितनी ही रोशनी हो यदि आंख न हो तो भी घड़ा नहीं दीखेगा। यदि घड़ा हों, रोशनी हो, आंख भी हो पर मन न हो तो भी घड़ा नहीं दीखेगा। अतः मन, आंख, रोशनी, घड़ा ये सब घड़े के ज्ञान के लिये आवश्यक हैं। ऐसे ही शब्द तभी सुना जा सकेगा जब वह स्फुट होगा। पुलिस एक प्रकार की सीटी बजाती है जिसे कुत्ता तो सुन लेता है पर हम नहीं सुन सकते। अतः शब्द को सुनने के लिये कान और मन के अलावा शब्द की स्फुटता की भी जरूरत है। ऐसे ही परमात्म तत्व को ग्रहण करने के लिये साधन क्या है? यहां एक विलक्षणता है। परमात्म तत्त्व को ग्रहण करने के लिये नये साधनों को ग्रहण नहीं करना है। पुराने ही साधनों से बोझ रहित होना है। गर्मी लगने पर तो आप अपने कमरे में पंखा और कूलर लगाते हैं तब आराम मिलता है। पर यदि कहीं आप स्टेशन से घर को चले और आपको बिस्तरा लेजाने को कुली नहीं मिला तो बिस्तरा भी स्वयं ही लेकर चले। अब रास्ते में आपको आराम के लिये कूलर या तकिया नहीं चाहिये। केवल सिर का बिस्तर कोई दूसरा ले चले तो आपको आराम मिल जाय। इसी प्रकार बहुत सा बोझ देह, प्राण, इन्द्रियों का हमने अपने ऊपर रख लिया है। उसे हटाने के लिये श्रुति ने उपाय बताया है। इन चीजों को दूर कैसे किया जाय? जिस बोझ के साथ बड़ा प्रेम हो जाय उसे हटाना बड़ा मुश्किल है। जब स्त्रियों को पैर में कड़े पहनने की आदत पड़ जाती है तो मोह के कारण उसे उतारती ही नहीं। इसी प्रकार देह, प्राण, इन्द्रियां हमें रोज कष्ट दे रही हैं फिर भी मोह के कारण हम उन्हें दूर नहीं करते। मोहो नाम विवेकाभावः। विवेक का न होना ही मोह है। जब

उसे सुख का कारण समझ लिया तो मोह हो गया। जब जान लिया कि यह सुख का कारण नहीं है तो विवेक उत्पन्न हो गया। इन सब अन्तः प्रज्ञा और बहिः प्रज्ञाओं को दूर करना है। अन्तः प्रज्ञा वासना है और बहिः प्रज्ञा इन्द्रियों से प्रयोग है। मनुष्य सुख के भरोसे जीता है। सुख का आधार बदला जा सकता है। परम नास्तिक, जो परमेश्वर की ओर दृष्टि नहीं करता, वह भी परमेश्वर के सुख को न जानने से ही नास्तिक है। जिसे आन्तरिक सुख मिल जाता है उसे विषय सुख सुख जैसा नहीं लगता। यदि उसे प्रारब्ध के डंडे से विषय की ओर चलाओ तो भी वह ज्ञात मृगमरीचिका के पानी की ओर चलने की तरह चलेगा। पानी दीखता है जरूर, पर ,है नहीं। मालिक डंडे मार कर नौकर को उस पानी की ओर भेजता है पर नौकर भग्नकटिसर्पवत् चलता है। ,उत्साह से दौड़ता नहीं। जो विचारशील पुरुष है वह संसार में प्रत्यक्ष देख रहा है कि उसमें कुछ प्राप्तव्य नहीं। न वहां विषय हैं, न पदार्थ, न सुख। सभी का अत्यन्ताभाव है। फिर भी प्रारब्धवशात् उसमें प्रवृत्ति करता है। पञ्चदशीकार ने उदाहरण दिया है कि एक राजा के ऊपर जब दूसरा चढ़ाई कर देता है तो जिस राज्य पर आक्रमण होता है और वह हारने लगता है तो वह कम को भी बहुत मानता है। जितना भी बच जाय उसी से प्रसन्न हो जाता है। पर जीतने वाला अधिक साम्राज्य को अधिकाधिक देखना चाहता है। ज्ञानी से प्रारब्ध जो प्रवृत्ति कराता है उसी को वह बहुत मानता है। अधिक प्रवृत्ति नहीं करता। विवेक होने के कारण समझ लेता है कि यहां सुख है नहीं अतः अधिक प्रवृत्ति नहीं करता। साधक संसार में प्रवृत्ति इसलिये करता है कि अभी परमेश्वर मिला नहीं पर संसार प्रत्यक्ष दीखता है। नास्तिक केवल संसार को ही देखता है, परमेश्वर का लेशमात्र भान न होने से, उसको नहीं मानता।

शान्त अन्तःकरण में परमेश्वर का प्रतिबिम्ब पड़ने से जिस आनन्द का भान होता है उससे परमेश्वर के सुख का थोड़ा भान होता है। परमेश्वर का वास्तविक भान तो चित्त या अन्तःकरण के सर्वथा हटने पर

ही होगा पर शान्त अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित सुख भी विवेक और वैराग्य के लिये काफी है। फिर साधक संसार की ओर प्रवृत्ति नहीं करता। अतः निर्विशेष आत्मज्ञानार्थ ही श्रुति का आदेश है।

जब श्रुति कहती है कि उस तुरीय तत्त्व को जानना चाहिये तो प्रश्न यह उठता है कि यदि आत्मा भी मान या अनुभव का विषय हो जाय तो उसे अनुभव करने का साक्षी कौन बनेगा ? वह स्वयं अनुभव रूप है। विशिष्ट आत्मा का ज्ञान सबको है, पर उस का ज्ञान सफल नहीं है। भिन्न भिन्न वादी लोग विशिष्ट आत्मा के ज्ञान को ही मोक्ष का कारण बताते हैं।

शुद्ध चैतन्य का ज्ञान प्रत्यक् ज्ञान है। श्रुति उसी को साधन और साध्य रूप से प्रपञ्चोपशमं शान्तं कह रही है। प्रपञ्चोपशमं के बाद श्रुति ने शान्तं का प्रयोग क्यों किया ? क्या शम और शान्त का धातु रूप एक ही नहीं है ? मन की तीन अवस्थायें होती हैं। अशान्त, उपशान्त और शान्त, अशान्त अवस्था में विषयों की तरफ प्रवृत्ति ही प्रवृत्ति है। साधक की यह प्रपञ्चाकार वृत्ति है। जब निरोध करने लगता है तो साधक की उपशमन की वृत्ति है। ज्यों ही मन बाहर गया उसे अन्दर लाया गया। उप का अर्थ है नजदीक। उपशमन में अभी शम नहीं हुआ है पर प्रयत्न है। अन्त में साधक शान्त अवस्था पाता है। पदार्थ में इष्ट बुद्धि उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति रागावस्था है। इष्ट पदार्थ प्राप्त होकर कभी हमारे पास से न निकल जावे यह इच्छा भी राग के कारण है। सामान्य मन की अवस्था रागावस्था है। जब वह साधक बनता है तो पहली अवस्था आती है वैराग्य की। वैराग्य रूपी खड्ग से फौरन् राग को काटता है। वैराग्य केवल राग का अभाव नहीं है। वैराग्य भाववृत्ति विशेष है जो राग का उपमर्दन करने में समर्थ है। राग का अभाव तो जो पदार्थ उपलब्ध नहीं या देखे सुने नहीं गये उनके प्रति भी है। पर समय आने पर जब वह विषय सामने आवेगा तो राग उत्पन्न हो जावेगा। जब साधन बढ़ा तो वैराग्यावस्था आती है।

पर वैराग्य में अभी पदार्थों में इष्ट बुद्धि है, केवल प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती। असली अवस्था तो वीतराग की है। जिसे कभी राग उत्पन्न होता था, पर अब वह कहानी मात्र रह गया। अब वह वीतराग हो गया तो इष्ट बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती अतः राग को काटने की आवश्यकता भी नहीं रही। इस वीतरागावस्था को ही श्रुति यहां शान्त कह कर सम्बोधन कर रही है। राग की सत्ता ही अशान्त स्वरूप है। जब पदार्थों के अन्दर से इष्ट बुद्धि ही चली गई तो शान्त या वीतराग हो गये। जो चीज जिसके विना नहीं रहती वही उसका स्वरूप है। राग की निवृत्ति कैसे होती है? संसार के स्वरूप को समझ कर। शान्त चित्त मनुष्य कैसा होता है? इसे डाब का उदाहरण देकर शंकर समझाते हैं। डाब में अन्दर जल ही जल होता है। मीठा सुरभि वाला जल। जब नारियल का मीठा पानी पी लिया जाता है तो उसे लोग फेंक देते हैं। उसी प्रकार इस संसार के स्वाद को पीकर के उसे फेंक दिया जाता है। विश्वं न इति प्रमाणात् सर्वं खलु इदं ब्रह्म। इदं या यह संसार तो है नहीं, वरन् ब्रह्म ही है। विश्व नहीं है इस कथन को वेद का प्रमाण प्राप्त है। श्रुति बारबार द्वितीय का निषेध करती है। इस प्रमाण से दृढ़तर प्रमाण कभी मिल नहीं सकता। अतः विगलितो जगदाकार भानः। अब संसार का भान ही विगलित हो गया—गल गया। जगदाकार कोई पदार्थ मिला ही नहीं। इस अमृत सत् चित् सुख रूप का अन्तःकरण द्वारा ग्रहण करके स्वाद लो। उसका स्वाद जीभ से नहीं लिया जाता, न खेचरी मुद्रा से। जो हृदय अत्यन्त शुद्ध किया गया है वही परमात्मा का स्वाद ले सकता है। उससे परमात्मा को जान कर 'ज्ञात्वा निस्सारं' इस जगत को निस्सार पाता है और तब मनुष्य वीतराग या शान्त होता है। अतः विगत राग कब होगा? जब संसार को 'विश्वं न' इस ज्ञान से छोड़ देगा। ऐसे वीतराग की दृष्टि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से हट जाती है। सर्वमेवानुजानाति सर्वमेवनिषेधति। ठीक है कह कर सब की अनुमति देता है, पर निषेध भी करता है कि सब मिथ्या है। किसका समर्थन

करे ग्रौर किसका खण्डन करे ? यदि उसकी एक वस्तु के लिये भी ग्रनुज्ञा हो तो ग्रभी निद्रा नहीं टूटी । संसार सभी निद्रा है, उसमें विधि कैसी बनावें । सभी का ग्रतत् स्वभाव होने के कारण निषेध भी है । जब तक समर्थन करने की ग्रभिलाषा हुई तब तक शान्ति कहां ? न प्रवृत्तिनिवृत्तिवा कटाक्षेणापि वीक्ष्यते यह भगवान सुरेश्वराचार्य कहते हैं । सुनार केवल सोना देखता है, चाहे तिकोना, चौकोर ग्रथवा गोल कैसा ही हो । ज्ञेय वस्तु के ग्रनुसार सभी ज्ञेय ही है । प्रवृत्ति को निवृत्ति से हटाया, फिर निवृत्ति भी हट गई । निवृत्ति का भी बाध सम्यक् बोध से होता है । प्रवृत्ति ग्रौर निवृत्ति का मूल हेय ग्रौर उपादेय दृष्टि है । निवृत्ति यदि ग्रभी है तो उसके ग्रन्दर हेय दृष्टि बची है । ग्रतः कहा 'यस्य क्षीणा हेयोपादेयदृष्टी द्वे' जिसकी हेय ग्रौर उपादेय दोनों दृष्टि खतम हो गई उसको क्या संसार हेय ग्रौर परमात्माकार वृत्ति उपादेय होती है ? परमेश्वर का भजन हेय है । तब तक जब तक संसार उपादेय है । पारमार्थिक दृष्टि में संसार हेय है । पर जिसे स्वरूप का निश्चय हो गया उसके लिये क्रिया या उसके त्याग का कोई ग्रर्थ नहीं । क्रिया को मैं करूं ऐसी भी दृष्टि नहीं । ग्रायु पर्यन्त शरीर जैसे क्रिया करता है करे । देह ग्रात्मा से भिन्न होने के कारण ऐसे व्यक्ति को मुक्ति की भी ग्रभिलाषा नहीं क्योंकि उसे मुक्ति स्वतः प्राप्त है । दिन भर कृष्ण भगवान् खेलते रहते थे । पढ़ने की ग्रोर कोई वृत्ति नहीं थी । माता यशोदा ने सोचा कि इसे स्कूल में डाल दो । कृष्ण को गोद में बैठाया । कहा कृष्ण ! त्वं पठ तुम पढ़ो । कृष्ण ने कहा ग्रच्छा तो हैं 'वेदैश्च सर्वैः ग्रहमेव वेद्यः' सभी वेदों की पढ़ाई का परिणाम मेरा ज्ञान है तो मैं क्या पढ़ूं ? ग्रतः यशोदा से पूछा मां क्या पढ़ूं ? मां ने उत्तर दिया ननु रे शास्त्रं शास्त्र पढ़ । कृष्ण ने पूछा शास्त्र पढ़ कर क्या जाना जाता है ? तत्त्वं तत्त्व जाना जाता है, ग्रसली वास्तविक बात । कृष्ण ने पूछा कस्य किसकी बात पता चलती है शास्त्र से ? तो मां ने कहा 'विभोः' परमेश्वर की । स कः कृष्ण पूछते हैं कि परमेश्वर क्या बला है ? त्रिभुवनाधीशः । तो होगा

कोई त्रिभुवन का अधीश्वर 'तेनाऽपि किं' इस त्रिभुवनाधिपति को जान कर क्या होगा ? ज्ञानं भक्तिरथो विरक्तिः ज्ञान होगा तो फिर उसमें भक्ति होकर संसार से विरक्ति होगी । जो इन्द्रियों को प्रशान्त करे वह ज्ञान है । कृष्ण बोले कि मां ! ये तो अच्छी चीज है पर अनया किम् इस से होगा क्या ? मुक्तिः तुझे मुक्ति मिलेगी । 'मुक्तिः एवास्तु ते' कह कर भगवान् ने मुक्ति तो मां को दे दी और कहा यह हमें नहीं चाहिये मुझे तो 'दध्यादीनि भजामि' कुछ दही मक्खन वगैरह चाहिये । जिसकी ऐसी दृष्टि हो जाय उसे मुक्ति की कोई आकांक्षा नहीं रहती । प्रवृत्ति और निवृत्ति की कामना नहीं । केवल वीतरागावस्था ही रह जाती है । अब प्रश्न होता है कि ऐसी प्रशान्तावस्था में वह करेगा क्या ?

जो कृत कृत्य हो गया उसके लिये यह प्रश्न ही व्यर्थ है कि वह क्या करेगा । स्वस्थ होने तक तो रोगी को दवा चाहिये । स्वस्थ बनने के बाद दवा का प्रश्न निरर्थक है । राग जब तक था-वैराग्य की जरूरत पड़ी । वैराग्य से स्वस्थ हो गया अब क्या करेगा यह प्रश्न निरर्थक है । १३४३ में पद्मा का जन्म हुआ था । बचपन में विवाह हुआ । घर में सौतेली सास थी । वह उसे बड़े कष्ट में रखती थी । फिर भी वह सेवा ही करती रहती थी । सास अपने अत्याचार की मात्रा बढ़ाती ही गई । सास रजोगुणी थी अतः सोचती थी कि यह रोती क्यों नहीं जवाब क्यों नहीं देती ? अन्त में उसने युक्ति निकाली कि जिस कटोरे में बहू के लिये खाने को देती थी उसमें पहले पत्थर रख देती थी फिर चावल से उसे भर देती थी । बहू आधा पेट भी नहीं खा पाती थी । एक दिन बहू वितस्ता के किनारे बर्तन मांज रही थी । किसी साथिन ने कहा आज तो शिवरात्रि है तेरी पांचों घी में होंगीं । उसने उत्तर दिया चाहे शिवरात्रि हो चाहे अन्य रात्रि मेरी तो शालिग्राम की बटिया भली । इस बात को उसके ससुर ने सुन लिया तो वह पत्नी पर बिगड़ा । परन्तु फल उलटा ही हुआ सास ने अधिक अत्याचार शुरू कर दिया । अपने लड़के को सिखलाने लगी

कि यह तो डाकिनी है, रात में नर मांस भक्षण करने को जाती है। बेटा! तू भी इसके साथ रहेगा तो तुझे भी भक्षण कर जायेगी। अन्त में जब वहू से न सहा गया तो वह सीमा को तोड़ कर असीम के दर्शन को चली। उसे शिव का दर्शन हुआ। अवधूत का वेश धारण करके घूमने लगी। वह सबसे केवल 'शिवः स्मरणम्' कहती थी। दिगम्बर इसलिये रहती थी कि संसार में पुरुष का अभाव है। परमात्म चिन्तन के बाद उसने शिव का सगुण रूप तो देखा, जिससे प्रपञ्च का उपशम तो हुआ पर अभी पूर्ण ज्ञान होना बाकी था। उस समय मल्लिकार्जुन में स्वामी विश्वेन्द्र सागर रहते थे। शंकर ने उन्हें आदेश दिया कि कश्मीर में एक स्त्री है उसे अद्वैत का उपदेश करो। शंकर का आदेश था। वे कश्मीर को चले। पामापुर नाम के गांव में पद्मा जा रही थी। विश्वेन्द्र सागर आये तो उन्हें देख कर वह तन्दूर के भट्टे में कूद पड़ी कि अरे! पुरुष आ गया। दिव्य वस्त्रों को पहन कर बाहर आई। विश्वेन्द्र सागर ने उसे उपनिषदों का रहस्य समझाया। एक दिन उन्होंने शिष्यों की परीक्षा की और प्रश्न किये कि संसार के अन्दर श्रेष्ठतम प्रकाश कौन है? कौन तीर्थ ख्याति-मान है? सम्बन्धियों में उत्तम कौन है? ब्रह्मानन्द का साधन कौन है? उस समय स्वामी जी से लल्लेश्वरी (पद्मा का बाद का नाम लल्लेश्वरी रखा गया था) ने कहा कि मैं समझती हूँ कि ज्ञान रूपी प्रकाश श्रेष्ठतम है। तीर्थस्तु तत्र लीनता सबसे उत्तम तीर्थ उस ज्ञान में लीन होना है। शिव ज्ञान में डुबकी लगाओ। गुरुः सम्बान्धिनां श्रेष्ठो भूमानन्दप्रदायकः। सम्बन्धियों में गुरु श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे भूमानन्द देने वाले हैं। भूमानन्द प्रदायकः इस विशेषण से चौथे प्रश्न का उत्तर भी दे दिया। लल्लेश्वरी ने कई ग्रन्थ लिखे हैं।

इस प्रकार शान्त अवस्था में 'न कुछ' हेय है न उपादेय। वही भगवान् माता रूप से दूध पिलाते हैं, वही पत्नी रूप से भोग करवाते हैं, माया रूप से भ्रम में डालते हैं। किसका ग्रहण करे और किस का त्याग। जब तक घर में रही लल्लेश्वरी की अशान्तावस्था थी।

घर छोड़ कर निकली तो वैराग्यावस्था थी। अन्त में वीतरागावस्था थी। इसी को श्रुति प्रपञ्चोपशमं शान्तं कह कर प्रवृत्ति निवृत्ति का निरोध करके उसमें लीन होने को कह रही है। वस्तुतः वही स्वस्थावस्था है। इससे साधन, वैराग्य और विगतरागावस्था भी बतलायी।

* * * *

जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति का अधिष्ठान आत्म तत्व किसी भिन्न दृष्टा के न होने के कारण अचिन्त्य और अग्राह्य है। चूंकि वह वाणी का भी विषय नहीं इस लिये अव्यपदेश्य है। जहां सारे प्रपञ्चों का उपशमन होता है उस शान्त तत्व को आत्म रूप से श्रुति विज्ञेय बता रही है।

उसका कभी बाहर अनुभव नहीं होता। उसका आत्म रूप से अर्थात् अहं रूप से ही साक्षात्कार हो सकता है। इस शान्त स्वरूप की, विगतराग की, प्राप्ति कैसे हो? संसार के समस्त पदार्थों में सत्व, रजः और तमः की विचित्रता है। इन गुणों के तारतम्य से ही जगत् की विचित्रता है। 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैःकर्माणि सर्वशः' यह गीता ने कहा। 'अजां एकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' से प्रकृति का वर्णन श्रुति ने किया। सांख्यमत में लोहित रजः है। शुक्ल सत्व है। कृष्ण तम है। यह अजा प्रकृति बहुत प्रजा को पैदा करती है। सारी सृष्टि के कारण ये तीन गुण हैं। सांख्य और वेदान्त दोनों में यह भेद है कि इन तीन गुणों को तो दोनों मानते हैं, पर सांख्यवादी मानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ में ये तीनों गुण अवश्य हैं, किसी की मात्रा कम और किसी की अधिक हो सकती है। अतः सांख्यवादी इन तीनों गुणों से निर्मुक्त मन को भी नहीं मानते। यदि रजोगुण तमोगुण का स्वरूप से अन्त नहीं हुआ तो कालान्तर में वह प्रकट होंगे। वेदान्त में विशुद्ध सत्त्व को भी माना गया है। विशुद्ध सत्त्व में रजोगुण और तमोगुण नष्ट हो जाते हैं।

इसी परिशुद्ध सत्त्व को प्राप्त करने की सारी चेष्टा का नाम साधना है। अतः मुमुक्षु को चाहिये कि रज और तम से चित्त को हटाले। रज और तम का कार्य आवरण और विक्षेप है। गीता का नित्य सत्त्वस्थ होना और 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' की स्थिति यही है। जहां तीन गुण मिश्रित सत्त्व है वहां त्याग करना ही इष्ट है। यह प्रयत्न अति कठिन है। यदि साधक सोचे कि कभी प्रयत्न कर लेंगे तो भूल है। कालान्तर से अंकुरित होने वाले रजोगुण और तमोगुण का अन्त करने के लिये निरन्तर प्रयत्न आवश्यक है। विशुद्ध सत्व का गुण प्रसाद, स्वात्मानुभूति, परम प्रशान्ति आदि हैं। यह परम शान्ति की दशा अशान्त की शान्ति के बाद परम उपशम या वीतराग की है। प्रसाद का अर्थ भी प्रकर्ष रूप से स्थिरता है। कोषकार लोग तो प्रसाद का अर्थ प्रसन्नता बतलाते हैं। प्रसादस्तु प्रसन्नता। विशुद्ध सत्त्व की प्राप्ति होने पर किसकी प्रसन्नता होगी? अतः प्रसादस्तु शिवस्य कृपा चित्तस्य प्रसादोवा ये दो अर्थ टीकाकारों ने दिये हैं। प्रसाद का एक अर्थ शिव कृपा है और दूसरा अर्थ चित्त की प्रसन्नता है। यदि चित्त में किञ्चित् काल स्थायी प्रसन्नता है तो वह रजोगुण और तमोगुण मिश्रित है। जिनको विशेष प्रसन्नता सर्वदा रहने वाला प्रसाद चाहिये, जिस प्रसाद में न्यूनता कभी न आवै, उनको मिश्र सत्त्व में केवल सत्त्व का आधिक्य होने से जो प्रसन्नता होती है वह काफी नहीं दीखती। उन्हें तो विशुद्धसत्त्व का अबाध प्रसाद चाहिये।

शिवप्रसन्नता भी विशुद्ध सत्त्व से होती है। शिव की कृपा का अर्थ लौकिक रूप से स्वास्थ्य, सन्तान आदि माना जाता है। पर ये मिश्र सत्त्व रूप कृपा है। रजोगुण और तमोगुण के कारण कुछ काल तक रहने वाली कृपा है। लौकिक कृपा तो कभी होती है कभी घट जाती है। पर विशुद्ध सत्त्व में नित्य कृपा है। इस नित्य कृपा को विषयों में नहीं ढूंढना चाहिये। गीता में कहा है 'येहि संस्पर्शजा भोगाः दुःखयोनय एव ते'। लौकिक विषय में दुःख की कारणता में यह

हेतु गीता में दिया गया है कि वे 'आद्यन्तवन्तः' आदि और अन्त वाले हैं। ये आद्यन्तवन्त भोग तो बिना भगवत्कृपा के भी मिल जाते हैं पर अविषय शुद्ध सत्त्व तो नित्य प्रसाद से ही उपलब्ध होता है।

यथा ए सी बिजली आती जाती रहती है पर डी सी बिजली बराबर बहती है। विषयेन्द्रिय का संयोग यदि छोड़ दिया तो आने जाने वाले सुख नहीं बल्कि नित्य सुख की प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण ने संस्पर्शजाः भोगाः से यह बतलाया कि उन भोगों का स्वरूप समझलो जहां अच्छी तरह से स्पर्श होता है। संस्पर्श का क्या अर्थ है? जब पिता और पुत्र गले मिलते हैं तो स्पर्श है। रास्ते में चलते हुए भी किसी को छूना स्पर्श है। पर दोनों में फर्क है। पहला तो स्नेहासिक्त के कारण संस्पर्श है, और दूसरा सामान्य स्पर्श है। यदि स्नेहासिक्तता न हो तो दुःख का कारण भी नहीं बनता। विषयेन्द्रिय में होने वाली स्नेह रूपता को छोड़ना कर्तव्य है। इस स्नेह का सारे संसार के विषयों में अभाव ही परमात्मा की नित्य कृपा है।

जीव में कर्तृत्व तो है नहीं। अतः परमात्मा की कृपा से ही भोगों की प्राप्ति है, और उसी ईश्वर की कृपा से भोगों से वियोग की भी प्राप्ति है। पर उसकी महान् कृपा भोगों में संस्पर्श का त्याग है।

अपनी अयोग्यता का ज्ञान ही सबसे बड़ी योग्यता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को दूसरे व्यक्ति से योग्य ही समझता है। एक पिता ने अपने लड़कों की योग्यता की परीक्षा लेने के लिये उनको दस दस रुपये दिये और कहा कि इनसे कमरे को भर दो। एक लड़का जाकर घास खरीद लाया ताकि कमरा भर जाय। दूसरे ने जरा अच्छी चीजों से पर्दे वगैरह से उस कमरे को सजाना चाहा। कमरा पहले खाली था तो अब भरा सा दीखने लगा। तीसरे लड़के ने एक लैम्प खरीदा और तेल भर कर जला दिया तो कमरा प्रकाश से भर गया। पिता ने पहले

लड़के से कहा कि तूने कमरे को गोदाम बना दिया। दूसरे से कहा तू बुद्धिमान है पर कमरा भरा नहीं। तीसरे से कहा तू लायक है, मैं तुझे सारी सम्पत्ति देता हूं।

ठीक इसी प्रकार परम पिता परीक्षा करता है। उसने १०० साल का आपको जीवन दिया और कहा कि इस जीवन को भरना। आप उसे रूप रस से भरते जाते हैं। निरन्तर पदार्थों से भरके उसको गोदाम बना लिया। बाइस्कोपों के गन्दे गीतों से उसे भर लिया। कोई उसे इष्टापूर्त कर्मों से सजाता है। कोई एक अत्यन्त प्रतिभावान् ही अपने हृदय दीपक को जलाता है। उससे परमात्म प्रेम के द्वारा जीवन भर जाता है प्रकाश से भरने के कारण परम पिता उसे ब्रह्मत्व देता है।

यह कब होगा ? जब ईश्वर की अनुकम्पा होगी। ईश्वर की अनुकम्पा से ही विशुद्ध सत्व का गुण रूपी प्रसाद मिलता है।

* * * *

शिव रूप से उस आत्म तत्त्व का अनुभव किया जाता है। आत्म रूप से उसका अनुभव करना श्रुति कर्तव्य रूप से बतला रही है। यह कैसे हो सकता है ? उसके स्वरूप पर विचार यदि करो तो पता चलता है कि बिना सत्त्व के सामान्य ज्ञान भी संभव नहीं। सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्। इसका एक कारण है। वह यह कि ज्ञान परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप है। अन्तःकरण या मन के अन्दर जब उस आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ेगा तभी ज्ञान संभव है। उसके प्रतिबिम्ब को जो भी चीज जितना अधिक ग्रहण कर सकने में समर्थ होगी उतना ही उसमें ज्ञान का उत्कर्ष होगा। यथा सूर्य का प्रतिबिम्ब कांच ही ग्रहण करता है। यद्यपि कांच स्वरूप से मिट्टी है, पर मिट्टी में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। पर यदि मिट्टी को शोध कर कांच बना लिया तो शुद्ध मिट्टी कांच बन जाती है और वह प्रतिबिम्ब ग्रहण करने लगती है। लोहे में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता पर स्टेनलसस्टील में कुछ कुछ

दिखाई देता है। अगर उसमें और चमक लानी हो तो नई तलवार को देखो। उसमें सूर्य का प्रकाश चौंध उत्पन्न करता है। इसी प्रकार मन (अन्तःकरण) में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। जैसे जैसे उसमें शुद्धि आती जाती है तमोगुण रजोगुण घटता चलता है, सत्वगुण का आधिक्य होता है, सत्वात् सञ्जायते ज्ञानम्।

लोक में भी यह देखा जाता है कि जिसमें तमोगुण अधिक होता है उसकी बुद्धि स्थूल होती है। जिस किसी चीज से तमोगुण की वृद्धि अधिक होती है उतनी ही वह ज्ञान शक्ति को घटाता है। स्वयं अपने ही जीवन में देखो। कई बार एक ही बार सुन कर आप रहस्य समझ जाते हैं। पर थका हुआ मन समझता कुछ नहीं। प्रातःकाल मन में सत्व गुण का उद्रेक अधिक होता है। सब चीज जल्दी समझ में आती है। अगर किसी के बहुत अधिक समझ में आने लगा तो लौकिक लोग उसकी बुद्धि स्थूल कर देते हैं। श्रीहर्ष ने चिन्तामणि मंत्र सिद्ध किया और कवि बने। अपने मामा आचार्य मम्मट के पास गये। आचार्य मम्मट उनकी कविता पढ़ कर रोने लगे। मम्मट कहने लगे कि मैं तेरी बुद्धि को रो रहा हूं। श्रीहर्ष बोले मामा जी आज पहली बार लिखा है शायद कुछ भूल चूक हो गई हो। आचार्य मम्मट बोले कि इस समय मुझ से अधिक काव्य का कोई जानकार नहीं है। जब मैं ही एक एक श्लोक को मुश्किल से समझ पा रहा हूं तो तेरे ग्रन्थ को बांचेगा कौन और समझेगा कौन? तब मम्मट ने उसे भैंस का दही और उड़द की दाल खाने की राय दी। उसे खा कर जब बुद्धि कुछ तमोगुणी हो गई तो फिर लिखा। वह भी आज तक काव्य के पण्डितों की कसौटी है।

पारमार्थिक ज्ञान तो लौकिक ज्ञान से भी मुश्किल है। लौकिक ज्ञान के विषय तो प्रकृतिमय होने के कारण रजोगुण-तमोगुण विशिष्ट हैं। परमात्म तत्त्व में रजोगण, तमोगुण का लेश भी नहीं। यदि रजो-

गुण तमोगुण का थोड़ा सा भी अंश है तो त्रिगुणातीत का ज्ञान नहीं हो सकता। परमात्मा को विषय करने के लिये पूर्ण तेजस्वी अन्तःकरण चाहिये। ऐसे आत्मज्ञान की उपलब्धि ही विशुद्ध आत्मज्ञान है। वैसे तो घट पटादि का ज्ञान भी घटावच्छिन्न, पटावच्छिन्न परमात्मा का ही ज्ञान है। प्रत्येक क्षण में सब ज्ञान परमात्मा का ही ज्ञान है। पर वह रजोगुण और तमोगुण के कारण अवच्छिन्न चेतन का ज्ञान है। इन तीन गुणों से विशिष्ट होना ही उपाधि है। निर्विशेष होना ही आत्माकार वृत्ति है।

विशुद्धसत्त्वस्य गुणः प्रसादः। विशुद्ध सत्त्व का पहला गुण प्रसाद है। दूसरा गुण स्वात्मानुभूति है। विशुद्ध सत्त्व की अवस्था में ही आत्मा का अनुभव होता है। यह बहुत समझने की बात है। योगशास्त्र कहता है कि जहां चित्त का अत्यन्त निरोध है वहां ज्ञान है। वे ज्ञान को ध्यानज मानते हैं। अतः वे प्रपञ्चविलयवादी कहलाते हैं। प्रपञ्च का विलय होने से यदि ज्ञान होता तो अन्वय व्यतिरेक में दीखता। जागृत स्वप्न में प्रपञ्च का विलय नहीं और ज्ञान है। सुषुप्ति में प्रपञ्च का विलय है और ज्ञान नहीं। यदि अन्तःकरण स्वयं अज्ञान स्वरूप है तो उसकी आत्माकार वृत्ति भी नहीं बन सकती। योगी लोग मानते हैं कि समाधि काल में ज्ञान है। पर यह मान्यता ठीक नहीं है। लोग महर्षि पतञ्जलि के भाव को ठीक ठीक नहीं समझते। तदा (समाधि काले) द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम् सूत्र में उन्होंने कहा है कि जीव स्वरूप में स्थित हो जाता है। उन्होंने यह नहीं कहा कि उसे ज्ञान हो जाता है। वे वैयाकरण थे। यदि उनको ज्ञान हो जाता है कहना इष्ट होता तो 'स्वरूपे अवस्थानम्' नहीं लिखते। इसका एक दूसरा कारण भी था। योग सांख्य को मान कर चला और सांख्यवादी विशुद्ध सत्त्व को स्वीकार ही नहीं करते। 'विशुद्धसत्त्वस्य गुणः प्रसादः स्वात्मानुभूतिः' यह तो शंकरभगवत्पादों ने सर्व प्रथम लिखा। आत्म ज्ञान न समाधि में होता है, न चित्त के नष्ट होने पर। सुषुप्ति में थोड़ी देर के लिये चित्त विलय होता है।

महा प्रलय में और भी दीर्घ काल तक चित्त का निरोध हो गया फिर भी ज्ञान नहीं हुआ । तो आत्मज्ञान समाधि से कैसे होगा । रजोगुण तमोगुण से अस्पृष्ट अन्तःकरण ही आत्माकार वृत्ति बनाता है । यदि मन में रजोगुण तमोगुण दबा नहीं और ऐसा व्यक्ति आत्मज्ञान के लिये प्रवृत्त होता है तो वह निष्फल प्रयत्न है ।

बहुत. से लोग समझते हैं कि रजोगुण तमोगुण मन की वृत्ति है । भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि जिस वृक्ष की जड़ में आग लगी हो वह हरा भरा नहीं रह सकता है । रागो लिङ्गं अबोधस्य चित्तव्यायामभूमिपु । जहां चित्त की प्रवृति में राग दीखे वहां अबोध है । यदि रजोगुण और तमोगुण का कार्य विद्यमान है तो ज्ञानादि का अभाव रहेगा ।

जब श्रुति की बात सुन कर जीव रजोगुण और तमोगुण से सम्बन्ध तोड़ता है तो परमेश्वर की विद्या शक्ति से उसका व्यवहार चलता है । यस्य प्रसादेन विमुक्तसंगाः शुकादयः । तभी परम प्रशान्ति की प्राप्ति होती है ।

* * * *

विशुद्धसत्वस्य गुणः प्रसादः स्वात्मानुभूतिः परमा च शान्तिः । विशुद्ध सत्त्व से शान्ति और तृप्ति दोनों मिलती हैं । तृप्ति तर्पणार्थक धातु से बना है । जिसके मिलने से और किसी की कामना न रह जाय उसे तृप्ति कहते हैं । यद्यपि षड्रस व्यञ्जन खाकर भी तृप्ति होती है पर वह क्षणिक तृप्ति है । अन्य किसी पदार्थ या तद्विषयक कामनाओं का अभाव ही तृप्ति है । सामान्य पुरुष पदार्थों द्वारा तृप्ति चाहता है । वेद दर्शन के अनुसार ऐसी तृप्ति असम्भव है । पदार्थ का यह नियम है कि यदि वह एक पदार्थ एक प्रकार की तृप्ति देता है तो अन्य पदार्थ की अतृप्ति उत्पन्न होती है । बिच्छू और बिछुवी के जब सन्तति उत्पन्न होती है तो मां का पेट फाड़कर होती है । एक बार में ही सौ दोसौ उत्पन्न होते हैं और मां मर जाती है । वैसे ही अनेक विषयक अतृप्ति ही एक विषयक तृप्ति का स्वरूप है । रक्त बीज की

कथा दुर्गा सप्तशती में है। रक्त ही जिसका बीज या उत्पत्ति का स्थान है, वह मरता हुआ ही अनेक पैदा करता है। खटमल के रक्त में बीज है। खटमल को मारना ही खटमल को बढ़ाना है। ठीक उसी तरह कामनाओं को तृप्त करने का प्रयास ही उन्हें बढ़ावा देना है।

यहां विशुद्ध सत्व में तृप्ति बतलाते हैं। क्यों कि विषय सम्बन्ध के अभाव से तृप्ति आई। रक्त बीज को महाकाली जीभ फैला कर शोषण करती चली गई। ताकि रक्त का बीज जमीन पर पड़ ही न पाये। इसी प्रकार यदि तृप्ति चाहते हो तो युक्ति की शरण लेनी पड़ेगी। एक ही विधि है उसे जानो।

इस लोक की उन्नति से लेकर पारलौकिकी उन्नति तक सारे साधन वेदों ने बतलाये। वेदों ने इतना फल क्यों बताया? पूर्व मीमांसक भी मानते हैं कि किसी विधि के अन्दर एक ही आज्ञा दी जाती है। अनेक आज्ञाओं को श्रुति नहीं देती। अन्यथा वाक्यभेद प्राप्त होकर श्रुति में अष्ट दोष आयेंगे। एक वाक्य में दो आज्ञा मानना दोष है। लोक में भी यदि दो अर्थ वाली आज्ञा दो तो पूछना पड़ता है कि आपका मतलब क्या है? इसी प्रकार अब प्रश्न उठता है कि सारे वेद का क्या मतलब है? सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ओं इत्येतत्। सब स्मृति और इतिहास जिसके लिये ब्रह्मचर्य का पालन करवाती हैं वह पद ओंकार है। ओंकार का वाच्य परमेश्वर है। तस्य वाचकः प्रणवः। ओंकार ध्वनि मात्र है। जैसे राम ध्वनि है। राम के वाच्य दशरथ के पुत्र हैं। वैसे वेदों का प्रतिपाद्य परमात्मा है। वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यो वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहं। अन्यत्र भी वेद व्यास ने कहा 'वेदे शास्त्रे पुराणे च हरिः सर्वत्र गीयते'। इस दृष्टि से वेदान्त के विचार शील लोग कहते हैं कि सारे वेद में एक वाक्य है 'परमेश्वर को जानो'। एक वाक्य मान कर वेद में विरोध नहीं आयेगा। एक ही विधि है 'परमात्मा को जानो'। यदि वेद में केवल

परमात्मा की प्राप्ति की आज्ञा है तो वेदान्ती लोग कहते हैं कि बाकी सब विधि उसके अंग रूप से हैं । यथा ज्योतिष्टोम याग करे यह मुख्य विधि है, वही सफल विधि है । फिर उसके अंग रूप से वेदी बनाना, समिधा रखना इत्यादि हुआ । इसी प्रकार शिव पूजन तो फल उत्पन्न करने वाली विधि हुई । सभी सामग्री, विल्वपत्र इत्यादि इकट्ठा करना उपाय हुआ । इसी प्रकार परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करे यह सफल विधि हुई । बाकी सब आज्ञाओं का विनियोग परमात्मा को प्राप्त करने में है । बाकी सब तो उसके उपाय हैं । इन उपायों को करेगा तो परमात्मा प्राप्त होगा अन्यथा नहीं । अब प्रश्न यह उठता है कि यदि सारे वेदों की मुख्य विधि केवल परमात्मा की प्राप्ति है तो उसमें केवल वे ही उपाय बताने चाहिये थे जो परमात्मा की प्राप्ति कराते । फिर संसार के पदार्थों की प्राप्ति के लिये ज्योतिष्टोम याग इत्यादि वेद ने क्यों बताये ? वेद में कहा है यदि गाय भैंस कम हो जायें तो दधि से हवन करे । यह भी बतलाया है कि बुद्धिमान पुत्र कैसे हो ? ये सब कामना पूर्ति के उपाय वेद ने क्यों बताये ?

प्राचीन काल में इनका भी उपयोग भगवत् प्राप्ति के लिये ही माना गया था । सुरेश्वराचार्यों ने कहा है कि कामसन्दूपिताशया: ते तत्परं अद्वैत द्रष्टुं न शक्नुवन्ति । कामना के कारण वे परम अद्वैत को नहीं देख पाते । वेदों ने कामना पूर्ति के उपाय इस लिये बताये हैं कि कामना तृप्त होकर उनसे मन हट जायेगा फिर वे अद्वैत तत्व देखने में समर्थ होंगे । ये एक देशी वेदान्ती थे । आज भी लोग कहते हैं कि भूखे को क्या वेदान्त सिखाते हो, पहले उसे लत्ता कपड़ा, खाना पीना देओ फिर देखेंगे परमात्म तत्व को । पर वास्तव में बात है बिल्कुल इसके विपरीत । साधक के लिये पदार्थों का हमेशा अवरोधकत्व सिद्ध है । जनकादि का अपवाद है । जनकादि के दृष्टान्त में भी यह कठिनाई उठती है कि जनक सिद्ध था या साधक ? यदि वह सिद्ध था तो उसे प्रवृत्ति निवृत्ति का अभाव था अतः प्रारब्ध से कर्म करता था । यदि साधक था तो चित्तशुद्धि के लिये साधनावस्था में कर्म

करता था। जब चित्त शुद्धि के बाद परम निवृत्ति का काल आया तब भी यदि वह कर्म में प्रवृत्त हो गया तो फिर चित्त गंदा हो जायेगा।

कानपुर में या अहमदाबाद में यदि आप सफेद कपड़ा ओढ़ कर रात को सो जाइये तो सवेरे तक वह मिलों के धुंए से स्वयं काला होजाता है। इसी प्रकार जब तक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, चित्त शुद्धि से लेकर ज्ञानोत्पत्ति पर्यन्त, तब तक सर्व कर्म परित्याग आवश्यक है। अन्यथा ज्ञान तो अभी उत्पन्न हुआ नहीं, चित्त पुनः अशुद्ध हो गया। वेद में सब प्रकार के कर्म बतलाये हैं यहां तक कि दूसरों को मारने का भी उपाय बतलाया है। श्येन याग से शत्रु मरता है। पर यदि श्येन याग करोगे तो स्वयं भी नरक में जाओगे। यदि नरक में जाना इष्ट है तो श्येन याग करो।

कामना की समाप्ति पर चित्त परमात्मा को देखेगा, यह एक देशी सिद्धान्त गलत है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि 'तत् सेवातोऽतिवृद्धिः स्यात्' काम प्राप्ति से तृप्ति नहीं होती बल्कि कामना की अति वृद्धि होती जाती है। यदि कामनाओं की कभी तृप्ति होगी नहीं तो वेद ने इतने कर्म और कामनाओं की पूर्ति के इतने उपाय क्यों बताये? निवृत्तिर्दोषदर्शनात्। उनको प्राप्त करने की चेष्टा कर के बार बार दुःखी होगा। तब उनमें दोष देखता है। यदि बच्चे की आग से निवृत्ति करानी है तो उसके हाथ को जबर्दस्ती पकड़ कर अंगुली को आग तक लेजाना पड़ता है। इसी प्रकार श्रुति कहती है कि संसार के सभी पदार्थ दुःख देने वाले हैं। फिर धन आदि कमाने के शास्त्रीय उपाय क्यों बताये? इन उपायों को बताने की जरूरत है। यदि लौकिक उपायों से धन आदि को प्राप्त करोगे तो रजोगुण और तमोगुण उत्पन्न होगा। शास्त्रीय उपायों से सत्वगुण बढ़ेगा। शास्त्रीय उपाय सत्वगुण के आधिक्य से वैराग्य उत्पन्न करते हैं। प्राचीन काल में लोग शास्त्रीय उपायों से भोग करके उनसे तृप्त हो जाते थे। आज लोग अठावन साल के होकर भी सरकारी नौकरियों से अवकाश प्राप्त

करना नहीं चाहते । कामनाओं को पूर्ण करने से कामनाओं की तृप्ति नहीं । पर यदि वेदानुवचन से कामना की पूर्ति के लिये यज्ञ करोगे तो अन्त में यज्ञ दानादि का विनियोग परमात्म तत्त्व की प्राप्ति के लिये भी हो सकेगा ।

परमात्म तत्व की प्राप्ति के लिये सब कामनाओं का त्याग कर 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इसी जीवन में ब्रह्मानन्द मिलता है । अकाम श्रोत्रिय को सब आनन्द कामना के द्वारा प्राप्त होने वाले आनन्द से अधिक प्रचुरता से प्राप्त हैं । विषय प्राप्ति से तो आप अपने रजोगुण और तमोगुण को बढ़ायेंगे । शास्त्रीय उपायों से रजोगुण और तमोगुण कम होता चला जायगा । सत्त्व में स्थित हो कर जीव शुद्ध आनन्द का भागी होगा ।

* * * *

श्रुति जब उसे आत्म स्वरूप से अनुभव करने योग्य बताती है तो उसका तात्पर्य यह है कि आत्मा को शिव स्वरूप से जानना । आत्मा विज्ञेय है । प्रपञ्चोपशमं शान्तं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः । यह इसलिये कहा कि सामान्य रूप से लोग अपने को चेतन रूप से जानते हैं । पर सामान्य रूप से ज्ञेय चेतन सत्ता के ज्ञान का कोई फल नहीं । अतः प्रपञ्चोपशमन करने का विधान शिवस्वरूप को जानकर होता है । उसका यह स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म और गूढ़ है । ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्व पापैः उस स्वरूप को जानकर सब पापों से मुक्ति मिल जाती है । उस शिव को किस रूप से जाना जाय ? ज्ञात्वा शिवं सर्व भूतेषु गूढ़म् वे शिव रूप से सभी भूतों में छिपे हुए हैं । तो उन्हें प्राप्त करने की कौन सी क्रिया है । संसार में जो भी पदार्थ क्रिया के द्वारा प्राप्त होता है वह नित्य नहीं हो सकता । क्रिया के द्वारा प्राप्त पदार्थ नित्य नहीं होता इसीलिये श्रुति कहती है 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्ति अकृतः कृतेन' । वह कर्म से प्राप्त नहीं हो सकता । इस लोक में कर्म से जो भी प्राप्त होगा । वह अनित्य होता है ।

अतः उपासना या सन्निधि की जाय। क्यों कि वह स्वरूप से नित्य है। वह कभी उत्पन्न नहीं हुआ। उस अकृत या नित्य पदार्थ की सन्निधि कैसे हो ? प्रायः संसार में जितने मत मतान्तर हैं वे समझते हैं कि परमेश्वर की सन्निधि किसी लोकान्तर में होगी। पर यदि गोलोक, साकेत, स्वर्ग इत्यादि में भी अगर कृतकता मानोगे, यह समझोगे कि यहां से चल कर वहां पहुंचेंगे तो वह नित्य नहीं होगा। ईश्वर तो पास बैठा है। सामवेद में कहा है कि वह दूर नहीं है। 'यदिदं अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं' यह शरीर ही ब्रह्मपुर है। इस शरीर में ही एक दहराकाश है। यह ब्रह्मपुर कहीं अन्यत्र नहीं यह तुम्हारा शरीर ही ब्रह्मपुर है। इसी में एक कमल के आकार का मकान है। दहरं पुण्डरीकं वेश्म। वेश्म का अर्थ है मकान। दहरः अस्मिन् अन्तराकाश। समग्र पुण्डरीक में नहीं, बल्कि उस पुण्डरीक के अन्दर जो 'तस्मिन् यत् अन्तः' आकाश है उसमें ही परमात्मा है, वही अन्वेष्टव्य है।

कहीं उसको ढूंढनें जाने की आवश्यकता नहीं। शरीर के अन्दर रहते हुए भी वह शरीर के विकारों से अस्पृष्ट रहता है। कृष्ण यजुर्वेद कहता है कि यह पुण्डरीक 'विपापं' है। वह अन्दर रहते हुए भी समग्र पापों से रहित है। जब 'वेश्म' पुर के अन्दर जो मकान है वही पाप रहित है तो मकान के अन्दर कमरे में शोक भी नहीं है। उसके अन्दर जो विशोक तत्व है वही उपासनीय है। कर्म से प्राप्त वह होने वाला नहीं है। इसी कारण कि वह नित्य है, उसमें अनित्यता नहीं है। अब प्रश्न उठ सकता है कि सर्व व्यापक नित्य तत्व इतनी छोटी जगह में आकर कैसे ठहरेगा ? श्रुति कहती है कि वह दीखने को ही छोटा है, पर है बहुत बड़ा। जैसे दूर से देखने पर तारे बहुत छोटे-छोटे दीखते हैं पर वे हैं बहुत बड़े बड़े, ऐसे ही समग्र तारों से युक्त यह आकाश जितना बड़ा है, उतना ही बड़ा यह अन्तर्हृदय भी है। तो क्या यह अन्तर्हृदय खाली पोल ही पोल है ? नहीं। जैसे द्यावा पृथिवी इत्यादि बाहर दीखते हैं वही इसके अन्दर भी हैं। सूर्य,

चन्द्रमा, विद्युत्, नक्षत्र आदि सब कुछ इस दहराकाश में है। पूछा जा सकता है कि यदि दहराकाश में यही सब कुछ है तो बाहर का आकाश इतनी सरलता से दीख रहा है, फिर उस दहराकाश को देखने का इतना प्रयत्न क्यों करें ? जो कुछ बाहर है वह तो वहां है ही, और जो कुछ बाहर नहीं है वह भी वहां हैं। परमात्मा का सारा स्वरूप वहां अनुभव किया जा सकता है। पाप रहित और शोक रहित होने के अलावा वहां पर जो कुछ बाहर नहीं है वह भी है। वहां पर पहुंच कर वह सत्य संकल्प होता है। यदि पितृलोक की कामना करता है तो वह उसके सामने आता है। वहां कामना करने मात्र से पदार्थ आता है, प्रयत्नान्तर सापेक्ष्य नहीं है। उस अन्तराकाश की ऐसी महत्ता है। फिर उसके अन्दर कैसे प्रविष्ट हों ? हार्दाकाश में प्रविष्ट होने पर ही परमात्मा की प्राप्ति सम्भव है अन्यत्र नहीं। उस शिव रूप के कारण ही वह विरज, विपाप, विशोक और सत्यकाम होता है। शिव रूप न पाने पर जीव रूपता बनी ही रहती है।

बाह्याकाश का परित्याग करके आभ्यन्तराकाश में कैसे प्रविष्ट हुआ जा सकता है ? श्रुति कहती है ब्रह्मचर्य से। ब्रह्मचर्य का अर्थ श्रुति विस्तार से करती है। यज्ञ, इष्ट, सत्रायण, मौन, अनाशकायन, अरण्यायन ये सब ब्रह्मचर्य के अंग हैं। यज्ञ का अर्थ है परमेश्वर प्रीत्यर्थ कर्म। यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः जो कुछ भी करो परमेश्वर के प्रीत्यर्थ करो यही यज्ञ है। इष्ट का अर्थ है कि परमेश्वर को ही अधिक प्रिय समझना। उसी को जीवन का उद्देश्य समझना इष्ट हुआ। सत्रायण का अर्थ होता है सत् के सहारे त्राण का प्रयत्न। अतः सत्संग, सद्ग्रन्थों का पाठ, असत् विचारों का परित्याग ब्रह्मचर्य के लिये बहुत आवश्यक है। क्योंकि जो व्यक्ति जैसे पुरुषों का साथ करेगा वैसा ही उस पर असर पड़ेगा। अतः ब्रह्मचर्य के लिये सत्रायण करते समय सांसारिक सम्बन्ध को करने वाले के साथ तक का परित्याग करना आवश्यक है। आजकल लोग

समझते हैं कि सबसे मिलने में क्या हर्ज है। इसीलिये अधिक शास्त्रों को सुनने पर भी वह असर नहीं करता। असत्संग से वह सत्संग के प्रभाव को धो देते हैं। अतः असत् विचारों का त्याग करना अत्यावश्यक है। काम के स्वरूप को जब वशिष्ठ ने राम को समझाया था तो कहा था 'मनसा एव कृतं राम' कि हे राम! मन से ही काम काम है। मौन का अर्थ है वाणी का निरोध। यदि बातचीत आवश्यक है तो केवल भगवत् चर्चा ही करो। अन्यथा वाणी का प्रयोग मत करो। अनाशकायन होता है भोगों के त्याग से। शरीर के अन्दर अन्य भोगों की कामना से मन पर प्रभाव पड़ता है। अप्राप्त चीजों का तो भोग सम्भव ही नहीं है, प्राप्त हो गई तो भी चीज का भोग न करना अनाशकायन है। शरीर को तनिक भी दुःख न देना अनाशकायन नहीं है। कष्ट सहने की आदत डालनी चाहिये। अरण्यायन का अर्थ है एकान्तवास। साधक के जीवन में यह अवस्था सदा ही आती है जब किसी भी अन्य साथ को छोड़कर वह चाहता है 'एकान्ते सुखमास्यतां'। अतः अरण्यवास ब्रह्मचर्य का ही अंग है। ये छै साधन श्रुति ने ब्रह्मलोक को प्राप्त करने के बतलाये हैं। तीनों गुणों पर इनका क्या प्रभाव पड़ता है?

यज्ञ और इष्ट तमोगुण को दबाने के लिये हैं। धर्म का अर्थ आलस्य और प्रमाद नहीं है। परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग में साधक या तो आगे बढ़ता है या पीछे हटता है। यथा जल में नाव। अतः आगे बढ़ने का प्रयत्न प्रतिक्षण आवश्यक है। यह युद्ध आमरण है। निरन्तर परमेश्वर प्रीत्यर्थं यज्ञ और इष्ट करे। रजोगुण को रोकने के लिये सत्रायण और मौन हैं। केवल सद्ग्रन्थ ही पढ़ें। सद्विचार करता रहे। बहिराचरण को रोकने के लिये मौन है। सत्वगुण को रोकने के लिये अनाशकायन और अरण्यायन कहा। जब ये तीनों गुण समता को पहुंच जाते हैं तभी ये साधक को ब्रह्मत्व की प्राप्ति करने की फुर्सत देते हैं।

एक गुफा के अन्दर एक के लेटने लायक जगह थी, पर वहां दो पहुंच गये । तो दोनों बैठ गये और दोनों में शिव चर्चा होने लगी । इतने में एक तीसरा आया तो वहां केवल दो के बैठने की जगह थी अतः तीनों खड़े हो गये । वहां सात दिन तक वे तीनों परमात्मा के ध्यान में खड़े रहे । तब वहां एक दिव्य ज्योति प्रकट हुई । उसने पूछा तुम लोगों को पता है कि तुम यहां कितने दिन से खड़े हो ? वे बोले अभी दिन हुआ कहां ? यदि आप सदाशिव की ज्योति हैं तो हमारी इच्छा है कि हम नित्य निरन्तर आप ही में लगे रहें । यह है पहले हृदय रूपी गुफा में पहले मोहान्धकार नामक तमोगुण का अकेले लेटा रहना । रजोगुण ने ज्यों ही दरवाजा खटखटाया तो दोनों बैठे रहे । सत्वगुण के आते ही तीनों खड़े हो गये । सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण अब पूरी सावधानी से आमरण खड़े रह कर जीव को परमात्म तत्व की खोज में लगा देते हैं । तभी जीव की सदाशिव दर्शन की कामना पूर्ण होती है ।

* * *

संसार का मिथ्यात्व न समझकर जो केवल भोग में ही लगे रहते हैं वे तो केवल सुखाभास ही पाते हैं । पर जो केवल भोग के द्वारा वैराग्य प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें न इस लोक की प्राप्ति है न उस लोक की । ऐसा मध्य में रहने वाला पुरुष हमेशा दुःख उठाता है । पहले भोग करलो फिर वैराग्य होता है, ऐसा नियम नहीं है । यह तो केवल विचार का विषय है कि इस संसार में कदलीस्तम्भवत् कोई सार नहीं है । यदि निस्सारता का दर्शन कर लिया तो फिर सार पदार्थ को प्राप्त करने की इच्छा होती है । संसार को निस्सार देखना ही बहिर्मुख प्रवृत्तियों का त्याग है । संसार का सार तो हृदय कमल में है । सदा वसन्तं हृदयारविन्दे । जो इस सार को देखना चाहते हैं वे कुमारावस्था में ही प्रव्रज्या ले लेते हैं । पर वैराग्य और सामान्य वैराग्य में परवैराग्य उत्तम है । यथा किसी व्यक्ति के हाथ में अत्यन्त गरम लोहे का गोला रख दो, फिर

उसे चाहे जितना उपदेश दो कि इसे पकड़े रखो, दो चार मिनट तो कम से कम थाम लो। वह कुछ नहीं सुनेगा। उसका हाथ गोले को फौरन गिरा देगा। इसी प्रकार परवैराग्य उदय होने पर एक मिनट भी संसार असह्य हो जाता है। साक्षात् मनु की आज्ञा थी कि ऋण-त्रय को चुकाकर फिर मन को मोक्ष में लगाना चाहिये। परन्तु मनु की इस आज्ञा को भी परवैराग्यमाश्रिताः लोग नहीं मानते। पातञ्जल योग सूत्रों में बतलाया है कि जब विवेक उत्पन्न हो जाता है तो बहिर्मुखी प्रवृत्ति रुक ही जाती है।

पुराणों में नहुष की कथा प्रसिद्ध है। उसे इन्द्र पद मिला था। उसमें कितनी धर्मशीलता रही होगी? अमरण धर्मा देवताओं ने मरण धर्मा नहुष को इन्द्र बनाना मंजूर किया। उसने १०० बार अश्वमेध यज्ञ नहीं किया था। अतः ऋषियों ने अपनी तपस्या का दान देकर उस कमी को पूरा किया। लेकिन यह सारी योग्यता होने पर भी उसने श्रेय का वरण नहीं किया था। यदि धर्म द्वारा प्रवृत्ति को दबा कर रखोगे तो समय आने पर वह उछलती अवश्य है। अतः नहुष ने भी साक्षात् शची के प्रति कुदृष्टि की। वह कहने लगा कि तू इन्द्र की पत्नी है और मैं इन्द्र हूं। ऐसा कौन कह रहा है? साक्षात् धर्म को मानने वाला नहुप आज पर स्त्री पर कुदृष्टि डाल रहा है। शची ने बृहस्पति को बुलाया और पूछा कि कैसे पतित पुरुष को तुम लोगों ने इन्द्र बना दिया है? बृहस्पति ने कहा परमेश्वर जिसका पतन करना चाहता है उसे पहले अधर्म बुद्धि देता है। बृहस्पति ने कहा कि नहुष के पास खबर भिजवा देना कि इन्द्र जब आते थे तो सप्तर्षियों की पालकी बना कर आते थे अतः आप भी वैसा ही करें। नहुष ने सप्तर्षियों की पालकी बनायी और कहने लगा जल्दी चलो, जल्दी चलो। ऋषि तो सब एक कद के थे नहीं। पालकी ढोने का उनका अभ्यास भी नहीं था। पालकी कभी दांये झुकी कभी बांये। इसी हड़बड़ी में नहुष ने अगस्त्य ऋषि को लात मार दी। अतः श्राप मिला 'सर्प, सर्प' (जल्दी, जल्दी) कहता है तो जा सर्प बन जा।

यह कथा बताती है कि अत्यन्त धर्मशील नहुष जब बहिर्मुखी हुआ तो उसका पतन हो गया ।

अतः श्रेय मार्ग को चुनने वाला व्यक्ति यदि सांसारिक पदार्थों की तरफ तनिक भी दृष्टि रखता है तो उसका पतन अवश्यम्भावी है । जब तक बहिराकाश से साधक अन्तराकाश में प्रवेश न करे तब तक ज्ञान सम्भव नहीं है । बाह्याकाश को छोड़ने के लिये बाह्य प्रपञ्च को छोड़ना पड़ता है । बाहर दीखने वाला संसार प्रपञ्चविशिष्ट शिव का स्वरूप है । प्रपञ्चोपशमन के लिये साधना काल में उसे छोड़ना पड़ता है ।

*　　　*　　　*

विषयेन्द्रिय संयोग क्रम कैसे हो ? व्यवहार की न्यूनता द्वारा । चित्तरूपी बैटरी को संसार रूपी मोटर में जितना ही चलाते रहोगे उतनी ही वासना रूपी चार्ज बढ़ती रहेगी । क्षुत्पिपासा रोककर जो साधना की जाती है वह तो अन्तिम साधना है । सारी इन्द्रियों को प्रशान्त करने वाले लोग क्या खाते पीते हैं ? प्रशमितकरणैः क्षुत्पिपासानिवृत्तैः जिन्होंने भूख प्यास भी निवृत्त करली यह अन्तिम तरह की साधना है । जब पेट हजम करने का काम करता है तो चित्त की कार्य करने की क्षमता कम हो जाती है । भोजन को ठीक वैसे ही सेवन करना चाहिये जैसे औषधि का सेवन किया जाता है । 'औषधवद् अशनमाचरेत्' भोजन का स्वाद नहीं देखना चाहिये । औषधि समझ कर इससे क्षुधा नाम की व्याधि का इलाज करो । फिर क्षुधा और प्यास को निवृत्त करके चित्त में ब्रह्म की प्राप्ति 'सानन्दं ध्यानयोगात्' होती है । यदि कहो कि सभी तो ऐसा नहीं कर सकते तो साधारण व्यक्ति के लिये यह नियम है कि वह व्यवहार न्यून करे । जितना व्यवहार अत्यन्तावश्यक है उतना ही करे । चित्त का निरोध करने के लिये वासना का क्षीण होना परमावश्यक है । जब तक व्यवहार में न्यूनता न होगी तब तक चित्त का निरोध

नहीं होगा। अतः प्रथम प्रयत्न है प्रयत्न पूर्वक व्यवहार की न्यूनता। उसी से समग्र प्रपञ्च का उपशम होगा क्यों कि चित्त ही प्रपञ्च है।

कर्म से मुक्ति क्यों सम्भव नहीं? क्यों कि कर्म फलप्रद होते हैं। वर्तमान कर्मों से भविष्य शरीर का निर्माण होता है। पूर्व कर्मों से वर्तमान शरीर मिला। यह कर्म का चक्र अनन्त है। इसीलिये श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि क्रियाविशेषबहुल लोग कामात्मा होते हैं। शरीर में आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा से है और इन्द्रियों का संसार के विषयों से। चूंकि कर्म शरीर की इन्द्रियों से होते हैं इस लिये उनका फल भी विषयासक्ति है। चाहे वह इस जन्म की विषयासक्ति हो चाहे भविष्य जन्मों में मिलने वाली।

जब अन्तःकरण सब विषयों को विषवत् समझने लगता है तब समझना चाहिये कि वह शुद्ध हो गया है। भगवान् भाष्यकार विषयों को विषम विष मार्ग कहते हैं। लोग समझते हैं कि मृत्यु एक बार होती है। परन्तु ऐसा नहीं वरन् मृत्यु तो क्षण क्षण में होती रहती है। जैसे पहना हुआ कपड़ा उसी क्षण से फटने लगता है जिस क्षण उसे पहनना शुरू कर दिया। इस विषम विषय मार्ग को ही मृत्युरेव कहा है। विषय मार्ग तो मृत्यु ही है। गधा सारे बोझ से दबता है, अन्तिम बोझ से नहीं। इसी प्रकार विचार करके देखो तो शरीर जब ठंडा हुआ तब नहीं मरता। वह तो जिस क्षण विषयों की ओर अग्रसर हुआ उस क्षण ही उसे मृत्यु प्राप्त होगई। विषयों का सम्बन्ध जैसे जैसे अन्तःकरण से होता है तैसे तैसे उनका जहर अन्तःकरण में प्रविष्ट होता रहता है। नचिकेता ने मृत्यु से कहा था कि भोग तो 'सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः' सारी इन्द्रियों के तेज का अपहरण करने वाला है। विषयों को पाकर मैं क्या करूंगा?

जब कोई ठग आपको जहर भरा लड्डू देता है तो आपको विष का पता कैसे लगा? किसी विश्वसनीय पुरुष ने पहले कहा कि इसे मत खाना इसमें जहर है। इस बात को सुनते ही ठग भाग गया। तब आपको पता चला कि दाल में कुछ काला जरूर था। फिर भी परीक्षा के लिये

आपने उस लड्डू को किसी जानवर को खिलाया, वह यदि मर गया तो आपको निश्चय हो गया । इसी प्रकार संसार में विषय रूपी विष का परिचय आप्त पुरुषों के वचन कराते हैं। फिर चारों तरफ आप देखो तो पता चलेगा कि विषयों को भोगने वाले अमृतत्त्व को प्राप्त नहीं करते । स्वयं अपने आप को देखो तो पता चलेगा कि जब जब विषयों की प्राप्ति हुई कष्ट ही कष्ट मिला । सृष्टि के आदि से आज तक हम सब लोग विषयों में लगे हैं फिर भी जन्म मरण का चक्कर छूटा नहीं। इन विषयों के कारण जीव पारमार्थिक मार्ग से हट जाता है । लोक में भी व्यसनी पुरुष अच्छे काम से गिर जाता है । विषयों के कारण जीवात्मा मृत्यु की पकड़ में आता है । कर्म फल उसे बांध रहा है । यश, पत्नी, लोक प्रख्याति आदि दुर्लभ फल जीव को इस बन्धन से मिलते हैं । पर दहराकाश में प्रवेश तभी सम्भव है जब विषयों से अपने को हटाता है विषयों से हटने की प्रवृत्ति ही अन्तःकरण की शुद्धि है ।

* * * *

लोक वासना आजकल बहुत दृढ़ हो गई है। लोक दृष्टि से हानि होती है क्योंकि लोक अधिकांश अशास्त्रीय दृष्टि रखते हैं । आज कल लोग माता पिता के चरण छूने में सम्मान की हानि समझते हैं। मन्दिर में जाने में शरम का अनुभव करते हैं। प्रातःकाल उठकर गीता पढ़ने में शरम खाते हैं । प्रातःकाल स्नानादि करके तुलसी चरणामृत लेना शरम का कार्य है।पर बाइस्कोप जाने में शरम नहीं है । विदेशी रानी का दर्शन करने जाते हैं तो उसके लिये डंडे भी शौक से खाते हैं । आज कल स्वाभाविकी दृष्टि लोक रञ्जन की है। यद्यपि लोगों द्वारा प्रशंसा थोड़ी देर के लिये मीठी लगती है पर उसमें मिठास नहीं है । दस आदमियों ने प्रशंसा की, यदि एक ने भी निन्दा करदी तो निन्दा शूल की तरह चुभने लगती है कि इसने मेरी निन्दा क्यों की ? स्वरूप से प्रशंसा कोई लाभ पहुंचाती नहीं अतः लोक रञ्जन किया जाता है प्रशंसा के लिये । पर यह असम्भव है कि आप की कोई भी

निन्दा न करे। संसार में जितने भी पुरुष हैं सब की दृष्टि अलग अलग है। और कुछ की दृष्टि एक दूसरे से विरुद्ध है। यथा ब्राह्मण अग्निहोत्री किसी दूसरे के हाथ का न खाने को अच्छा मानता है और हरिजन नेता जात पांत तोड़ना अच्छा समझता है। भगवान् के भी निन्दक सदा से विद्यमान हैं। रजक ने भगवान् पर दोष लगाया था कि रावण के घर में रहने के बाद सीता को लेकर वे क्यों रहते हैं? कृष्ण को शिशुपाल ने सौ गालियां दी थीं। अतः जब परमात्मा ही सब को प्रसन्न न कर पाया तो साधारण पुरुष कैसे सब को प्रसन्न कर सकता है?

प्रशंसा में एक नशा होता है। उसकी मांग बढ़ती ही जाती है व पेट नहीं भरता। कोई तुम्हारी प्रशंसा खूब करे, पर किसी दूसरे की अधिक प्रशंसा कर दे तो भी बुरा लगता है। आपने जो अपनी प्रशंसा सुनी वह यहीं समाप्त हो जाती है। लोक प्रशंसा मरने के बाद साथ नहीं चलेगी। यम के दरवाजे पर वोट भी नहीं चलेगी। वहां सुख दुःख की प्राप्ति केवल अपने धर्म के बल पर होगी। यदि तुमने धर्म विरुद्ध कर्म किया तो अपने हृदय का पाप फल देगा। शास्त्रों में पापों के करने से पापों को छिपाना अधिक बड़ा पाप माना गया है। मनुष्य लोक वासना के कारण अपना पाप स्वीकार करने से डरता है। उसे छिपाने के लिये झूठ भी बोलता है। खुद तो खून किया और किसी दूसरे को फांसी पर चढ़ते हुए देखता है, फिर भी नहीं कहता कि खून मैंने किया। खून को करने के बाद उसे छिपाने से दूसरी हत्या भी उसके सिर चढ़ी।

मनुष्य की लोक वासना धीरे धीरे बढ़ती ही चली जायगी। बच्चे को कभी फिकर नहीं होती कि लोग क्या कहेंगे। पर मनुष्य जितना अधिक लोक दृष्टि करेगा उतनी परमात्मा की तरफ से दृष्टि हटती चली जायेगी और अन्त में उसका एक मात्र ध्येय लोक रञ्जन ही रह जायेगा। अतः विचारशील पुरुष इरादतन कभी कभी ऐसे काम करते हैं जिससे उनकी लोक निन्दा हो। लोक निन्दा से पहला लाभ यह होता

है कि लोक की ओर दृष्टि नहीं रहती। यदि इस चिन्ता को छोड़ दो कि कोई क्या कहेगा तो शुद्ध शास्त्रीय कार्य करोगे। निन्दा या तो सच्ची होती है, या गलत। अगर निन्दा सच्ची है तो वह उसके निराकरण का उपाय करने के लिये भी प्रवृत्त होगा। पर यदि सभी उसके प्रशंसक हैं तो आदमी एक निन्दक को देख कर यह समझता है कि यह मेरा द्वेषी है। पर जो लोक निन्दा को सुन कर चुप रहता है उनके धैर्य की परीक्षा होती है। यदि इतनी निन्दा तक चुप रहा और फिर बोल पड़ा तो धैर्य की माप हो गई। निन्दा करने वाला परोपकारी होता है क्यों कि वह दोषों का एक अंश स्वयं ले लेता है। अगर अधिक निन्दक होंगे तो वे थोड़े थोड़े दोष स्वयं ले लेंगे और अपने पास कुछ बचेगा ही नहीं। साधक के लिये निन्दक और भी अच्छा है। निन्दा द्वारा उसे साधना का समय मिलता है। आज कल लोग करना कुछ और चाहते हैं पर करते कुछ और हैं। आज तपस्या का समय तो चार साल भी नहीं मिलता पर सामर्थ्य व्यास और वशिष्ठ की चाहते हैं। यदि साधक की निन्दा हो गई तो लोग उसे खुद ही त्याग देते हैं। तब उसे साधना का बहुत समय मिलता है।

साधक के लिये किस प्रकार लोक निन्दा अच्छी होती है यह कबीर के जीवन में देखने को मिलता हैं। कबीरदास ने अपने जीवन में बड़ा विरोध देखा। मुसलमान और हिन्दू दोनों उनके विरोधी थे। फिर भी उनकी वाणी में शक्ति थी और जीवन में पवित्रता थी। लोगों ने सोचा कि इन पर लाञ्च्छन लगाओ तो कबीर का सम्मान घटेगा। तो काजी लोगों ने एक गणिका को तैयार किया कि वह बींच बाज़ार में कहे कि कबीर का उससे सम्बन्ध रहा। कबीर जुलाहे थे और कपड़ा बेच रहे थे तो वह आई और बोली कि तूने मुझे छोड़ दिया। कबीर बोले कि ऐसी बात है तो तू चल और मेरे साथ घर में रह। गणिका ने सोचा यह कैसा पुरुष है, मैंने तो दोष लगाया और यह स्वीकार करता है। वह रहने लगी। गांव में बड़ी बदनामी होगई।

सब शिष्य लोग भाग गये। महीने भर रह कर गणिका बोली कि मैंने बड़ा पाप किया। अब प्रायश्चित्त बताओ। कबीर बोले माता तूने मेरा उपकार किया। प्रायश्चित्त पूछती है तो वह यही है कि यहीं रह। अब मुझे भजन करने को बड़ा समय मिल रहा है। पर अब वह स्वयं कहने लगी कि अमुक अमुक लोगों के बहकाने पर मैंने यह काम किया।

लोक रञ्जन असम्भव है। घर तक में तुम सबका रञ्जन नहीं कर सकते। फिर लोकरञ्जन करते करते दृष्टि लौकिक होकर परमात्मा से हट जाती है। जब प्रवृत्ति शास्त्रानुकूल आज्ञा में हो तभी परमात्मा की ओर दृष्टि करना सम्भव है।

* * * *

जीव अपने कर्म के फल को कब और किस प्रकार भोग सकता है? जागृत और स्वप्न दोनों के कर्म फल को जीव जागृत और स्वप्न में ही भोगता है। जागृत और स्वप्न दोनों में कर्मफल भोगते समय अहं की उत्पत्ति होती रहती है। यह अहं ही कर्म फल का भोग करने वाला है, मन और बुद्धि नहीं। मन और बुद्धि के द्वारा अहं ही भोग करता है। मैं हूं, अहमस्मि, यह वृत्ति ही संसार का भान कराती है। इसी लिये सुषुप्ति में अहं की निवृत्ति होने के कारण उस समय अहं आत्मा में लय हो जाता है।

बौद्ध लोग तो जागृत और स्वप्न को एक ही मानते हैं। वेदान्त में जागृत स्वप्न की तरह है पर हैं दोनों भिन्न भिन्न। स्वप्नवत् यदि जागृत न होता तो भेद की कल्पना नहीं बनती। भेद की कल्पना तभी बनती है जब थोड़ा फरक रहे। अन्यथा दो भिन्न कल्पनाओं की आवश्यकता ही नहीं थी। कुछ अंशों में दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में समानता होने पर भी भेद अपेक्षित होता है। जब जागृत को स्वप्नवत् कहते हैं तो अधिष्ठान में भेद है। जागृत् का अधिष्ठान है चेतन और स्वप्न का अधिष्ठान है विशिष्ट चेतन।

जिसके ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति हो जाय उसे अधिष्ठान कहते हैं। अतः रस्सी को सांप का अधिष्ठान कहते हैं। स्वप्न भ्रम की निवृत्ति अहंकार विशिष्ट चेतन के ज्ञान मात्र से हो जाती है। जागते ही स्वप्न की निवृत्ति हो गई। क्यों कि अहंकार विशिष्ट चैतन्य का ज्ञान मात्र यह कह देता है कि स्वप्न असत्य था। अहंकार विशिष्ट आत्मा का ज्ञान हुआ तो स्वप्न भ्रम की निवृत्ति हो गई। विशिष्ट आत्म ज्ञान जागृत की निवृत्ति का कारण नहीं। जब शुद्ध आत्मज्ञान होता है तभी जागृत कालीन भ्रम की निवृत्ति होती है। जागृत् के प्रति शुद्ध चेतन अधिष्ठान है। अहंकार विशिष्ट आत्मा का ज्ञान स्वप्न की निवृत्ति करता है। शुद्ध चेतन का ज्ञान अहंकार को निवृत्त करता है।

पुनः पुनः देह प्राणादि से सम्बन्ध अहंकार कराता है। अहं के नाश के लिये समस्त साधनों की अपेक्षा है। अहं के अन्दर स्नेह कैसे छूटे ? संसार की सब चीजों को आप छोड़ सकते हैं पर अहं को नहीं। यदि इसके बन्धन का कारण समझ लोगे तभी इसका परित्याग करने की इच्छा होगी। इसके स्नेह को हटाने के लिये उपासना की जाती है क्यों कि उपासना से अहं वृत्ति क्षीण हो जाती है। उपासना का मूल है उपास्य तत्व में एकाग्रता करके अहं का त्याग। शिव का ध्यान करके शिव को प्राप्त किया जाता है। सदा उसी के भाव से भावित रहने के कारण वह शिव बन जाता है। उपासना से जब अहंभाव की निवृत्ति हो जाती है तो वह उपासना उपासना नहीं रह जाती बल्कि वह ज्ञान बन जाता है। उप आसना तभी तक है जब तक उपास्य तत्व के नजदीक पहुंचने के लिये कुछ दूरी बाक़ी बची है। जब उपास्य के साथ एक रूपता हुई तो ज्ञान बन गया। इस कारण अनन्त की उपासना निरन्तर चलती रहनी चाहिये। उस ब्रह्म का ही सर्वदा चिन्तन करो। ये जो असद् विकल्प या संसार के पदार्थ हैं इनसे क्या प्रयोजन ? मूर्ख लोग मान लेते हैं कि ये संसार की वस्तुएं हमें कुछ देंगी। पर ये वास्तव में कुछ

देने वाली नहीं । बन्दर कहीं अंगार की गर्मी का अनुभव कर लेते हैं तो बाद में अंगारक नामक लाल फूल को इकट्ठा कर के तापने लगते हैं । समझते हैं कि फूलों से गर्मी आ रही है । विषयों का सुख विषयों में नहीं । आनन्द तो चेतन निष्ठ होता है । विषय तो जड़ हैं उनमें आनन्द की सम्भावना नहीं । अपने अन्दर के आनन्द को चख कर समझता है कि आनन्द विषयों में आ रहा है। निरन्तर चिन्तन का विषय वह चैतन्य है जो आनन्द का स्वरूप है । पहले जो आनन्द विषयों में था, उपास्य तत्त्व के पास जाकर पता चला कि वह अपने में ही था । सुषुप्ति का सब सुख अपने अन्दर ही था । विषय के अभाव में भी सुषुप्ति का आनन्द स्वयं प्राप्त है । देह प्राणादि के द्वारा बांधकर अहंकार उस सुख का प्रतिबन्धक है । जीव ने अहंकार को सिर पर चढ़ा रखा है। समझ रखा है कि अहंकार के बगैर काम चलेगा ही नहीं । सारा अधिकार अहं ने ले लिया है । अन्त में अहंकार ने पाप के साथ षड्यन्त्र रच रखा है कि पापों की चढ़ाई से आत्मा ही नष्ट हो जाय । श्रुति उस अहंकार को नष्ट करने की राय देती है । उपासना द्वारा इस अहं तत्त्व को नष्ट करके उपास्य के पास पहुंच कर आत्म तत्त्व को विज्ञेय मान कर उसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है ।

* * * *

ब्रह्म ज्ञान को जो अल्प समय में ही प्राप्त कर लेना चाहता है उसकी हालत उस आदमी की सी है जो घोड़े का अण्डा खरीदने निकलता है । गुरवः बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः, गुरवः विरलाः सन्ति शिष्यचित्तापहारकाः । शिष्यों के धन का अपहरण करने वाले गुरु बहुतेरे होते हैं । पर शिष्यों के चित्त के ताप का अपहरण करने वाले गुरु बहुत कम होते हैं । गुरु ने कह दिया तुम ब्रह्मज्ञानी हो गये । पर शिष्य जब अपनी ओर देखता है तो अनुभव करता है कि उसकी हालत वही रही जो पहले थी । गीता ने स्पष्ट कहा है कि काम क्रोध रहित यति ही ब्रह्म निर्वाण की ओर अभित होते हैं । गौड़पादाचार्य

भी कहते हैं कि जिनके राग, भय, क्रोध निवृत्त हो गये हैं उन्हें ब्रह्म मिलता है। धन, स्त्री, पुत्र आदि के प्रति राग स्थूल राग है। यश कीर्ति आदि के प्रति राग सूक्ष्म राग है। लोग समझते हैं कि हमारा नाम चलेगा। वेदों के ऋषियों के नाम आज आप नहीं जानते। जब ऋषियों का नाम नहीं रहा तो आपका क्या रहेगा? आप लोगों से यदि दशरथ के पिता का नाम पूछें तो दांयें बांयें देखने लगेंगे। जब साक्षात् भगवान् राम के दादा का नाम तुम नहीं जानते तो तुम्हारा क्या नाम चलेगा? वैसे ही भय भी तब तक रहेगा जब तक भेद दृष्टि रहेगी। 'द्वितीयाद् वै भयम्'। महर्षि जनक को याज्ञवल्क्य ने जब सारा उपदेश दे दिया तब कहा कि अब तुम्हें अभय प्राप्त हुआ। आज तो लोग समझते हैं कि फौज से भय हटेगा। वेद का नियम है कि 'द्वितीयाद् वै भयम्' द्वैत दृष्टि को हटाओ। वेद का सम्पूर्ण अध्ययन करलो तब उसके अन्तिम भाग उपनिषद् को समझकर ही उसे जान सकते हो जो एक-मेवा द्वितीयं है। काम, क्रोध और राग वियुक्त ही उस स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। जिस घोड़े के अण्डे को खरीद कर लाये थे वह तो गिर कर फूट गया। यदि वह ज्ञान होता तो अज्ञान को फौरन हटा देता। पर अब काम क्रोध के थपेड़े लगते हैं तो कहते हो कि ज्ञान नष्ट हो गया। देवताओं के राजा इन्द्र तथा असुरों के राजा विरोचन ने तीस साल तक ब्रह्मचर्य का पालन किया। गुरु ने उनसे कहा तालाब में जाकर अपनी आकृति को देख आओ। अपनी दाड़ी मूंछ बढ़ी हुई आकृति जब देखली तो फिर कहा अब इस को साफ करके ठाट-बाट से राजा की तरह सजधज कर आओ। अब प्रजापति फिर उन्हें तालाब पर लेगये और पूछा अब देखो पानी में अपनी परछाई और बताओ क्या दीखता है? दोनों बोले बड़ा बढ़िया दीखता है। प्रजापति ने कहा यही ब्रह्म है। दोनों शिष्य चले गये। पर इन्द्र फिर वापस आगये और कहा कि अभी ब्रह्म समझ में नहीं आया। फिर उन्होंने बत्तीस साल तक ब्रह्मचर्य का पालन किया। अब इस कथा में शिष्य दो हैं। दोनों से एक ही बात प्रजापति ने कही थी, फिर इन्द्र को पुनः ब्रह्म-

चारी बना कर क्यों रखा ? क्या पहली बार प्रजापति झूठ बोल गये थे ?. प्रजापति ने उपदेश तो ठीक ही दिया था, पर इन्द्र और विरोचन दोनों समझे नहीं । जैसा बिम्ब होता है वैसा प्रतिबिम्ब होता है । इन्द्र जटायुक्त और मुकुटयुक्त उभय उपाधियों में अविशिष्ट एक ही था । इसी प्रकार शुद्ध और विशिष्ट चेतन या भिन्न भिन्न उपाधियों में चेतन की एकता प्रतिपादन ही प्रजापति को इष्ट था । उपाधिरूप जीव पाप करता है । अतः उपाधि से ग्रस्त को अपना वैसा ही रूप दीखता है । फिर वही इन्द्र मुकुटधारी बन कर देखने के लिये गया तो उसे वैसा ही रूप दीखा । पर इसके तत्त्व को इन्द्र और विरोचन समझे नहीं । दोनों ने एक बार भी नहीं पूछा कि इसका क्या अर्थ है । इस विद्या में जिसने समझ लिया कि मैं समझ गया हूं उसे धोखा हो जाता है । यदि ईश्वर का अनुकारी जीव है तो ईश्वर ने पापादि रूप युक्त जीव रूप को धारण किया ही क्यों ? वह ऐसा रूप धीरे धीरे धारण करता है । भगवान् राम को वशिष्ठ ने समझाया था कि यह किस्सा वैसा ही है जैसा कि विप्र कभी कभी शूद्रपना अंगीकार कर लेता है । आजकल कई ब्राह्मण ऐसे हैं जिन्हें सन्ध्या नहीं आती । अतः वे युक्ति लगाते हैं कि यदि केवल राम राम का उच्चारण करके शूद्र को मुक्ति मिलती है तो हमें क्यों नहीं मिल सकती । पर यह भूल जाते हैं कि शूद्र को तो गायत्री मंत्र का अधिकार नहीं है । ब्राह्मण यदि एक दिन भी सन्ध्या न करे तो उसे प्रत्यवाय रूपी पाप लगेगा । तब वे कहते हैं कि हमें शूद्र ही समझ लो । आजकल हरिजनों को अधिक आसानी से नौकरी मिलती हैं तो कई ब्राह्मण लड़के चमारों के घर जाकर कहते हैं हमें गोद लेलो । उसके गोद ले लेने पर अर्जी दे देते हैं कि मैं हरिजन हूं । यहां जिस प्रकार ब्राह्मण अपने को चमार कहता है वैसे हीं ईश्वर भी जीव बन जाता है । आप कहेंगे कि संसार तो ऐसे ही चलता है, पर ईश्वर को तो ऐसी गड़बड़ बात नहीं करनी चाहिये थी । प्रथम बात तो यह है कि बहुत कम ब्राह्मण शूद्र बनते हैं । कायस्थ इत्यादि की बातें दूसरी है ।

ब्राह्मण कुल में पैदा ही जीव सत्व गुण की अधिकता से होता है। भगवान् कहते हैं 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं' यहां मया सृष्टं से श्रीकृष्ण ने बता दिया कि किस को कहां पैदा करें यह उन्हीं के शक्ति की बात है। यदि सत्व गुण की ब्राह्मण ने उपेक्षा करके धीरे धीरे दुश्कामनाओं को अपने अन्दर भर लिया तो 'अङ्गी करोति शूद्रत्वं' जैसे ब्राह्मण शूद्रत्व को अङ्गीकार करता है वैसे ईश्वर जीव बन गया। जो ब्राह्मण यज्ञ कराते हैं और दान लेते हैं पर यज्ञ स्वयं करते नहीं और दान देते नहीं तो यह भी अब्राह्मण्य है। पाप हमेशा आटे में नोन की तरह शुरू होता है पर अन्त में नौन ही नौन रहता है आटा गायब। २५-३० साल पहले देसी घी में वेजिटेबल घी थोड़ा सा मिला दिया जाता था। अब जिस प्रकार देशी घी में सब वेजिटेबल घी ही रह गया है उसी प्रकार अन्त में पुण्य भी गायब हो जाता है। फिर सत्संग से उस दृष्टि का परिहार करके जीव आत्म स्वरूप लाभ करता है। अतः श्रुति ने कहा स आत्मा, स विज्ञेयः।

* * * *

उस आत्मा को जानने के लिये वेद का स्वाध्याय ही काफी नहीं है। आचार भी तदनुसार करो। रामचन्द्र जी के राज्य में एक ब्राह्मण का लड़का अकाल ही मर गया तो वर्णाश्रम की व्यवस्था को भंग करके तपस्या करने वाले शम्बूक को जिम्मेदार माना गया। आचार का यदि पालन नहीं होता तो मृत्यु आ जाती है। आलस्य भी मृत्यु का हथियार है। बहुत से लोग आलस्य को प्रिय समझने लगे हैं। अतः घड़ी बनाने वालों ने अलार्म के साथ ही उसे बन्द करने का खटका भी बना दिया है। अलार्म तो होता है जगने के लिये। पर उसे बन्द करने के लिये जो खटका है वही है आलस्य। कोई भी बात कल के लिये टालना आलस्य है। रावण का विचार था स्वर्ग तक सीढ़ी बनाने का पर उसे आज कल, आज कल कह कर टालता रहा तो आलस्य के कारण उस की यह इच्छा पूरी नहीं हुई। अन्न दोष से भी मृत्यु आती है। आज कल अन्न भी कृत्रिम तरह से पैदा किया जाने

लगा है। जापान के युवराज को एक बार भारत में एक वृक्ष की कलम दी गई। जिस दिन कलकत्ते से हवाई जहाज जाने वाला था उनके साथियों ने कलम में लगी सब मिट्टी धो डाली। भारतीय वैज्ञानिकों ने मना भी किया तो जापानी बोले कि यह कलम न मरे हम ऐसा इन्तजाम कर लेंगे। पर हम नहीं चाहते कि दूसरे देश की मिट्टी हमारे देश में जाय। मिट्टी से अन्न उत्पन्न होता है। अन्न से बुद्धि। अन्य देशों की मिट्टी हमारे लोगों की बुद्धि भ्रष्ट कर देगी। पर भारत में मिट्टी को छोड़ो हम आज दूसरे देशों से अन्न मंगा कर खाते हैं। उस अन्न में पहला तो उत्पत्ति स्थल पर ही दोष है, दूसरा जिस धन से उसे खरीदा जाता है वह दूषित है। शास्त्र में तो राज्य के अन्न को ही दूषित माना गया है। राज्यान्न की तरह ही राजा की नौकरी भी दूषित है। राजा के पास जो धन आता है वह पर-पीड़ा से आता है। टैक्स की वसूली में परपीड़ा है। अपराधी को जुर्माना लगा कर राज्य धन संचय करता है। राज्य के पास ईमानदारी का ठीक पैसा आता ही नहीं।

एक बार भारतवर्ष में बारह वर्ष तक अकाल पड़ा था। सप्तर्षि लोग देश छोड़ कर अन्य देश को जाने लगे। रास्ते में अकालग्रस्त एक देश की राजधानी पड़ी। वहाँ के राजा ने सप्तर्षियों को अन्न खिलाने का वादा किया और कहा आप लोग यहीं रुक जाओ। उन्होंने उत्तर दिया कि भूख से मर जाना उत्तम है पर तेरा अन्न खाकर जीवित रहना ठीक नहीं। वह मृत्यु के समान है। यह सुनकर राजा को गुस्सा आया। रजोगुणी तो था ही। जो असंयमी होगा वही रजोगुणी होगा। अतः जब सप्तर्षि चले तो उसने फलों के अन्दर सोना भरकर उन्हें मार्ग में डाल दिया। एक ने फल उठाया। फल भारी था तुरन्त फेंक दिया। सोचा मालूम पड़ता है कि राजा ने ही कुछ गड़बड़ की है। अतः वे भागे। एक तालाब मिला। वहां कमल नाल को खाने के लिये प्रविष्ट होने लगे तो इन्द्र को पता चला कि उस तालाब में एक ब्रह्मराक्षस रहता है। अतः वह ऋषियों की रक्षा

करने को संन्यासी का वेष धारण करके उसी तालाब में प्रविष्ट होने लगा। राक्षस ने इन्द्र से उसका नाम पूछा तो इन्द्र ने उस पर प्रहार किया और उसे मार दिया। ऋषियों से कहा आपने यावत् जीवन अन्नदोष से अपने को अछूता रखा अब आप कमल नाल खाइये।

इस कथा में कमल नाल प्रतीक है। पर हम अन्न को स्वरूप से दोषयुक्त नहीं मानते। पापी के स्पर्श द्वारा उसमें दोष आता है। साधारण आदमी स्वाद के लिये बाजार के छोले खाता है। नियम तो यह है कि यदि अपने घर में भी कोई महा क्रोधी हो तो यथा सम्भव उसके हाथ का नहीं खाना चाहिये। क्रोधी कामी ब्राह्मण का अन्न भी अभक्ष्य है। इसी प्रकार विषयगत अशुद्धि होती है। जैसे प्याज लहसुन इत्यादि को खाने का शास्त्र में निषेध है। मांसादि स्वरूप से ही अशुद्ध हैं। अण्डे को खाना भ्रूण हत्या है।

अतः अपना हित चाहने वाले को पञ्च दोषों से बचना चाहिये। (१) वेदों का न पढ़ना, (२) उनका अर्थ न जानना (३) अर्थ के अनुसार आचरण न करना, (४) अन्न का दोष (५) आलस्य। इन से बच कर ही जीव मोह के पाश से मुक्त होगा। मोह से अमर जीव फंस गया। इस विषय में एक कथा है कि पूर्व काल में लोग लाखों करोड़ों वर्षों तक जीवित रहते थे, कोई मरता ही नहीं था तो यम को कुछ काम ही नहीं रहा। विष्णु अपनी प्रजा का पालन ठीक से कर रहे थे। जन संख्या बढ़ती रही। यम का कुछ वश न चला तो ब्रह्मा व यम शंकर के पास गये कि मृत्यु का निर्माण करो। शंकर बोले अरे कहां चक्कर में पड़े हो चुपचाप यहां बैठ कर समाधि लगाओ। ब्रह्माजी बोले महाराज मैं तो रजोगुणी हूं मुझ से चुपचाप बैठा नहीं जाता। मैं तो सृष्टि जरूर करूंगा आप ही मृत्यु को पैदा करके संहार का इन्तजाम करो। बहुत प्रार्थना करने पर शिव ने मृत्यु का निर्माण कर दिया। तब शंकर बोले अब सब लोग मुझे गाली देंगे। फिर मृत्यु से कहा कि मैं ये पांच चीजें बना देता हूं। जहां जहां

तू ये पञ्चदोषों को देखे वहीं अपना जाल डाल देना । अन्त में आज की हालत प्राप्त होगई कि इन पञ्च दोषों में से कोई न कोई दोष सब को प्राप्त है । अतः आत्मा के स्वरूप अमर धर्म को जान कर इस दोष से निवृत्त हो जाना चाहिये ।

प्रश्न उठ सकता है कि अमर आत्मा के ज्ञान से यदि मुक्ति मिलती है तो जैन लोग भी तो शुद्ध आत्मा के ज्ञान से मोक्ष मानते हैं । वे भी केवली अवस्था विवेक से लभ्य मानते हैं । आचार्य पद्मानन्द सूत्र इस विषय में प्रमाण हैं । वे कहते हैं परमात्म ज्ञान के लिये चित् और अचित् का विवेक आवश्यक है । 'चित् अचित् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद् विवेचनम्' यह उनका मत है । इस विवेक को वे कारण मानते हैं केवली अवस्था का जो उनकी दृष्टि में मोक्ष है । अचित् और चित् से ही वे अजीव और जीव कहते हैं ।

वेदान्त में तो जीव विशिष्ट चैतन्य को कहते हैं पर जैन लोग जीव को शुद्ध चैतन्य मानते हैं । जीव अजीव के बन्धन को वे तत्त्व मानकर जीव रूप चित् के ज्ञान से मुक्ति मानते हैं । स्पष्ट है कि जीव का विवेचन उन्होंने भी बड़ी अच्छी प्रकार किया है । वे भी जीव को संसारी और मुक्त मानते हैं । जो जीव एक जन्म से दूसरे को प्राप्त होते रहते हैं वे संसारी कहलाते हैं । जिनका किसी भवान्तर में गमन नहीं होता उनको वे मुक्त कहते हैं । उनकी मान्यता है कि शरीर ही दुःख का कारण है । इसलिये मोक्ष इस शरीर का छूटना और अन्य की प्राप्ति न होना है । संसारी जीव भी दोषों से मुक्त होकर मुक्त जीव बनता है ।

वैष्णवों के मध्वाचार्य भी दो प्रकार के जीव मानते हैं । उनके मत में संसारी जीव सदा संसारी रहेगा और मुक्त सदा मुक्त रहेंगे । वे कहते हैं कि संसारी जीव यदि मुक्त होने लगें तो एक दिन संसार खाली हो जायेगा । जीवों को वे भगवान् के खेलने की गोली मानते हैं । मुक्त जीव से वे गोलोक में खेलते हैं और संसारी जीव से भूलोक

में । पर जनों का संसारी जीव साधना से मुक्त हो सकता है । संसारी जीव भी उन्होंने कई प्रकार के माने हैं । समनस्क और अमनस्क । समनस्क तो पांच इन्द्रिय, मन और बुद्धि युक्त है । समनस्क के भी कई भेद हैं जो शिक्षा क्रिया और आलाप को ग्रहण कर सकते हैं । घोड़े, हाथी और कुत्ते सीखते हैं उसे शिक्षा कहते हैं । पर संसार के सब प्राणी शिक्षा के योग्य नहीं । यथा मेंढक कभी कुछ नहीं सीखता । क्रिया और आलाप की सम्भावना मनुष्य में ही नहीं अन्यत्र भी देखी गई है । कौवे और मैना भी आलाप करते हैं । कबूतर कबूतरी भी आलाप करते हैं । गाय का भिन्न भिन्न प्रकार का शब्द होता है । ग्रहण करने की योग्यता पदार्थों के ग्रहण करने से होती है । समनस्कों में से कुछ तो दूसरों के उपदेश ही ग्रहण करते हैं तो कोई गुणदोषों का विचार करने में भी समर्थ हैं । हाथी के अन्न में से यदि महावत चोरी करे तो हाथी महावत को मारता है ।

पाश्चात्य इतिहास की एक कथा है कि एन्टोनियो एक बार जंगल में चला गया । राजा ने उसे पकड़ने को आदमी भेजे । एन्टोनियो ने देखा कि एक सिंह उसकी ओर आ रहा है । सिंह गरज नहीं रहा था । सिंह वगैर गरजे हुए आक्रमण नहीं करता । आजकल के राजा सब गीदड़ हैं वे चोरी चोरी बंम गिराते हैं । आजकल वे इसी को सभ्यता समझते हैं । जब सिंह गरज नहीं रहा था तो एन्टोनियो ने उसे पास आने दिया । देखा कि उसके पञ्जे से खून बह रहा था । सिंह के पञ्जे में कांटा चुभा था । एन्टोनियो ने कांटे को निकाल दिया । सिंह प्रति दिन आता था और पट्टी बंधवा कर चला जाता था । एक दिन एन्टोनियो पकड़ा गया । राजा ने उसे सजा दी कि इसे भूखे शेर द्वारा फड़वा दिया जाय । जंगल से एक सिंह पकड़ के लाया गया । उसे तीन चार दिन भूखा रखा गया । फिर एन्टोनियो पर छोड़ा गया । शेर गरज कर उसकी ओर बढ़ा । उसने एन्टोनियो को पहचाना । शेर उसके उपकार को भूला नहीं था । यह मनुष्य की ही विशेषता है कि वह कृतघ्न होता है । पशु कृतघ्न नहीं होतें ।

एन्टोनियो को छोड़ दिया गया । उपदेश और गुण दोष समझने की शक्ति गज, अश्व, देवता, मनुष्य, गन्धर्व सभी में है। ये सब समनस्क जीव हैं। अमनस्क जीव चार इन्द्रिय या दो इन्द्रिय वाले होते हैं। उनके मन इन्द्रिय नहीं होती। जैसे शुक्ति कीट के त्वक् और रसना दो ही इन्द्रियां होती हैं। उसे केवल रस का और स्पर्श का ज्ञान है। इसलिये वह स्वाती बूंद के चारों तरफ घूमता है। शंख के कीड़े की भी दो ही इन्द्रियां होती हैं। ये दूसरे के गुण दोषों का विवेचन नहीं कर सकते। चींटी तीन इन्द्रिय वाली है। इसमें घ्राण भी होता है। वह एक दूसरे को सूंघ कर ज्ञान करती है। मनस्तत्त्व उसमें अभी नहीं आया। वह गुण दोष का विवेचन नहीं कर सकती। चींटी को कुछ सिखाया नहीं जा सकता। जूं और लीखें तीन इन्द्रिय वाले हैं। मच्छर, डांस, भौंरे चार इन्द्रिय वाले हैं। इनकी आंख भी होती हैं। ऐसे भिन्न भिन्न प्रकार के समनस्क और अमनस्क प्राणी हैं। ये ज़ीव संसारी और मुक्त हैं। समनस्क जीवों को जानना ही वे चेतन का ज्ञान मानते हैं। जो चेतन तत्त्व इन सब रूपों को प्राप्त होता है वही जैनों का ज्ञातव्य है।

अमनस्क या समनस्क चेतन का विशुद्ध रूप नहीं है। जैनों का शुद्ध चैतन्य वस्तुतः विशिष्ट चैतन्य ही है। जैन सिद्धान्त का चरम मत स्याद्वाद है। वे किसी चीज की निश्चित मान्यता नहीं मानते। पाश्चात्यों का आधुनिक सिद्धान्त भी अनिश्चितता का है जिसे Theory of probability कहते हैं। जैनों ने उसे भारत में पहले ही प्रतिपादित किया था। ग्रीस का Scepticism भी स्यात्-वाद की तरह का है। पर ये तीनों मत भ्रान्त हैं।

स्यात्वाद कहता है: रूप है, रूप है या नहीं, शायद है, शायद नहीं। शायद है भी और नहीं भी। आंख वाले के लिये शायद है। अन्धे के लिये शायद नहीं है। अंधेरे में अन्धे और आंख वाले दोनों बैठे हैं तो उनके लिये है भी और नहीं भी है। समाधि अवस्था वाले के लिये भाव और अभाव कुछ भी नहीं है। पर स्यात्वाद तो जीव में सभी

तरह से अनिश्चितता का प्रतिपादन करता है। जीव है भी और नहीं भी है। यदि स्यात्वाद को स्वयं स्यात्वाद की ही कसौटी पर कस कर जांचो तो स्यात्वाद स्वयं खंडित हो जायेगा। स्यात्वाद शायद ठीक है, शायद ठीक नहीं है। यह निर्णय उसका अपने ही सिद्धान्त के ऊपर स्वयं होगा। पर जैन अपने इस सिद्धान्त को अपने मत पर लागू करना नहीं चाहता। जीव के विषय में इस स्यात् का ज्ञान होना ही जैन शुद्ध आत्मा का ज्ञान मानते हैं। चार्वाक लोग मानते हैं कि जीव नहीं है। पर जैन जीव के स्यात् स्वरूप को समझकर मुक्ति मानते हैं। उनके समनस्क और अमनस्क केवल विशिष्ट चैतन्य हैं। शुद्ध चैतन्य में तारतम्य नहीं होता। वे शुद्ध आत्मा को शुद्ध स्वरूप से नहीं जानते। वस्तुतः अशुद्ध आत्मा में प्रपञ्च बना रहा। शुद्ध आत्मा में प्रपञ्च नहीं।

* * * *

श्रुति ने जागृत, सुप्ति, समष्टि, व्यष्टि सबके अभिमानी से उनके आधार को भिन्न बताया जो कि ज्ञानेन्द्रियों का अविषय है। उस सब प्रपञ्चों के उपशम, शान्त, शिव और अद्वैत तत्व को ही आत्म रूप से विज्ञेय बता रही है। अतः आत्मा का शिव रूप अनुभव करने योग्य बताया और उससे भिन्न कुछ अनुभव का विषय नहीं है। आत्मा को शुद्ध मान कर ही उसे शिव माना जायेगा। जो आत्मा को विशिष्ट मानते हैं वे कैसे गलती करते हैं यह ऊपर जैनों के उदाहरण से बता आये हैं। जैन हैं पूर्ण नास्तिक। पर वैष्णव रामानुज मध्वादि अर्ध नास्तिक हैं। वे 'जीव अस्ति' यह मानते हैं। अस्ति एवोपलब्धव्यः। आत्मा है, इस रूप में ही वह उपलब्ध होता है। चूंकि 'आत्मा अस्ति' ऐसा मानते हैं इसलिये वे आस्तिक हैं पर आत्मा के स्वरूप के विषय में श्रुति का प्रमाण न मानकर अपने मन से पाञ्चरात्र आगमों के अनुसार कल्पना करने के कारण वे अर्ध वैनाशिक हैं। बौद्ध और जैन सर्व वैनाशिक हैं। श्रुति कहती है आत्मा ही ब्रह्म है क्योंकि आत्मा सर्वव्यापक है। अयमात्मा ब्रह्म की सिद्धि तभी होती है। इस सर्वव्यापक तत्व को वैष्णव अणुरूप और सगुण सिद्ध करते हैं। अतः वे अदृश्य अव्यवहार्य

प्रपञ्चोपशम शान्त इत्यादि को नहीं मानते । अचिन्त्य के अर्थ हैं अन्तः-करण के द्वारा भी अचिन्त्य। इस कारण श्रुति ने निर्गुणः निष्क्रियः शान्तः इत्यादि से निर्गुण तत्त्व का प्रतिपादन किया ।

निर्गुण का वैष्णव संकुचित अर्थ करते हैं। जिसके अन्दर बुरे गुण नहीं उसे वे निर्गुण कहते हैं। अच्छे गुण तो आत्मा में हैं ही यह वैष्णव मानते हैं। पर विचार करने पर यह बात ठहरती नहीं है। यदि उसे सगुण स्वीकार करो तो जन्म मरणादि गुण उसमें रहेंगे। और इन गुणों के रहते हुए मुक्ति असम्भव है। शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि स्वभाव को बदलना सम्भव नहीं है। मरणधर्मा को अजर अमर नहीं बना सकते । जन्म मरणादि यदि इसके स्वभाव में होंगे तो मोक्ष असम्भव है । मोक्ष की असम्भवता के अलावा एक दूसरा दोष भी आता है। आत्मा को अणु मानें तो योगी काय व्यूह द्वारा कई शरीर बना कर भिन्न भिन्न भोग कर लेता है। अणु परिमाणी एक शरीर से दूसरे शरीर में कैसे जायेगा ? इससे आत्मा को अणु परिमाणी नहीं व्यापक माननां पड़ेगा । आत्मा को यदि अणु परिमाणी मानें तो वह एक साथ समग्र देह का नियन्त्रण करने में असमर्थ हो जायेगा । मनुष्य का सारा शरीर युगपत् नियन्त्रित रहता है । इसके जवाब में वैष्णव कहते हैं कि यदि आत्मा का गमनागमन स्वीकार करते हैं एवं अणु नहीं मानते तो मरने पर कोई चीज निकलती हुई नहीं दीखती। किसी जीवित मनुष्य को वायुहीन (Air tight) बक्स में बन्द कर दो तो वह मर तो जायगा, पर उसकी आत्मा यदि निकली तो किधर से निकली ? फिर भी गमागम को स्वीकार करने का एक श्रौत प्रमाण मिलता है। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में सुबाहु राजा की कथा है। उसका पुरोहित बढ़िया था। राजा उसे धन धान्य देकर प्रसन्न रखता था। उस पुरोहित को इन्द्र ने ठीक उस समय बुला भेजा जब राजा भी यज्ञ की तय्यारी कर चुका था । अतः पुरोहित ने अपने छोटे भाई से कहा तुम राजा का यज्ञ करा दो । मैं इन्द्र के यहां जाता हूं । राजा का यज्ञ प्रारम्भ होने के बाद पुरोहित वापस आया । राजा बीमार

होकर मर गया। यज्ञ के बीच में अशौच की प्राप्ति नहीं होती इस लिये राजा को तैलद्रव युक्त एक नाद में रखा गया। यजमान पत्नी सारा काम करती रही। जब पुरोहित ने सुना राजा मर गया तो भाई से कहा तूने मेरे यजमान को मार डाला। भाई बोला तो मैं क्या करूं ? उसने भाई को अंट संट बका तो भाई बोला क्रोध क्यों करते हो मैं वापस ला देता हूं। उसने जाकर यमराज से पता चलाया और राजा सुबाहु को जीवित करा उसे वापस दे दिया। इस कथा से पता चला कि आत्मा का गमागम होता है। अब चूंकि यह जाने आने वाला पदार्थ अतीन्द्रिय है इसलिये वैष्णवों ने उसे अणु परिमाणी स्वीकार किया। यदि व्यापक होता तो आता जाता नहीं। इस प्रकार आत्मा को सगुण और अणु परिमाणी माना। पर ये दोनों पक्ष गलत हैं।

काय व्यूह के निर्माण की असम्भवता तथा एक ही काल में शरीर के सभी भागों की नियन्त्रण असम्भवता ये दो दोष तो अणु के हैं ही। श्रुति ने ऋग्वेद में इस कथा से अन्तःकरण को आत्मा कहा है। यदि हम आपसे कहें कि पुस्तक लाओ तो पुस्तक का अर्थ है अक्षरसमाम्नाय। आप उस भोज पत्र को उठा कर लाते हैं जिसमें लिखा हुआ है, क्योंकि अक्षरसमाम्नाय तब तक नहीं आसकता जब तक जिस अधिष्ठान में वे लिखे हुए हैं उसी को उठाकर सामने न लाया जाय। जिस तरह अक्षरों का अधिष्ठान भोज पत्र है उसी तरह अन्तःकरण का अधिष्ठान है आत्मा या चैतन्य। मन आत्मा में अध्यस्त है। मन को लाया गया। मन के आने के साथ ही आत्म शब्द का अधिष्ठान रूप से ग्रहण हो गया। अतः श्रुति का मन को लाने में वास्तविक तात्पर्य है।

दूसरा कारण यह है कि यदि हम आत्मा को व्यापक स्वीकार नहीं करते तो आत्मा हमेशा अणु रहेगा। विभु तो उपाधि के कारण अणु बन सकता है। बृहत् को अल्प बनाया जा सकता है। पर अल्प कभी वृहत् नहीं बन सकता। सुई की आंख में भी आकाश सूच्य-

वच्छिन्न होगया, पर सुई ब्रह्माण्ड को भेद नहीं सकती । जो स्वरूप से वृहत् नहीं है, अल्प है, वह महत् नहीं बन सकता । जो आत्मा को महत् मानते हैं उनके मत में तो उपाधि से वह अणु बन सकता है । अणोरणीयान् महतो महीयान् । पर केवल उसे अणु मानने वाले आत्मा को महान् नहीं बना पायेंगे । आत्मा को निर्गुण मान कर उपाधि से वह सगुण बन सकता है, पर उसे यदि सगुण मानें तो निर्गुणात्मक वाक्य निरर्थक रह जाते हैं । आकाश रंग हीन है । पर कपड़ा हमेशा रंगीन होगा । पर आकाश कभी कभी नीला दीखेगा । यह निर्गुण मानने पर सगुण की व्यवस्था बनती है । श्रुति का समन्वय एकमात्र व्यापक तत्व से हो सकता है । अतः वैष्णवों की मान्यता भ्रामक है ।

निर्गुण में कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी केवल उपाधि के कारण होगा । उपाधि की निवृत्ति पर कर्तृत्व भोक्तृत्व की निवृत्ति होती है । दोनों की निवृत्ति एक साथ होती है । साधारणतः साधकों में देखा गया है कि पाप के समय तो कर्तृत्व की निवृत्ति है, और पुण्य के समय में अहंभाव है । पर सुख का भोग तो आनन्द से भोगता है और दुःख के भोग में भोक्तृत्व की निवृत्ति नहीं होती । यदि रसगुल्ला प्रारब्ध से मिला तो भोग करने में द्वैध दृष्टि क्यों ? भोग प्राप्त होने पर ही तो शास्त्र उसका त्याग करने को कहता है । भोग की उपलब्धि पर ही उसका त्याग होता है । त्याग की कसौटी ही भोगों की उपलब्धि काल में है । जब सुख का भोग काल आया तब उसका भोग कर लिया । अब दुःख के प्राप्त होने पर रोता है । वस्तुतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व की एक साथ निवृत्ति होती है । 'अहं कर्तास्मि भोक्ता च ब्रह्मास्मीति च मन्यते स नष्टः ।' जो अपने को कर्ता और भोक्ता मानते हुए अहं ब्रह्मास्मि कहता है वह ज्ञान और कर्म दोनों से नष्ट होता है । ज्ञान उसे कर्तृत्व बुद्धि के कारण नहीं मिलता । अन्त में नास्तिक बन जाता है । जब तक कर्तृत्व और भोक्तृत्व का किञ्चित् लेश भी रह जाता है तब तक ब्रह्मास्मि की सिद्धि नहीं ।

प्रवृत्ति वा निवृत्ति वा न कटाक्षेण वीक्षते । निवृत्ति के अन्दर भी किसी चीज को छोड़ना पड़ता है । पर सब अहम् होने के कारण वह किसे छोड़े । सांप की केंचुली सांप की ही तरह दीखती है पर उसे चलाने वाली वायु है । कर्तृत्व भोक्तृत्व की निवृत्ति के बाद शरीर को प्रारब्ध वायु चलाती है । प्रारब्ध है ईश्वर का आदि संकल्प । उसकी दृष्टि में कर्तृत्व भोक्तृत्व का सर्वथा अभाव है । आत्मा को अणु मान कर कर्तृत्व भावना और भोक्तृत्व भावना नित्य हो जायेंगी । इसको सगुण मानने पर निवृत्ति असम्भव हो जायेगी ।

अतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व की निवृत्ति केवल शुद्ध आत्मा के ज्ञान से ही सम्भव है ।

* * * *

परमात्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप है । पदार्थों के सामने आने पर उनमें ज्ञातता आती है । पदार्थों में गति है, उनमें क्रिया है, परमात्मा में क्रिया नहीं । परन्तु चूंकि परमात्मा सर्वव्यापक है इसलिये जहां कहीं परमात्मा है वहां ज्ञान भी होना चाहिये । सर्वव्यापक परमात्मा में सब पदार्थों का ज्ञान युगपत् होना चाहिये । सूक्ष्म दृष्टि से तो ज्ञान युगपत् ही है । श्रुति इसे 'सकृत् विभाति' कहती है । उसका प्रकाश एक साथ, एक बार ही है । अप्रकाश तो जीव की दृष्टि से है । जितने अंश में यह जीव अभेद भाव को पाता है उतना ज्ञान होता है । यथा घट ज्ञान । घट ज्ञान करने में अन्तःकरण आंख के द्वारा बाहर जाता है । अन्तःकरण तैजस् पदार्थ है इसलिये इस में प्रवाह है । बाहर जाकर वह घड़े तक पहुंच कर घट के आकार का बन जाता है । यथा खेत में जाकर पानी खेत के ही आकार का बन जाता है । उसी प्रकार अन्तःकरण चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा बाहर पहुंचा और घट में पहुंच कर घट के आकार का बन गया । इस प्रकार घटावच्छिन्न आत्मा और अन्तःकरण विशिष्ट चेतन एक बन गया । घट का

अधिष्ठान आत्मा और अन्तःकरण का अधिष्ठान आत्मा एक होते ही घट के स्वभाव को प्राप्त हो गया । इस एक भाव को प्राप्त होना ही ऐसा कहना है कि घट का ज्ञान हो गया । उसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि आत्मा के जितने अंश से वह एकता को प्राप्त होता है उतने का ज्ञान उसे हो गया । अगर शुद्ध आत्मा के साथ एकता का ज्ञान हो जाय तो सकृत् युगपत् उसे सब ज्ञान हो जायेगा । भूत, भविष्य, वर्तमान सब जीव की दृष्टि से हैं । आत्मा की दृष्टि से भूत, भविष्य और वर्तमान परिच्छेद आत्मा के सिद्ध नहीं होते । आत्म दृष्टि में देशकृत् अवच्छेद, कालकृत् अवच्छेद आत्मा में नहीं । अतः जीव भी जब शुद्ध आत्मा के साथ ऐक्य को प्राप्त कर लेता है तो उसके लिये भी भूत, भविष्य और वर्तमान नहीं रहते । इस दृष्टि से उसे कूटस्थ नित्य कहा है । जीव भी नित्य है पर परिणामी नित्य है । जब तक जीव नित्य नहीं माना जायेगा तब तक पाप पुण्य का भागी नहीं बनेगा । आत्मा अगर क्षणिक है तो करेगा कोई और भरेगा कोई और । जीव परिणामी नित्य होने के कारण परिवर्तन को प्राप्त होता है । कोई अंश स्थिर रहता है (आत्मांश स्थिर रहता है) अन्तःकरण अंश बदलता रहता है । परमात्मा अपरिणामी होने के कारण न प्रकृति है न विकृति । प्रकृति वह है जो आगे किसी को उत्पन्न करे । विकृति वह है जो स्वयं किसी से उत्पन्न हो अथवा किसी का विकार हो ।

यहां तक सांख्य की मान्यता बताई गई है जो ठीक है । पर आगे वे मानते हैं कि बिना परिणामी होते हुए भी उसमें भोक्तृत्व शक्ति है । यही सांख्य की गलती है । भोक्तापना तभी होगा जब वह परिणामी होगा । क्यों कि सुख दुःख में से एक के भोग को भोक्तृत्व कहते हैं । सांख्य और पातञ्जल जितना आत्मा में भोक्तापना स्वीकार करते हैं उतना अंश उनके सिद्धांत का ठीक नहीं बनता । प्रश्न

उठ सकता है तो सांख्यवादियों ने उसे फिर स्वीकार कैसे कर लिया ? उन्होंने कहा वस्तुतः तो परिणाम प्रकृति में होता है पर उसका प्रकाशक होने के कारण उसे भोक्ता कहा जाता है। यथा सूर्य को अपरिणामी प्रकाशक कहा जाता है। वह बिना किसी प्रकार से परिवर्तित होते हुए सामने आने वाली वस्तु को प्रकाशित कर देता है। वैसे ही आत्मा को प्रकृति का प्रकाशक मानने मात्र से सांख्यकारों ने उसे भोक्ता मान लिया। सूर्य प्रकाश का बनाने वाला नहीं, प्रकाश स्वरूप है। वैसे ही आत्मा परिणामी नहीं, फिर भी प्रकृति के अन्तिम परिणाम सुख दुःख का प्रकाशक होने के कारण आत्मा को प्रकाशक रूपी भोक्ता माना। उदाहरणार्थ गाय का स्तन जड़ है। उसमें वत्स को बढ़ाने के लिये दूध का स्राव आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृति भोग और अपवर्ग रूपी फल देने में समर्थ होती है। पुरुष की दृष्टि से प्रकृति भोग्य है। वस्तुतः वह भोग्य नहीं है। पुरुष प्रकृति से नित्य असम्बद्ध है। प्रकृति पुरुष को भोक्ता समझती है यही उसकी भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति ज्ञान बन्धन का कारण है। इसलिये सांख्य लोग कहते हैं कि पुरुष स्वरूप से पंगु है। प्रकृति स्वरूप से अन्धी है। दोनों में असम्पूर्णता है। पंगु अंध जैसे मिलकर प्रवृत्ति करते हैं वैसे पुरुष और प्रकृति भोक्ता भोग्य रूप से सम्बद्ध होकर अलग अलग न रह कर सम्पूर्ण क्रिया करते हैं। इस प्रकार सांख्यवादी और पातञ्जल दोनों को स्वीकार करते हैं। पुरुष यदि अपने अभोक्ता रूप को समझ कर विवेक कर लेवे तो प्रकृति का खेल उस पुरुष के लिये बन्द हो जायगा। दूसरे पुरुष अपने को भोक्ता समझते रहेंगे व खेलते रहेंगे। इसी को सांख्यवादी मोक्ष का मूल कारण मानते हैं। अतः सांख्यवादी मानते हैं कि यदि तीव्र विवेक करके पुरुष अपने अभोक्तापन को जान ले तो प्रकृति से मुग्ध नहीं होगा।

पर पातञ्जल योग वाले कहते हैं कि देखा ऐसा गया है कि विवेकी भी फिर फिर मुग्ध होता है। यथा सिनेमा में यह जानते हैं

कि यह छाया चित्र मात्र है फिर भी उसे देखकर रोते हैं। निश्चित विवेक होने पर भी सिनेमा में अश्रुपात् बलात् भोक्तापना लाता है। इसलिये वे कहते हैं कि समाधि द्वारा चित्त वृत्ति का निरोध करो। बाइस्कोप गये तो रोना पड़ा। यदि जाते ही नहीं तो रोते क्यों? ऐसे ही चित्तवृत्ति कहीं जायेगी ही नहीं तो भोक्तापना नहीं रहेगा। यह सांख्य और योग के वीच में मतभेद है।

महर्षि वशिष्ट ने दोनों ही मार्ग बतलाये हैं। किसी के लिये ज्ञान असाध्य है और किसी के लिये योग असाध्य है। वस्तुतः सामान्य साधक के लिये दोनों उपयोगी हैं। सांख्य और योग के समन्वय का इसी कारण पीछे आने वाले आचार्यों ने प्रतिपादन किया। यद्यपि पूर्व लोगों ने एक ही एक का प्रतिपादन किया। सांख्यवादियों ने सत्वपुरुष अन्यथा ख्याति के द्वारा प्रकृति से अपने को अलग तो किया, पर प्रकृति दूसरे भोक्ताओं के लिये है, अतः वह कभी न कभी फिर चक्कर में डाल देगी।

अतः विवेक को मोक्ष का प्रधान कारण शंकर भगवत्पाद नहीं मानते। पुरुष को केवल द्रष्टा--कर्ता और भोक्ता नहीं--इतना मात्र मान कर सांख्यकार सन्तुष्ट हो सकते हैं पर वेदान्ती नहीं। क्योंकि ऐसा देखने में आता है कि प्रकृति से सम्बन्ध टूटने पर वह फिर कभी न कभी कायम हो जायेगा। विवेक चाहता है कि पुरुष और प्रकृति में भोक्ता भोग्य भाव न बने। पर उसकी चलती नहीं है। नित्य अपरिणामी कूटस्थ को यदि भोक्ता स्वरूप से मान लिया तो उसका भोक्तृत्व कभी निवृत्त नहीं होगा। यही सांख्य सिद्धान्त की कमी है।

* * * *

आत्मा विशुद्ध और विशिष्ट दो तरह का है। इनसे मोक्ष और बन्ध क्रमशः प्राप्त होते हैं। मोक्ष विशुद्ध के ज्ञान से और बन्ध

विशिष्ट के ज्ञान से। भिन्न-भिन्न प्रकार के वादी उस आत्मा को स्वीकार करते हैं। सांख्यवादी उसे प्रकृति से अलग करके जानते हैं। योगी उसे चित्तवृत्ति निरोध करके जानते हैं। पर इन दोनों पक्षों में कमी यह है कि प्रकृति से भिन्न आत्मा को स्वीकार करके वस्तुतः मोक्ष बनता नहीं।

अद्वैत का अर्थ प्रायः द्वैत का अभाव किया जाता है। वस्तुतः इससे द्वैत की सिद्धि हो गई। द्वैत भाव रूप और अद्वैत अभाव रूप। अब विशुद्ध वेदान्त का अर्थ समझना चाहिये। जो सिद्धान्त पक्ष को नहीं समझते हैं वे उसे द्वैत से भिन्न किसी असत् कल्पतरुवत् कहते हैं और द्वैत में सत्य का भान कर के बकवास करते रहते हैं। 'द्वैतात् अन्यत् अपरैः असत् कल्पतरुवत् आख्यायते' हम द्वैत और अद्वैत रूप से एक ही तत्व को जानते हैं। अज्ञान काल में उसे द्वैत रूप से जानते हैं और ज्ञान काल में अद्वैत रूप से। सांख्य पक्ष में शिव शक्ति का भेद है, वेदान्त पक्ष में अभेद है। शिव अन्तर्मुखी शक्ति है, और बहिर्मुखी शक्ति प्रकृति है। वस्तुतः शिव शक्ति का अभेद है। यह शिव-शक्ति का सर्वदा भाव है। साम्यावस्था तत्वातीत है। वस्तुतः साम्यावस्था दोनों स्थितियों से भिन्न है। वही एक मात्र चिरन्तन सत्य है। भिन्न भिन्न पुरुष उसे भगवान्, शिव, पराशक्ति, आदि भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। एक एक की दृष्टि से देखने पर भेद प्रस्फुरण होता है। पूर्णाहन्ता की दृष्टि से अखण्ड सत्य है। जब असत् का भान होता है तो विश्वावस्था है। जब असत् अंश का त्याग कर सद्अंश को पकड़ लिया तो सत्य का ज्ञान हो गया। असत् का त्याग कर सत् रूपी बिम्ब का ग्रहण मोक्षावस्था है।

गौड़पादाचार्यों ने अनेक पक्षों को उठाया कि भिन्न भिन्न लोग सृष्टि का भिन्न भिन्न उपयोग मानते हैं। सृष्टि के अन्दर जिन्होंने दृढ़ अभ्यास किया वे प्रभु की इच्छा मात्र को सृष्टि मानते हैं। कोई प्रलय वाद को मान कर काल से प्रसूति मानते हैं। अन्य लोग भोग से प्रसूति को मानते हैं। कोई क्रीड़ा के लिये इसे मानते हैं। अन्त में उन्होंने

सिद्धान्त पक्ष को दिया है कि देव या ईश का यह स्वभाव है । स्वभाव का अर्थ होता है अपना भाव । अधिष्ठान तत्व का अज्ञान ही सृष्टि है । यदि सृष्टि को ईश्वर की इच्छा मानो तो बड़ा भारी दोष आता है कि आप्तकामस्य का स्पृहा ? पूर्ण काम की इच्छा हो ही क्या सकती है। यदि सृष्टि को जीवों के भोग के लिये मानो तो प्रश्न उठेगा कि पहले पहल जीव क्यों बने ? बिना कारण ही यह सृष्टि उसका स्वभाव है । उससे भिन्न न सृष्टि है न माया । उसके अज्ञान के कारण ही सृष्टि की दृष्टि बन जाती है । योगी बिना किसी उपादान के सृष्टि करते हैं । विश्वामित्र आदि ने स्वेच्छा से सृष्टि की । पूर्व काल में ऋषि लोग सुसमाधि थे । समाधि के पक जाने पर विश्वामित्र ने उपादान उपकरण विवर्जित सृष्टि की । उनका किसी उपादान, उपकरण, साधन के वगैर सृष्टि करना यह सिद्ध करता है कि निष्प्रयोजन, स्वेच्छा से, शक्ति के परिस्फुरण मात्र से ऐसी सृष्टि हो सकती है जिसमें सभी भोग विद्यमान हों । समाधि के पक जाने पर जब योगी की स्थिति ऐसी है तो परमेश्वर की सृष्टि में प्रकृति की अपेक्षा करना, सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की अपेक्षा करना यह सब गलत है । अतः संसार की सृष्टि उसका स्वभाव है ।

बादल को बनाने वाला सूर्य है । बादल का कारण सूर्य है, फिर भी सूर्य से उत्पन्न होकर वह सूर्य को ही ढकता है । कहना पड़ेगा कि सूर्य स्वयं ही अपने को ढकता है । बादल दिखाई देता है सूर्य के प्रकाश से । अतः बादल का प्रकाशक सूर्य है और उसी सूर्य को वह ढकता है । अपनी अविद्या रूपी माया का कारण स्वयं परमात्म तत्त्व है । वह अनावृत स्वभाव ब्रह्म स्वयं अपने को ढकता है और अज्ञानादि आवरण का प्रकाशक भी वह स्वयं है । ब्रह्म और माया का द्वैत नहीं है । वही कारण है और वही प्रकाशक है । स्वयं अपनी शक्ति द्वारा वह उसकी प्रतीति कराता है । उसका आवरण कोई करे यह सम्भव नहीं । यदि माया ब्रह्म को ब्रह्म से अलग होकर ढके तो वह उससे अधिक प्रबल हो जायेगी । तब मोक्ष असम्भव हो जायेगा । इसी लिये चिति

शक्ति को पूर्ण स्वतंत्र माना गया है । स्वेच्छामात्रेण सततं सृजति हन्ति च ।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों शक्तियों का प्रस्फुरण उसमें है । यद्यपि प्रणिमात्र में ये तीन शक्ति हैं पर जीव में ये अप्रतिहत शक्ति नहीं है । जितने अंश में उसकी ये शक्तियां अप्रतिहत होती हैं उतने अंश में जीव ईश्वर है । पूर्णाहन्ता की स्थिति में जीव ईश्वर में भेद नहीं रह जाता । उपासक और पूर्ण ज्ञानी में यही भेद है । यद्यपि उपासक अपने लिये जिस किसी सामग्री को पूर्ण करने में समर्थ है पर सृष्टि, स्थिति, लय, तिरोधान आदि पांच शक्तियां केवल परमेश्वर की ही हैं । ज्ञानी का सर्वात्मत्व सिद्ध होने पर ज्ञानावस्था में महाविभूति सहित स्वतः ईश्वरत्व हो जाता है । 'स्यात् ईश्वरत्वं स्वतः' में स्वतः का अर्थ सुरेश्वराचार्य ने प्रयत्न के वगैर ईश्वर भाव को प्राप्त होना कहा है ।

ईश्वर का ऐश्वर्य उससे पृथक् नहीं है । यथा दौड़ने वाले मनुष्य की छाया स्वयं उसके पीछे दौड़ती है उसी प्रकार ईश्वरत्व ईश्वर की छाया है । अतः ब्रह्म ज्ञानी को ऐश्वर्य स्वयं बगैर प्रयास प्राप्त होता है । जिन सिद्धियों में एक दो की प्राप्ति के लिये योगी निरन्तर परिश्रम करता है वे ज्ञानी को स्वतः प्राप्त होती हैं ।

पहले जो चीज अहं में बीज रूप से थी उसी का वैसे वैसे उसने ईक्षण किया । अप्रतिहत ज्ञान क्रिया शक्ति के कारण उसी का इदं रूप से ज्ञान होने लगा । हिरण्यगर्भ के आदि संकल्प में अहं के अन्दर इच्छा थी । ईश्वर की शक्ति हिरण्यगर्भ में क्रिया कर रही है । क्रिया का बाहर परिस्फुरण सृष्टि है । प्रपञ्च का उपशम उसका भान न होना है । जैसे ऐलोरा में एक बड़ी शिला में, एक ही चट्टान में, कई चित्र खुदे हैं । एक ही चट्टान के खम्भे, मूर्ति हॉल बने हुए हैं । केवल एक शिला में जैसे एक रेखा के ऊपर दूसरी रेखा पत्थर रूप ही है । रेखाओं की अवली में केवल एक बड़ी शिला है । खुदाई होने के कारण वही

पत्थर खुदा हुआ दीखता है। ऐसे ही माया भी खुदाई की तरह है। वास्तव में वहां ब्रह्म पत्थर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

माया की सिद्धि तो होती नहीं। केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है। मालूम पड़ता है कि समग्र विश्व उसी ब्रह्म शिला पर खुदा हुआ है। मिली जुली दृष्टि से जगत् का भान होता है। यथा अजन्ता में मूर्ति में पत्थर का भान न होकर भिन्न दृष्टि होती है। वैसे ही ब्रह्म में भिन्नता का ज्ञान है। घट पटादि को देखते समय भी ज्ञान ही घट पट रूप से भात हो रहा है; ज्ञान से अन्य कुछ भी नहीं है।

अतः अधिष्ठान की दृष्टि करने मात्र से अध्यस्त की निवृत्ति होती है। जब तक असत् अंश से दृष्टि हटा कर सत् को न देखो तब तक अध्यस्त रहेगा। यथा छाया ही को देखते रहोगे तो जिसकी छाया है उसे नहीं देख सकोगे यद्यपि छाया में भी छाया वाला ही देखा जाता है। असत् भी सत् का ही प्रतिबिम्ब है। एक तरफ से दृष्टि हटा कर, असत् रूपी प्रतिबिम्ब से दृष्टि हटा कर, जब तक सत् रूपी बिम्ब की ओर दृष्टि नहीं करेगा तब तक सत् में ध्यान नहीं टिकेगा। इस बिम्ब रूप से दीखने वाले को देखने के लिये ही साधना है। असत् अंश के अन्दर जो वैचित्र्य है, अनेकता है, वह मनुष्य को मुग्ध करती है, इसीलिये दृष्टि हटती नहीं। पर अनेकता में भय है। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'। यहां 'नाना इव पश्यति' का अर्थ है कि नानात्व वास्तविक नहीं है पर जो भी नाना की तरह एक को देखता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है। नानात्व की दृष्टि वाला मृत्यु से मृत्यु की ओर जाता है।

यदि सोने की सिल खरीद कर घर में रख छोड़ोगे तो रोज बाजार भाव देखोगे। मुग्ध होते ही भय होता है। इस भय से बचना चाहते हो तो भय की निवृत्ति करनी पड़ेगी। यह भय ही कार्य रूप में परिणत होकर शोक बनता है। बाजार में सोने का दाम गिर गया तो सोने की सिल खरीदने वाले को शोक हो गया। जब तक चोर नहीं

आया तब तक भय है। जब चोरी हो गई, तो भय कार्य रूप में परिणत हो गया तो शोक हो गया।

द्रोणाचार्य ने एक बार अपने शिष्यों की परीक्षा ली तो सबसे पेड़ के ऊपर बैठी चिड़िया पर निशाना साधने को कहा। फिर प्रत्येक से पूछा क्या दीख रहा है तो सबने कहा कि पेड़, पत्ते, टहनी, चिड़िया सब दीख रही हैं। केवल अर्जुन ने उत्तर दिया कि मुझे तो चिड़िया के कण्ठ के सिवाय कुछ नहीं दीख रहा है। तब गुरु द्रोणाचार्य ने कहा कि यही अकेले धनुर्धारी बनेगा, बाकी तुम सब देखते ही रहोगे। ऐसे ही साधना के समय जिसे सिवाय चिड़िया के कण्ठ के कुछ नहीं दीखता, सब से हटकर केवल लक्ष्य पर ही दृष्टि है, वही सफल बनेगा। यदि इन्द्रियां भी दीखती हैं, देह भी दीख रहा है, तो ब्रह्म दृष्टि नहीं आयेगी। केवल अधिष्ठान मात्र में दृष्टि करना ही नानात्व की निवृत्ति है। अर्जुन की तरह जब साधक अन्तःकरणादि से अपने को भिन्न जान कर अधिष्ठान रूप में अपनी दृष्टि करेगा तभी साधना सफल होगी। उसी की उन्मेष शक्ति द्वारा सृष्टि है और निमेष शक्ति द्वारा प्रलय है। सृष्टि और प्रलय के अधिष्ठान को ही जानना है।

* * * *

उस अधिष्ठान का श्रुति विधि और निषेध रूप से व्यपदेश करके कहती है कि वह वर्णन का विषय नहीं है। यद्यपि वह वागिन्द्रिय का विषय नहीं तथापि उसे आत्म स्वरूप से जानना चाहिये।

कई लोग विशिष्ट आत्मा को मानते हैं। पर विशिष्ट आत्मा के ज्ञान से मोक्ष रूपी फल लभ्य नहीं है। इसीलिये मुमुक्षुओं के लिये विज्ञेय शुद्ध आत्मा ही है। श्रुति और युक्ति द्वैत की छाया भी सहन नहीं करती। अतः श्रुति ने कहा 'शान्तं शिवं अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः'। उसे क्यों विज्ञेय बताया क्योंकि उसको जानने के बाद 'ज्ञातव्यं न अवशिष्यते' उसको जान कर कोई ज्ञातव्य शेष

नहीं रहता, न कोई कर्तव्य ही शेष रहता है। 'तस्य कार्यं न विद्यते' से कहा कि कृतकृत्यता की प्राप्ति आत्म ज्ञान से ही होती है। सभी प्राणी पूर्ण ज्ञान चाहते हैं। यदि लोक में भी किसी व्यक्ति से कह दिया जाय कि तुझे अमुक वस्तु का ज्ञान नहीं है तो वह बर्दाश्त नहीं कर सकता। आनन्द में रुकावट अथवा दुःख उसे सहन नहीं होता। परतंत्रता भी किसी को सहन नहीं होती। छोटे से छोटा व्यक्ति भी कहना चाहता है कि मैं स्वतंत्र हूं।

वैज्ञानिक लोग समझते हैं कि अनेक परिच्छिन्न पदार्थों के ज्ञान को जोड़ कर पूर्ण ज्ञान हो जायेगा। पर यह सम्भव नहीं है। ऐसे ही जीव आनन्द के विषय में भी सोचता है कि अनेक छोटे छोटे सुख मिलकर अपरिच्छिन्न सुख मिलेगा, पर यह भी असम्भव है। इसी तरह स्वातंत्र्य के विषय में भी लोग समझते हैं कि थोड़ी थोड़ी स्वतंत्रता को जोड़ कर हम स्वतंत्र हो जायेंगे। स्वतंत्रता का इतना अधिक अन्वेषण होते हुए भी परतंत्रता बढ़ती ही जा रही है। सन् १९१७ के पहले एक देश से दूसरे देश जाने के लिये पासपोर्ट की जरूरत नहीं होती थी। पहले एक देश से दूसरे देश जाने में विदेशी मुद्रा भी मिलती थी। आज विदेश जाने में कितनी दिक्कत है? बीस वर्ष पूर्व जो जितना व्यापार करना चाहता था उतनी पूंजी लगा कर कर सकता था। पर आज बहुत दिक्कत बढ़ गई है। अतः सिद्ध है कि छोटी छोटी स्वतंत्रताओं का योग पूर्ण स्वतंत्रता नहीं देता। पर श्रुति कहती है कि यदि आत्मा को विज्ञप्ति का विषय बना लिया तो कृत कृत्यता हो जायेगी।

जब महर्षि वशिष्ठ ने आत्म तत्त्व का उपदेश राम को दिया तो ब्रह्म को प्राप्त कर राम कहते हैं, हे ब्रह्मन् मेरी बुद्धि कृत कृत्य हो गई। 'निर्वाणोऽस्मि। प्रशान्तोऽस्मि। नाकांक्षा।' बाण नाम है दुःख का। न तो कोई दुःख शेष रहा, न आकांक्षा। 'केवल मैं ही कृतार्थ नहीं हुआ साक्षात् भगवती सरस्वती भी कृतकृत्य हो गई। यह क्या अतिशयोक्ति थी? भगवती सरस्वती साक्षात् वेद वाणी है उस में भी

कभी कृतकृत्यता आयेगी ? यहां रामचन्द्र जवाब देते हैं कि जब आत्म ज्ञान होगया तो वेद भी कृतकृत्य हो जाता है। सारी सरस्वती का ध्येय मोक्ष का अनुभव करा देना है । अतः वे अपने गुरु से कहते हैं अब कोई आपके लिये कथन शेष नहीं । 'मया अखिलं ज्ञातं' अब कुछ बचा नहीं । परब्रह्म परमात्म तत्त्व को जान कर कुछ ज्ञेय बाकी नहीं बचता । श्रुति भी बार बार उसी बात को कहती है । अब आपकी सरस्वती भी विश्राम करे ।

पहले पहल जब घड़े में पानी भरा जाता है तो उसमें से आवाज निकलती है । पूरा भरा हुआ कुम्भ शब्द नहीं करता; पर उस पूर्ण कुम्भ में से फिर दूसरे रिक्त घड़े में जल डालना शुरू करोगे तो गड़ गड़ आवाज होगी । वह आवाज तब तक होगी जब तक पूरा जल दूसरे घड़े में न डाल दें । इसी प्रकार जिज्ञासु मनुष्य रूपी घड़े में जब गुरु रूपी पूर्ण कुम्भ से ज्ञान उडेला जाता है तो बहुत आवाज होती है । कई तर्क उठते हैं । लोग प्रायः इसी के अन्दर घबरा जाते हैं । यदि संसार का स्वरूप जान लिया तो चित्त में अशान्ति उत्पन्न होती है । खूब आवाज आयेगी । जैसे जैसे श्रवणादि सत्संग द्वारा आत्म ज्ञान बढ़ता जायेगा वैसे वैसे 'अनुमोदामहे वयं' अब आनन्द ही आनन्द है, कुछ कहना शेष नहीं ।

जब महर्षि वशिष्ठ राम भद्र को सम्पूर्ण ज्ञानोपदेश कर चुके तो सरस्वती कृतकृत्या हो गई । अब वह विश्राम ले । यह कृतकृत्यता बड़े प्रयत्न से साध्य है । इसे वही प्राप्त कर सकता है जो एकाग्र बुद्धि से इसमें लग जाय । यदि पानी नहीं बरसा तो एक आदमी नहर से आगे को पानी खोदने लगा । कुछ देर खोदा फिर घर आकर स्नान किया और सो गया । दूसरे दिन जाकर देखा कि जो खोदा था वह बालू से भर गया । पर दूसरे किसान ने सोचा कि आज रोटी खालेंगे तो अगले छै महीने का उपवास करना पड़ेगा । अतः दो बजे, फिर चार बजे, फिर रात आयी पर खोदता ही चला गया । नहर का पानी खेत में आ गया । दिन भर का परिश्रम सफल हो गया । अब आनन्द से

आकर सो गया। हमेशा के लिये सुखी हो गया। इसी प्रकार साधक ने भी कुछ प्रयास करके छोड़ दिया तो बड़ा परिश्रम करके कुछ वासनाओं को दूर किया था वे फिर आकर भर गईं।

अतः जब शरीर पूर्ण रूप से पुष्ट है ब्रह्मचर्याश्रम में शास्त्र ज्ञान प्राप्त करो। 'भव्ये देहे, पटुषु करणेषु आलये श्रीसमृद्धे' जब इन्द्रियां पुष्ट हों और घर में लक्ष्मी पूरी भरी पड़ी है तो उसी समय परमेश्वर की प्राप्ति के लिये प्रयास करने का उत्तम काल है। पूर्व कालीन मीमांसक ऐसा कहते थे कि जो कर्म में अनधिकारी हैं वे सर्व कर्म संन्यास पूर्वक वेदान्त श्रवण करें। परमेश्वर की प्राप्ति में भी वही लगेगा जिसके करण ठीक हैं। अतः हम रोज प्रार्थना करते हैं 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवां'। पर उत्तम साधक के लिये अवस्था 'कौमारान्ते वयसि' है। ज्यों ही कौमार्यावस्था अर्थात् १५ साल का अन्त हुआ कि इस प्रयास में लग जाओ। कथमपि अप्रवृत्ते च दुःखे'। अभी किसी प्रकार का जीवन में दुःख जिसने नहीं देखा है वह साधना में लग जाय क्योंकि वही 'प्रत्यक् पुष्पी' है। प्रत्यक् पुष्पी को उत्तम अधिकारी माना गया है। फूल तीन प्रकार के होते हैं। एक बाहर की तरफ खुलने वाला यथा गुलाब। दूसरा जो कली अवस्था में बाहर की तरफ हो पर खिली अवस्था में वृक्ष की तरफ हो। तीसरा जो कली अवस्था में भी अन्दर की तरफ हो और खिली अवस्था में भी अन्दर की तरफ मुंह वाला हो। जो युवावस्था में भोगों में आसक्त थे और बाद में भी रहे वे प्रथम प्रकार के पुष्प है--जायस्व म्रियस्व। वे पैदा होते हैं और फिर मर जाते हैं। दूसरे प्रकार के लोग जीवन के अन्तकाल में भगवान् का स्मरण करते हैं। 'अन्तकालेऽपि' से गीता में भगवान् ने उनकी ओर इशारा किया है। वहां अन्तकाल मृत्यु का समय नहीं, बल्कि सन्यासावस्था है। सन्यासावस्था में भी जो भगवान की ओर अभिमुख हो गये उनको दूसरी श्रेणी का साधक माना गया। पर प्रत्यक् पुष्पी उत्तम अधिकारी है। उसी की कृतकृत्यता बतलाई है। इसका कारण

है कि यदि वृत्ति एक बार बहिर्मुखी हो गई तो उसका अन्तर्मुखी होना बहुत कठिन है । यदि वह किसी प्रकार अन्तर्मुखी हो भी गई तो फिर प्राचीन बहिर्मुखी संस्कार जग जाते हैं । सामान्य पुरुष तो नैसर्गिक बहिर्मुखी होता है, पर साधक स्वभाव से, निसर्ग से ही, अन्तर्मुखी है । यस्य पुरुषो निसर्गः प्रत्यक् वक्त्रं भवति हृदयं । जिस प्रकार कमल खिलता है उस प्रकार उत्तम अधिकारी का हृत्पुंण्डरीक अन्दर की तरफ खिलता है । उससे अधिक धन्य कौन है ?

सदाशिव ब्रह्मेन्द्र प्रत्यक् पुष्पी थे । वे पढ़ते पढ़ते घर आये तो अवस्था १८ वर्ष की थी । घर में वरण (सगाई) की तय्यारी थी । मां से कहा मां रोटी खिलाओ । मां ने कहा थोड़ी देर बैठ । बैठ कर शास्त्र चिन्तन करने लगे । आधा घंटा बाद फिर रोटी मांगी । मां ने कहा अभी देर है । तो फिर शास्त्र चिन्तन करने लगे । घंटे भर बाद फिर रोटी मांगी । तो मां ने कहा आज तेरा वाक्दान है, बैठ जा रोटी मिलने में अभी देर है । सोचने लगे कि अभी सगाई भी नहीं हुई तो रोटी दुर्लभ हो गई तो विवाहोपरान्त क्या होगा ? उसी समय घर से उठ कर सीधे काञ्चीवरम् चले आये । श्रुति ने भी कहा है 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहात् वा वनात् वा' । यद्यपि मनु ने कहा है कि ऋणत्रय चुका कर मोक्ष की इच्छा करे, पर गृहात् वा, वनात्वा तो विकल्प है । मुख्य पक्ष तो एव शब्द से श्रुति ने 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' में बता दिया । गुरु ने सदाशिव को वेदान्त में प्रवेश करा दिया । पंडित बन गये । शास्त्रार्थ करने लगे । बड़े बड़े बुड्ढे पण्डितों को उनके सामने अपमान का अनुभव होने लगा । अतः एक दिन उनके गुरु ने कहा कि तू कभी चुप रहना भी सीखेगा ? जो शास्त्र को केवल दूसरे को सुनाने के लिये पढ़ता है वह 'ज्ञान बन्धु' है । सदा शिवब्रह्मेन्द्र ने उसी क्षण आजीवन मौन ले लिया । एक दिन वही सदाशिव ब्रह्मेन्द्र दिगम्बर वेष में एक खेत की मेंड पर सिर रख कर लेटे हुए थे । एक जाते हुए किसान ने कहा बाबा बनता तो बड़ा विरक्त है पर तकिया का शौक अभी नहीं गया ।

बाबा ने अपना सर मेंड से नीचे रख लिया। उसी किसान ने वापस लौटते यह देखा तो कहा कि बाबा का मान अपमान का भाव अभी नहीं गया। सदाशिव को जब पंडितों ने इस तरह पागलसा देखा तो उनके गुरु से कहा कि आपके ये शिष्य कुछ पागल से दीखते हैं। गुरु ने आंख में पानी भर कर उत्तर दिया कि इस पागलपन का एक अंश यदि मुझे मिल जाता तो मैं धन्य हो जाता।

आचार्य नीलकण्ठ कहते हैं कि खाते खाते पेट की अग्नि शान्त होगई, खाया हुआ हजम नहीं होता, 'संस्थिता कामवार्ता' विषय भोग करने की इन्द्रियां शिथिल हो गईं, दिशा दिशा में दौड़-दौड़ कर इन्द्रिय रूपी घोड़े थक कर गिर गये, आंख चश्मा लगा कर भी नहीं देखती, इस प्रकार प्रारब्ध वशात् इन्द्रिय रूपी वैरि वर्ग अपने आप चला गया, पर चित्त आज तक वश में नहीं आया। क्या करूं, कहां जाऊं? अतः श्रुति कह रही है 'सआत्मा, सविज्ञेयः। सारी सबलता के साथ उसको जानने की कोशिश करो, समय रहते हुए चित्त को उधर लगाओ।

ग्रन्थसंकेत

अ० अथर्ववेद
अम० अमरकोष
आ० आरण्यक
ई० ईशावास्योपनिषद्
ई० प्र० ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
उ० उपनिषद्
उ० सा० उपदेशसाहस्री
ऋ० ऋग्वेद
ऐ० ऐतरेयोपनिषद्
ऐ० आ० ऐतरेय आरण्यक
ऐ० ब्रा० ऐतरेय ब्राह्मण
क० सं० काठकसंहिता
कठ० कठोपनिषद्
का० गौडपादकारिका
के० केनोपनिषद्
कै० कैवल्योपनिषद्
गी० भगवद्गीता
गो० गोपथब्राह्मण
छा० छान्दोग्योपनिषद्
जा० जाबालोपनिषद्
जी० जीवन्मुक्तिविवेक
जी० मु० जीवन्मुक्तानन्दलहरी
तै० तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० आ० तैत्तिरीयारण्यक
तै० ब्रा० तैत्तिरीयब्राह्मण
ने० नेत्रतंत्र
नै० नैष्कर्म्य सिद्धि
प० परमार्थसार
परि० परिमल टीका
पं० पंचपादिका
प्र० प्रश्नोपनिषद्
प्र० हृ० प्रत्यभिज्ञाहृदय
बृ० बृहदारण्यकोपनिषद्
बोध० बोधसार
बो० पं० बोधपंचाशिका
ब्र० ब्रह्मसूत्र
ब्रा० ब्राह्मणग्रन्थ
भ० शाण्डिल्यभक्तिसूत्र
भा० शंकरभगवत्पादभाष्य
भाग० श्रीमद्भागवत
भाम० वाचस्पतिभामती टीका
म० भा० महाभारत
मनु० मनुस्मृति
मा० माण्डूक्योपनिषद्
मी० जैमिनीय मीमांसा सूत्र
मु० मुण्डकोपनिषद्
मुक्ति० मुक्तिकोपनिषद्
य० यजुर्वेद

या० स्मृ० याज्ञवल्क्यस्मृति
यो० पांतंजलयोगसूत्र
र० रघुवंश
ल० ललितासहस्रनाम
लिंग० लिंगपुराण
वा० सुरेश्वरवार्तिक
वा० सं० वाजसनेयसंहिता
वि० विष्णुसहस्रनाम
वि० भै० विज्ञानभैरव
वि० चू० विवेक चूडामणि
वे० वेद
श० ब्रा० शतपथ ब्राह्मण
श० भा० शबरस्वामीभाष्य
शा० अभिज्ञानशाकुन्तलम्
शा० वि० शांतिविलास
शि० शिवगीता
शिल० शिवानन्दलहरी
शि० पु० शिवपुराण
शि० सू० शिवसूत्र
श्वे० श्वेताश्वतरोपनिषद्
स० दुर्गासप्तशती
सा० सामवेद
सा० पं० साधनपंचक
सा० भा० सायणभाष्य
सू० सूत्र
सू० सं० सूतसंहिता
सि० सिद्धित्रय
सौल० सौन्दर्य लहरी
स्क० स्कन्दपुराण
स्व० स्वच्छन्दतंत्र



